नमो नमो निम्मलदंसणस्स

पूज्य आनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर-गुरुभ्यो नमः

सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि

भाग

32



आगम ४१/१

"ओघनिर्युक्ति" मूलं एवं वृत्तिः

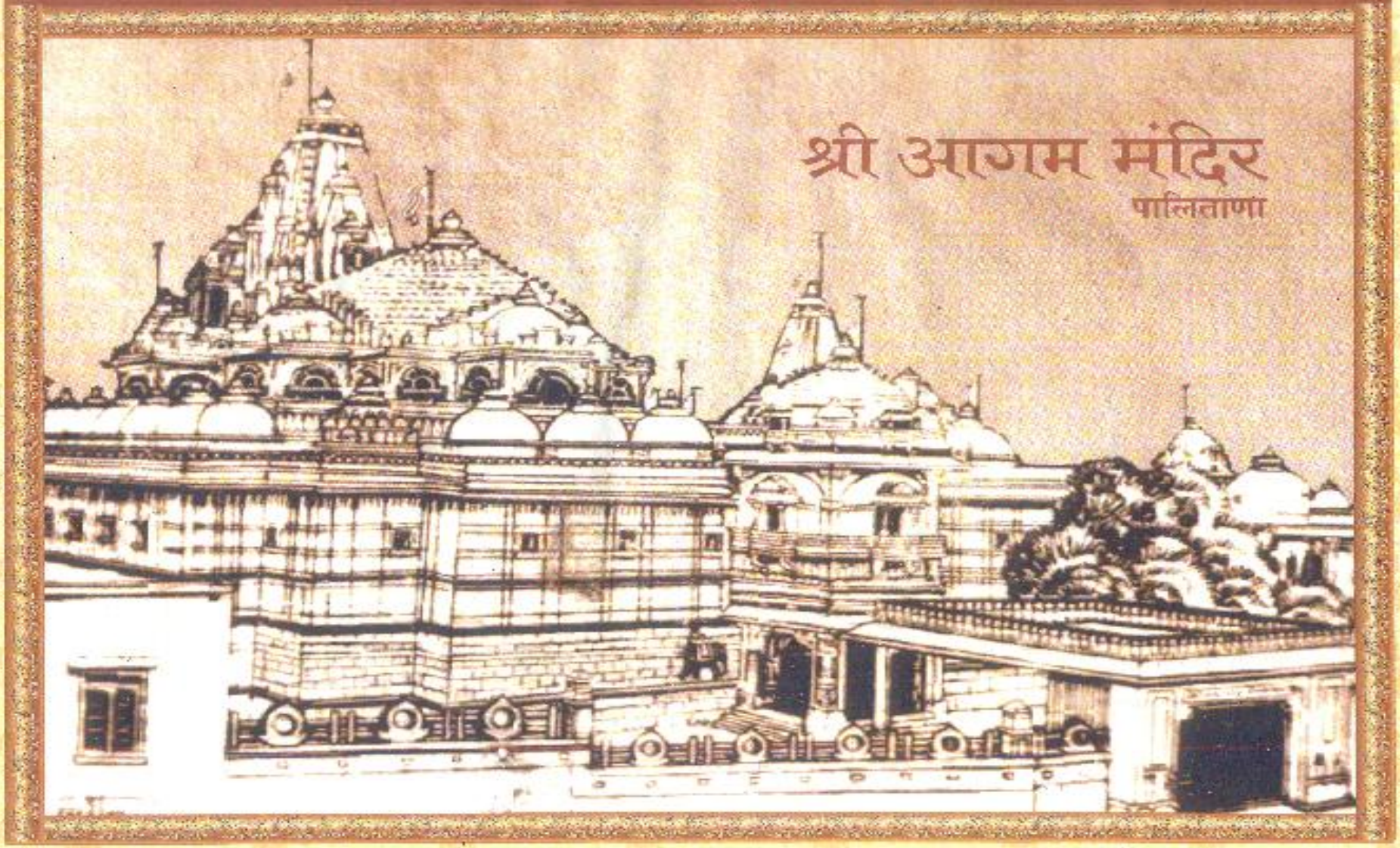
मूल संशोधक :- पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यश्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराजसाहेब

अभिनव-संकलनकर्ता :- आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी [M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

पूज्य शासनप्रभावक आचार्यश्री हर्षसागरसूरिजी की प्रेरणा से

'वर्धमान जैन आगम मंदिर संस्था' पालिताणा

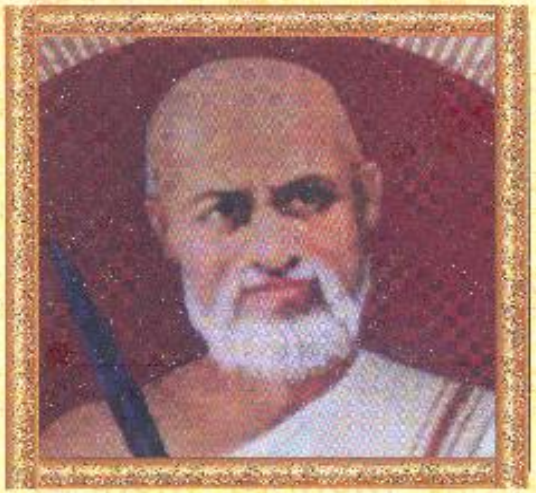
ईस प्रोजेक्ट के संपूर्ण-अनुदान-दाता



नमो नमो निम्मलदंसणस्स

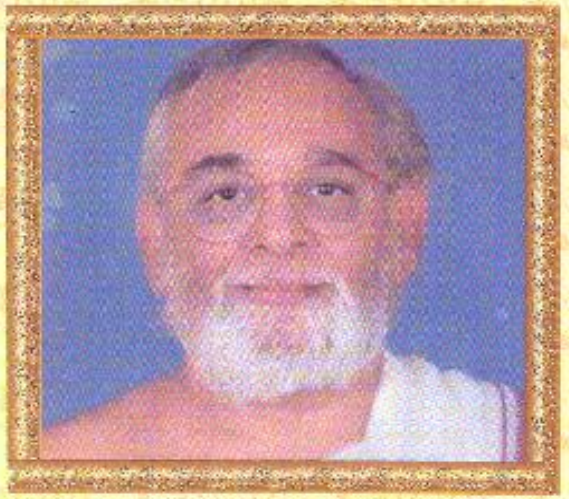
सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि

मूल संशोधक



पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य
श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज

अभिनव-संकलनकर्ता



आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी
[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

प्रत-प्राप्ति और पेज-सेटिंग कर्ता : www.jainelibrary.org के चेरमन श्री प्रवीणभाई शाह, अमेरिका
मुद्रक : नवप्रभात प्रिन्टींग प्रेस अमदावाद Mo 9825598855 / 9825306275



आगम

वाचना शताब्दी वर्ष

[भाग-३२] श्रीओघनिर्युक्तिः (मूलसूत्रम्-२/१)

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

पूज्य आनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर गुरूभ्यो नमः

[आगम-४१/१] “ओघनिर्युक्ति” मूलं एवं वृत्तिः

[मूल-निर्युक्तिः + भाष्यं + द्रोणाचार्य विरचिता वृत्तिः]

[आद्य संपादकश्री]

पूज्य आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागर सूरीश्वरजी म॰ सा॰

(किञ्चित् वैशिष्ठ्यं समर्पितेन सह)

पुनः संकलनकर्ता→ मुनि दीपरत्नसागर (M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि)

28/07/2017, शुक्रवार, २०७३ श्रावण शुक्ल ५ ‘सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि’ श्रेणि भाग-32

श्री आगमोद्धारक-वाचना-शताब्दी-वर्ष-निमित्त ‘आगम-वृत्ति-मुद्रण-प्रोजेक्ट’

सामाचारी-संरक्षक, ज्ञानधनी, आगम-संशोधक, तीव्र-मेधावी, समाधिमृत्यु-प्राप्त, बहुमुखीप्रतिभाधारक

पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

◆ जिन्होने शुद्ध-श्रद्धा, सम्यक्-श्रुत आराधना, यथाख्यातचारित्र के प्रति गति और अंत समय देह-ममत्व के त्याग के द्वारा कायोत्सर्ग नामक अभ्यंतर-तप कि मिशाल कायम कि है ऐसे बहुश्रुत आचार्य श्री सागरानंदसूरीश्वरजी महाराज का परिचय कराना मेरे लिए नामुमकिन है, फ़िर भी गुरुभक्ति बुद्धि से श्रद्धांजली स्वरुप एक मामुली सी झलक पैस करने का यह प्रयास मात्र है |

◆ चारित्र-ग्रहण के बाद अल्प कालमे जो अपने गुरुदेव की छत्रछाया से दूर हो गये, तो भी गुरुदेव के स्वर्ग-गमन को सिर्फ़ कर्मो का प्रभाव मानकर अपने संयम के लक्ष्य प्रति स्थिर रहते हुए अकेले ज्ञान-मार्ग कि साधना के पथ पर चले | पढाई के लिए ही कितने महिनो तक रोज एकासणा तप के साथ बारह किल्लोमिटर पैदल विहार भी किया | लेकिन अपने मंझिल पे डटे रहे, और परिणाम स्वरुप संस्कृत एवं प्राकृत भाषा का, प्राचीन लिपिओ का, व्याकरण-न्याय-साहित्य आदि का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया | जैन आगमशास्त्रो के समुद्र को भी पार कर गए|

◆ एक अकेला आदमी भी क्या नहीं कर शकता? इस प्रश्न का उत्तर हमें इस महापुरुष के जीवन और कवन से मिल गया, जब वे चल पड़े देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के स्थापित पथ पर. बिना किसी सहाय लिए हुए सिर्फ अकेले ही "जैन-आगम-शास्त्रो" को दीर्घजीवी बनाने के लिए अनेक हस्तप्रतो से शुद्ध-पाठ तैयार किये | दो वैकल्पिक आगम, कल्पसूत्र और निर्युक्तिओ को जोड़कर ४५ आगम-शास्त्रो को संशोधित कर के संपादित किया | फिर पालीताणामें आगम मंदिर बनवाकर आरस-पत्थर के ऊपर ये सभी आगम-साहित्य को कंडारा, सूरतमें ताम्रपत्र पर भी अंकित करवाए और "आगम मंजूषा" नाम से मुद्रण भी करवा के बड़ी बड़ी पेटीमें रखवा के गाँव गाँव भेज दिए | वर्तमानकालमे सर्व प्रथमबार ऐसा कार्य हुआ |

◆ सिर्फ मूल आगम के कार्य से ही उन के कदम रुके नही थे, उन्होंने आगमो की वृत्ति, चूर्णि, निर्युक्ति, अवचूरी, संस्कृत-छाया आदि का भी संशोधन-सम्पादन किया | उपयोगी विषयो के लिए उन्होंने एक लाख श्लोक प्रमाण संस्कृत-प्राकृत नए ग्रंथो की रचना भी की | कितने ही ग्रंथो की प्रस्तावना भी लिखी | ये सम्यक्-श्रुत मुद्रित करवाने के लिए आगमोदय समिति, देवचंद लालभाई इत्यादि विभिन्न संस्था की स्थापना भी की |

◆ ज्ञानमार्ग के अलावा सम्मेतशिखर, अंतरीक्षजी, केशरियाजी आदि तीर्थरक्षा कर के सम्यक-दर्शन-आराधना का परिचय भी दिया | राजाओं को प्रतिबोध कर के और वाचनाओ द्वारा अपनी प्रवचन-प्रभावकता भी उजागर करवाई | बालदिक्षा, देवद्रव्य-संरक्षण, तिथि-प्रश्न इत्यादि विषयोमे सत्य-पक्षमें अंत तक दृढ़ रहे | जैनशासन के लिए जब जरुरत पड़ी तब अदालती कारवाईंओ का सामना भी बड़ी निडरता से किया था |

◆ सागरानंदजी के नाम से मशहूर हो चुके पूज्य आनंदसागरसूरीश्वरजीने अपने परिवार स्वरुप ८७० साधू-साध्वीजी भी शासन को भेट किये |

...ये थे हमारे गुरुदेव "सागरजी"... *.....मुनि दीपरत्नसागर...*

संयमैकलक्षी, उपधान-तप-प्रेरक, चारित्र-मार्ग-रागी, प्रवचन-पटु, सुपरिवार-युक्त

पूज्य गच्छाधिपतिआचार्यदेव श्री देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

*** परमपूज्य आचार्यश्री आनंदसागरसूरीश्वरजी के पाट-परंपरामे हुए तिसरे गच्छाधिपति थे पूज्य आचार्य श्री देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी, जो एक पून्यवान् आत्मा थे, दीक्षा ग्रहण के बाद अल्पकालमे ही एक शिष्य के गुरु बन गये | फ़िर क्या ! शिष्यो कि संख्या बढती चली, बढ़ते हुए पुन्य के साथ-साथ वे आखिर 'गच्छाधिपति' पद पे आरूढ़ हो गए | इस महात्मा का पुन्य सिर्फ शिष्यों तक सिमित नही था, वे जहा कहीं भी 'उपधान-तप' की प्रेरणा करते थे, तुरंत ही वहां 'उपधान' हो जाते थे | प्रवचनपटुता एवं पर्षदापुन्य के कारण उन के उपदेश-प्राप्त बहोत आत्माओने संयम-मार्ग का स्वीकार किया | खुद भी संयमैकलक्षी होने के कारण चारित्रमार्ग के रागी तो थे ही, साथसाथ ज्ञानमार्ग का स्पर्श भी उन का निरंतर रहेता था | आप कभी भी दुपहर को चले जाइए, वे खुद अकेले या शिष्य-परिवार के साथ कोई भी ग्रन्थ के अध्ययन-अध्यापनमें रत दिखाई देंगे |

*** ये तो हमने उनके जीवन के दो-तीन पहेलु दिखाए | एक और भी अनुसरणीय बात उन के जीवनमें देखने को मिली थी- 'आराधना-प्रेम'. कैसी भी शारीरिक स्थिति हो, मगर उन्होंने दोनों शाश्वती ओलीजी, [पोष}दशमी, शुक्ल पंचमी, त्रिकाल देववंदन, पर्व या पर्वतिथि के देववंदन आदि आराधना कभी नहीं छोड़ी | आखरी सालोमें जब उन को एहसास हो गया की अब 'अंतिम-आराधना' का अवसर नजदीक है, तब उन के मुहमें एक ही रटण बारबार चालु हो गया- "*अरिहंतनुं शरण, सिद्धनुं शरण, साधुनुं शरण, केवली भगवंते भाखेला धर्मनुं शरण*" इसी चार शरणो के रटण के साथ ही वे समाधि-मृत्यु-रूप सम्यक् निद्रा को प्राप्त हुए थे | ऐसे महान् सूरिवर को भावबरी वंदना |

*** मुनि दीपरत्नसागर...

◆◆◆ श्री वर्धमान जैन आगम मंदिर संस्था, पालिताणा ◆◆◆

पूज्यपाद आनंदसागर-सूरीश्वरजी की बौद्धिक-प्रतिभा का मूर्तिमंत स्वरुप ऐसी इस संस्था की स्थापना विक्रम-संवत १९९९ मे महा-वद ५ को हुइ| *पूज्य आचार्य हर्षसागरसूरिजी की प्रेरणा से* जिन की तरफ़ से इस *सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि* के लिए संपूर्ण द्रव्य-सहाय की प्राप्ति हुइ |

शिल्प-स्थापत्य, शिलोत्कीर्ण आगम और समवसरण स्थित नयनरम्य ४५ चौमुख जिन-प्रतिमाजी से सुशोभित ऐसा ये 'आगममंदिर' है, जो शत्रुंजय-गिरिराज कि तलेटीमे स्थित है | वर्तमान २४ जिनवर, २० विहरमान जिनवर और १ शाश्वत मिलाकर ४५ चौमुखजी यहा बिराजमान है | जहां ४० समवसरण की रचना मेरु पर्वत के तिनो काण्ड के वर्णो के अनुसार चार अलग-अलग रंगो के आरस-पत्थर से बना है, देवो द्वारा रचित समवसरण के शास्त्र वर्णन-अनुसार आगम-मंदिर कि समवसरण का स्थापत्य है | ऐसी अनेक विशेषता से युक्त ये आगममंदिर है |

**** मुनि दीपरत्नसागर...*

'सागर-समुदाय-एकता-संरक्षक, तीर्थ-उद्धार-कार्य-प्रवृत्त, गुणानुरागी'

इस "सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि' श्रेणि भाग १ से ४० के संपूर्ण अनुदान के प्रेरणादाता

पूज्य शासनप्रभावक आचार्य श्री हर्षसागरसूरिजी महाराज साहेब

पूज्यपाद स्व॰ गच्छाधिपति देवेन्द्रसागर-सूरीश्वरजी के विनयी शिष्य एवं दो गच्छाधिपतिओ के मुख्य सहायक के रुपमे 'सागर समुदाय' के सुचारु संचालक पूज्य हर्षसागरसूरिजी, जिन की प्रेरणा से ये "सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि" के मुद्रण के लिए संपूर्ण द्रव्यराशि प्राप्त हुई, उनका अत्यल्प परिचय यहां करेंगे| समुदाय-एकता के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हुए ये महात्मा *समुदाय के साधु-साध्वीजी* की आवश्यकताओकी पूर्ती के लिए भी प्रवृत्त रहेते है, प्राचीन-अर्वाचीन तीर्थो के जीर्णोद्धार एवं विकाश के लिए भी उत्साहित रहेते है, ज्ञान-क्षेत्र अछूता न रहे इसीलिए अनुमोदना, अनुदान एवं समय मिलने पर शास्त्र-वांचनमें भी रूचि रखते है | समुदाय के जरूरतमंद साध्वीजी भगवंतो के आवास का विषय हो या साध्वीजी के विहारमें मजदूर का वेतन चुकाना हो, ऐसे छोटे-छोटे कार्यो के प्रति भी उन का लक्ष्य रहेता है | दर्शन-शुद्धि के लिए जब उन्होंने समग्र भारतवर्ष के १०० साल तक के पुराने जिनालयो में १८ अभिषेक की प्रेरणा की, उस वक्त लगभग सभी अभिषेक-सामग्री की द्रव्य-शुद्धि का ख़याल रखते हुए अपनी मेधावी बुद्धि का परिचय दिया था, साथमे अनुकंपा भाव से पुजारी या विधि करानेवाले को यत्किंचित् बहुमान प्रगट करते हुए कुछ धन-राशि प्रदान करवाई |

ऐसे बहुगुण-संपन्न महात्मा पूज्य आचार्यश्री हर्षसागर-सूरिजी को हम भावभरी वंदना करते हुए इस श्रुतकार्य का प्रारंभ करने जा रहे है |

**** मुनि दीपरत्नसागर*

[कात्रज]पूना, कपडवंज, प्रभासपाटण आदि स्थानोमे आगममंदिर के प्रेरक, कर्मग्रंथ अभ्यासु, निस्पृह महात्मा

पूज्यपाद गच्छाधिपति आचार्य श्री दौलतसागर-सूरीश्वरजी महाराज साहेब

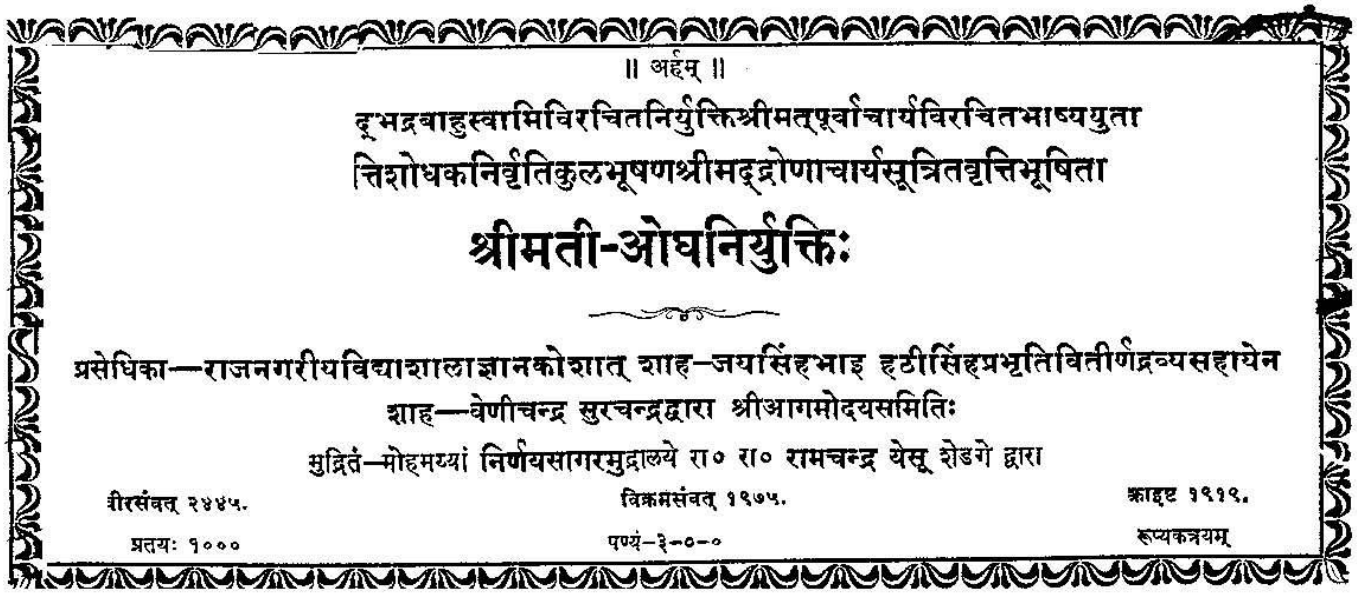
(एवं) अजातशत्रु, स्वाध्याय-रसिक, प्रशांतमूर्ती और अपने गुरु के प्रीतिपात्र

परम पूज्य आचार्य श्री नंदीवर्धनसागर-सूरिजी महाराज साहेब

इस पवित्र श्रुत-कार्यमे दोनो सूरिवरो का स्मरण करते हुए कोटि कोटि वंदना के साथ

.....मुनि दीपरत्नसागर

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||–|| दीप अनुक्रम [–]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः



॥ अर्हम् ॥

द्रभद्रबाहुस्वामिविरचितनिर्युक्तिश्रीमत्पूर्वाचार्यविरचितभाष्ययुता

त्तिशोधकनिर्वृतिकुलभूषणश्रीमद्द्रोणाचार्यसूत्रितवृत्तिभूषिता

श्रीमती-ओघनिर्युक्तिः

प्रसेधिका—राजनगरीयविद्याशालाज्ञानकोशात् शाह–जयसिंहभाइ हठीसिंहप्रभृतिवितीर्णद्रव्यसहायेन

शाह—वेणीचन्द्र सुरचन्द्रद्वारा श्रीआगमोदयसमितिः

मुद्रितं—मोहमय्यां निर्णयसागरमुद्रालये रा० रा० रामचन्द्र येसू शेडगे द्वारा

वीरसंवत् २४४५.	विक्रमसंवत् १९७५.	क्राइष्ट १९१९.
प्रतयः १०००	पण्यं–३–०–०	रूप्यकत्रयम्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	ओघनिर्युक्ति सूत्रस्य मूल "टाइटल पेज"

मूलांक:	विषय:	पृष्ठांक:	मूलांक	विषय:	पृष्ठांक:	मूलांक:	विषय:	पृष्ठांक:
०००१	मंगलं, प्रस्तावना-गाथा:	०१२	००२१	प्रतिलेखना-द्वारम्	०३५	०५४७	पिण्ड-द्वारम्	२६६
१००७	उपधिप्रमाण-द्वारम्	४२५	१११५	अनावर्तनवर्जन-द्वारम्	४५६	११४०	प्रतिसेवना-द्वारम्	४६०
११४३	आलोचना-द्वारम्	४६१	११४७	विशोधि-द्वारम्	४६१	११६३	उपसंहार-गाथा:	४६५

[ओघनिर्युक्ति- मूलं एवं वृत्ति:] इस प्रकाशन की विकास-गाथा

यह प्रत सबसे पहले "श्री ओघनिर्युक्ति:" के नामसे सन १९१९ (विक्रम संवत १९७५) में आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित हुई, इस के संपादक-महोदय थे पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी (सागरानंदसूरिजी) महाराज साहेब | हमने जब "आगमसुत्ताणि" (सटीकं) नामसे ४५ आगम-सटीकं का प्रकाशन करवाया तब हमारे संपादन कार्यमे इसी प्रत का सहारा लेकर हमने भी "ओघनिर्युक्ति-सटीकं" का पुन: संपादन एवं प्रकाशन किया है | जो "आगमसुत्ताणि" (सटीकं) के २६ वे भागमे मुद्रित हुआ है, और इन्टरनेट पर भी "आगमसुत्ताणि" (सटीकं) ४१/१ के रुपमे है| जीसे हमारे द्वारा प्रकाशित 'डीवीडी' मे भी स्थान दिया है |

✤ हमारा ये प्रयास क्यों? ✤ आगम की सेवा करने के हमें तो बहोत अवसर मिले, ४५-आगम सटीक भी हमने ३० भागोमे १२५०० से ज्यादा पृष्ठोमें प्रकाशित करवाए है, किन्तु लोगो की पूज्यश्री सागरानंदसूरीश्वरजी के प्रति श्रद्धा तथा प्रत स्वरुप प्राचीन प्रथा का आदर देखकर हमने इसी प्रत को स्केन करवाई, उसके बाद एक स्पेशियल फोरमेट बनवाया, जिसमे बीचमे पूज्यश्री संपादित प्रत ज्यों की त्यों रख दी, ऊपर शीर्षस्थानमे आगम का नाम, फिर मूलसूत्र-निर्युक्ति-भाष्य आदि के नंबर लिख दिए, ताँकि पढ़नेवाले को प्रत्येक पेज पर कौनसा सूत्र, निर्युक्ति, भाष्य आदि चल रहे है उसका सरलता से ज्ञान हो शके |

बायीं तरफ आगम का क्रम और इसी प्रत का निर्युक्ति/भाष्य/प्रक्षेप का सूत्रक्रम दिया है, उसके साथ वहाँ 'दीप अनुक्रम' भी दिया है, जिससे हमारे प्राकृत, संस्कृत, हिंदी गुजराती, इंग्लिश आदि सभी आगम प्रकाशनोमें प्रवेश कर शके | हमारे अनुक्रम तो प्रत्येक प्रकाशनोमें एक सामान और क्रमशः आगे बढते हुए ही है, इसीलिए सिर्फ क्रम नंबर दिए है, मगर प्रत में गाथा आदि के नंबर अलग-अलग होने से हमने उसे अलग-अलग दिए है और उसके लिए ||-|| ऐसी दो लाइन खींची या 'गाथा' आदि शब्द लिख दिया है | अनेक स्थानोमे पृष्ठ के नीचे विशिष्ठ फूटनोट्स भी दी है |

शासनप्रभावक पूज्य आचार्यश्री हर्षसागरसूरिजी म०सा० की प्रेरणासे और श्री वर्धमान जैन आगममंदिर, पालिताणा की संपूर्ण द्रव्य सहाय से ये 'सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि' भाग-३२ का मुद्रण हुआ है, हम उन के प्रति हमारा आभार व्यक्त करते है |

.....मुनि दीपरत्नसागर.

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||–||

दीप अनुक्रम [–]

॥ अर्हम् ॥

अनूनश्रुतकेवलिश्रीमद्भद्रबाहुस्वामिमिश्रैरुद्धृता

अखण्डपाण्डित्ययुतश्रीद्रोणाचार्यकृतविवृतियुता

श्रीओघनिर्युक्तिः

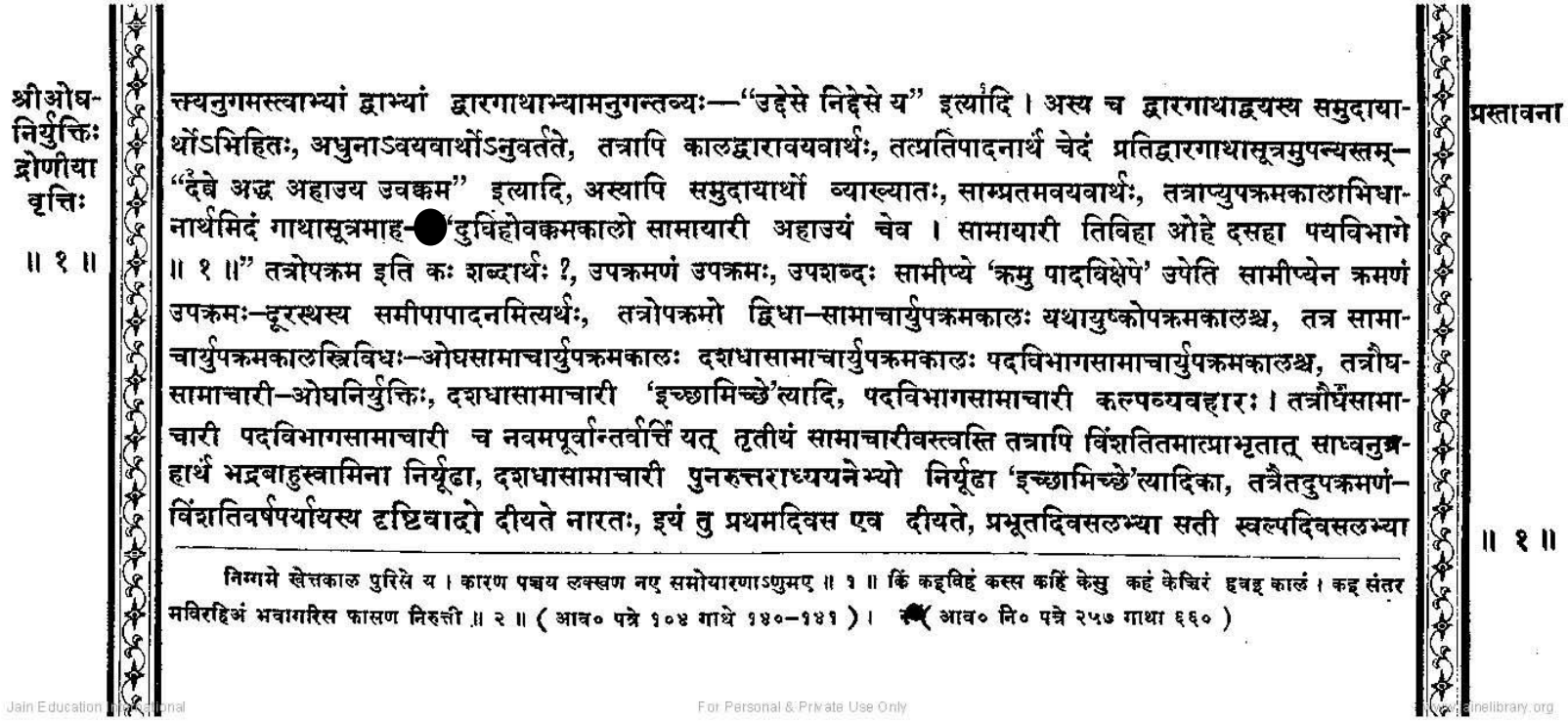
नमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं,
एसो पंचनमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो। मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥ १ ॥

अर्हद्भ्यस्त्रिभुवनराजपूजितेभ्यः, सिद्धेभ्यः सितघनकर्मबन्धनेभ्यः। आचार्यश्रुतधरसर्वसंयतेभ्यः, सिद्ध्यर्थी सततमहं नमस्करोमि ॥ १ ॥ प्रक्रान्तोऽयमावश्यकानुयोगः, तत्र च सामायिकाध्ययनमनुवर्तते, तस्य च चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति महापुरस्येव, तद्यथा—उपक्रमः निक्षेपः अनुगमः नय इति, एतेषां चाध्ययनादौ उपन्यासे इत्थं च क्रमोपन्यासे प्रयोजनमभिहितम् , तत्रोपक्रमनिक्षेपावुक्तौ, अधुनाऽनुगमावसरः, स च द्विधा—निर्युक्त्यनुगमः सूत्रानुगमश्च, तत्र निर्युक्त्यनुगमस्त्रेधा–निक्षेपोपोद्घातसूत्रस्पर्शनिर्युक्त्यनुगमभेदात् , तत्र निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमोऽनुगतो वक्ष्यमाणश्च,उपोद्घातनिर्यु-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

*** नमस्कार महामंगलं एवं प्रस्तावना

आगम (४१/१)	[भाग-३२] "ओघनिर्युक्ति"– मूलसूत्र-२/१ (मूलं+निर्युक्तिः+वृत्तिः) मूलं [१] ●➔ "निर्युक्तिः [–] + भाष्यं [–] + प्रक्षेपं [१-३]" ←●
प्रत गाथांक नि/भा/प्र ॥१॥ दीप अनुक्रम [१-३]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः



श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः ॥ १ ॥

स्त्यनुगमस्त्वाभ्यां द्वाभ्यां द्वारगाथाभ्यामनुगन्तव्यः—"उद्देसे निद्देसे य" इत्यादि । अस्य च द्वारगाथाद्वयस्य समुदायार्थोऽभिहितः, अधुनाऽवयवार्थोऽनुवर्तते, तत्रापि कालद्वारावयवार्थः, तत्प्रतिपादनार्थं चेदं प्रतिद्वारगाथासूत्रमुपन्यस्तम्—"दुवे अद्ध अहाउय उवक्कम" इत्यादि, अस्यापि समुदायार्थो व्याख्यातः, साम्प्रतमवयवार्थः, तत्राप्युपक्रमकालाभिधानार्थमिदं गाथासूत्रमाह—●"दुविहोवक्कमकालो सामायारी अहाउयं चेव । सामायारी तिविहा ओहे दसहा पयविभागे ॥ १ ॥" तत्रोपक्रम इति कः शब्दार्थः ?, उपक्रमणं उपक्रमः, उपशब्दः सामीप्ये 'क्रमु पादविक्षेपे' उपेति सामीप्येन क्रमणं उपक्रमः—दूरस्थस्य समीपापादनमित्यर्थः, तत्रोपक्रमो द्विधा—सामाचार्युपक्रमकालः यथायुष्कोपक्रमकालश्च, तत्र सामाचार्युपक्रमकालस्त्रिविधः—ओघसामाचार्युपक्रमकालः दशधासामाचार्युपक्रमकालः पदविभागसामाचार्युपक्रमकालश्च, तत्रौघसामाचारी—ओघनिर्युक्तिः, दशधासामाचारी 'इच्छामिच्छे'त्यादि, पदविभागसामाचारी कल्पव्यवहारः । तत्रौघसामाचारी पदविभागसामाचारी च नवमपूर्वान्तर्वर्त्ति यत् तृतीयं सामाचारीवस्त्वस्ति तत्रापि विंशतितमात्प्राभृतात् साध्वनुग्रहार्थं भद्रबाहुस्वामिना निर्यूढा, दशधासामाचारी पुनरुत्तराध्ययनेभ्यो निर्यूढा 'इच्छामिच्छे'त्यादिका, तत्रैतदुपक्रमणं—विंशतिवर्षपर्यायस्य दृष्टिवादो दीयते नारतः, इयं तु प्रथमदिवस एव दीयते, प्रभूतदिवसलभ्या सती स्वल्पदिवसलभ्या

प्रस्तावना

॥ १ ॥

निग्गमे खेत्तकाल पुरिसे य । कारण पच्चय लक्खण नए समोयारणाऽणुमए ॥ १ ॥ किं कइविहं कस्स कहिं केसु कहं केच्चिरं हवइ कालं । कइ संतर मविरहिअं भवागरिस फासण निरुत्ती ॥ २ ॥ (आव० पत्रे १०४ गाथे १४०–१४१) । ●(आव० नि० पत्रे २५७ गाथा ६६०)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	● अत्र त्रयः प्रक्षेप-गाथाः वर्तते, एका गाथा अत्र दृश्यते, शेषे द्वे गाथे मया पूज्यपाद सागरानन्दसूरिजी संपादित "आगममंजुषा"याः उद्धरितं. ते द्वे . गाथे मत्संपादित "आगमसुत्ताणि-मूलं" एवं "आगमसुत्ताणि-सटीकं" पुस्तक-द्वये मुद्रितं वार्तेते।

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ॥१॥ दीप अनुक्रम [४]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

कृतेत्यर्थः, एवं पदविभागसामाचारी दशधासामाचार्यपीति । तत्रौघसामाचारी तावदभिधीयते, अस्याश्च महार्थत्वात् कथञ्चिच्छास्त्रान्तरत्वाच्चादावेवाचार्यो मङ्गलार्थं संबन्धादित्रयप्रतिपादनार्थं च गाथाद्वयमाह—

अरहंते वंदित्ता चउदसपुव्वी तहेव दसपुव्वी । एक्कारसंगसुत्तत्थधारए सव्वसाहू य ॥ १ ॥

ओहेण उ निज्जुत्तिं वुच्छं चरणकरणाणुओगाओ । अप्पक्खरं महत्थं अणुग्गहत्थं सुविहियाणं॥२॥जुयलं।

अत्राह—किमर्थं शास्त्रारम्भे मङ्गलं क्रियते ? इति, उच्यते, विघ्नविनायकोपशमनार्थं, तथा चोक्तम्—"श्रेयांसि बहुविघ्नानि, भवन्ति" इत्यादि, श्रेयोभूता चेयमतो मङ्गलं कर्तव्यं, तच्च नामादिभेदेन चतुर्धा, तत्र नामस्थापने सुज्ञाने, द्रव्यमङ्गलं दध्यादि, तच्चानेकान्तिकमनात्यन्तिकं च, भावमङ्गलमर्हदादिनमस्कारः, तच्चैकान्तिकमात्यन्तिकं च । तदनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या क्रियते–सा च लक्षणान्विता नालक्षणेति, लक्षणं च संहितादि, "संहिता च पदं चैव" इत्यादि, तत्रास्खलितपदोच्चारणं संहिता, सा चेयम्—'अरहंते वंदित्ता' इत्यादिका । अधुना पदानि प्रतन्यन्ते–अर्हतो वन्दित्वा चतुर्दशपूर्विणः तथैव दशपूर्विणः । एकादशाङ्गसूत्रार्थधारकान् सर्वसाधूंश्च । एतावन्ति पदान्याद्यगाथासूत्रे, द्वितीयगाथासूत्रपदान्युच्यन्ते–ओघेन तु निर्युक्तिं वक्ष्ये चरणकरणानुयोगात् अल्पाक्षरां महार्थाम् अनुग्रहार्थं सुविहितानाम्, एतावन्ति पदानि । अधुना पदार्थः—'अरहंते' इत्यादि, अशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यादिरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः तान् अर्हतः, 'वंदित्ता' इति 'वदि अभिवादनस्तुत्योः' स्तुत्वेत्यर्थः, समानकर्तृकयोः पूर्वकाले क्त्वाप्रत्ययो भवतीति वन्दित्वा, किम् ?—'ओघनिर्युक्तिं वक्ष्ये' इति द्वितीयगाथाक्रियया सह योगः, किमर्हत एव वन्दित्वा ?, नेत्याह—'चतुर्दशपूर्विणश्च' चतुर्दश

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ २ ॥

पूर्वाणि विद्यन्ते येषां ते चतुर्दशपूर्विणस्तांश्च, वन्दित्वेति सर्वत्र क्रिया मीलनीया, किं तानेव ?, नेत्याह—'तथैव दशपूर्विणश्च' 'तथे'ति आगमोक्तेन प्रकारेण एवेति क्रमनियमप्रतिपादनार्थः अनेनैव क्रमेण दशपूर्विण इति, दश पूर्वाणि विद्यन्ते येषां ते दशपूर्विणः, न केवलं तानेव, 'एकादशाङ्गसूत्रार्थधारकान्' एकादश च तान्यङ्गानि च एकादशाङ्गानि एकादशाङ्गानां सूत्रार्थौ एकादशाङ्गसूत्रार्थौ तौ धारयन्ति ये तान् एकादशाङ्गसूत्रार्थधारकान्। 'सर्वसाधूंश्च' इति सर्वे साधयन्तीति सर्वसाधवः अथवा सर्वे च ते साधवश्च सर्वसाधवः तान् सर्वसाधूंश्च वन्दित्वा, चशब्दः समुच्चये, अथवाऽनुक्तसमुच्चये, यच्च समुच्चितं तत्प्रतिपादयिष्यामः। पदविग्रहस्तु यानि समासभाञ्जि पदानि तेषां प्रतिपादितः। अधुना चालनाया अवसरः सा प्रतिपाद्यते, एवं व्याख्याते सत्याह परः–सर्वमेवेदं गाथासूत्रं न घटते, कथम् ?, इह 'ओघनिर्युक्तिं वक्ष्ये' इति प्रतिज्ञा, सा च प्रथममेव नमस्कारसूत्रे न संपादिता, यदुत नमस्कारोऽपि संक्षेपेणैवाभिधातव्यः, न चासौ संक्षेपेण प्रतिपादितः, अपि त्वर्हन्नमस्कार एव केवलः संक्षेपनमस्कारो भवति, स एव कर्तव्यो, न चतुर्दशपूर्वधरादिनमस्कारः, अथ क्रियते, एवं तर्हि एकैकस्या व्यक्तेर्नमस्कारः कर्तव्यः, किं दशपूर्व्यादिनमस्कारेणेति, चतुर्दशपूर्विनमस्कारेणैव शेषाणां नमस्कारो भविष्यतीति, अथ भेदेन क्रियते एवं तर्हि त्रयोदशपूर्वधरादीनामेकैकपूर्वहान्या तावत्कर्तव्यो यावत्पूर्वैकदेशधराणामिति, अत्रोच्यते, यदित्थं चोद्यं क्रियते तदविज्ञायैव परमार्थं, कथम् ?, यदुक्तं तावत् संक्षेपग्रन्थोऽयं तदत्र नमस्कारोऽपि संक्षेपेण कर्तव्य इति, अत्र तावत्प्रतिविधीयते–येनैव संक्षेपग्रन्थोऽयं तेनैव लक्षणेनेत्थं नमस्कारः कृतः, तथाहि–सामान्येनार्हतां नमस्कारोऽभिहितः न विशेषेण एकैकस्य तीर्थकरस्य, तथा भगवतामुपकारित्वान्नमस्कारः क्रियते, येऽप्यमी चतुर्दशपूर्व-

मङ्गलादि नि. १-२

॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धरास्तेऽप्युपकारका एव, कथमिति चेत्, अर्थद्वारेण तीर्थकरा उपकारकाः, सूत्रतस्तु चतुर्दशपूर्वधरा गणधराः, यत उक्तम्—"[1]अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणा।" इत्यादि, अत उपकारकास्त इति, अथवा द्विधोपकारः—व्यवहितोऽव्यवहितश्च, तत्र भगवन्तोऽर्हन्तः व्यवहितोपकारकत्वेन व्यवस्थिताः, चतुर्दशपूर्वधरास्त्वस्यानन्तरोपकारकत्वेन, अतश्चतुर्दशपूर्वधरनमस्कारः कृतः, सर्वाश्चतुर्दशपूर्वधरव्यक्तय आगृहीता अनेन नमस्कारेणेति, यच्चोक्तम्–चतुर्दशपूर्विनमस्कारेणैव शेषाणां दशपूर्व्यादीनां नमस्कारो भविष्यति किं दशपूर्व्यादिनमस्कारेणेति ?, अथ भेदेन क्रियते एवं तर्हि त्रयोदशपूर्वधरादीनामेकैकपूर्वहान्या तावत्कर्तव्यो यावत्पूर्वैकदेशधराणामिति, एतदप्यसाधु,कथम् ?, यतो दशपूर्वधरा अपि शासनस्योपकारका उपाङ्गादीनां संग्रहण्युपरचनेन हेतुना,अथवाऽस्यामवसर्पिण्यां चतुर्दशपूर्व्यनन्तरं दशपूर्वधरा एव संजाता-न त्रयोदशपूर्वधरा द्वादशपूर्वधरा एकादशपूर्वधरा वा इत्यस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थं चतुर्दशपूर्वधरानन्तरं दशपूर्विनमस्कारोऽभिहितः, अथवाऽन्यत्प्रयोजनम्–अर्थतस्तीर्थकरप्रणीतं सूत्रतो गणधरोपनिबद्धं चतुर्दशपूर्वधरोपनिबद्धं दशपूर्वधरोपनिबद्धं प्रत्येकबुद्धोपनिबद्धं च प्रमाणभूतं सूत्रं भवतीत्यस्य प्रतिपादनार्थं दशपूर्विनमस्कारः कृतः, तथा चोक्तम्—"अर्हत्प्रोक्तं गणधरदृब्धं प्रत्येकबुद्धदृब्धं च। स्थविरग्रथितं च तथा प्रमाणभूतं त्रिधा सूत्रम् ॥ १ ॥" इति, अथवाऽन्यत्प्रयोजनम्–चतुर्दशपूर्विणो दशपूर्विणश्च नियमेनैव सम्यग्दृष्टय इति प्रदर्शनार्थं तन्नमस्कारः, अथवा यदुक्तं 'त्रयोदशपूर्वधरादीनामेकैकहान्या तावन्नमस्कारो वाच्यो यावदेकदेशपूर्वधराणा'मिति, सैव हानिरित्थमुक्ता यदुत प्रभूतहान्या हानिर्वाच्या, सा च व्यन्तरे

१ अर्थं भाषतेऽर्हन् सूत्रं ग्रथ्नन्ति गणधरा निपुणं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२||

दीप अनुक्रम [५]

श्रीओघ-नियुक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ३ ॥

प्रतिपादिता भवति, अतः पूर्वत्रयमुल्लङ्घ्य दशपूर्विणां ग्रहणम्, एवं नवादिष्वपि योज्यम्, एवं व्याख्याते सत्याह परः–गुणाधिकस्य वन्दनं कर्तव्यं, न त्वधमस्य, यत उक्तम्—"गुणाहिए वंदणयं" भद्रबाहुस्वामिनश्चतुर्दशपूर्वधरत्वात् दशपूर्वधरादीनां च न्यूनत्वात्तत्किं तेषां नमस्कारमसौ करोति? इति, अत्रोच्यते, गुणाधिका एव ते, अव्यवच्छित्तिगुणाधिक्यात्, अतो न दोष इति। एवं व्याख्याते सत्याह परः–एकादशाङ्गसूत्रार्थधारकाणां किमर्थं क्रियते? इति, उच्यते, इह चरणकरणात्मिका ओघनिर्युक्तिः, एकादशाङ्गसूत्रार्थधारिणश्च चरणकरणवन्त एव, एकादशानामङ्गानां चरणकरणानुयोगत्वात्, उपयोगित्वेनांशेन तेषां नमस्कार इति। साधूनां किमर्थमिति चेत्, ते तु चरणकरणनिष्पादकाः, तदर्थं चायं सर्व एव प्रयास इति। अथवाऽन्यथा व्याख्यायते इदं गाथासूत्रम्–अनेन गाथासूत्रेण पञ्चनमस्कारः प्रतिपाद्यते, न च पञ्चनमस्काराल्लघुतरोऽन्योऽस्ति नमस्कार इत्यतो भद्रबाहुस्वामिना स एव कृत इति, कथम्?, 'अरहंते वंदित्ता' इत्यनेनार्हन्नमस्कारः, 'चउदसपुव्वी तहेव दसपुव्वी एक्कारसंगसुत्तत्थधारए' इत्यनेनाचार्योपाध्यायनमस्कारः, यतः सूत्रप्रदा उपाध्याया अर्थप्रदा आचार्या इति। एवं व्याख्याते सत्याह–एवं तर्हि 'अर्थसूत्रधारकान्' इत्येव वक्तव्यम्, आचार्योपाध्यायपदयोरेवं क्रमेण व्यवस्थितत्वात्, तत्कथमेतत्? इति, अत्रोच्यते, नावश्यमाचार्योपाध्यायैर्भिन्नैर्भवितव्यम्, अपि तु क्वचिदसावेव सूत्रं शिष्येभ्यः प्रयच्छत्यसावेव चार्थमतः 'सूत्रार्थधारकान्' इत्येवमुपन्यस्तम्। 'सर्वसाधूंश्च' इत्यनेन तु साधुनमस्कारः प्रतिपादितः। सर्वशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, ततोऽयमर्थो भवति–सर्वानर्हतः, एवं चतुर्दशपूर्वधरादीनामपि मीलनीयं,

१ गुणाधिके वन्दनकं।

मङ्गलादि नि. १-२

॥ ३ ॥

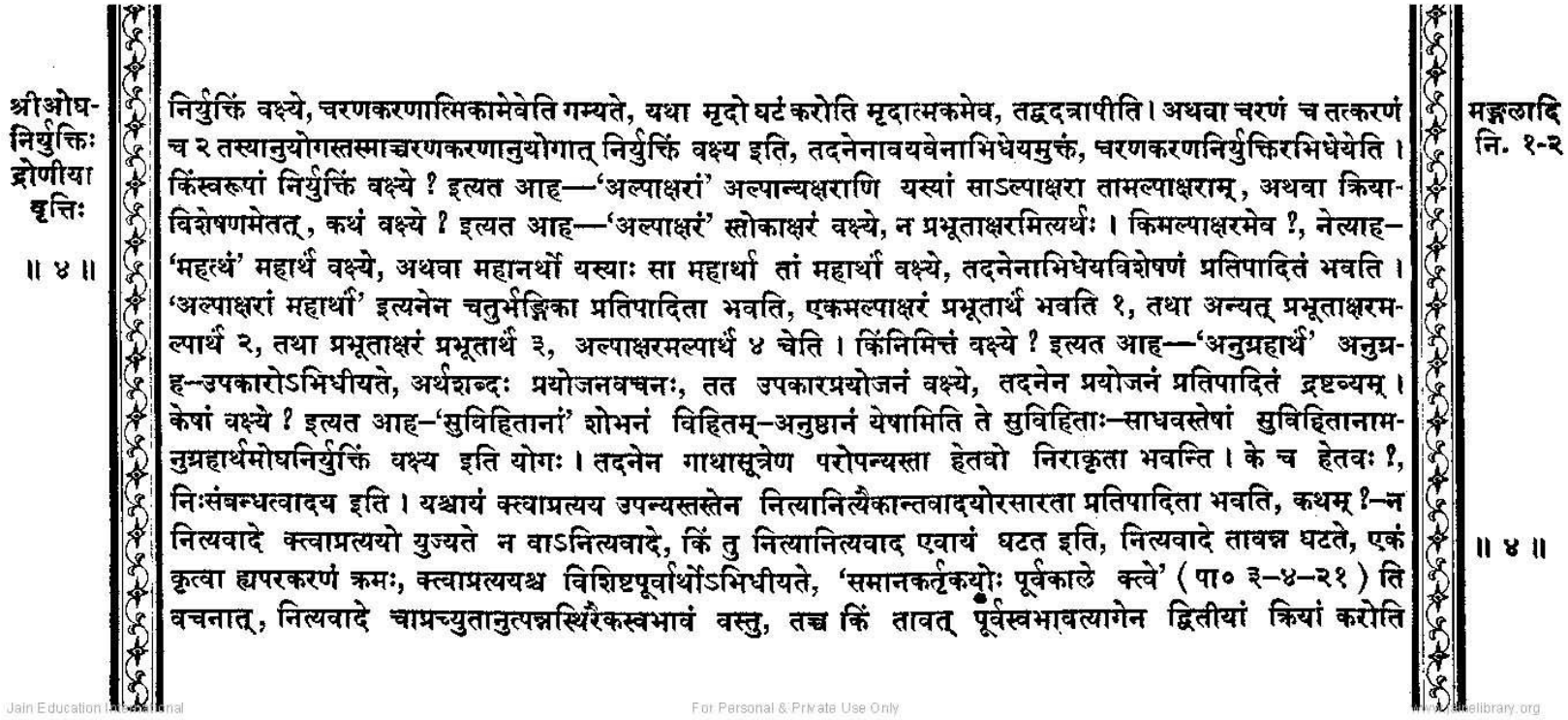
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

चशब्दात्सिद्धनमस्कारः । एवं व्याख्याते सत्याह–किमर्थं सिद्धनमस्कारः पश्चादभिधीयते ?, अपि त्वर्हन्नमस्कारानन्तरं वाच्य इति, अत्रोच्यते, यानि ह्यर्हदादीनि पदानि तेषां सर्वेषामेव सिद्धाः फलभूताः, अतः फलप्रतिपादनार्थं पश्चादुपन्यास इति, अथवाऽर्हन्नमस्कारेणैव सिद्धनमस्कारोऽप्यभिहितः, कारणे कार्योपचारमङ्गीकृत्य, सिद्धत्वस्य कारणभूतत्वादर्हतामित्यलं प्रसङ्गेनेति ॥ १ ॥ अधुना कृतमङ्गलः सन् संबन्धाभिधेयप्रयोजनत्रयप्रदर्शनार्थं द्वितीयं गाथासूत्रमाह—'ओहेण उ' इति, ओघः संक्षेपः समासः सामान्यमित्येकोऽर्थः, तेन ओघेन निर्युक्तिं वक्ष्ये इति योगः, तदनेन गाथाखण्डकेन संबन्धः प्रतिपादितः क्रियाऽऽनन्तर्यलक्षणः, तथा च व्यासक्रियायाः समासक्रिया अनन्तरभूता वर्तते, अतः क्रियाऽऽनन्तर्यलक्षणः संबन्धः, एवं कार्यकारणलक्षणोऽपि द्रष्टव्यः—कार्यम्–ओघनिर्युक्त्यर्थपरिज्ञानमनुष्ठानं च कारणं तु वचनरूपापन्ना ओघनिर्युक्तिरेव, एवं च साध्यसाधनादयोऽपि द्रष्टव्या इति । तुशब्दो विशेषणे, किं विशिनष्टि ?–ओघेन वक्ष्ये, तुशब्दात्किञ्चिद्विस्तरतोऽपि, "छप्पुरिमं" इत्यादि, निर्युक्तिं वक्ष्य इति–निः–आधिक्ये योजनं युक्तिः, सूत्रार्थयोर्योगो नित्यव्यवस्थित एवास्ते वाच्यवाचकतयेत्यर्थः, अधिका योजना निर्युक्तिरुच्यते, नियता निश्चिता वा योजनेति, ततश्च निर्युक्तियुक्तिरित्येवं वक्तव्ये एकस्य युक्तिशब्दस्य लोपं कृत्वा एवमुपन्यासः,यथोष्ट्रमुखी कन्येति । 'वोच्छं' इति वक्ष्ये' अभिधास्य इति यदुक्तं भवति, कुतो वक्ष्ये ? इत्यत आह—'चरणकरणानुयोगात्' चर्यत इति चरणं–वक्ष्यमाणलक्षणं व्रतादि क्रियत इति करणं–पिण्डविशुद्ध्यादि, चरणं च करणं च चरणकरणे तयोरनुयोगश्चरणकरणानुयोगः, अनुयोजनमनुयोगः अनुकूलो वा योगोऽनुयोगः, अथवाऽणु–सूत्रं महान्–अर्थः ततो महतोऽर्थस्याणुना सूत्रेण योगोऽनुयोगः, तस्माच्चरणकरणानुयोगात्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः



श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः ॥ ४ ॥

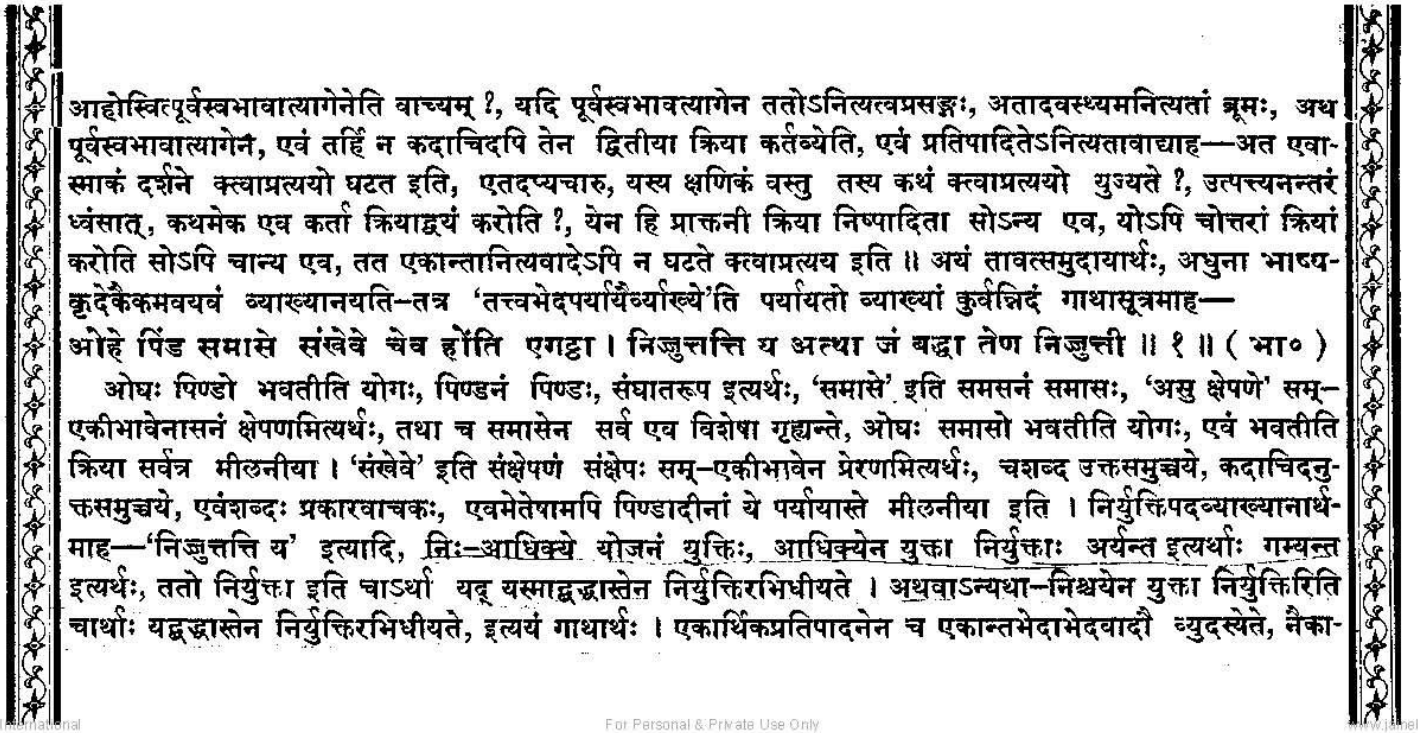
निर्युक्तिं वक्ष्ये, चरणकरणात्मिकामेवेति गम्यते, यथा मृदो घटं करोति मृदात्मकमेव, तद्वदत्रापीति। अथवा चरणं च तत्करणं च २ तस्यानुयोगस्तस्माच्चरणकरणानुयोगात् निर्युक्तिं वक्ष्य इति, तदनेनावयवेनाभिधेयमुक्तं, चरणकरणनिर्युक्तिरभिधेयेति। किंस्वरूपां निर्युक्तिं वक्ष्ये ? इत्यत आह—'अल्पाक्षरां' अल्पान्यक्षराणि यस्यां साऽल्पाक्षरा तामल्पाक्षराम्, अथवा क्रिया-विशेषणमेतत्, कथं वक्ष्ये ? इत्यत आह—'अल्पाक्षरं' स्तोकाक्षरं वक्ष्ये, न प्रभूताक्षरमित्यर्थः। किमल्पाक्षरमेव ?, नेत्याह– 'महत्थं' महार्थं वक्ष्ये, अथवा महानर्थो यस्याः सा महार्था तां महार्थां वक्ष्ये, तदनेनाभिधेयविशेषणं प्रतिपादितं भवति। 'अल्पाक्षरां महार्थां' इत्यनेन चतुर्भङ्गिका प्रतिपादिता भवति, एकमल्पाक्षरं प्रभूतार्थं भवति १, तथा अन्यत् प्रभूताक्षरम-ल्पार्थं २, तथा प्रभूताक्षरं प्रभूतार्थं ३, अल्पाक्षरमल्पार्थं ४ चेति। किंनिमित्तं वक्ष्ये ? इत्यत आह—'अनुग्रहार्थं' अनुग्र-ह–उपकारोऽभिधीयते, अर्थशब्दः प्रयोजनवचनः, तत उपकारप्रयोजनं वक्ष्ये, तदनेन प्रयोजनं प्रतिपादितं द्रष्टव्यम्। केषां वक्ष्ये ? इत्यत आह–'सुविहितानां' शोभनं विहितम्–अनुष्ठानं येषामिति ते सुविहिताः–साधवस्तेषां सुविहितानाम-नुग्रहार्थमोघनिर्युक्तिं वक्ष्य इति योगः। तदनेन गाथासूत्रेण परोपन्यस्ता हेतवो निराकृता भवन्ति। के च हेतवः ?, निःसंबन्धत्वादय इति। यश्चायं क्त्वाप्रत्यय उपन्यस्तस्तेन नित्यानित्यैकान्तवादयोरसारता प्रतिपादिता भवति, कथम् ?–न नित्यवादे क्त्वाप्रत्ययो युज्यते न वाऽनित्यवादे, किं तु नित्यानित्यवाद एवायं घटत इति, नित्यवादे तावन्न घटते, एकं कृत्वा ह्यपरकरणं क्रमः, क्त्वाप्रत्ययश्च विशिष्टपूर्वार्थोऽभिधीयते, 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले क्त्वे' (पा० ३–४–२१) ति वचनात्, नित्यवादे चाप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं वस्तु, तच्च किं तावत् पूर्वस्वभावत्यागेन द्वितीयां क्रियां करोति

मङ्गलादि नि. १-२

॥ ४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ॥१॥ दीप अनुक्रम [६]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः



आहोस्वित्पूर्वस्वभावात्यागेनेति वाच्यम् ?, यदि पूर्वस्वभावत्यागेन ततोऽनित्यत्वप्रसङ्गः, अतादवस्थ्यमनित्यतां ब्रूमः, अथ पूर्वस्वभावात्यागेन, एवं तर्हि न कदाचिदपि तेन द्वितीया क्रिया कर्तव्येति, एवं प्रतिपादितेऽनित्यतावाद्याह—अत एवास्माकं दर्शने क्त्वाप्रत्ययो घटत इति, एतदप्यचारु, यस्य क्षणिकं वस्तु तस्य कथं क्त्वाप्रत्ययो युज्यते ?, उत्पत्त्यनन्तरं ध्वंसात्, कथमेक एव कर्ता क्रियाद्वयं करोति ?, येन हि प्राक्तनी क्रिया निष्पादिता सोऽन्य एव, योऽपि चोत्तरां क्रियां करोति सोऽपि चान्य एव, तत एकान्तानित्यवादेऽपि न घटते क्त्वाप्रत्यय इति ॥ अयं तावत्समुदायार्थः, अधुना भाष्यकृदेकैकमवयवं व्याख्यानयति–तत्र 'तत्त्वभेदपर्यायैर्व्याख्ये'ति पर्यायतो व्याख्यां कुर्वन्निदं गाथासूत्रमाह—

ओहे पिंड समासे संखेवे चेव होंति एगट्ठा । निज्जुत्तत्ति य अत्था जं बद्धा तेण निज्जुत्ती ॥ १ ॥ (भा०)

ओघः पिण्डो भवतीति योगः, पिण्डनं पिण्डः, संघातरूप इत्यर्थः, 'समासे' इति समसनं समासः, 'असु क्षेपणे' सम्–एकीभावेनासनं क्षेपणमित्यर्थः, तथा च समासेन सर्व एव विशेषा गृह्यन्ते, ओघः समासो भवतीति योगः, एवं भवतीति क्रिया सर्वत्र मीलनीया । 'संखेवे' इति संक्षेपणं संक्षेपः सम्–एकीभावेन प्रेरणमित्यर्थः, चशब्द उक्तसमुच्चये, कदाचिदनुक्तसमुच्चये, एवंशब्दः प्रकारवाचकः, एवमेतेषामपि पिण्डादीनां ये पर्यायास्ते मीलनीया इति । निर्युक्तिपदव्याख्यानार्थमाह—'निज्जुत्तत्ति य' इत्यादि, निः–आधिक्ये योजनं युक्तिः, आधिक्येन युक्ता निर्युक्ताः अर्थन्त इत्यर्थाः गम्यन्त इत्यर्थः, ततो निर्युक्ता इति चाऽर्था यद् यस्माद्ग्रन्थास्तेन निर्युक्तिरभिधीयते । अथवाऽन्यथा–निश्चयेन युक्ता निर्युक्तिरिति चार्थाः यद्ग्रन्थास्तेन निर्युक्तिरभिधीयते, इत्ययं गाथार्थः । एकार्थिकप्रतिपादनेन च एकान्तभेदाभेदवादौ व्युदस्येते, नैका-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	'ओघ' एवं 'पिण्ड' शब्दस्य व्याख्या

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१||

दीप अनुक्रम [६]

न्तभेदपक्षे एकार्थिकानि युज्यन्ते, कथम् ?, यस्य ह्येकान्तेनैव सर्वे भावाः सर्वथा भिन्ना वर्तन्ते तस्य हि यथा घटशब्दात्पट-शब्दो भिन्नः एवं कुटशब्दोऽपि भिन्न एव तत्कथं घटशब्दस्य कुटशब्द एकार्थिको युज्यते ?, एकार्थिकत्वं हि कथञ्चिद्भेदे भवतीति, एवमेकान्ताभेदवादिनोऽपि न युज्यन्ते एकार्थिकानि, कथम् ?, यस्य ह्यभेदेन सर्वे भावा व्यवस्थितास्तस्य यथा घटशब्दस्य घटशब्दोऽभिन्न एकार्थिको न भवति एवं कुटादयोऽपि न युज्यन्ते, अभिन्नत्वात्, इत्यलं चसूर्येति ॥ १ ॥

अधुना चरणपदव्याख्यानार्थमिदं गाथासूत्रमाह—

वयं समणधम्म संजमं वेयावच्चं च बंभगुत्तीओ । नाणाइतियं तवं कोहनिग्गहाई चरणमेयं ॥ २ ॥ (भा०)

व्याख्या—भवतीति क्रियाऽनुवर्तते, व्रतादि चरणं भवतीति योगः, व्रतानि–प्राणातिपातादिनिवृत्तिरूपाणि 'समणधम्म'-त्ति श्रमणाः–साधवो धारयतीति धर्मः श्रमणानां धर्मः–क्षान्त्यादिकश्चरणं भवतीति सर्वत्र मीलनीयम् । 'संजमे'ति सम्–एकीभावेन यमः संयमः, उपरम इत्यर्थः, स च प्रेक्षोत्प्रेक्षादिरूपः सप्तदशप्रकारः 'वेयावच्च' इति व्यावृत्तस्य भावो वैया-वृत्त्यं, आचार्यादिभेदादशप्रकारं, चशब्दः समुच्चये, किं समुच्चिनोति ?, विनयश्च, 'बंभगुत्तीओ'त्ति ब्रह्म इति–ब्रह्मचर्यं तस्य गुप्तयो ब्रह्मचर्यगुप्तयः, चर्यशब्दलोपादेवमुपन्यासः कृतः, ताश्च वसत्यादिका नव ब्रह्मचर्यगुप्तयः, 'नाणाइतियं'ति ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्–आभिनिबोधिकादि तदादिर्यस्य ज्ञानादित्रयस्य तत् ज्ञानादि, आदिशब्दात् सम्यग्दर्शनचारित्रपरि-ग्रहः, ज्ञानादि च तत्त्रिकं च ज्ञानादित्रिकम् , 'तव' इति तापयतीति तपो–द्वादशप्रकारमनशनादि 'कोहनिग्गहाइ' इति 'क्रुध कोपे' क्रोधनं क्रोधः, निग्रहणं निग्रहः, क्रोधस्य निग्रहः क्रोधनिग्रहः स आदिर्यस्य मानादिनिग्रहकदम्बकस्य तत्को-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'चरण' पदस्य व्याख्या

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२||

दीप अनुक्रम [७]

धनिग्रहादि, चरणमेतत् । एवं व्याख्याते सत्याह परः–ननु व्रतान्तर्गतत्वाद् गुप्तयो न पृथक् कर्तव्याः, अथ परिकरभूताश्चतुर्थव्रतस्य ब्रह्मचर्यगुप्तयोऽभिधीयन्ते, एवं तर्ह्येकैकस्य व्रतस्य परिकरभूता भावना अपि वाच्याः, न च ज्ञानादित्रयस्य ग्रहणं कर्तव्यं, अपि तु ज्ञानसम्यग्दर्शनयोरेवोपन्यासः कर्तव्य इति, चारित्रस्य व्रतग्रहणेनैव ग्रहणात्, तथा श्रमणधर्मग्रहणेन संयमग्रहणं तपोग्रहणं चातिरिच्यते, संयमतपसी वोद्धृत्य श्रमणधर्मस्योपन्यासः कर्तव्यः, तथा तपोग्रहणे च सति वैयावृत्त्यस्योपन्यासो वृथा, चशब्दसमुच्चितस्य च विनयस्य, वैयावृत्त्यविनययोस्तपोऽन्तर्गतत्वात्, तथा क्षान्त्यादिधर्मग्रहणे च सति क्रोधादिनिग्रहग्रहणमनर्थकं, तदियं सर्वैव गाथा प्रलूनविशीर्णेति तत्कथमेतत् ? इति, अत्रोच्यते, अविज्ञायैव परमार्थमेवं चोद्यते, यदुक्तं–व्रतग्रहणे ब्रह्मगुप्तिज्ञानादित्रयोपन्यासो न कर्तव्यः तत्तावत्परिह्रियते–यदेतद्व्रतचारित्रं स एकांशो वर्तते चारित्रस्य, सामायिकादि च चारित्रं चतुर्विधमगृहीतमास्ते तद्ग्रहणार्थं ज्ञानादित्रयमुपन्यस्तं, व्रतग्रहणे ब्रह्मचर्यगुप्तयो यदभिधीयन्ते तद्ब्रह्मचर्यस्य निरपवादत्वं दर्शयति, तथा चोक्तम्—"[1]नवि किंचिवि पडिसिद्धं नाणुन्नायं च जिणवरिंदेहिं । मुत्तुं मेहुणभावं न विणा तं रागदोसेहिं ॥ १ ॥" अथवा पूर्वपश्चिमतीर्थकरतीर्थयोर्भेदेनैतत् महाव्रतं भवति, अस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थं भेदेनोपन्यासः कृत इति, यच्चोक्तं–श्रमणधर्मग्रहणे संयमतपसोर्न ग्रहणं कर्तव्यम्, श्रमणधर्मग्रहणेनैव गृहीतत्वात्तयोः, तदप्यसाधु, संयमतपसोः प्रधानमोक्षाङ्गत्वात्, कथं प्रधानत्वम् ? इति चेत् अपूर्वकर्माश्रवसंवरहेतुः संयमो वर्तते, पूर्वगृहीतकर्मक्षयहेतुश्च तपः, ततः प्रधानत्वमनयोः, अतो गृहीतयोरप्यनयोर्भेदेनोपन्यासः कृतः, दृष्ट-

१ नापि किञ्चिदपि प्रतिषिद्धं नानुज्ञातं च जिनवरेन्द्रैः । मुक्त्वा मैथुनभावं न विना तद् रागद्वेषाभ्याम् ॥ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रायं न्यायो यथा–ब्राह्मणा आयाता वशिष्ठोऽप्यायातः, अत्र हि ब्राह्मणग्रहणेन वशिष्ठस्यापि ग्रहणं कृतमेव, तथाऽपि प्राधान्यात्तस्य भेदेनोपन्यासः क्रियत इति, तथा यच्चोक्तं–तपोग्रहणे वैयावृत्त्यविनययोर्न ग्रहणं कर्तव्यं, तदप्यचारु, वैयावृत्त्यविनययोर्यथा स्वपरोपकारकत्वात्प्राधान्यं नैवमनशनादीनां तपोभेदानामिति, यच्चोक्तं–श्रमणधर्मग्रहणे क्रोधादिनिग्रहस्य नोपन्यासः कर्त्तव्यः, तदप्यचारु, इह द्विरूपः क्रोधः–उदयगत उदीरणावलिकागतश्च, तत्रोदयगतनिग्रहः क्रोधनिग्रहः, एवं मानादिष्वपि वाच्यं, यस्तु उदीरणावलिकाप्राप्तस्तस्योदय एव न कर्तव्यः क्षान्त्यादिभिर्हेतुभिरिति, अथवा त्रिविधं वस्तु–ग्राह्यं हेयमुपेक्षणीयं च, तत्र क्षान्त्यादयो ग्राह्याः, क्रोधादयो हेयाः, अतो निग्रहीतव्यास्त इत्येवमर्थमित्थमुपन्यस्ता इति स्यात्साधु सर्वमेवैतद्गाथासूत्रमिति ॥ अधुना करणावयवप्रतिपादनार्थमिदं गाथासूत्रमाह—

पिंडविसोही समिई भावण पडिमा य इंदियनिरोहो। पडिलेहणगुत्तीओ अभिग्गहा चेव करणं तु ॥ ३ ॥ (भा०)

अस्या व्याख्या—'पिंड'त्ति पिण्डनं पिण्डस्तस्य विविधम्–अनेकैः प्रकारैः शुद्धिः आधाकर्मादिपरिहारप्रकारैः पिण्डविशुद्धिः, सा किम् ?, करणं भवतीति योगः, 'समिति'त्ति सम्यगितिः–सम्यग्गमनं प्राणातिपातवर्जनेनेत्यर्थः, जातावेकवचनं, ताश्चेर्यासमित्यादयः समितयः, 'भावण'त्ति भाव्यन्त इति भावनाः–अनित्यत्वादिकाः 'पडिम'त्ति प्रतिमाः–अभिग्रहप्रकारा मासाद्या द्वादश भिक्षुप्रतिमाः, चशब्दाद्भद्रादयश्च प्रतिमा गृह्यन्ते, 'इंदियनिरोहो'त्ति इन्द्रियाणि–स्पर्शनादीनि तेषां निरोधः, आत्मीयेष्टानिष्टविषयरागद्वेषाभाव इत्यर्थः, 'पडिलेहण' इति प्रतिलेखनं प्रतिलेखना 'लिख अक्षरविन्यासे' अस्य प्रतिपूर्वस्य ल्युडन्तस्यानादेशे टापि च विहिते प्रतिलेखनेति भवति, एतदुक्तं भवति–अक्षरानुसारेण प्रतिनिरीक्षणमनु-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'करण' पदस्य व्याख्या

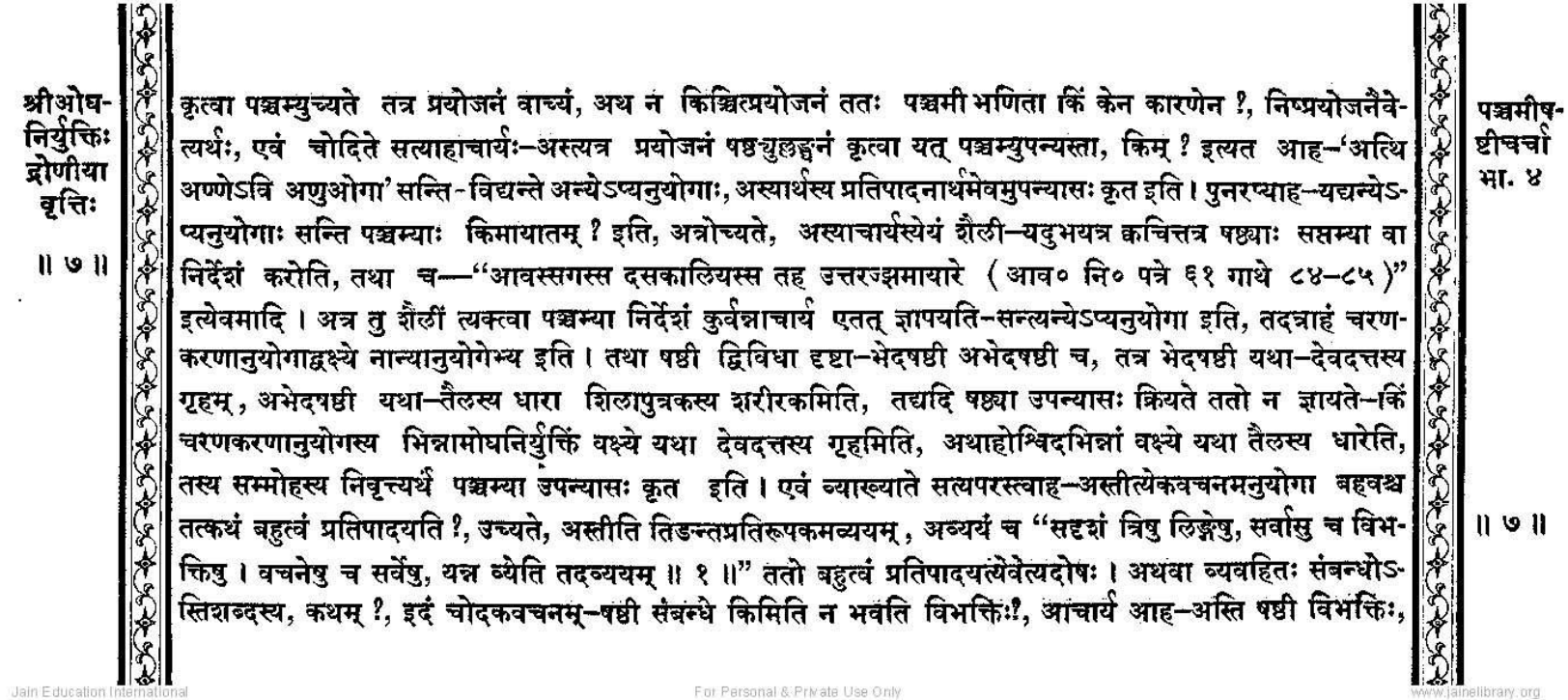
ओ० १

स्थानं च यत्सा प्रतिलेखना, सा च चोलपट्टादेरुपकरणस्येति 'गुत्तीओ'त्ति गोपनानि गुप्तयो–मनोवाक्कायरूपास्तिस्रः 'अभिग्गह'त्ति अभिग्रहा द्रव्यादिभिरनेकप्रकाराः, चशब्दो वसत्यादिसमुच्चयार्थः, एवकारः क्रमप्रतिपादनार्थः, 'करणं तु'त्ति क्रियत इति करणं, मोक्षार्थिभिः साधुभिर्निष्पाद्यत इत्यर्थः, तुशब्दो विशेषणे, मूलगुणसद्भावे करणत्वमस्य, नान्यथेति। आह–ननु समितिग्रहणेनैव पिण्डविशुद्धेर्गृहीतत्वान्न पिण्डविशुद्धिग्रहणं कर्तव्यं, यत एषणासमितौ सर्वैषणा गृहीता, पिण्डविशुद्धिरप्येषणैव, तत्किं भेदेनोपन्यासः ? इति, अत्रोच्यते, पिण्डव्यतिरेकेणाप्येषणा विद्यते वसत्यादिरूपा तस्या ग्रहणं भविष्यति, तत्र पिण्डविशुद्धेस्तु भेदेनोपन्यासः कारणे ग्रहणं कर्तव्यं नाकारणे इत्यस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थः, अथवाऽऽहारमन्तरेण न शक्यते पिण्डविशुद्ध्यादि करणं सर्वमेव कर्तुमतो भेदेनोपन्यास इति। अत्राह–चरणकरणयोः कः प्रतिविशेषः ? इति, अत्रोच्यते, नित्यानुष्ठानं चरणं, यत्तु प्रयोजन आपन्ने क्रियते तत्करणमिति, तथा च व्रतादि सर्वकालमेव चर्यते न पुनर्व्रतशून्यः कश्चित्काल इति, पिण्डविशुद्ध्यादि तु प्रयोजने आपन्ने क्रियत इति। एवं व्याख्याते सत्याह परः– "ओहेण उ निज्जुत्तिं वुच्छं चरणकरणाणुओगस्स" इत्येवं वक्तव्यं, तत्किमर्थं षष्ठ्युल्लङ्घनं कृत्वा पञ्चम्यभिधीयते, इत्यस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थमिदं गाथासूत्रमाह—

चोदगवयणं छट्ठी संबंधे कीस न हवइ विभत्ती?। तो पंचमी उ भणिया, किमत्थि अन्नेऽवि अणुओगा ॥४॥(भा०)

व्याख्या—'चोदग'त्ति चोदकवचनं, किंभूतम्?, तदाह–षष्ठी संबन्धे किमिति न भवति विभक्तिः?, संबन्धनं संबन्धस्तस्मिन् संबन्धे षष्ठी किमिति न भवति ?, एतदुक्तं भवति–चरणकरणानुयोगसंबन्धिनीमोघनिर्युक्तिं वक्ष्य इति वाच्यं, तदुल्लङ्घनं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ७ ॥

कृत्वा पञ्चम्युच्यते तत्र प्रयोजनं वाच्यं, अथ न किञ्चित्प्रयोजनं ततः पञ्चमी भणिता किं केन कारणेन ?, निष्प्रयोजनैवे-त्यर्थः, एवं चोदिते सत्याहाचार्यः–अस्त्यत्र प्रयोजनं षष्ठ्युल्लङ्घनं कृत्वा यत् पञ्चम्युपन्यस्ता, किम् ? इत्यत आह–'अत्थि अण्णेऽवि अणुओगा' सन्ति-विद्यन्ते अन्येऽप्यनुयोगाः, अस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थमेवमुपन्यासः कृत इति। पुनरप्याह–यद्यन्येऽ-प्यनुयोगाः सन्ति पञ्चम्याः किमायातम् ? इति, अत्रोच्यते, अस्याचार्यस्येयं शैली–यदुभयत्र क्वचित्तत्र षष्ठ्याः सप्तम्या वा निर्देशं करोति, तथा च—"आवस्सगस्स दसकालियस्स तह उत्तरज्झमायारे (आव० नि० पत्रे ६१ गाथे ८४–८५)" इत्येवमादि। अत्र तु शैलीं त्यक्त्वा पञ्चम्या निर्देशं कुर्वन्नाचार्य एतत् ज्ञापयति–सन्त्यन्येऽप्यनुयोगा इति, तदत्राहं चरण-करणानुयोगाद्वक्ष्ये नान्यानुयोगेभ्य इति। तथा षष्ठी द्विविधा दृष्टा–भेदषष्ठी अभेदषष्ठी च, तत्र भेदषष्ठी यथा–देवदत्तस्य गृहम्, अभेदषष्ठी यथा–तैलस्य धारा शिलापुत्रकस्य शरीरकमिति, तद्यदि षष्ठ्या उपन्यासः क्रियते ततो न ज्ञायते–किं चरणकरणानुयोगस्य भिन्नामोघनिर्युक्तिं वक्ष्ये यथा देवदत्तस्य गृहमिति, अथाहोश्विदभिन्नां वक्ष्ये यथा तैलस्य धारेति, तस्य सम्मोहस्य निवृत्त्यर्थं पञ्चम्या उपन्यासः कृत इति। एवं व्याख्याते सत्यपरस्त्वाह–अस्तीत्येकवचनमनुयोगा बहुवश्च तत्कथं बहुत्वं प्रतिपादयति ?, उच्यते, अस्तीति तिङन्तप्रतिरूपकमव्ययम्, अव्ययं च "सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु, सर्वासु च विभ-क्तिषु। वचनेषु च सर्वेषु, यन्न व्येति तदव्ययम् ॥ १ ॥" ततो बहुत्वं प्रतिपादयत्येवेत्यदोषः। अथवा व्यवहितः संबन्धोऽ-स्तिशब्दस्य, कथम् ?, इदं चोदकवचनम्–षष्ठी संबन्धे किमिति न भवति विभक्तिः?, आचार्य आह–अस्ति षष्ठी विभक्तिः,

पञ्चमीष-ष्टीचर्चा भा. ४

॥ ७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ॥५॥ दीप अनुक्रम [१०]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

पुनरप्याह–यद्यस्ति ततः पञ्चमी भणिता किम्?, आचार्य आह–अन्येऽप्यनुयोगाश्चत्वारः, अतः षष्ठी विद्यमानाऽपि नोक्तेति, भावना पूर्ववत्। अन्येऽप्यनुयोगाः सन्तीत्युक्तं, न च ज्ञायन्ते कियन्तोऽपि ते? इत्यतः प्रतिपादयन्नाह—

चत्तारि उ अणुओगा चरणे धम्मगणियाणुओगे य। दवियणुजोगे य तहा अहक्कमं ते महिड्ढीया ॥५॥ (भा०)

व्याख्या—चत्वार इति संख्यावचनः शब्दः अनुकूला अनुरूपा वा योगा अनुयोगाः, तुशब्द एवकारार्थः, चत्वार एव, अन्ये तु तुशब्दं विशेषणार्थं व्याख्यानयन्ति, किं विशेषयन्तीति–चत्वारोऽनुयोगाः, तुशब्दाद्वौ च–पृथक्त्वापृथक्त्वभेदात्, कथं चत्वारोऽनुयोगाः? इत्याह–'चरणे धम्मगणियाणुओगे य' चर्यत इति चरणं, तद्विषयोऽनुयोगश्चरणानुयोगस्तस्मिन् चरणानुयोगे, अत्र चोत्तरपदलोपादित्थमुपन्यासः, अन्यथा चरणकरणानुयोगे इत्येवं वक्तव्यं, स चैकादशाङ्गरूपः, 'धम्मे' इति धारयतीति धर्मः, दुर्गतौ पतन्तं सत्त्वमिति, तस्मिन् धर्मे–धर्मविषये द्वितीयोऽनुयोगो भवति, स चोत्तराध्ययनप्रकीर्णकरूपः, 'गणियाणुओगे य' इति गणितं तस्यानुयोगो गणितानुयोगः तस्मिन् गणितानुयोगे–गणितानुयोगविषये तृतीयो भवति, स च सूर्यप्रज्ञप्त्यादिरूपः, चशब्दः प्रत्येकमनुयोगपदसमुच्चायकः, 'दवियणुओगे'त्ति द्रवतीति द्रव्यं तस्यानुयोगो द्रव्यानुयोगः–सदसत्पर्यालोचनारूपः, स च दृष्टिवादः, चशब्दादनार्षः सम्मत्यादिरूपश्च, तथेति क्रमप्रतिपादकः, आगमोक्तेन प्रकारेण 'यथाक्रमं' यथापरिपाट्येति, चरणकरणानुयोगाद्या 'महर्द्धिकाः' प्रधाना इति यदुक्तं भवति। एवं व्याख्याते सत्याह परः–'चरणे धम्मगणियाणुओगे य दवियणुओगे य'त्ति यद्येतेषां भेदेनोपन्यासः क्रियते तत्किमर्थं चत्वारः? इत्युच्यते, विशिष्टपदोपन्यासादेवायमर्थोऽवगम्यत इति, तथा चरणपदं भिन्नया विभक्त्या किमर्थमुपन्यस्तं?,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	अनुयोगस्य चत्वारः भेदानाम् कथनं एवं वैशिष्ठ्यं

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

धर्मगणितानुयोगौ तु एकयैव विभक्त्या, पुनर्द्रव्यानुयोगो भिन्नया विभक्त्येति, तथाऽनुयोगशब्दश्चैक एवोपन्यसनीयः, किमर्थं द्रव्यानुयोग इति भेदेनोपन्यस्त इति ?, अत्रोच्यते, यत्तावदुक्तं–चतुर्ग्रहणं न कर्तव्यं, विशिष्टपदोपन्यासात्, तदसत्, यतो न विशिष्टसङ्ख्यावगमो भवति विशिष्टपदोपन्यासेऽपि, कुतः ?, चरणधर्मगणितद्रव्यपदानि सन्ति, अन्यान्यपि सन्तीति संशयो मा भूत्कस्यचिदित्यतश्चतुर्ग्रहणं क्रियत इति, तथा यच्चोक्तं–भिन्नया विभक्त्या चरणपदं केन कारणेनोपन्यस्तम् ?, तत्रैतत्प्रयोजनं, चरणकरणानुयोग एवात्राधिकृतः, प्राधान्यख्यापनार्थं भिन्नया विभक्त्या उपन्यास इति, तथा धर्मगणितानुयोगौ एकविभक्त्योपन्यस्तौ, अत्र तु क्रमेऽप्रधानावेताविति, तथा द्रव्यानुयोगे भिन्नविभक्त्युपन्यासे प्रयोजनं, अयं हि एकैकानुयोगे मीलनीयः, न पुनर्लौकिकशास्त्रवद्युक्तिभिर्न विचारणीय इति, तथाऽनुयोगशब्दद्वयोपन्यासे प्रयोजनमुच्यते–यत्त्रयाणां पदानामन्तेऽनुयोगपदमुपन्यस्तं तदपृथक्त्वानुयोगप्रतिपादनार्थं, यच्च द्रव्यानुयोग इति तत्पृथक्त्वानुयोगप्रतिपादनार्थमिति । एवं व्याख्याते सत्याह परः–इह गाथासूत्रपर्यन्त इदमुक्तं–'यथाक्रमं ते महर्द्धिका'इति, एवं तर्हि चरणकरणानुयोगस्य लघुत्वं, तत्किमर्थं तस्य निर्युक्तिः क्रियते ?, अपि तु द्रव्यानुयोगस्य युज्यते कर्तुं, सर्वेषामेव प्रधानत्वात्, एवं चोदकेनाक्षेपे कृते सत्युच्यते—

सविसयबलवत्तं पुण जुज्जइ तहविअ महिड्ढिअं चरणं । चारित्तरक्खणट्ठा जेणिअरे तिन्नि अणुओगा ॥ ६ ॥ (भा०)

स्वश्चासौ विषयश्च स्वविषयस्तस्मिन् स्वविषये बलवत्त्वं पुनर्युज्यते–घटते, एतदुक्तं भवति–आत्मीयात्मीयविषये सर्वे एव बलवन्तो वर्तन्त इति, एवं व्याख्याते सत्यपरस्त्वाह–यद्येवं सर्वेषामेव निर्युक्तिकरणं प्राप्तं, आत्मीयात्मीयविषये सर्वेषामेव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बलवत्त्वात्, तथाऽपि चरणकरणानुयोगस्य न कर्तव्येति, एवं चोदकेनाशङ्किते सत्याह गुरुः–'तहवि अ महिड्ढिअं चरणं' 'तथापि'एवमपि स्वविषयबलवत्त्वेऽपि सति महर्द्धिकं चरणमेव, शेषानुयोगानां चरणकरणानुयोगार्थमेवोपादानात्, पूर्वोत्पन्नसंरक्षणार्थमपूर्वप्रतिपत्त्यर्थं च शेषानुयोगा अस्यैव वृत्तिभूताः, यथा हि कर्पूरवनखण्डरक्षार्थं वृत्तिरुपादीयते, तत्र हि कर्पूरवनखण्डं प्रधानं न पुनर्वृत्तिः, एवमत्रापि चारित्ररक्षणार्थं शेषानुयोगानामुपन्यासात्, तथा चाह–'चारित्तरक्खणट्ठा जेणियरे तिन्नि अणुओगा' चयरिक्तीकरणाच्चारित्रं तस्य रक्षणं तदर्थं चारित्ररक्षणार्थं येन कारणेन 'इतरे' इति धर्मानुयोगादयस्त्रयोऽनुयोगा इति। एवं व्याख्याते सत्याह–कथं चारित्ररक्षणमिति चेत्तदाह—

चरणपडिवत्तिहेउं धम्मकहा कालदिक्खमाईआ। दविए दंसणसुद्धी दंसणसुद्धस्स चरणं तु ॥ ७ ॥ (भा०)

चर्यत इति चरणं–व्रतादि तस्य प्रतिपत्तिश्चरणप्रतिपत्तिः चरणप्रतिपत्तेः हेतुः कारणं निमित्तमिति पर्यायाः, किम् ? तदाह–'धर्मकथा' दुर्गतौ प्रपतन्तं सत्त्वसङ्घातं धारयतीति धर्मस्तस्य कथा–कथनं धर्मकथा चरणप्रतिपत्तेर्हेतुर्धर्मकथा, तथाहि–आक्षेपण्यादिधर्मकथाऽऽक्षिप्ताः सन्तो भव्यप्राणिनश्चारित्रमवाप्नुवन्ति, 'कालदिक्खमाईय'त्ति कलनं कालः कलासमूहो वा कालस्तस्मिन् काले दीक्षादयः–दीक्षणं दीक्षा–प्रव्रज्याप्रदानम् आदिशब्दादुपस्थापनादिपरिग्रहः, तथा च शोभनतिथिनक्षत्रमुहूर्त्तयोगादौ प्रव्रज्याप्रदानं कर्त्तव्यम्, अतः कालानुयोगोऽप्यस्यैव परिकरभूत इति, 'दविए'त्ति द्रव्ये द्रव्यानुयोगे, किं भवति ?, इत्यत आह–'दर्शनशुद्धिः' दर्शनं–सम्यग्दर्शनमभिधीयते तस्य शुद्धिः–निर्मलता दर्शनशुद्धिः, एतदुक्तं भवति–द्रव्यानुयोगे सति दर्शनशुद्धिर्भवति, युक्तिभिर्यथाऽवस्थितार्थपरिच्छेदात्, तदत्र चरणमपि युक्त्यनुगतमेव ग्रहीतव्यं, न

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||७||

दीप अनुक्रम [१२]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ९ ॥

पुनरागमादेव केवलादिति । आह–दर्शमशुद्धयैव किम् ?, तदाह–'दर्शनशुद्धस्य' दर्शनं शुद्धं यस्यासौ दर्शनशुद्धस्तस्य 'चरणं' चारित्रं भवतीत्यर्थः, तुशब्दो विशेषणे, चारित्रशुद्धस्य दर्शनमिति ॥ अथवा प्रकारान्तरेण चरणकरणानुयोगस्यैव प्राधान्यं प्रतिपाद्यते आदिभूतस्यापीति, तच्च दृष्टान्तबलेनाचलं भवति नान्यथेत्यतो दृष्टान्तद्वारेणाह—

जह रण्णो विसएसुं वयरे कणगे अ रयय लोहे अ।चत्तारि आगरा खलु चउण्ह पुत्ताण ते दिन्ना ॥ ८ ॥(भा०)

'यथे'त्युदाहारणोपन्यासे राज्ञो 'विषयेषु' जनपदेषु 'वज्र' इति वज्राकरो भवति, वज्राणि–रत्नानि तेषामाकरः–खनिर्वज्राकरः । 'चिन्ता लोहागरिए'त्ति इत्यतः सिंहावलोकितन्यायेनाकरग्रहणं संबध्यते, एतेन कारणेन 'होति उ'त्ति इत्यस्माद्भवति क्रिया सर्वत्र मीलनीयेति । 'कनकं' सुवर्णं तस्याकरो भवति द्वितीयः, 'रजतं' रूप्यं तद्विषयस्तृतीय आकरो भवति, चशब्दः समुच्चये, अनेकभेदभिन्नं रूप्याकरं समुच्चिनोति, 'लोहे य'त्ति लोहमयस्तस्मिन् लोहे–लोहविषयश्चतुर्थ आकरो भवति, चशब्दो मृदुकठिनमध्यलोहभेदसमुच्चायकः, 'चत्वारः' इति सङ्ख्याः, आक्रियन्त एतेष्वित्याकराः, तथा च मर्यादयाऽभिविधिना वा क्रियन्ते वज्रादीनि तेष्विति, खलुशब्दो विशेषणे, किं विशिनष्टि ?–सविषयाः सहस्त्यादयश्च ते पुत्रेभ्यो दत्ताः, चतुर्णां 'पुत्राणां' सुतानां 'ते' इत्याकरा 'दत्ताः' विभक्ता इत्यर्थः ॥ अधुना प्रदानोत्तरकालं यत्तेषां संजातं तदुच्यते—

चिंता लोहागरिए पडिसेहं सो उ कुणइ लोहस्स।वयराईहि अ गहणं करिंति लोहस्स तिन्नियरे ॥ ९ ॥(भा०)

लोहाकरोऽस्यास्तीति लोहाकरिकस्तस्मिन् लोहाकरिके चिन्ता भवति, राज्ञा परिभूतोऽहं येन ममाप्रधान आकरो दत्तः,

चरणानुयोगमहत्ता भा. ५-१०

॥ ९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एवं चिन्तायां सत्यां सुबुद्ध्यभिधानेन मन्त्रिणाऽभिहितः–देव ! मा चिन्तां कुरु, भवदीय एव प्रधान आकरो, न शेषा आकरा इति, कुत एतदवसीयते ?, यदि भवत्संबन्धी लोहाकरो भवति तदानीं शेषाकरप्रवृत्तिः, इतरथा लोहोपकरणामावान्न प्रवृत्तिरिति, ततोऽनिर्वाहं कारयतु कतिचिद्दिनानि यावदुपक्षयं प्रतिपद्यते तेषूपकरणजातं, ततः सुमहार्घमपि ते लोहं ग्रहीष्यन्तीत्यत आह–'पडिसेहं' इत्यादि, प्रतिषेधो–वारणा तं प्रतिषेधं करोत्यसौ लोहं प्रतीतमेव तस्य लोहस्य, तुशब्दो विशेषणे, न केवलमनिर्वाहं करोत्यपूर्वोत्पादनिरोधं च, ततश्चैवं कृते शेषाकरेषूपस्कराः क्षयं प्रतिपन्नाः, ततस्ते वज्रादिभिर्ग्रहणं कुर्वन्ति इतरे वज्राकरिकादयः, चशब्दान्न केवलं वज्रादिभिर्हस्त्यादिभिश्च, अत्र कथानकं स्पष्टत्वान्न लिखितम्, अयं दृष्टान्तः, साम्प्रतं दार्ष्टान्तिकयोजना क्रियते–यथाऽसौ लोहाकर आधारभूतः शेषाकराणां, तत्प्रवृत्तौ शेषाणामपि प्रवृत्तेः, एवमत्रापि चरणकरणानुयोगे सति शेषानुयोगसद्भावः, तथाहि–चरणे व्यवस्थितः शेषानुयोगग्रहणे समर्थो भवति, नान्यथेति ॥ अस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थं गाथासूत्रमाह—

एवं चरणंमि ठिओ करेइ गहणं विहीइ इयरेसिं । एएण कारणेणं हवइ उ चरणं महड्ढीअं ॥ १० ॥ (भा०)

'एव'मित्युपनयग्रन्थः 'चरणंमि'त्ति चर्यत इति चरणं तस्मिन् व्यवस्थितः करोति विधिना ग्रहणमितरेषाम्, इतरेषामिति द्रव्यानुयोगादीनां, तदनेन कारणेन भवति चरणं महर्द्धिकम् । तुशब्दादन्येषां च गुणानां समर्थो भवतीति ॥ अधुना 'अल्पाक्षरां महार्था'मिति यदुक्तं तद्व्याख्यानायाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||११||

दीप अनुक्रम [१६]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ १० ॥

अप्पक्खरं महत्थं १ महक्खरऽप्पत्थ २ दोसुऽवि महत्थं ३ ।
दोसुऽवि अप्पं च ४ तहा भणिअं सत्थं चउविगप्पं ॥ ११ ॥ (भा०)

अत्र चतुर्भङ्गिका–अल्पान्यक्षराणि यस्मिन् तदल्पाक्षरं, स्तोकाक्षरमित्यर्थः, 'महत्थं' इति महानर्थो यस्मिन् महार्थं प्रभूतार्थमित्यर्थः, तत्रैकं शास्त्रमल्पाक्षरं भवति महार्थं च प्रथमो भङ्गः १, अथान्यत् किंभूतं भवति ?–'महक्खरमप्पत्थं' महाक्षरं, प्रभूताक्षरमिति हृदयं, अल्पार्थं, स्वल्पार्थमिति हृदयं, द्वितीयो भङ्गः २, तथाऽन्यत् किंभूतं भवति ?–'दोसुऽवि महत्थं' द्वयोरपीति अक्षरार्थयोः, श्रुतत्वादक्षरार्थोभयं परिगृह्यते, एतदुक्तं भवति–प्रभूताक्षरं प्रभूतार्थं च तृतीयो भङ्गः ३, तथाऽन्यत् किंभूतं भवति ? इत्याह–'दोसुवि अप्पं च तहा' द्वयोरप्यल्पमक्षरार्थयोः, एतदुक्तं भवति–अल्पाक्षरं अल्पार्थं चेति ४ । 'तथे'ति तेनागमोक्तप्रकारेण 'भणितं' उक्तं शास्त्रं 'चतुर्विकल्पं' चतुर्विधमित्यर्थः ॥ अधुना चतुर्णामपि भङ्गकानामुदाहरणदर्शनार्थमिदं गाथासूत्रमाह—

सामायारी ओहे नायज्झयणा य दिट्ठिवाओ य । लोइअकप्पासाई अणुक्कमा कारगा चउरो ॥ १२ ॥ (भा०)

ओघसामाचारी प्रथमभङ्गके उदाहरणं भवति, पूर्वापरनिपातादेवमुपन्यासः कृतः १, ज्ञाताध्ययनानि षष्ठाङ्गे प्रथमश्रुतस्कन्धे तेषु कथानकान्युच्यन्ते ततः प्रभूताक्षरत्वमल्पार्थत्वं चेति द्वितीयभङ्गके ज्ञाताध्ययनान्युदाहरणं, चशब्दादन्यच्च यदस्यां कोटौ व्यवस्थितं २, दृष्टिवादश्च तृतीयभङ्गक उदाहरणं, यतोऽसौ प्रभूताक्षरः प्रभूतार्थश्च, चशब्दात्तदेकदेशोऽपि ३, चतुर्थभङ्गोदाहरणप्रतिपादनार्थमाह–'लोइयकप्पासादी' इति लौकिकं चतुर्थभङ्गे उदाहरणं, किंभूतम् ?–कार्पासादि, आदि-

अल्पाक्षरत्वादिभेदाः भा.११-१२

॥ १० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शब्दाच्छिवचन्द्रादिग्रहः, 'अणुकम'त्ति अनुक्रमादिति अनुक्रमेणैव–परिपाट्या, तृतीयार्थे पञ्चमी, 'कारकाणि' कुर्वन्तीति कारकाणि–उदाहरणान्युच्यन्ते, चत्वारीति यथासंख्येनैवेति ॥ 'अनुग्रहार्थं सुविहितानाम्' इति यदुक्तं तद्व्याख्यानायोदाहरणगाथा—

बालाईणणुकंपा संखडिकरणंमि होअगारीणं । ओमे य बीयभत्तं रण्णा दिन्नं जणवयस्स ॥ १३ ॥ (भा०)

'एव'मित्युपन्यासाद्यथेति गम्यते, ततोऽयमर्थो भवति–यथा ह्यगारिणामनुकम्पा भवति बालादीनामुपरि संखडिकरणे, एवं स्थविरैः साधूनामनुकम्पार्थमुपदिष्टौघनिर्युक्तिरिति संबन्धः । अधुनाऽक्षरगमनिका–बालाः शिशवोऽभिधीयन्ते, ते आदिर्येषाम्, आदिशब्दात्कर्मकरादिपरिग्रहः, तेषां बालादीनामुपर्यनुकम्पा दयेत्यर्थः, 'संखडिकरणे' संखड्यन्ते प्राणिनो यस्यां सा संखडिः, अनेकसत्त्वव्यापत्तिहेतुरित्यर्थः, कृतिः करणं संखड्याः करणं संखडिकरणं तस्मिन् संखडिकरणे यथाऽनुकम्पा भवति, केषाम् ? इत्याह–'अगारिणां' अगारं विद्यते येषां तेऽगारिणस्तेषामगारिणां, तथाहि–यद्भोजनं प्रहरत्रयोद्देशे भवति तस्मिन् यदि बालादीनां प्रथमालिका न दीयते ततोऽतिबुभुक्षाक्रान्तानां केषाञ्चिन्मूर्च्छागमनं भवति केचित्पुनः कर्मादि कर्तुं न शक्नुवन्ति ततोऽनुकम्पार्थं प्रथमालिकाद्यसौ गृहपतिः प्रयच्छति, अस्यैव दर्शनार्थं दृष्टान्तान्तरमाह–'ओम' इत्यादि, अवमं–दुर्भिक्षं तस्मिन्नवमे बीजानि–शाल्यादीनि भक्तम्–अन्नं बीजानि च भक्तं च बीजभक्तमेकवद्भावः 'राज्ञा' नरपतिना दत्तं, कस्य ? तदाह–जनपदस्य ॥

कस्यचिद्राज्ञो विषये दुर्भिक्षं प्रभूतवार्षिकं संजातं, ततस्तेन दुर्भिक्षेण सर्वमेव धान्यं क्षयं नीतं, लोकश्च विषण्णः, तस्मिन्न-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१३||

दीप अनुक्रम [१८]

श्रीओघनिर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः ॥ ११ ॥

वसरे राज्ञा चिन्तितम् सर्वमेव राज्यं मम जनपदायत्तं, यदि जनपदो भवति ततः कोष्ठागारादीनां प्रभवः, जनपदाभावे तु सर्वाभावः, ततस्तत्संरक्षणार्थं बीजनिमित्तं भक्तनिमित्तं च कोष्ठागारादिधान्यं ददामीति, एवमनुचिन्त्य दापितं तस्य जनपदस्य, लोकश्च स्वस्थः संजातः, पुनर्द्विगुणं त्रिगुणं च प्रेषितं राज्ञ इति ॥ अयं दृष्टान्तः, अधुना दार्ष्टान्तिकप्रतिपादनार्थमाह—

० एवं थेरेहिं इमा अपावमाणाण पयविभागं तु । साहूणणुकंपट्ठा उवइट्ठा ओहनिज्जुत्ती ॥ १४ ॥ (भा०)

'एव'मित्युपनयग्रन्थः, यथा गृहपतिना बालादीनामनुकम्पार्थं भक्तं दत्तं, राज्ञा च बीजभक्तमनुग्रहार्थमेव दत्तं, एवं स्थविरैरोघनिर्युक्तिः साधूनामनुग्रहार्थं निर्यूढेति, स्थविराः–भद्रबाहुस्वामिनस्तैः, 'आत्मनि गुरुषु च बहुवचन'मिति बहुवचनेन निर्देशः कृतः, 'इमा' इति इयं वक्ष्यमाणलक्षणा प्रतिलेखनादिरूपा । किमर्थं निर्यूढा ?, तदाह–'अपावमाणाणं' इत्यादि, 'अप्राप्नुवतां' अनासादयतां, किमप्राप्नुवतामित्याह–'पदविभागं' वर्तमानकालापेक्षया कल्परूपं, चिरन्तनकालापेक्षया तु दृष्टिवादव्यवस्थितपदविभागसामाचारीमित्यर्थः । तुशब्दाद्दशधासामाचारीं चाप्राप्नुवतां, केषामनुकम्पार्थं निर्यूढा ?, तदाह–'साधूनां' ज्ञानादिरूपाभिः पौरुषेयीभिर्मोक्षं साधयन्तीति साधवस्तेषां साधूनां, किम् ?–'अनुकम्पार्थं' अनुकम्पा कृपा दया इत्येकोऽर्थः तया अर्थः–प्रयोजनं, 'उपदिष्टा' कथिता 'ओघनिर्युक्तिः' सामान्यार्थप्रतिपादिकेत्यर्थः ॥ आह—अथ केयमोघनिर्युक्तिः या स्थविरैः प्रतिपादिता ?, तत्प्रतिपादनायाह—

पडिलेहणं१च पिंडं२उवहिपमाणं३अणाययणवज्जं४ । पडिसेवण५मालोअण६जह य विसोहीअ७विहियाणं ॥२॥ ॥ ११ ॥

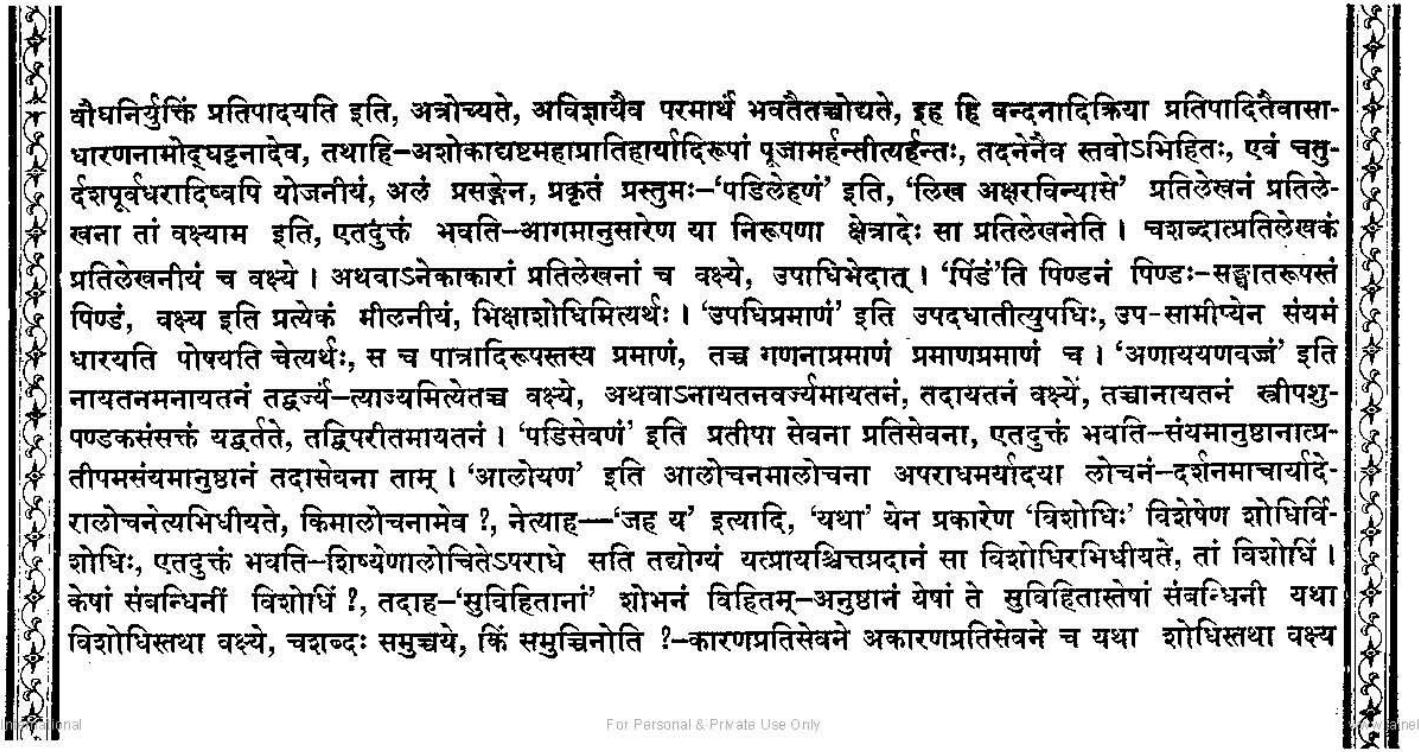
एवं संबन्धे कृते सत्याह परः–ननु पूर्वमभिहितम्, अर्हतो वन्दित्वौघनिर्युक्तिं वक्ष्ये, तत्किमर्थं वन्दनादिक्रियामकृत्वै-

अनुकम्पार्था निर्युक्तिः भा१३-१४

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ओघनिर्युकतेः विषयाणां निरूपणं

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१४|| दीप अनुक्रम [२०]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

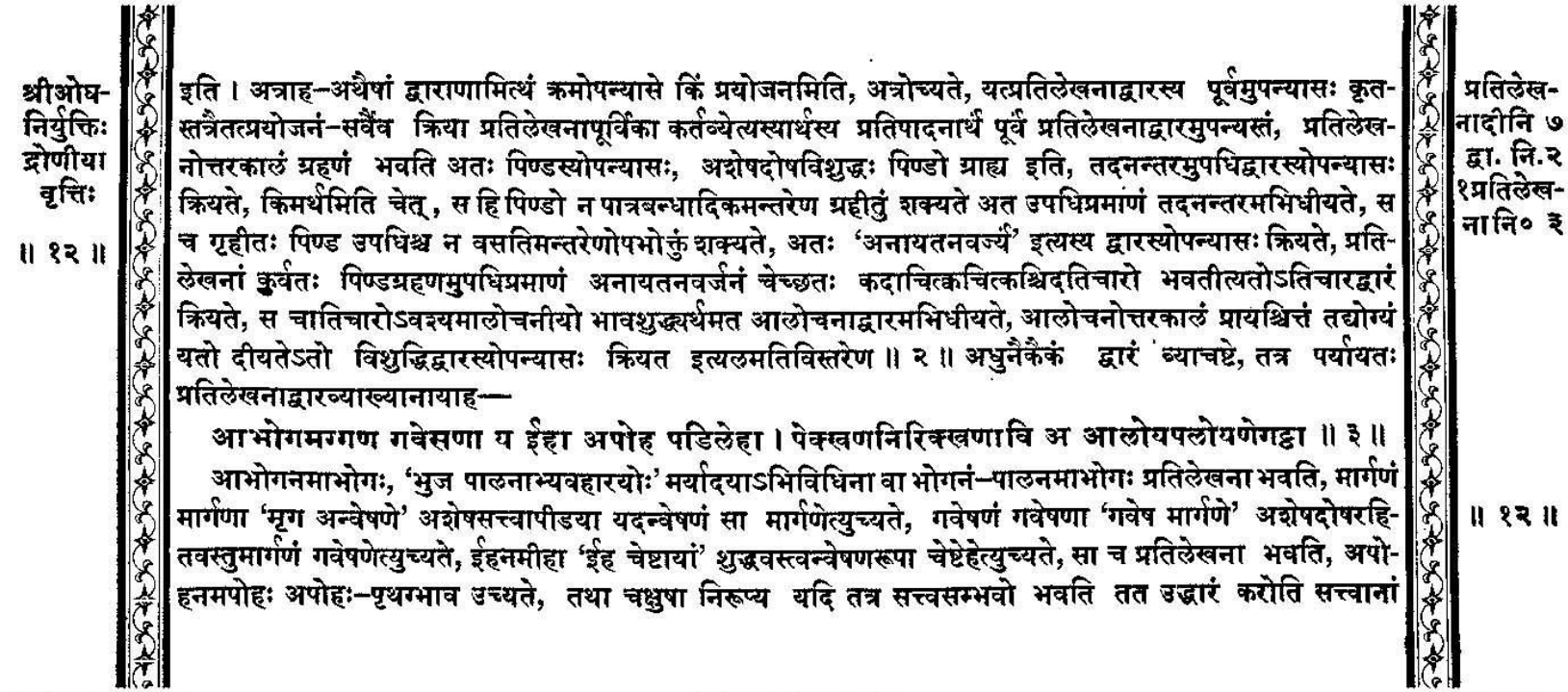


वौघनिर्युक्तिं प्रतिपादयति इति, अत्रोच्यते, अविज्ञायैव परमार्थं भवतैतच्चोद्यते, इह हि वन्दनादिक्रिया प्रतिपादितैवासाधारणनामोद्घट्टनादेव, तथाहि–अशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यादिरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः, तदनेनैव स्तवोऽभिहितः, एवं चतुर्दशपूर्वधरादिष्वपि योजनीयं, अलं प्रसङ्गेन, प्रकृतं प्रस्तुमः–'पडिलेहणं' इति, 'लिख अक्षरविन्यासे' प्रतिलेखनं प्रतिलेखना तां वक्ष्याम इति, एतदुक्तं भवति–आगमानुसारेण या निरूपणा क्षेत्रादेः सा प्रतिलेखनेति । चशब्दात्प्रतिलेखकं प्रतिलेखनीयं च वक्ष्ये । अथवाऽनेकाकारां प्रतिलेखनां च वक्ष्ये, उपाधिभेदात् । 'पिंडं'ति पिण्डनं पिण्डः–सङ्घातरूपस्तं पिण्डं, वक्ष्य इति प्रत्येकं मीलनीयं, भिक्षाशोधिमित्यर्थः । 'उपधिप्रमाणं' इति उपदधातीत्युपधिः, उप-सामीप्येन संयमं धारयति पोषयति चेत्यर्थः, स च पात्रादिरूपस्तस्य प्रमाणं, तच्च गणनाप्रमाणं प्रमाणप्रमाणं च । 'अणाययणवज्जं' इति नायतनमनायतनं तद्वर्ज्यं–त्याज्यमित्येतच्च वक्ष्ये, अथवाऽनायतनवर्ज्यमायतनं, तदायतनं वक्ष्यें, तच्चानायतनं स्त्रीपशुपण्डकसंसक्तं यद्वर्तते, तद्विपरीतमायतनं । 'पडिसेवणं' इति प्रतीपा सेवना प्रतिसेवना, एतदुक्तं भवति–संयमानुष्ठानात्प्रतीपमसंयमानुष्ठानं तदासेवना ताम् । 'आलोयण' इति आलोचनमालोचना अपराधमर्यादया लोचनं–दर्शनमाचार्यादेरालोचनेत्यभिधीयते, किमालोचनामेव ?, नेत्याह—'जह य' इत्यादि, 'यथा' येन प्रकारेण 'विशोधिः' विशेषेण शोधिर्विशोधिः, एतदुक्तं भवति–शिष्येणालोचितेऽपराधे सति तद्योग्यं यत्प्रायश्चित्तप्रदानं सा विशोधिरभिधीयते, तां विशोधिं । केषां संबन्धिनीं विशोधिं ?, तदाह–'सुविहितानां' शोभनं विहितम्–अनुष्ठानं येषां ते सुविहितास्तेषां संबन्धिनी यथा विशोधिस्तथा वक्ष्ये, चशब्दः समुच्चये, किं समुच्चिनोति ?–कारणप्रतिसेवने अकारणप्रतिसेवने च यथा शोधिस्तथा वक्ष्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	अत्र मूल संपादने किचित स्खलनत्वात् निर्युक्तिक्रम २ द्विवारान् लिखितं, तत् कारणात् मया शिर्षक-स्थाने '२.R' इति लिखितम्

आगम (४१/१)	[भाग-३२] "ओघनिर्युक्ति"– मूलसूत्र-२/१ (मूलं+निर्युक्तिः+वृत्तिः) मूलं [२०] ●➔ "निर्युक्तिः [२.R] + भाष्यं [१४...] + प्रक्षेपं [३...]" ←●
प्रत गाथांक नि/भा/प्र ॥१४॥ दीप अनुक्रम [२०]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः
	प्रतिलेखनायाः पर्याय-शब्दानाम् कथन-पूर्वकं तत् द्वारस्य वर्णनं



श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ १२ ॥

इति । अत्राह–अथैषां द्वाराणामित्थं क्रमोपन्यासे किं प्रयोजनमिति, अत्रोच्यते, यत्प्रतिलेखनाद्वारस्य पूर्वमुपन्यासः कृतस्तत्रैतत्प्रयोजनं–सर्वैव क्रिया प्रतिलेखनापूर्विका कर्तव्येत्यस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थं पूर्वं प्रतिलेखनाद्वारमुपन्यस्तं, प्रतिलेखनोत्तरकालं ग्रहणं भवति अतः पिण्डस्योपन्यासः, अशेषदोषविशुद्धः पिण्डो ग्राह्य इति, तदनन्तरमुपधिद्वारस्योपन्यासः क्रियते, किमर्थमिति चेत्, स हि पिण्डो न पात्रबन्धादिकमन्तरेण ग्रहीतुं शक्यते अत उपधिप्रमाणं तदनन्तरमभिधीयते, स च गृहीतः पिण्ड उपधिश्च न वसतिमन्तरेणोपभोक्तुं शक्यते, अतः 'अनायतनवर्ज्यं' इत्यस्य द्वारस्योपन्यासः क्रियते, प्रतिलेखनां कुर्वतः पिण्डग्रहणमुपधिप्रमाणं अनायतनवर्जनं चेच्छतः कदाचित्कचित्कश्चिदतिचारो भवतीत्यतोऽतिचारद्वारं क्रियते, स चातिचारोऽवश्यमालोचनीयो भावशुद्ध्यर्थमत आलोचनाद्वारमभिधीयते, आलोचनोत्तरकालं प्रायश्चित्तं तद्योग्यं यतो दीयतेऽतो विशुद्धिद्वारस्योपन्यासः क्रियत इत्यलमतिविस्तरेण ॥ २ ॥ अधुनैकैकं द्वारं व्याचष्टे, तत्र पर्यायतः प्रतिलेखनाद्वारव्याख्यानायाह—

आभोगमग्गण गवेसणा य ईहा अपोह पडिलेहा । पेक्खणनिरिक्खणावि अ आलोयपलोयणेगट्ठा ॥ ३ ॥

आभोगनमाभोगः, 'भुज पालनाभ्यवहारयोः' मर्यादयाऽभिविधिना वा भोगनं–पालनमाभोगः प्रतिलेखना भवति, मार्गणं मार्गणा 'मृग अन्वेषणे' अशेषसत्त्वापीडया यदन्वेषणं सा मार्गणेत्युच्यते, गवेषणं गवेषणा 'गवेष मार्गणे' अशेषदोषरहितवस्तुमार्गणं गवेषणेत्युच्यते, ईहनमीहा 'ईह चेष्टायां' शुद्धवस्त्वन्वेषणरूपा चेष्टेहेत्युच्यते, सा च प्रतिलेखना भवति, अपोहनमपोहः अपोहः–पृथग्भाव उच्यते, तथा चक्षुषा निरूप्य यदि तत्र सत्त्वसम्भवो भवति तत उद्धारं करोति सत्त्वानां

प्रतिलेखनादीनि ७ द्वा. नि.२ १प्रतिलेखनानि० ३

॥ १२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अन्यालाभे सति, स चापोहः प्रतिलेखना भवति, प्रतिलेखनं प्रतिलेखना, प्रति प्रत्यागमानुसारेण निरूपणमित्यर्थः, सा च प्रतिलेखना। प्रेक्षणं प्रेक्षणा, प्रकर्षेणेक्षणं दर्शनं प्रेक्षणेत्युच्यते, सा च प्रतिलेखना। निरीक्षणं निरीक्षणा, निः–आधिक्ये 'ईक्ष दर्शने' अधिकं दर्शनं निरीक्षणेत्युच्यते, अपिशब्दादन्योपसर्गयोगे चैकार्थिकसंभवो यथा–उपेक्षणेति, चशब्दादाभोगादीनां च शब्दानां ये पर्यायशब्दास्तेऽपि प्रतिलेखनाद्वारस्य पर्यायशब्दाः। आलोकनमालोकः, मर्यादयाऽभिविधिना वा लोकनमित्यर्थः। प्रलोकनं प्रलोकना, प्रकर्षेणालोकनमित्यर्थः। 'एगट्ठा' इति एकार्थिकान्यमूनि अनन्तरोद्दिष्टानि भवन्ति। पुँल्लिङ्गता च प्राकृतलक्षणवशाद्भवत्येव, यथा–जसो तवो सद्धो, नपुंसकलिङ्गा अपि शब्दाः पुँल्लिङ्गाः प्रयुज्यन्ते एवमत्रापीति व्याख्याते सत्याह परः–प्रतिलेखनं नपुंसकं, अत्र तु कानिचिन्नपुंसकानि कानिचित्स्त्रीलिङ्गानि कानिचित्पुँल्लिङ्गानि, तत्र नपुंसकस्य नपुंसकान्येव वाच्यानि तत्कथमिति, अत्रोच्यते, एकं तावत्प्राकृतशैलीमङ्गीकृत्य नपुंसकस्यापि स्त्रीलिङ्ग-पुँल्लिङ्गैः पर्यायाभिधानमदुष्टं, तथाऽन्यत्प्रयोजनं, संस्कृतेऽप्येकस्यैव शब्दस्य त्रयमपि भवति, यथा तटस्तटी तटमिति, तदत्र भिन्नलिङ्गाः शब्दाः केन कारणेन पर्यायशब्दा न भवन्तीति॥ आह–प्रतिलेखनाग्रहणेन किं सैव केवला गृह्यते? किमन्यदपि?, अन्यदपि किं तत्?, 'पडिलेहओ य' इत्यादि, अथवा का पुनरत्र प्ररूपणा? इति तदर्थं ब्रवीति—

पडिलेहओ य पडिलेहणा य पडिलेहियव्वयं चेव। कुंभाइसु जह तियं परूवणा एवमिहयंपि॥ ४॥

प्रतिलिखतीति प्रतिलेखकः–प्रवचनानुसारेण स्थानादिनिरीक्षकः साधुरित्यर्थः, चशब्दः सकारणादिस्वगतभेदानां समुच्चायकः, प्रतिलेखनं प्रतिलेखना "दुविहा खलु पडिलेहा" इत्यादिना ग्रन्थेन वक्ष्यमाणलक्षणा, चशब्दो भेदसूचकः,

ओ० ३

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||४||

दीप अनुक्रम [२२]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ १३ ॥

प्रतिलेख्यत इति प्रतिलेखितव्यं "ठाणे उवकरणे" इत्यादिना वक्ष्यमाणं, चशब्दः पूर्ववत्, एवकारोऽवधारणे, नातस्त्रिकाद-तिरिक्तमस्ति। आह–कथं पुनः प्रतिलेखकप्रतिलेखितव्ययोरनुक्तयोर्ग्रहणमिति ?, दंण्डमध्यग्रहणन्यायात्, अथवा ग्रन्थेनै-वोच्यते–'कुंभादीसु' कुम्भो–घटः, आदिशब्दात्कुटपटशकटग्रहः 'यथा' येन प्रकारेण 'त्रिकं' त्रितयं, त्रीणीत्यर्थः, प्ररूप-णानि प्ररूपणाः 'एवं'ति तथा तेन प्रकारेण, 'इहे'ति प्रतिलेखनायां, अपिशब्दः साधर्म्यदृष्टान्तप्रतिपादनार्थः, यथा कर्ता कुलालः करणं मृत्पिण्डदण्डादि कार्यं कुटः, परस्परापेक्षतया नैकमेकेनापि विनेति, तथा प्रतिलेखना क्रिया, सा च कर्तारं प्रतिलेखकमपेक्षते, प्रतिलेखितव्याभावे चोभयोरभावस्तस्मात्त्रीण्येतानि–प्रतिलेखकः प्रतिलेखना प्रतिलेखितव्यं चेति॥ इह च 'यथोद्देशं निर्देश' इति न्यायमङ्गीकृत्य प्रतिलेखक आद्यः कर्तृत्वात्प्रधानश्चेत्यतस्तद्व्याख्यानार्थमाह—पडिदारगाहा

एगो व अणेगो वा, दुविहा पडिलेहगा समासेणं। ते दुविहा नायव्वा निक्कारणिआ य कारणिआ ॥ ५ ॥

सुगमा, नवरं 'निक्कारणिआ य' इति चशब्दाद्गच्छंस्तिष्ठन्विशेषणे चात्र द्रष्टव्ये ॥ सकारणाकारणनिर्णयार्थमाह—

असिवाई कारणिआ निक्कारणिआ य चक्कथूभाई। तत्थेगं कारणिअं वोच्छं ठप्पा उ तिन्नियरे ॥ ६ ॥

सुगमा, नवरं–'तत्थेगं' इति 'तत्र' तेष्वेकानेकसकारणगच्छन्तिष्ठन्प्रतिलेखकेषु य एकः सकारणो गच्छन् तं वक्ष्ये। तावत्तिष्ठन्तु त्रयः–सकारणानेकनिष्कारणैकानेकभेदाः, तुशब्दात्स्थानस्थितश्च, 'इतरे' अन्य इत्यर्थः॥ कियन्ति पुनस्तान्य-शिवादीनि ? येष्वसावेकाकी भवतीत्याह—

असिवे ओमोयरिए रायभए खुहिअ उत्तभट्ठे अ। फिडिअगिलाणाइसए देवया चेव आयरिए ॥ ७ ॥

१ प्रतिलेख-नाद्वारे प्र-तिलेखकः नि० ४-५-६-७

॥ १३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

न शिवमशिवं–देवतादिजनितो ज्वराद्युपद्रवः, अवमोदरिकं–दुर्भिक्षं, राज्ञो भयं राजभयं, क्षुभितं क्षोभः, संत्रास इत्यर्थः, उत्तमार्थः–अनशनं 'फिडित' इति भ्रष्टो मार्गात् 'ग्लानो' मन्दः, अतिशयः–अतिशययुक्तः, देवताचार्यौ प्रतीतौ, अयं तावदक्षरार्थः। भावार्थस्य भाष्यकार एकैकं द्वारमङ्गीकृत्य प्रतिपादकः। 'यथोद्देशं निर्देश' इति न्यायादत्राद्यद्वारमाश्रित्य यो विधिरसावभिधीयते–इहाशिवमेकाकित्वस्य हेतुत्वे वर्तते, तस्मात्तथा कर्तव्यं यथा तन्न भवत्येव ॥ केन पुनः प्रकारेण तन्न भवतीति चेत्स उच्यते—

संवच्छरबारसएण होही असिवंति ते (तइ) तओ णिंति।
सुत्तत्थं कुवंता अइसयमाईहिं नाऊणं ॥ १५ ॥ (भा०)

व्याख्या—सँवत्सराणां द्वादशकं, दश च द्वौ च द्वादश, तेन भविष्यत्यशिवमिति ज्ञात्वा 'त' इति (तइत्ति) तदैव 'तत' इति तस्मात्क्षेत्रात् 'णिंति' निर्गच्छन्ति, सूत्रपौरुषीमर्थपौरुषीं च 'कुर्वन्तः' निष्पादयन्तोऽन्यदेशमभविष्यदशिवं विश्वस्ताः संक्रामन्ति। कथं पुनर्ज्ञायते?–अतिशय आदिर्येषां तेऽतिशयादयो ज्ञानहेतवस्तैः ॥ अतिशयादि प्रतिपादयन्नाह—

अइसेस देवया वा निमित्तगहणं सयं व सीसो वा।
परिहाणि जाव पत्तं निग्गमणि गिलाणपडिबंधो ॥ १६ ॥ (भा०)

अतिशयः–अवध्यादिस्तदभावे क्षपकादिगुणाकृष्टा देवता कथयति, अहवा आयरिएणं सुत्तत्थेसु णिम्माएण[1] सयमेव

१ अथवा आचार्येण सूत्रार्थयोर्निर्मातेन (कुशलेन) स्वयमेव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ १४ ॥

निमित्तं घेत्तव्वं, अहवा सीसो गहणधारणासंपन्नो निव्विकारी जो सो गेण्हाविज्जइ, जया आयरिओ वुड्ढो भवइ तया अविगारिस्स सीसस्स देइ, जाहे सो ण होज्जा ताहे अण्णो कोइ पुच्छिज्जइ, ताहे बारसहिं निग्गंतव्वं, अह बारसएहिं ण णायं ताहे एक्कारसहिं जाव जाहे एक्केणवि ण णायं होज्जा ताहिं छहिं मासेहिं सुयं ताहे निग्गच्छन्तु, अहवा न चेव णायं असिवं जायं ताहे निग्गच्छंतु । अक्षरव्याख्या—अतिशयनमतिशयः–प्रत्यक्षं ज्ञानमवधिमनःपर्यायकेवलाख्यं, तेन ज्ञात्वा, देवता वा कथयति, भविष्यत्यशिवमिति, निमित्तम्–अनागतार्थपरिज्ञानहेतुर्ग्रन्थस्तस्य ग्रहणं स्वयमेव करोत्याचार्यः शिष्यो वा योग्यो ग्राह्यते निमित्तं, 'परिहाणि जाव पत्तं'ति द्वादशकेन यदा न ज्ञातं तदा एकादशकेनेत्येकैकहान्या परिहाणिरिति, यावत्प्राप्तमिति तावत् स्थिताः कथञ्चिद्यावत्प्राप्तम्–आगतमशिवं, तत्र किमिति?, निर्गमनं निर्गमः कार्यः सर्वैरिति । कथं तर्ह्य शिवमाश्रित्यैकाकित्वमिति चेत्तदाह–'गिलाणपडिबंधो' ग्लानो–मन्दस्तथैवाशिवकारिण्या देवतया कृतः पूर्वभूतो वा, तेन प्रतिबन्धः–न निर्गमः सर्वेषां ॥ तस्याश्चाशिवकारिण्याः स्वरूपप्रतिपादनायाह—

संजयगिहितदुभय भद्दिआ य तह तदुभयस्सवि अ पंता। चउवज्जणवीसु उवस्सए य तिपरंपराभत्तं ॥१७॥ (भा०)
असिवे सदसं वत्थं लोहं लोणं च तह य विगईओ। एयाइं वज्जिज्जा चउवज्जणयंति जं भणिअं ॥ १८॥ (भा०)

१ निमित्तं ग्रहीतव्यं, अथवा शिष्यो ग्रहणधारणासंपन्नो निर्विकारी यः सः ग्राह्यते, यदा आचार्यो वृद्धो भवति तदाऽविकारिणे शिष्याय ददाति, यदा स न भवेत्तदा अन्यः कश्चित् पृच्छयते, तदा द्वादशभ्योऽर्वाग् निर्गन्तव्यं, अथ द्वादशभ्यो न ज्ञातं तदैकादशभ्यो यावद्यदैकसादपि न ज्ञातं भवेत्तदा षड्भ्यो मासेभ्यः श्रुतं तदा निर्गच्छन्तु, अथवा नैव ज्ञातमशिवं जातं (तर्हि) तदैव निर्गच्छन्तु.

१प्रतिलेखनाद्वारे-अशिवादिः भा.१५-१८

॥ १४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संयताः–साधवस्तेषां भद्रिका न गृहिणामिति प्रथमो भङ्गः, गृहिणां भद्रिका न संयतानामिति द्वितीयः, तथोभयभद्रिकेति तृतीयः, उभयप्रान्तेति[1] चतुर्थः । सा[2] पुण चउप्पयारा संजयभद्दिगा गिहत्थपंता १ गिहत्थभद्दिगा संजयपंता२ उभयपंता ३ उभयभद्दिआ ४। कहं पुण संजयभद्दिगा होज्जा?, गिहत्थे उद्दवेइ, संजए भणति–निरुवसग्गा अच्छह, ताहेवि गंतव्वं, कोहा जाणति पमत्ता पलोएज्जा वा गेण्हेज्जा वा, गिहिभद्दिगा संजयपंता संजए चेव पढमं गेण्हति जहा एते महातवस्सी एते चेव पढमं पेलेयव्वा, एतेसु णिज्जिएसु अवसेसा णिज्जिआ चेव भवंति, एत्थं जा होउ सा होउ निग्गंतव्वं, जाहे न निग्गया केणइ वाघाएण, को वाघाओ ?, पुव्वं गिलाणो वा होज्जा, ताए वा उद्दाइआए कोइ संजओ गहितो होज्जा, पंथा वा न वहंति, ताहे तत्थ जयणाए अच्छियव्वं, का जयणा ?, इमाणि चत्तारि परिहरिअव्वाणि–विगई दसविहावि लोणं लोहं च सदसं वत्थं च, जाणि अ कुलाणि असिवेण गहिआणि तेसु आहाराईणि न गेण्हंति, जाहे सव्वाणिवि गहियाणि होज्जा

---

१ तथोभयभद्रिका नेति चतुर्थः, उभयप्रान्ता अभद्रिका अशोभनेत्यर्थः प्र०। २ सा पुनश्चतुष्प्रकारा–संयतभद्रिका गृहस्थप्रान्ता १ गृहस्थभद्रिका संयतप्रान्ता २ उभयप्रान्ता ३ उभयभद्रिका ४। कथं पुनः संयतभद्रिका भवेत् ?, गृहस्थानुपद्रवति, संयतान् भणति–निरुपसर्गास्तिष्ठत, तदापि गन्तव्यं, क्रोधात् जानाति (को जानाति न) प्रमत्तान् प्रलोकयेत् गृह्णीयाद्वा १, गृहिभद्रिका संयतप्रान्ता संयतानेव प्रथमं गृह्णाति यथैते महातपस्विनः एत एव प्रथमं प्रेरणीयाः, एतेषु निर्जितेषु अवशेषा निर्जिता एव भवन्ति, अत्र या भवतु सा भवतु निर्गन्तव्यं, यदा न निर्गंताः केनचिद्व्याघातेन, को व्याघातः ?, पूर्वं ग्लानो वा भवेत्, तया वोपद्रोव्या कश्चित्संयतो गृहीतो भवेत्, पन्थानो वा न वहन्ति, तदा तत्र यतनया स्थातव्यं, का यतना ?, इमानि चत्वारि परिहर्त्तव्यानि–विकृतिर्दशविधाऽपि लवणं लोहं च सदृशं वस्त्रं च, यानि च कुलानि अशिवेन गृहीतानि तेष्वाहारादीनि न गृह्णन्ति, यदा सर्वाण्यपि गृहीतानि भवन्ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१८||

दीप अनुक्रम [२९]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ १५ ॥

ताहे दिट्ठं दिट्ठीए ण पाडिंति, ओमत्थिआ गेण्हंति, दिट्ठीइ संकमइ ॥ 'चउवज्जणं'ति चतुर्णां वर्जना–परिहारश्चतुर्वर्जना विकृत्यादीनां, चतुर्षु वा वर्जना क्षेत्रस्य–संयतभद्रिका गृहिप्रान्ता इत्यादिषु भङ्गकेषु, 'वीसु उवस्सए य'त्ति ग्लानविधिः, विष्वग्–भेदेनोपाश्रयः–आश्रयः कर्तव्य इत्यर्थः । जो संजतो असिवेण गहिओ होज्जा, तस्स दूरट्ठियस्स भत्तं तिपरंपरेण दिज्जइ । 'तिपरंपराभत्तं'ति, त्रयाणां परम्परा त्रिपरम्परा, भक्तं–आहारः, तद् एको गृह्णाति द्वितीयश्चानयति तृतीयोऽवज्ञया ददातीत्यर्थः । अवधूतम्–अवज्ञातं, जेहा अवधूता नासति ॥ ग्लानोद्वर्तनादिविधिप्रदर्शनायाह—

उव्वत्तणनिल्लेवण बीहंते अणभिओगऽभीरू य । अगहिअकुलेसु भत्तं गहिए दिट्ठिं परिहरिज्जा ॥ १९ ॥ (भा०)

उद्वर्तनं–ऊर्ध्वं वर्तनं यदसावुद्वर्त्यते, निर्लेपनं यदसौ निर्लेपः क्रियते, उपलक्षणं चैतत्, तस्य सकाशे न स्थातव्यं दिवा-रात्रौ वा । अथ कीदृशेन साधुना कर्तव्यमित्याह—'बीहंते अणभिओग'त्ति बिभ्यत्यनभियोगः, बिभ्यतीति भयं गच्छति, भीरावित्यर्थः, नाभियोगोऽनभियोगः, यो भीरुः स तत्र न नियोक्तव्यः । कस्तर्हि करोति ?, आह–'अभीरू य' अभीरुश्च न भीरुरभीरुः, स तत्र स्वयं करोति नियुज्यते वा, चशब्दो वस्त्रान्तरितादिप्रयत्नप्रदर्शनार्थः, अगृहीतेषु कुलेषु अशिवेनेह भक्तं ग्राह्यं, तदभावे दृष्टिं–दृष्टिसंपातपरिहारः । आह–चतुर्वर्जनेत्युक्तं तत्र भङ्गका अपि गृह्यन्त इति । जोऽवि तं उवत्तेइ वा परियत्तेइ वा सो हत्थस्स अंतरे वत्थं दाऊण ताहे उवत्तेति वा परियत्तेइ वा । उवत्तेऊण हत्थे

१ तदा दृष्टिं दत्तौ न पातयंति, उद्घाटमस्तका (मच्छन्ना) गृह्णन्ति, दृष्टेः संक्रामंते । २ यः संयतोऽशिवेन गृहीतो भवेत् तस्मै दूरस्थिताय त्रिपरम्परकेण भक्तं दीयते । ३ यथाऽवज्ञाता नश्यति ।४ योऽपि तमुद्वर्त्तयति वा परिवर्त्तयति वा स हस्तस्यान्तरे वस्त्रं दत्वा तमुद्वर्त्तयति वा परिवर्त्तयति वा । उद्वर्त्य हस्तौ

१प्रतिलेख-नाद्वारे अशिवादिः भा. १९

॥ १५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मट्टिआए धोवइ, जो य बीहिज्जा सो तत्थायरिएण न भणियव्वो जहा अज्जो तुमं वसाहित्ति । जो धम्मसद्धिओ साहू सो अप्पणा चेव भणइ–अहं वसामि । प्रतिबन्धस्थाने सति कर्त्तव्यान्तरप्रदर्शनायाह—

पुव्वाभिग्गहवुड्ढी विवेग संभोइएसु निक्खिवणं। तेऽविअ पडिबंधठिआ इयरेसु बला सगारदुगं ॥ २० ॥ (भा०)

पूर्वमिति–शिवकाले येऽभिग्रहाः–तपःप्रभृतयस्तेषां वृद्धिः कार्या, चतुर्थाभिग्रहः षष्ठं करोति, मृते तस्मिन् को विधिरित्याह–'विवेग' विवेचनं विवेकः, 'विचिर् पृथग्भावे' परित्याग इतियावत्, कस्यासाविति–तदुपकरणस्य, अमृते तस्मिन् गमनावसरे च प्राप्ते किं कर्त्तव्यमित्याह–'संभोइएसु निक्खिवणं' अशेषसमानसामाचारिकेषु विमुच्य गम्यते, ते तत्राशिवे कथं स्थिता इत्याह–'तेऽवि अ पडिबंधठिआ' न तेषां गमनावसरः कुतश्चित्प्रतिबन्धात्, तदभावे किं कर्त्तव्यमित्याह 'इतरेसु'त्ति असम्भोगिकेष्वित्यर्थः, तदभावे देवकुलिकेषु, अनिच्छत्सु बलात्कारेण, तदभावे कुत इत्याह–'सगारदुअं' सह अगारेण वर्त्तत इति सागारो गृहस्थ इत्यर्थः, तयोर्द्वयं, तावेव द्वावित्यर्थः । कौ पुनस्ताविति ?–व्रत्यव्रती वा सम्यग्दृष्टी, तदभावे शय्यातरः, यथाभद्रकमिथ्यादृष्टिः ॥ सो य गिलाणो यदि अत्थि अण्णा वसही तहिं ठविज्जइ, असईए अ ताए चेव वसहीए एगपासे चिलिमिली किज्जइ, बारं दुहा किज्जइ, जेण गिलाणो निक्खमति वा पविसति वा तेण अण्णे साहुणो

१ मृत्तिकया प्रक्षालयति । यश्च बिभ्यति स तत्राचार्येण न भणितव्यः, यथाऽऽर्य! त्वं वसेति । यो धर्मश्रद्धिकः साधुः स आत्मनैव भणति–अहं वसामि ।
२ स च ग्लानो यदि अस्त्यन्या वसतिस्तत्र स्थाप्यते, असत्यां च तस्यामेव वसतावेकपार्श्वे चिलिमिलिः क्रियते, द्वारं द्विधा क्रियते, येन ग्लानो निष्क्रामति वा प्रविशति वा तेनान्ये साधवो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२०||

दीप अनुक्रम [३१]

ण निग्गच्छंति, पडिआरगवज्जं, ताव य तहिं अच्छंति जाव सत्थो न लब्भइ ताव जोगवुड्ढिं करेंति, जो नमोक्कारं करिंतओ सो पोरिसिं करेति, एवं वड्ढंति, जइ पउणो सो साहू जो गहिओ ताहे वच्चंति, अह कालं करेइ ताहे जं तस्स उवगरणं तं सव्वं छड्डिज्जइ, ते छड्डित्ता ताहे वच्चंति, अह सो न चेव मुत्तो ताहे अण्णेसिं संभोइआणं सकज्जपडिबंधट्ठिआणं मूले निक्खिप्पइ, जाहे संभोइआ न होज्जा ताहे अण्णसंभोइआणं, जाहे तेऽवि न होज्जा ताहे पासत्थोसन्नकुसीलाईणं, तेसिं बलावि ओवेडिज्जइ, तेसिं देवकुलाणि भुज्जंति, सारूविअसिद्धपुत्ताणं, तेसिं असति सावगाणं उवणिक्खिप्पति, पच्छा सेज्जायरेसु आहाभद्दगेसु वा एवं ठविज्जइ, ताहे वच्चंति ॥ यदि पुनरसौ मुच्यमान आक्रोशति ततः किं कर्त्तव्यमित्याह—

कूयंते अब्भत्थण समत्थभिक्खुस्स णिच्छ तद्दिवसं। जइ विंदघाइभेओ तिदुवेगो जाव लाउवमा ॥ २१ ॥ (भा०)

'कूज अव्यक्ते शब्दे' कूजयति—अव्यक्तशब्दं कुर्वाणे किं कार्यमित्याह—'अब्भत्थण समत्थभिक्खुस्स' समर्थः—शक्तोऽभ्यर्थ्यते, त्वं तिष्ठ यावद्वयं निर्गच्छाम इति, निर्गतेषु वक्तव्यम्—इच्छतु भवान् अहमपि गच्छामि, यदीच्छति क्षिप्रं निर्गमः।

१ न निर्गच्छन्ति, प्रतीचारकवर्जं, तावच्च तत्र तिष्ठन्ति यावत्सार्थो न लभ्यते तावद्योगवृद्धिं कुर्वन्ति, यो नमस्कारस्य कारकः स पौरुषीं करोति, एवं वर्धयन्ति, यदि प्रगुणः स साधुर्यो गृहीतस्तदा व्रजन्ति, अथ कालं करोति तदा यत्तस्योपकरणं तत्सर्वं त्यज्यते, ते तदा त्यक्त्वा व्रजन्ति, अथ स नैव मुक्तस्तदा अन्येषां सांभोगिकानां स्वकार्यप्रतिबन्धस्थितानां मूले निक्षिप्यते, यदा सांभोगिका न भवेयुस्तदाऽन्यसांभोगिकानां, यदा तेऽपि न भवेयुस्तदा पार्श्वस्थावसन्नकुशीलादीनां, तेषां बलादपि निक्षिप्यते, तेषां देवकुलानि भुज्यन्ते, सारूपिकसिद्धपुत्राणां, तेषामसति श्रावकाणामुपनिक्षिप्यते, पश्चात् शय्यातरेषु यथाभद्रकेषु चैवं स्थाप्यते, तदा व्रजन्ति।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथासौ धर्मनिरपेक्षतया नेच्छति ततः किमित्याह–'अणिच्छ तद्दिवसं' अनिच्छति तस्मिंस्तस्य साधोर्गमनं तद्दिवसं स्थित्वा छिद्रं लब्ध्वा नंष्टव्यं, तैश्च किं संहतैर्गन्तव्यमाहोस्विदन्यथेत्याह–'जइ विंदघाइभेओ तिदुएगो जाव' यद्यसौ वृन्द-घातिनी ततो द्विधा भेदः, तथाऽपि न तिष्ठति त्रिधा, त्रयस्त्रयो द्वौ द्वौ एकैको यावत्तथा न घातयति । कः पुनरत्र दृष्टान्त इत्याह–'जहा अलाउवमा' अलातम्–उल्मुकमुपमानं–दृष्टान्तस्तेनोपमा, यथा हि तानि संहतानि ज्वलन्ति नान्यथा, एवं तेऽपि संहता हन्यन्ते नान्यथेति, तदर्थं भेदः, एवमशिवादेकाकी भवति । यँदि सो कूवति ताहे एको भण्णति–जो (जइ) समत्थो तुमं ताहे छिद्दं नाऊण बितिअदिवसे एज्जासि, तस्स पुण मज्जाया–ते विसज्जेयवा, मा मम कज्जे मरंतु, जाहे सोऽवि मिलिओ ताहे सवे एगतो वच्चंति, जाहे तेसिं एगतो वच्चंताणं कोइ विघाओ हुज्जा, एस विंदघाई, जत्थ बहुगा तत्थ पडति, दिट्ठंतो कट्ठसंघाओ पलित्तो, सो दुहा कओ पच्छा एक्केक्कं दारुगं न जलति, एवं तेऽवि जइ गहिआ ताहे दुहा कज्जंति, एवं तिहा, जाव तिण्णि तिण्णि जणा, एगो पडिस्सयवालो संघाडओ हिंडइ, अह तहवि न मुयति ताहे दो दो होंति, अह दोवि जणा न मुयइ ताहे एगागी भवंति, तेसिं उवगरणं ण उवहम्मति, एवं ता एकल्लओ दिट्ठो असिवेण ॥ केन पुनरुपायेनैकत्वविशेषणजुष्टा नष्टाः सन्त एकत्र प्रदेशे संहियन्ते ? इत्याह—

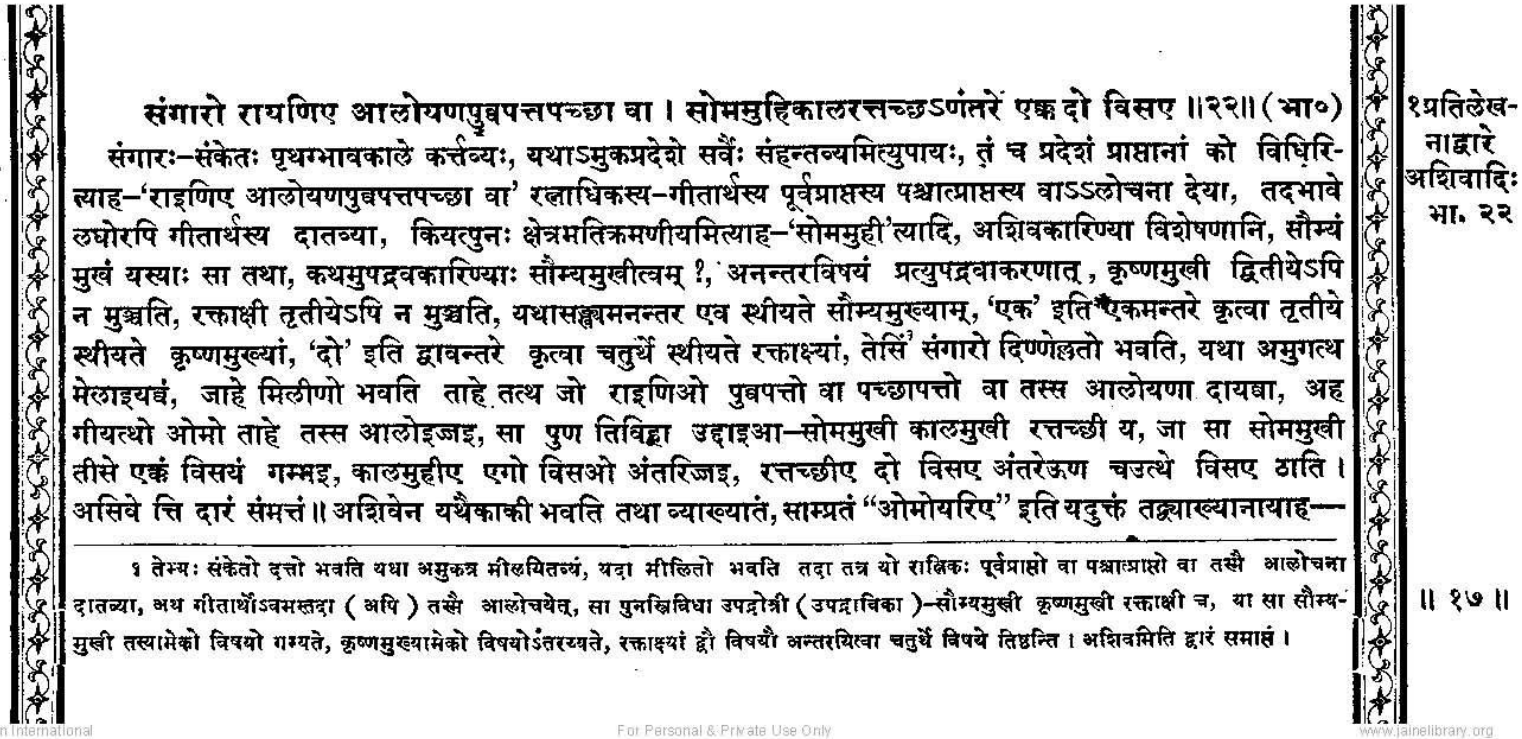
१ यदि स कूजति तदा एको भण्यते–यदि समर्थस्त्वं तदा छिद्रं ज्ञात्वा द्वितीयदिवसे आयायाः, तस्य पुनर्मर्यादा–ते विसर्जयितव्याः, मा मम कार्याय मार्षुः, यदा सोऽपि मीलितस्तदा सर्वे एकतो व्रजन्ति, यदा तेषामेकतो व्रजतां कश्चिद्व्याघातो भवेत्, एष वृन्दघाती यत्र बहवस्तत्र पतति, दृष्टान्तः काष्ठसंघात प्रदीप्तः, स द्विधाकृतः पश्चादेकैकं दारु न ज्वलति, एवं तेऽपि यदि गृहीतास्तदा द्विधा क्रियन्ते, एवं त्रिधा, यावत्त्रयस्त्रयो जनाः, एकः प्रतिश्रयपालः संघाटको हिण्डते, अथ तथापि न मुञ्चति तदा द्वौ द्वावपि भवतः, अथ द्वावपि जनौ न मुञ्चति तदैकाकिनो भवन्ति, तेषामुपकरणं नोपहन्यते, एवं तावदेकाकी दृष्टोऽशिवेन ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२२||

दीप अनुक्रम [३३]



श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ १७ ॥

संगारो रायणिए आलोयणपुव्वपत्तपच्छा वा । सोममुहिकालरत्तच्छऽणंतरे एक्क दो विसए ॥२२॥ (भा०)

संगारः–संकेतः पृथग्भावकाले कर्त्तव्यः, यथाऽमुकप्रदेशे सर्वैः संहन्तव्यमित्युपायः, तं च प्रदेशं प्राप्तानां को विधिरित्याह–'राइणिए आलोयणपुव्वपत्तपच्छा वा' रत्नाधिकस्य–गीतार्थस्य पूर्वप्राप्तस्य पश्चात्प्राप्तस्य वाऽऽलोचना देया, तदभावे लघोरपि गीतार्थस्य दातव्या, कियत्पुनः क्षेत्रमतिक्रमणीयमित्याह–'सोममुही'त्यादि, अशिवकारिण्या विशेषणानि, सौम्यं मुखं यस्याः सा तथा, कथमुपद्रवकारिण्याः सौम्यमुखीत्वम् ?, अनन्तरविषयं प्रत्युपद्रवाकरणात्, कृष्णमुखी द्वितीयेऽपि न मुञ्चति, रक्ताक्षी तृतीयेऽपि न मुञ्चति, यथासङ्क्रमनन्तर एव स्थीयते सौम्यमुख्याम्, 'एक' इति एकमन्तरे कृत्वा तृतीये स्थीयते कृष्णमुख्यां, 'दो' इति द्वावन्तरे कृत्वा चतुर्थे स्थीयते रक्ताक्ष्यां, तेसिं संगारो दिण्णेल्लतो भवति, यथा अमुगत्थ मेलाइयव्वं, जाहे मिलीणो भवति ताहे तत्थ जो राइणिओ पुव्वपत्तो वा पच्छापत्तो वा तस्स आलोयणा दायव्वा, अह गीयत्थो ओमो ताहे तस्स आलोइज्जइ, सा पुण तिविहा उद्दाइआ–सोममुखी कालमुखी रत्तच्छी य, जा सा सोममुखी तीसे एक्कं विसयं गम्मइ, कालमुहीए एगो विसओ अंतरिज्जइ, रत्तच्छीए दो विसए अंतरेऊण चउत्थे विसए ठाति । असिवे त्ति दारं संमत्तं ॥ अशिवेन यथैकाकी भवति तथा व्याख्यातं, साम्प्रतं "ओमोयरिए" इति यदुक्तं तद्व्याख्यानायाह—

१ तेभ्यः संकेतो दत्तो भवति यथा अमुकत्र मीलयितव्यं, यदा मीलितो भवति तदा तत्र यो रात्निकः पूर्वप्राप्तो वा पश्चात्प्राप्तो वा तस्मै आलोचना दातव्या, अथ गीतार्थोऽवमस्तदा (अपि) तस्मै आलोचयेत्, सा पुनस्त्रिविधा उपद्रोत्री (उपद्राविका)–सौम्यमुखी कृष्णमुखी रक्ताक्षी च, या सा सौम्यमुखी तस्यामेको विषयो गम्यते, कृष्णमुख्यामेको विषयोऽंतरय्यते, रक्ताक्ष्यां द्वौ विषयौ अन्तरयित्वा चतुर्थे विषये तिष्ठन्ति । अशिवमिति द्वारं समाप्तं ।

१प्रतिलेखनाद्वारे अशिवादिः भा. २२

॥ १७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२३||

दीप अनुक्रम [३४]

एमेव उ ओमम्मि भेओ उ अलंभि गोणिदिट्ठंतो।

'एवमेवे'ति अनेनैव प्रकारेणावमद्वारमपि व्याख्येयं, यथाऽशिवद्वारं व्याख्यातं, यो विधिरशिवद्वारे सोऽत्रापीत्यर्थः, तुशब्दो बहुसादृश्यप्रतिपादनार्थः, अवमे–दुर्भिक्षे, अपिशब्दः सादृश्यसंभावने, तदुच्यते–"संवच्छरबारसएण होहिति ओमंति ते तओ निंति" इत्यादि, भेदनं–भेदः–एकैकता, तुशब्द एवकारार्थः, कस्मिन् पुनरसौ भवतीत्याह–अलाभे भवति, अप्राप्तावाहारस्येत्यर्थः, यदेको लभते तद्वावपि, द्वौ वा दृष्ट्वा न किञ्चिद्ददाति, एकैक एव लभते इत्यवमादेरेकाकिता। अत्र दृष्टान्तमाह–'गोणिदिट्ठंतो' गोदृष्टान्तः, यथा संहतानां गवां स्वल्पे तृणोदके न तृप्तिः, पृथग्भूतानां स्यात्, तथेहापीति॥ ओमोयरियाएवि एसेव कमो, बारसहिं संवच्छरेहिं आरद्धं जाहे पारं न पावंति ताहे गणभेयं करेइ, नाणत्तं–गिलाणो न तहा परिहरिज्जइ। एत्थ गोणिदिट्ठंतो कायव्वो, अल्पं गोब्राह्मणं नन्दति, एवं ओमेणवि एगागिओ दिट्ठो॥ दारं॥ साम्प्रतं राजभयद्वारप्रतिपादनायाह—

रायभयं च चउद्धा चरिमदुगे होइ गणभेओ॥ २३॥ (भा०)

राज्ञो भयं राजभयं, चशब्द एवमेवेत्यस्यानुकर्षणार्थः "संवच्छर बारस" इत्यादि, कियन्तः पुनस्तस्य भेदा इत्याह–चतुर्धा, सङ्ख्यायाः प्रकारवचने धा, चतुष्प्रकारमित्यर्थः, के पुनस्ते इति ?, मा त्वरिष्ठा अनन्तरमेवोच्यन्ते, किं चतुर्ष्वपि

१ अवमौदर्यतायामपि एष एव क्रमः, द्वादशभ्यो वर्षेभ्य आरभ्य यदा पारं न प्राप्नुवन्ति तदा गणभेदं करोति, नानात्वं–ग्लानो न तथा परिह्रियते, अत्र गोदृष्टान्तः कर्त्तव्यः। गोब्राह्मणौ अल्पौ नन्दतः, एवमवमेनाप्येकाकी दृष्टः।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भेदेषु ?, नेत्याह–'चरिमदुए' इत्यादि, 'चरिमे' पश्चिमे द्वये 'भवति' जायते 'गणभेदः' गच्छपृथग्भावः, एकैक इत्यर्थः । 'रायदुट्ठमवि तहेव वारससंवच्छरेहिं होहिंति' । भेदचतुष्टयस्वरूपदर्शनायाह—

निव्विसउत्ति य पढमो बिइओ मा देह भत्तपाणं तु । तइओ उवगरणहरो जीवचरित्तस्स वा भेओ॥२४॥(भा०)

सुगमा, णवरं–'जीय'त्ति जीवितभेदकारी चतुर्थो भेदश्चारित्रभेदकारी वा चतुर्थो राजा, उपकरणहारिजीवितचारित्रहारिणोर्गणभेदः कार्य इति । 'तं चउव्विहं निव्विसओत्ति य पढमो बिइओ मा देह भत्तपाणं तु । तइओ उवगरणहरो जीवचरित्तस्स वा भेओ' ॥ आह–कथं पुनः साधूनां त्यक्तापराधानां राजभयं भवति ?, "यस्य हस्तौ च पादौ च, जिह्वाग्रं च सुयन्त्रितम् । इन्द्रियाणि च गुप्तानि, तस्य राजा करोति किम् ? ॥ १ ॥" सत्यमेतत्, किं तर्हि ?—

अहिमर अणिट्ठदरिसणवुग्गाहणया तहा अणायारे। अवहरणदिक्खणाए आणालोए व कुप्पिज्जा ॥२५॥(भा०)
अंतेउरप्पवेसो वायनिमित्तं च सो पउसेज्जा ।

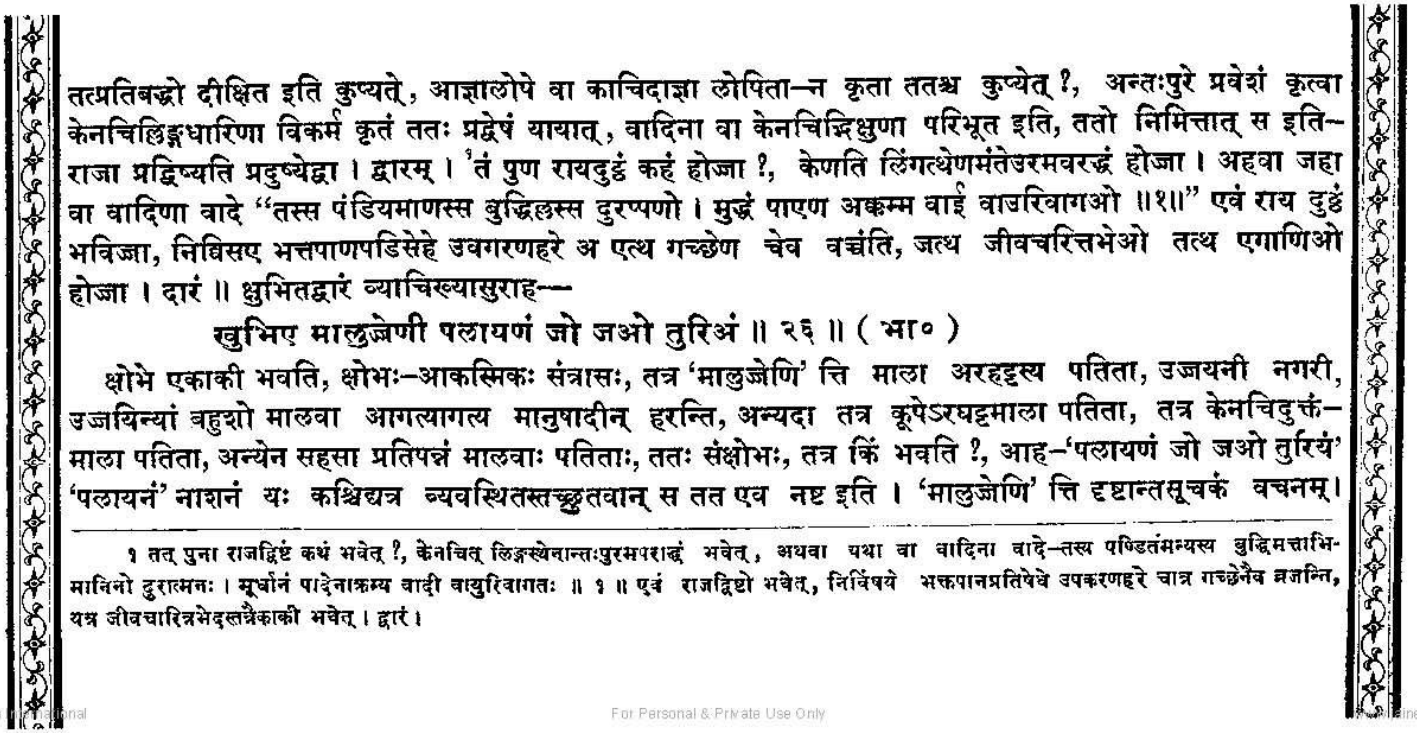
व्याख्या—'अभिमराः' अभिमुखमाकार्य मारयन्ति म्रियन्ते वेत्यभिमराः, कुतश्चित्कोपाद्राजकुलं प्रविश्यापरं व्यापादयन्तीति, साधूनां किमायातमिति चेत्, उच्यते, अन्यथा प्रवेशमलभमानैः कैश्चित्साधुवेषेण प्रविश्य तत्कृतं, ततश्च निर्विवेकित्वात्स राजा साधुभ्यः कुप्येत्, कुप्येदिति चैतत्क्रियापदं प्रतिपदं योजनीयं, अभव्यत्वात्, अनिष्टान्–अप्रशस्तान् मन्यमानो दर्शनं नेच्छति, प्रस्थानादौ च दृष्ट्वा इति कुप्येत् । 'व्युद्ग्राहणता' विशब्दः कुत्सायामुत्–प्राबल्येन केनचित्प्रत्यनीकेन व्युद्ग्राहितः, यथैते तवानिष्टं ध्यायन्तीति कुप्येत् । लोकं प्रत्यनाचारं समुद्देशादीन् दृष्ट्वा कुप्येत्, अपहरणं कृत्वा

१प्रतिलेखनाद्वारे अशिवादिः भा-२३-२४ २५॥

॥ १८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२६|| दीप अनुक्रम [३७]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः



तत्प्रतिबद्धो दीक्षित इति कुप्यते, आज्ञालोपे वा काचिदाज्ञा लोपिता—न कृता ततश्च कुप्येत् ?, अन्तःपुरे प्रवेशं कृत्वा केनचिल्लिङ्गधारिणा विकर्म कृतं ततः प्रद्वेषं यायात्, वादिना वा केनचिद्भिक्षुणा परिभूत इति, ततो निमित्तात् स इति—राजा प्रद्विष्यति प्रदुष्येद्वा । द्वारम् । [1]तं पुण रायदुट्ठं कहं होज्जा ?, केणति लिंगत्थेणमंतेउरमवरद्धं होज्जा । अहवा जहा वा वादिणा वादे "तस्स पंडियमाणस्स बुद्धिलस्स दुरप्पणो । मुद्धं पाएण अक्कम्म वाई वाउरिवागओ ॥१॥" एवं राय दुट्ठं भविज्जा, निविसए भत्तपाणपडिसेहे उवगरणहरे अ एत्थ गच्छेण चेव वच्चंति, जत्थ जीवचरित्तभेओ तत्थ एगाणिओ होज्जा । दारं ॥ क्षुभितद्वारं व्याचिख्यासुराह—

खुभिए मालुज्जेणी पलायणं जो जओ तुरिअं ॥ २६ ॥ (भा०)

क्षोभे एकाकी भवति, क्षोभः—आकस्मिकः संत्रासः, तत्र 'मालुज्जेणि' त्ति माला अरहट्टस्य पतिता, उज्जयनी नगरी, उज्जयिन्यां बहुशो मालवा आगत्यागत्य मानुषादीन् हरन्ति, अन्यदा तत्र कूपेऽरघट्टमाला पतिता, तत्र केनचिदुक्तं—माला पतिता, अन्येन सहसा प्रतिपन्नं मालवाः पतिताः, ततः संक्षोभः, तत्र किं भवति ?, आह—'पलायणं जो जओ तुरियं' 'पलायनं' नाशनं यः कश्चिद्यत्र व्यवस्थितस्तच्छ्रुतवान् स तत एव नष्ट इति । 'मालुज्जेणि' त्ति दृष्टान्तसूचकं वचनम्।

१ तत् पुना राजद्विष्टं कथं भवेत् ?, केनचित् लिङ्गस्थेनान्तःपुरमपराद्धं भवेत्, अथवा यथा वा वादिना वादे—तस्य पण्डितंमन्यस्य बुद्धिमत्ताभिमानिनो दुरात्मनः । मूर्धानं पादेनाक्रम्य वादी वायुरिवागतः ॥ १ ॥ एवं राजद्विष्टो भवेत्, निर्विषये भक्तपानप्रतिषेधे उपकरणहरे चात्र गच्छेनैव व्रजन्ति, यत्र जीवचारित्रभेदस्तत्रैकाकी भवेत् । द्वारं ।

ओ० ४

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	एकाकित्व एवं तस्य कारणानि

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ १९ ॥

खुंभिए वा एगागी होज्जा, जहा उज्जेणीए अरहट्टमाला पडिआ, लोगो सव्वो पलाओ मालवा पडियत्ति, एरिसे खुभिए एगागी होज्जा, जो जओ सो तओ णासति । दारं ॥ अधुना यदुक्तं राजभयद्वारे, 'वायनिमित्तं च से पउस्सेज्ज'त्ति तद्व्याचिख्यासुराह–

तस्स पंडियमाणस्स, बुद्धिल्लस्स दुरप्पणो । मुद्धं पाएण अक्कम्म, वाई वाउरिवागओ ॥ २७ ॥ (भा०)

आह चोदकः–शोभनं स्थानं तद् व्याख्यायाः, ननु क्षुभितद्वारेणान्तरितत्वात्कोऽयं प्रकारः ? इति, अत्रोच्यते, निर्युक्तिग्रन्थवशाददोषः । यतोऽत्रैकगाथया "अंतेउरे" इत्यादिकया राजभयक्षुभितद्वारे उक्ते ततस्तत्रानवसरत्वादिहैव युक्ता व्याख्या, 'तस्से'ति 'तस्य' राज्ञो भयहेतोः, कथंभूतस्य ?–'पण्डितमानिनः' पण्डितंमन्यस्य पण्डितमात्मानं मन्यते स एवंमन्यो, ज्ञानलवदुर्विदग्धत्वात्, बुद्धिं लातीति बुद्धिलो बुद्धिलस्य 'दुरात्मनः' मिथ्यादृष्टित्वादभद्रत्वाच्छासनप्रत्यनीकत्वात्स तथा तस्य, किमित्याह–'मूर्द्धानं' उत्तमाङ्गं पादेनाक्रम्य 'वादी' वादलब्धिसंपन्नः साधुर्वायुरिवागतः–अभीष्टं स्थानं प्राप्त इत्यक्षरार्थः, समुदायार्थस्तु–स राजा पण्डितंमन्यतया दर्शनं निन्दति, तद्वादी वा कश्चित्, तत्र च साधुर्वादी, तेन सभां प्रविश्य न्यायेन पराजितः, तथाऽपि न साधुकारं ददाति प्रभुत्वात्तथाऽपि निन्दति, पुनश्चासौ साधुर्वादी विद्यादिबलेन सभामध्ये तस्य शिरसि पादं कृत्वाऽदर्शनीभूतः, ततश्चासौ परं परिभवं मन्यमानः प्रकर्षेण द्वेषं यायात्, इति श्लोकार्थः ॥ उत्तमार्थद्वारप्रतिपादनायाह–

१ क्षोभे वैकाकी भवेत्, यथा उज्जयिन्यां अरहट्टघटीमाला पतिता, लोकः सर्वः पलायितः–मालवाः पतिता इति, ईदृशे क्षोभे एकाकी भवेत्, यो यत्र स ततो नश्यति ।

एकाकित्वे कारणानि भा.२६-२७

॥ १९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२८||

दीप अनुक्रम [३९]

निजवग्गस्स सगासं असई एगाणिओ व गच्छिज्जा।
सुत्तत्थपुच्छगो वा गच्छे अहवाऽवि पडिअरिउं ॥ २८ ॥ (भा०)

निर्यापयति–आराधयति निर्यामकः–आराधकस्तस्य 'सकाशं' मूलम् असति–द्वितीयाभावे एकाक्यपि कालं कर्तुकामो गच्छेत्, सूत्रार्थपृच्छको वा गच्छेत् । उत्तमार्थस्थितस्यैकाक्यपि मा भूव्यवच्छेदः 'अहवावि पडियरिउं' अथवाऽपि 'प्रतिचरितुं' प्रतिचरणाकरणार्थम्, 'उत्तमट्ठे वा' सो साहू उत्तमट्ठं पडिवज्जिउकामो, आयरियसगासे य नत्थि निज्जमओ, ताहे अन्नत्थ वच्चेज्जा, तो ससंघाडओ वच्चउ, असति ताहे एगो एगाणिओ वच्चेज्जा, अहवा उत्तिमट्ठपडिवण्णओ साहू सुओ, तस्स सुत्तत्थतदुभयाणि अपुव्वाणि, इमस्स अ संकिआणि, अण्णस्स य नत्थि, ताहे तत्थ पडिपुच्छगनिमित्तं वच्चेज्जा । अथवा उत्तिमट्ठपडिअरणएहिं गम्मति ॥ फिडिअद्वारं व्याचिख्यासुराह—

फिडिओ व परिरएणं मंदगई वावि जाव न मिलेज्जा ।

'फिडिए' त्ति एते पंथेण वच्चंति, तत्थ कोइ पंथाओ उत्तिण्णो, अण्णेण वच्चेज्जा, अहवा थेरो, तस्स य अंतरा गड्डा डोंगरा वा, जे समत्था ते उज्जुएण वच्चंति, जो असमत्थो सो परिरएणं–भमाडेण वच्चइ, ततो जाव ताणं न मिलइ ताव

१ उत्तमार्थं वा, स साधुरुत्तमार्थं प्रतिपत्तुकामः, आचार्यसकाशे च नास्ति निर्यामकः, तदाऽन्यत्र व्रजेत्, तदा ससंघाटको व्रजतु, असति तदेक एकाकी व्रजेत्, अथवोत्तमार्थप्रपन्नः साधुः श्रुतः, तस्य सूत्रार्थतदुभयान्यपूर्वाणि, अस्य च शङ्कितानि, अन्यस्य च न सन्ति, तदा तत्र प्रतिपृच्छानिमित्तं व्रजेत्, अथवा उत्तमार्थप्रतिचरकैः गम्यते । २ स्फिटित इति, एके पथि व्रजन्ति, तत्र कश्चित् पथ उत्तीर्णः, अन्येन व्रजेत्, अथवा स्थविरः, तस्य च अन्तराले गर्त्ता पर्वता वा, ये समर्थास्ते ऋजुकेन व्रजन्ति, योऽसमर्थः स परिरयेण–भ्रमणेन व्रजति, ततो यावत्तेषां न मीलति ताव–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२९||

दीप अनुक्रम [४०]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ २० ॥

एगागी होज्जा ॥ इदानीं गाथार्थः–'फिडितः' प्रभ्रष्टः, गच्छतामेव सर्वेषां पथिद्वयप्रदर्शनात्संजातमोहोऽन्येनैव पथा प्रयातस्तत एकाकी भवति । 'परिरएणं वा' परिरयो–गिर्यादेः परिहरणं तेन वा एकाकी कश्चिदसहिष्णुर्मन्दगतिर्वा कश्चित्साधुः यावन्न मिलति तावदेकाकी भवति । उक्तं फिडितद्वारम्, इदानीं ग्लानद्वारमुच्यते—

सोऊणं व गिलाणं ओसहकज्जे असई एगो ॥ २९ ॥ (भा०)

गिलाणनिमित्तेण एगागी हुज्जा, तस्स ओसहं वा आणियव्वं । असइ संघाडयस्स ताहे एगागी वच्चिज्जा, अहवा गिलाणो सुओ ताहे सव्वेहिं गंतव्वं । अहप्पणो आयरिआ थेरा ताहे तेसिं पासे अच्छियव्वं, ताहे संघाडयस्स असइ एगागी वच्चिज्जा । इदानीमक्षरगमनिका–श्रुत्वाऽन्यत्र ग्लानं सङ्घाटकाभावे एकाकी व्रजति, यदिवा स्वगच्छ एव ग्लानः कश्चित्, तदर्थमौषधादीनामानयनार्थं व्रजत्येकाकी द्वितीयाभावे सति ॥ उक्तं ग्लानद्वारम्, इदानीमतिशयिद्वारम्—

अइसेसिओव सेहं असई एगाणिअं पठावेज्जा ।

कोई अतिसयसंपण्णो सो जाणइ, जहा एयस्स सेहस्स सयणिज्जगा आगया, ताहे सो भणति–एयं सेहं अवणेह, जइ न

१ देकाकी भवेत् । २ ग्लाननिमित्तेन एकाकी भवेत्, तस्यौषधं वा आनेतव्यं, असति संघाटकस्य तदैकाकी व्रजेत्, अथवा ग्लानः श्रुतस्तदा सर्वैर्गन्तव्यं, अथात्मन आचार्याः स्थविरास्तदा तेषां पार्श्वे स्थातव्यं, तदा संघाटकस्यासति एकाकी व्रजेत् । ३ कश्चित् अतिशयसंपन्नो जानाति सः–यथैतस्य शैक्षकस्य स्वजना आगताः, तदा स भणति–एनं शैक्षमपनयत, न यद्यपनयत. + एगाणिओऽवि गच्छे प्र० पयट्टेज्जा (वृ०) ।

एकाकित्वे कारणानि भा. २८-२९-३०

॥ २० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||३०||

दीप अनुक्रम [४१]

अवणेह ताहे एस ण करेति पव्वज्जं, ततो सो असइ संघाडयस्स एगाणिओवि पट्ठविज्जइ ॥ इदानीमक्षरार्थः–अतिशयी वा कश्चिदभिनवप्रव्रजितं द्वितीयेऽसत्येकाकिनमपि प्रवर्त्तयेत् । उक्तमतिशयिद्वारम्, इदानीं देवताद्वारम्–

देवय कलिंगरुवणा पारणए खीररुहिरं च ॥ ३० ॥ (भा०)

इह कलिंगेसु जणवएसु कंचणपुरं नगरं, तत्थायरिआ बहुस्सुआ पहाणागमा बहुसिस्सपरिवारा, ते अण्णया सिस्साण सुत्तत्थे दाऊण सन्नाभूमिं वच्चंति, तस्स य गच्छंतस्स पंथे महति महालतो रुक्खो, तस्स हेट्ठा देवया महिलारूवं विउव्वित्ता कलुणकलुणाइं रोवति, सा तेण दिट्ठा, एवं बितिअदिवसेवि, तओ आयरियस्स संका जाया–अहो ? कीस इमा एवं रोवइ ? त्ति, ताहे ओवत्तिऊण पुच्छिआ किं पुण धम्मसीले–रुयसि ?, सा भणइ–भगवं ! किं मम थेवं रोइयवं ?, आयरिओ भणइ–किं कहं वा ?, सा भणइ–अहमेयस्स कंचणपुरस्स देवया, एयं च अइरा सव्वं महाजलप्पवाहेण पलाविज्जिहिति तेण रुआमि त्ति, एते य साहुणो एत्थ सज्झायंति, ते अ अन्नत्थ गमिस्संतित्ति अओ रुआमि, आयरिएण भणिअं–कहं पुण एवं जाणि-

१ तदैष न करोति प्रव्रज्यां, ततः सोऽसति संघाटकस्य एकाक्यपि प्रस्थाप्यते । २ इह कलिङ्गेषु जनपदेषु काञ्चनपुरं नगरं, तत्राचार्या बहुश्रुताः प्रधानागमा बहुशिष्यपरिवाराः, तेऽन्यदा शिष्येभ्यः सूत्रार्थौ दत्त्वा सञ्ज्ञाभूमिं व्रजन्ति, तस्य च गच्छतः पथि महातिमहान् वृक्षः, तस्याधो देवता महिलारूपं विकुर्व्य करुणकरुणानि रोदिति, सा तेन दृष्टा, एवं द्वितीयदिवसेऽपि, तत आचार्यस्य शङ्का जाता–अहो ? कुत इयमेवं रोदिति ? इति, तदा अपवर्त्य पृष्टा–किं पुनर्धर्म्मशीले ! रोदिषि ?, सा भणति–भगवन् ! किं मम स्तोकं रोदितव्यम् ?, आचार्यो भणति–किं कथं वा ?, सा भणति–अहमेतस्य काञ्चनपुरस्य देवता, एतच्चाचिरात् सर्वं महाजलप्रलयेन प्लावयिष्यते तेन रोदिमि इति, एते च साधवोऽत्र स्वाध्यायन्ति ते चान्यत्र गमिष्यन्तीति अतो रोदिमि, आचार्येण भणितं–कथं पुनरेतत् ज्ञायते ?,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ २१ ॥

ज्जइ ?, सा भणति जओ तुज्झं खमओ पारणए दुद्धं लभिस्सइ, तं से रुहिरं भविस्सइत्ति, जइ एवं होज्जा तो पत्तिएज्जह, तं च घेत्तूण सव्वसाहूणं पाएसु थेवं थेवं देज्जाह, जत्थ देसे तं सहावं जाहिति तत्थ ण जलप्पवाहो पभवेस्सइत्ति मुणिज्जह त्ति, ततो एवंति आयरिएण पडिवन्नं, ताहे बितिअदिवसे तहेव लद्धं तहा संजायं, ततो आयरिएहिं सव्वेसिं मत्तए पत्तेअं पत्तेअं तं दिन्नं, तओ जहासत्तीए पलायंति, जत्थ तं पंडुरं जायं तत्थ मिलिआ। एवं एगागी होज्जा ॥ उक्तं देवताद्वारम्,अथाचार्यद्वारं—

चरिमाए संदिट्ठो ओगाहेऊण मत्तए गंठी। इहरा कयउस्सग्गो परिच्छ आमंतिआ सगणं ॥ ३१ ॥ (भा०)

चरमा–चतुर्थपौरुषी तस्यां 'संदिष्टः' उक्तः यदुत–त्वयाऽमुकत्र गन्तव्यं, स चाभिग्रहिकः साधुः, ततश्चासावेवमाचार्येणोक्तः किं करोति ?–सकलमुपकरणं पत्रकपडलादि वोद्वाहयति, मात्रकं च तेन गच्छता ग्राह्यं, अतस्तस्मिन् ग्रन्थिं ददाति, मा भूद्भयः, प्रत्युपेक्षणीयं स्यात्, एवमसावाभिग्रहिकः संयन्त्र्य तिष्ठतीति। 'इहर' त्ति आभिग्रहिकाभावे विकालवेलायां गमनप्रयोजनमापतितं ततः 'कृतोत्सर्गः' कृतावश्यकः किं करोतीत्याह—परीक्षार्थमिति–पश्यामः कोऽत्र मद्वचनानन्तरं प्रवर्त्तते को वा न प्रवर्तते इति स्वगणमामन्त्रयति, ते च प्रतिक्रमणानन्तरं तत्रैवान्तर्मुहूर्तमात्रकालमासते, कदाचिदा-

१ सा भणति–यतो युष्माकं क्षुल्लकः पारणके दुग्धं लप्स्यते, तत् तस्य रुधिरं भविष्यतीति, यद्येवं भवेत् तदा प्रतीयाः, तच्च गृहीत्वा सर्वसाधूनां पात्रेषु स्तोकं स्तोकं दद्याः, यत्र देशे तत् स्वभावं यास्यति तत्र न जलप्रवाहः प्रभविष्यतीति जानीया इति, तत एवमिति आचार्येण प्रतिपन्नं, तदा द्वितीयदिवसे तथैव लब्धं तथा संजातं, तत आचार्यैः सर्वेषां मात्रके प्रत्येकं २ तद्दत्तं, ततो यथाशक्ति पलायन्ते, यत्र तत् पाण्डुरं जातं तत्र मीलिताः, एवमेकाकी भवेत्।

एकाकित्वे कारणानि भा.३०-३१

॥ २१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||३१||

दीप अनुक्रम [४२]

चार्याः खल्वपूर्वां सामाचारीं प्ररूपयेयुः, अपूर्वं चार्थपदं, तत्रस्थांश्च तानामन्त्रयन्त्यसौ–भो भिक्षवः ! अमुकं मे गमन-कार्यमुपस्थितं, तत्र—

गच्छेज्ज को णु सवेऽवऽणुग्गहो कारणाणि दीविंता ।
अमुओ एत्थ समत्थो अणुग्गहो उभयकिइकम्मं ॥ ३२ ॥ (भा०)

कतमः साधुस्तत्र च गमनक्षमः ?, तत्राचार्यवाक्श्रवणानन्तरं सर्वेऽपि साधव एवं ब्रुवन्ति–अहं गच्छाम्यहं गच्छामीत्यनुग्रहोऽयमस्माकं । तत्राचार्यो वैयावृत्त्यकरयोगवाहिदुर्बलादीनि कारणानि 'दीपयित्वा' स्वयं प्रदर्श्येदं भणति–अमुकोऽत्र कार्ये 'समर्थः' क्षमः, ततश्च योऽसावाचार्येणोक्तः अयं क्षम इति स भणति–अनुग्रहो मेऽयं, ततः को विधिः ?, ततः स जिगमिषुः साधुराचार्यस्य चैत्यसाधुवन्दनां करोति, यदि पर्यायेण लघुस्ततः शेषाणामपि चैत्यसाधूनां वन्दनां करोति, अथवाऽसौ गन्ता साधू रत्नाधिकस्ततस्ते साधवस्तस्य चैत्यसाधुवन्दनां विदधाति, एतदुभयकृतिकर्म–वन्दनं । ततः स गन्ता साधुः किं करोति जिगमिषुः सन् ?—

पोरिसिकरणं अहवावि अकरणं दोच्चऽपुच्छणे दोसा ।
सरण सुय साहु सन्ती अंतो बहि अन्नभावेणं ॥ ८ ॥

यद्यसौ सूर्योद्गमे यास्यति ततः प्रादोषिकां सूत्रपौरुषीं करोति, अथवा रात्रिशेषे यास्यति प्रयोजनवशात् ततः सूत्र-पौरुषीमकृत्वैव स्वपिति, एतत्पौरुषीकरणमकरणं चेति । पुनरपि च तेन गच्छताऽऽचार्यः प्रच्छनीयः प्रत्यूषसि–यास्याम्यह-

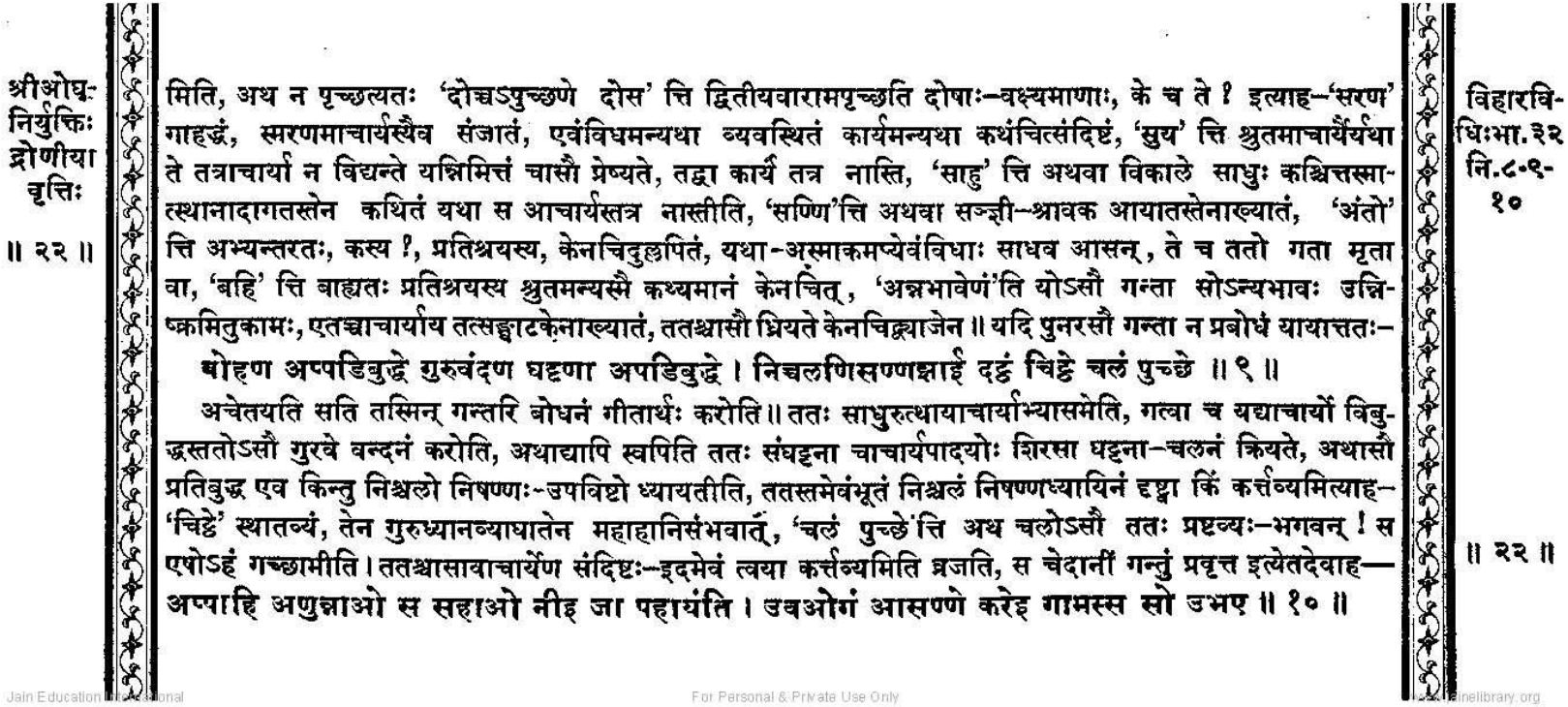
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'विहारविधिः' तस्य भाष्यकृत् वर्णनं

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||३२||

दीप अनुक्रम [४४]



श्रीओघनिर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ २२ ॥

मिति, अथ न पृच्छत्यतः 'दोच्चऽपुच्छणे दोस' त्ति द्वितीयवारामपृच्छति दोषाः–वक्ष्यमाणाः, के च ते ? इत्याह–'सरण' गाहद्धं, स्मरणमाचार्यस्यैव संजातं, एवंविधमन्यथा व्यवस्थितं कार्यमन्यथा कथंचित्संदिष्टं, 'सुय' त्ति श्रुतमाचार्यैर्यथा ते तत्राचार्या न विद्यन्ते यन्निमित्तं चासौ प्रेष्यते, तद्वा कार्यं तत्र नास्ति, 'साहु' त्ति अथवा विकाले साधुः कश्चित्तस्मात्स्थानादागतस्तेन कथितं यथा स आचार्यस्तत्र नास्तीति, 'सण्णि'त्ति अथवा सञ्ज्ञी–श्रावक आयातस्तेनाख्यातं, 'अंतो' त्ति अभ्यन्तरतः, कस्य ?, प्रतिश्रयस्य, केनचिदुल्लपितं, यथा–अस्माकमप्येवंविधाः साधव आसन्, ते च ततो गता मृता वा, 'बहि' त्ति बाह्यतः प्रतिश्रयस्य श्रुतमन्यस्मै कथ्यमानं केनचित्, 'अन्नभावेणं'ति योऽसौ गन्ता सोऽन्यभावः उन्निष्क्रमितुकामः, एतच्चाचार्याय तत्सङ्घाटकेनाख्यातं, ततश्चासौ म्रियते केनचिद्व्याजेन ॥ यदि पुनरसौ गन्ता न प्रबोधं यायात्ततः–

बोहण अप्पडिबुद्धे गुरुवंदण घट्टणा अपडिबुद्धे । निचलणिसण्णझाई दट्ठं चिट्ठे चलं पुच्छे ॥ ९ ॥

अचेतयति सति तस्मिन् गन्तरि बोधनं गीतार्थः करोति ॥ ततः साधुरुत्थायाचार्याभ्यासमेति, गत्वा च यद्याचार्यो विबुद्धस्ततोऽसौ गुरवे वन्दनं करोति, अथाद्यापि स्वपिति ततः संघट्टना चाचार्यपादयोः शिरसा घट्टना–चलनं क्रियते, अथासौ प्रतिबुद्ध एव किन्तु निश्चलो निषण्णः–उपविष्टो ध्यायतीति, ततस्तमेवंभूतं निश्चलं निषण्णध्यायिनं दृष्ट्वा किं कर्त्तव्यमित्याह–'चिट्ठे' स्थातव्यं, तेन गुरुध्यानव्याघातेन महाहानिसंभवात्, 'चलं पुच्छे'त्ति अथ चलोऽसौ ततः प्रष्टव्यः–भगवन् ! स एषोऽहं गच्छामीति । ततश्चासावाचार्येण संदिष्टः–इदमेवं त्वया कर्त्तव्यमिति व्रजति, स चेदानीं गन्तुं प्रवृत्त इत्येतदेवाह—

अप्पाहि अणुन्नाओ स सहाओ नीइ जा पहायंति । उवओगं आसण्णे करेइ गामस्स सो उभए ॥ १० ॥

विहारविधिःभा.३२ नि.८-९-१०

॥ २२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सन्दिष्टः प्राग् पश्चादनुज्ञातो वेति ततो गच्छति, कथम् ?–ससहायः, कियन्तं कालं यावत्ससहायो व्रजति ?–'यावत्प्रभातं' जातसूर्योदय इत्यर्थः, ससहायश्च प्रभातं यावद्व्रजति श्वापदादिभयात्, एवमसौ साधुर्व्रजन् ग्रामसमीपं प्राप्तः सन् किं करोतीत्याह–उपयोगं करोति, किंविषयम् ?–उभयविषयं, मूत्रपुरीषपरित्याग इत्यर्थः, कस्मादेवं चेत् ग्रामसन्निधान एव स्थण्डिलसद्भावाद् गवादिसंस्थानात् ॥ अथ रात्रौ गच्छतः कश्चिदपायः संभाव्येत ततः प्रभातं यावत्स्थातव्यं, तथा चाह—

हिमतेणसावयभया दारा पिहिया पहं अयाणंतो ।
अच्छइ जाव पभायं वासियभत्तं च से वसभा ॥ ११ ॥

हिमं–शीतं स्तेनाः–चौराः श्वापदानि–सिंहादीनि, एतद्भयात्प्रभातं यावदास्ते, यदि पुरस्य द्वाराणि पिहितानि ग्रामस्य फलहकं पथानं वाऽजानंस्तिष्ठति यावत्प्रभातमिति । एवं च प्रभातं यावत्स्थिते गन्तरि 'वासिकभक्तं' दोषाद्यं 'से' तस्य 'वसभा' गीतार्था आनयन्ति । अथ केभ्यस्तदानीयते ?—

ठवणकुल संखडीए अणहिंडंते सिणेह पयवज्जं । भत्तट्ठिअस्स गमणं अपरिणए गाउयं वहइ ॥ १२ ॥

स्थापनाकुलेभ्यः तथा 'संखडीए' त्ति सामयिकी भाषा भोजनप्रकरणार्थे तस्य वा, के पुनस्तदानयन्त्यत आह–'अणहिंडंते' ये भिक्षां न पर्यटितवन्तः, कस्मात्पुनस्ते भक्तमानयन्ति ?, उच्यते, तेषामहिण्डकानां गृहस्था गौरवेण प्रयच्छन्ति, कीदृशं पुनस्तैर्भक्तमानयनीयम्?–'सिणेहपयवज्जं'ति स्नेहेन–घृतादिना पयसा–क्षीरेण(वर्जितं)भक्तं गृह्णन्ति, न तैलं ग्राह्यम-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

मङ्गलत्वात्, न घृतं परितापहेतुत्वात्, न दुग्धं भेदकत्वात् काञ्जिकविरोधित्वाच्च, काञ्जिकप्रायपायित्वाच्च संयतानां, किं पुनस्ते गृह्णन्ति ?–दधिसक्तुकादि, तदसौ भुक्त्वा व्रजति, तथा चाह–'भत्तट्ठिअस्स गमणं' भुक्तवतस्ततो गमनं भवति, अथ न तस्य भक्तपरिणतिर्जातेत्यतोऽपरिणते भक्ते सति गव्यूतिमात्रं यावन्मार्गं वहति । क्रोशद्वयं गव्यूतिः ॥ इदानीं तस्य गच्छतो विधिरुच्यते—

अत्थंडिलसंकमणे चलवक्खित्तणुवउत्तमागरिए । पडिपक्खेसु उ भयणा इयरेण विलंबणा लोगं ॥ १३ ॥

स्थण्डिलादस्थण्डिलं च संक्रामता साधुना पादौ रजोहरणेन प्रमार्जनीयाविति विधिः, मा भूत् सचित्तपृथिव्या अचित्तपृथिव्या व्यापत्तिः, स्यात्तथा च पादयोरसौ रजोहरणेन प्रमार्जनं करोति, अथ कश्चित्सागारिकः पथि व्रजतश्चलो भवति व्याक्षिप्तोऽनुपयुक्तश्चेति, तत्र चलो–गन्तुं पथि प्रवृत्तः, व्याक्षिप्तो–हलकुलिशवृक्षच्छेदादिव्यग्रः, अनुपयुक्तः–साधुं प्रत्यदत्तावधानः, यदैवंविधः सागारिको भवति तदा रजोहरणेन प्रमृज्य पादौ याति । 'पडिपक्खेसु उ' इति विसदृशाः पक्षाः प्रतिपक्षाः, असदृशा इत्यर्थः, तेषु प्रतिपक्षेषु 'भजना' विकल्पना कर्त्तव्या, एतदुक्तं भवति–केषुचित्प्रतिपक्षेषु प्रमार्जनं क्रियते केषुचित्तु नैव, तुशब्दो विशेषणार्थः, किं विशेषयति ?, प्रतिपक्षेष्वेव समुदायरूपेषु भजना कर्त्तव्या, न त्वेकैकस्मिन् भङ्ग इति, यदा तु सागारिकः स्थिरोऽव्याक्षिप्त उपयुक्तश्च साधुं प्रति भवति तदा 'इतरेणं'ति इतरशब्देन रजोहरणनिषद्योच्यते तया पादौ प्रमार्ष्टि, न रजोहरणेन, 'विलंबण' त्ति तां च निषद्यां हस्तेन विलम्बमानां नयति, न तच्छरीरसंस्पर्शनं करोति, कियतीं भुवं यावदित्याह–'आलोयण'त्ति आलोकनमालोको यावत्तद्दृष्टिप्रसर इत्यर्थः, अथवा 'इतरेणं'ति

॥ २३ ॥

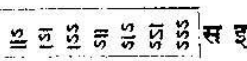
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१३||

दीप अनुक्रम [४९]

केनचिदौपग्रहिकेन कार्पासिकेन और्णिकेन वा चीरेण, शेषं प्राग्वत्, पश्चात्तं गोपयति। अथवा 'इतरेण विलंबणालोयं'ति प्राक् तावदेकाकिनो विधिरुक्तः, यदा तु इतरेण–इतरशब्देन सार्थो गृह्यते, तेनेतरेण–सार्थेन सह प्रव्रजता स्थाण्डिल्याच्चास्थाण्डिल्यं संक्रामता किं कर्त्तव्यं सार्थपुरतः? इत्याह–'विलम्बने'ति विलम्बना कार्या, मन्दगतिना सता स्थण्डिलस्थेन तावत्प्रतिपालनीयं, कियन्तं कालं प्रतिपालनीयं? यावदालोकनं–दर्शनं तस्य सार्थस्य, अदर्शनीभूते तु प्साटान्तरिते सार्थे पादयोः प्रमार्जनं कृत्वा व्रजतीत्ययं विधिः। उक्तो गाथाऽक्षरार्थः, इदानीमष्टभङ्गिका प्ररूप्यते, सा चेयम्–चलो वक्खित्तो अणुवउत्तो य सागारिओ, एत्थ पमज्जणं, तस्यानुपयुक्तत्वादप्रमार्जनेऽसामाचारीप्रसङ्गात् १, चलवक्खित्तु उवउत्तु एत्थ नत्थि पमज्जणं सागारियत्तणओ २, च० अव० अणु० एत्थवि पमज्जणं ३, चल० अव० उव० एत्थवि णत्थि पमज्जणं ४, अच० व० अणु० एत्थ पमज्जणं ५, अच० व० उ० णत्थि पमज्जणं ६, अच० अव० अणु० अत्थि पमज्जणं ७, अच० अव० उ० एत्थ नत्थि पमज्जणं ८। तत्थ पढमभंगे नियमेण पमज्जणा, सत्तसु भयणा ॥ एतदुक्तं भवति–केषुचित्प्रमार्जनं केषुचिदप्रमार्जना, स्थापना त्वियम्–



स इदानीं साधुर्मार्गमजानानः पृच्छति, तत्र को विधिरित्याह—

१ चलो व्याक्षिप्तोऽनुपयुक्तश्च सागारिकः, अत्र प्रमार्जनं १ चलो व्याक्षिप्त उपयुक्तः, अत्र नास्ति प्रमार्जनं, सागारिकत्वात् २, चलोऽव्याक्षिप्तोऽनुपयुक्तः अत्रापि प्रमार्जनं ३, चलोऽव्याक्षिप्त उपयुक्तः, अत्रापि नास्ति प्रमार्जनं ४, अचलो व्याक्षिप्तोऽनुपयुक्तः, अत्र प्रमार्जनं ६, अचलो व्याक्षिप्त उपयुक्तः, नास्ति, प्रमार्जनं ६, अचलोऽव्याक्षिप्तोऽनुपयुक्तः, अस्ति प्रमार्जनं ७, अचलोऽव्याक्षिप्त उपयुक्तः, अत्र नास्ति प्रमार्जनं ८। तत्र प्रथमभङ्गे नियमेन प्रमार्जनं सप्तसु भजना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१४||

दीप अनुक्रम [५०]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ २४ ॥

पुच्छाए तिण्णि तिआ छक्के पढम जयणा तिपंचविहा । आउम्मि दुविहतिविहा तिविहा सेसेसु कायेसु॥१४॥

पृच्छायां सत्यां 'तिण्णि तिय'त्ति त्रयस्त्रिका भवन्ति, तत्र पुरुषः स्त्री नपुंसकं च, तत्रैतेषामेकैकस्त्रिप्रकारः–बालस्तरुणो वृद्धश्चेति, एवमेते त्रयस्त्रिकाः, नवेत्यर्थः, तथा तेनैव साधुना गच्छता 'छक्के पढमजयणा' इति षट्के पृथिव्यादिलक्षणे यतना कर्त्तव्या, तत्र 'पढमजयणा तिपंचविह'त्ति प्रथमो यः पृथ्वीकायः तस्य यतना त्रिपंचविधा, तत्र त्रिविधा सचित्तस्य अचित्तस्य मिश्रस्य च पंचविधा पृथिवीकाययतना कृष्णनीलरक्तपीतशुक्लस्येति, अथवा त्रिपञ्चविधेति–त्रयः पञ्चका पञ्चकदशप्रकारेत्यर्थः, तथाहि–सचित्तः पृथिवीकायः शुक्लादिः पञ्चधा, एवमचित्तो मिश्रश्च, तथाऽप्काये 'दुविहा [जहा जयणा] तिविहा य' तत्र द्विधा अन्तरिक्षाप्काययतना भौमाप्काययतना च, त्रिविधा तु सचित्ताप्काययतना, अचित्ता० मिश्रा०, त्रिविधा तु शेषेषु कायेषु–तेजोवायुवनस्पतित्रसाख्येषु यतना, कथं ?, सचित्तादि, महाद्वारगाथायाः समुदायार्थः । अथाद्यद्वारावयवार्थं पुनस्तदेवाह—

पुरिसो इत्थिनपुंसग एक्केक्को थेर मज्झिमो तरुणो ।
साहम्मि अन्नधम्मिअगिहत्थदुगअप्पणो तइओ ॥ १५ ॥

यदुक्तं अनन्तरगाथायां 'पुच्छाए'त्ति पृच्छायां त्रितयं संभवति, तदा पुरुषः स्त्री नपुंसकं चेति, यदुक्तं त्रयस्त्रिकाः तद्दर्शयन्नाह–एकैकः स्थविरो मध्यमस्तरुण इत्ययं नवभेदः । स चैकैको नवविधोऽपि कदाचित्साधर्मिकः स्यात्कदाचित्तु नवविधोऽप्यन्यधार्मिकः स्यादित्याह–समाने धर्मे वर्त्तत इति साधर्मिकः–श्रावकः श्राविका नपुंसकं श्रावकं च, अन्यधार्मिको

विहारविधिः नि. १४-१५

॥ २४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ मार्गपृच्छा-विधिः वर्ण्यते

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१५||

दीप अनुक्रम [५१]

मिथ्यादृष्टिः । कियन्तः पुनस्तेन गच्छता पन्थानं प्रष्टव्याः इत्यत आह–'गिहत्थदुग'त्ति, साधर्मिकगृहस्थद्वयं पृच्छनीयं, अन्यधार्मिकगृहस्थद्वयं वा । 'अप्पणा तिउ'त्ति आत्मना तृतीयो युक्त्याऽन्वेषणं विदधाति, एष तावत्सामान्योपन्यासः, अथ प्रथमं यः प्रष्टव्यः स उच्यते–तत्र यदि साधर्मिकद्वयमस्ति ततस्तदेवोत्सर्गेण पृच्छयते, तस्य प्रत्ययिकत्वात्, अथ नास्ति ततः—

साहम्मिअपुरिसासइ मज्झिमपुरिसं अणुण्णविअ पुच्छे ।
सेसेसु होंति दोसा सविसेसा संजईवग्गे ॥ १६ ॥

साधर्मिकपुरुषद्वयाभावेऽन्यधार्मिकमध्यमपुरुषद्वयं पृच्छनीयं, कथम् ?–'अणुण्णविअ' अनुज्ञां कृत्वा धर्मलाभपुरस्सरं, ततः प्रियपूर्वकं पृच्छति, अन्यधार्मिकमध्यमग्रहणं त्विह साधर्मिकविपक्षत्वादवसीयत एव, 'सेसेसु'त्ति अन्यधार्मिक-मध्यमपुरुषद्वयव्यतिरिक्तेषु अष्टसु भेदेषु दोषा भवन्ति पृच्छतस्त एव दोषाः सविशेषाः–समधिकाः संयतीवर्गे–संयतीवर्ग-विषये पृच्छतः सतः । के च ते दोषा इत्याह—

थेरो पहं न याणइ बालो पवंचे न याणई वावि । पंडित्थिमज्झसंका इयरे न याणंति संका य ॥ १७ ॥

स्थविरः–वृद्धः स मार्गं न जानाति, भ्रष्टस्मृतित्वात्, बालस्तु प्रपञ्चयति केलीकिलत्वात् न वा जानाति, क्षुल्लकत्वाद्, बालस्त्वत्र अष्टवर्षादारभ्य यावत्पञ्चविंशतिक इति, असावपि बाल इव बालः, अपरिणतत्वेन रागान्धत्वात्, मध्यमवयः-पण्डकमध्यवयःस्त्रीपृच्छायां शङ्कोपजायते नूनमस्य ताभ्यां कश्चिदर्थोऽस्ति, 'इयरे न याणंति' इतरशब्देन स्थविरनपुं-

ओ० ५

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१७||

दीप अनुक्रम [५३]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ २५ ॥

सकं बालनपुंसकं स्थविरस्त्री बाला स्त्री वाऽभिगृह्यते, एते मार्गानभिज्ञाः शङ्का च स्यात्, क तर्हि व्यवस्थितेन पृच्छनीयमित्याह—

मार्गपृच्छा नि.१६-२०

पासट्ठिओ य पुच्छेज्ज वंदमाणं अवंदमाणं वा। अणुवइऊण व पुच्छे तुण्हिक्कं मा य पुच्छिज्जा ॥ १८॥

'पार्श्वस्थितः' समीपे व्यवस्थितः पृच्छेत्, किंविशिष्टं तं पृच्छेत् ?–वन्दनं कुर्वाणमकुर्वाणं वा, अथासौ समीपमतिक्रम्य यात्येव ततः 'अणुवइऊणं च' अनुव्रजनं कृत्वा कतिचित्पदानि गत्वा प्रष्टव्यः, अथासौ पृच्छ्यमानोऽपि न किञ्चिद्वक्ति तूष्णीं व्रजति, ततो नैव पृच्छनीय इति ॥

पंथब्भासे य ठिओ गोवाई मा य दूरि पुच्छिज्जा। संकाईया दोसा विराहणा होइ दुविहा उ ॥ १९॥

तथा पन्थाभ्यासे–समीपे स्थितः कश्चिद्गोपालादिः, आदिशब्दात्कर्षकपरिग्रहः, स च पृच्छनीयः, मा च दूरे व्यवस्थितं गोपालादि पृच्छेत्, शंकादिदोषसद्भावात्, नूनमस्य द्रविणमस्ति बलीवर्दादि(कं वा)श्रृङ्गिणं करोतीत्येवमादयः। दूरे च गच्छतो द्विविधा विराधना–आत्मसंयमविषया, आद्या कण्टकादिभिरितराऽनाक्रान्तपृथिव्याद्याक्रमणेन ॥ यदा तु पुनरन्यधार्मिको मध्यमवयाः पुरुषो नास्ति यः पन्थानं पृच्छ्यते तदा कः प्रष्टव्य इत्याह—

॥ २५ ॥

असई मज्झिम थेरो दढस्सुई भद्दओ य जो तरुणो। एमेव इत्थिवग्गे नपुंसवग्गे य संजोगा ॥ २० ॥

असति मध्यमपुरुषे स्थविरः पन्थानं पृच्छनीयः, किंविशिष्टः ?–दृढस्मृतिः, अथ स्थविरो न भवति ततस्तरुणः प्रष्टव्यः, कीदृशः ?–यः स्वभावेनैव भद्रकः। स्त्रीवर्गेऽप्येवमेव पृच्छा कर्त्तव्या, एतदुक्तं भवति–प्रथमं मध्यमवयाः स्त्रीमार्गं प्रष्टव्या

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२१||

दीप अनुक्रम [५७]

तदभावे स्थविरा दृढस्मृतिः, अथ स्थविरा न भवति ततस्तरुणी प्रष्टव्या, तदभावे भद्रिका तरुणी, एवं मध्यमवयो नपुंसकं, तस्याभावे स्थविरनपुंसकं दृढस्मृति, तदभावे बालनपुंसकं भद्रकम् । आह च–'नपुसंकवर्गे च संयोगाः' नपुंसकवर्गे–नपुंसकसमुदाये एवमेव संयोगा ज्ञातव्याः । यथैतेऽनन्तरमुक्ताः न केवलमेतावन्त एव संयोगाः किन्त्वन्येऽपि बहवः सन्ति, आह च—

एत्थं पुण संजोगा होंति अणेगा विहाणसंगुणिआ । पुरिसित्थिनपुंसेसुं मज्झिम तह थेर तरुणेसुं ॥ २१ ॥

अत्र पुनः–पृच्छाप्रक्रमे संयोगा भवन्त्यनेके, कथं ?–'विहाणसंगुणिय'त्ति विधानेन–भेदप्रकारेण संगुणिताः, चारणिकया अनेकशो भिन्ना इत्यर्थः, क्व च ते भवन्ति ?–'पुरिसित्थिनपुंसेसुं' पुरुषस्त्रीनपुंसकेषु, किंविशिष्टेषु ?–मध्यमस्थविरतरुणभेदभिन्नेषु, उक्तो गाथाऽक्षरार्थः,। इदानीं भङ्गकाः प्रदर्श्यन्ते, तत्थ साहम्मिअचारणिआए ताव–दो मज्झिमवया साहम्मिअपुरिसा पुच्छेज्ज एस एक्को उ १, तदभावे दो थेरे साहम्मिए चेव पुच्छिज्जा २, तदभावे दो तरुणे साहम्मिए चेव एस तइओत्ति ३, । तदभावे दो साहम्मिणीओ मज्झिमिअमहिलातो ४, तत्तो दो थेरीओ साहम्मिणीओ चेव पंचमो एसो ५, तत्तो साहम्मिणीओ च्चिअ दो तरुणीओ छट्ठो सो ६, तदभावे दो साहम्मिआ उ मज्झिमनपुंसया पुच्छे ७, तत्तो दो साहम्मिअथेरणपुंसाओ अट्ठमओ ८, दो साहम्मिअतरुणे नपुंसया चेव ते उ पुच्छेज्जा ९, अहवा मज्झिमपुरिसो थेरो उ दुचेव साहम्मी १०, मज्झिमपुरिसो साहम्मिओ तरुणसाहम्मिओ उ पुच्छिज्जइ ११, मज्झिमपुरिसो साहम्मिओ मज्झिममहिला साहम्मिआ १२, मज्झिमपुरिसो साहम्मिओ थेरी य साहम्मिणी १३, मज्झिमपुरिसो साहम्मिओ तरुणी य साह-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२१||

दीप अनुक्रम [५७]

श्रीओघ-नियुक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ २६ ॥

म्मिणी १४, मज्झिमपुरिसो साहम्मिओ मज्झिमसाहम्मिअनपुंसो अ १५, मज्झिमपुरिसो साहम्मिओ थेरसाहम्मिअनपुंसो अ १६, मज्झिमपुरिसो साहम्मिओ तरुणनपुंसयसाहम्मिओ य १७, अहवा थेरपुरिसो साहम्मिओ तरुणसाहम्मिओ अ १८, थेरपुरिससाहम्मिओ मज्झिममहिल्ल साहम्मिणी १९, थेरपुरिसो साहम्मिओ थेरी साहम्मिणी अ २०, थेरपुरिसो साहम्मिओ तरुणी साहम्मिणी य २१, थेरपुरिसो साहम्मिओ मज्झिमनपुंसओ साहम्मिओ य २२, थेरपुरिसो साहम्मिओ थेरनपुंसो साहम्मिओ अ २३, थेरपुरिसो साहम्मिओ तरुणनपुंसओ य २४ तरुणपुरिसो साहम्मिओ मज्झिममहिला साहम्मिणी अ २५, तरुणपुरिसो साहम्मिओ थेरसाहम्मिणी अ २६, तरुणपुरिसो साहम्मिओ तरुणी साहम्मिणी अ २७, तरुणपुरिसो साहम्मिओ मज्झिमनपुंसयसाहम्मिओ अ २८, तरुणपुरिसो साहम्मिओ थेरनपुंसयसाहम्मिओ अ २९, तरुणपुरिससाहम्मिओ तरुणनपुंसयसाहम्मिओ अ ३०, मज्झिममहिला साहम्मिणी थेरीसाहम्मिणी अ ३१, मज्झिममहिला साहम्मिणी अ तरुणीसाहम्मिणी अ ३२, मज्झिममहिला साहम्मिणी मज्झिमनपुंसयसाहम्मिओ अ ३३, मज्झिममहिला साहम्मिणी थेरनपुंसओ साहम्मिओ उ ३४, मज्झिममहिला साहम्मिणी तरुणनपुंसयसाहम्मिओ अ ३५, थेरी साहम्मिणी तरुणी थेर साहम्मिणी ३६, थेरी साहम्मिणी नपुंसयसाहम्मिओ अ ३७, थेरी साहम्मिणी मज्झिमनपुंसयसाहम्मिओ उ ३८, थेरी साहम्मिणी तरुणनपुंसय साहम्मिओ उ ३९, तरुणिसाहम्मिणी मज्झिमनपुंसयसाहम्मिओ ४०, तरुणी साहम्मिणी थेरनपुंसयसाहम्मिओ उ ४१, तरुणी साहम्मिणी तरुणनपुंसयसाहम्मिओ य ४२ तरुणी साहम्मिणी मज्झिमो नपुंसयसाहम्मिओ अ ४३, थेरनपुंसय साहम्मिओ तरुणनपुंसय साहम्मिओ अ ४४, एते ताव साहम्मिअ-

मार्गपृच्छा नि. २०

॥ २६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चारणिआए लद्धा ॥ इदानीं अन्नधम्मचारणिआए एयं सिज्झइ–अण्णधम्मिआ दो मज्झिमपुरिसा पुच्छिज्जंति एसेक्को १, अन्नधम्मिआ दो थेरपुरिसा २, अण्णधम्मिआ दो तरुणपुरिसा ३, अण्णधम्मिआउ दो मज्झिममहिला ४, अण्णधम्मिआ थेरीउ दो ५, अण्णधम्मिअ तरुणी दो ६, अण्णधम्मिअ मज्झिमनपुंसया दो ७, अण्णधम्मिअ थेरनपुंसया दो ८, अण्णधम्मिअ तरुणनपुंसया दो ९, अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअथेरपुरिसो य १०, अण्णधम्मियमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो य ११, अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अ अण्णधम्मिअमज्झिममहिला अ १२, अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अ अण्णधम्मिअथेरी य १३, अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणी अ १४, अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसओ अ १५, अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअथेरनपुंसगो य १६, अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणनपुंसगो अ १७, अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो अ १८, अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिममहिला य १९, अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअथेरी अ २०, अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणी अ २१, अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसओ अ २२, अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मियथेरनपुंसगो य २३, अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणनपुंसगो य २४, अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिममहिला य २५, अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअथेरी य २६, अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणी अ २७, अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसगो अ २८, अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो अन्नधम्मिअथेरनपुंसगो अ २९, अण्णधम्मियतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअतरुण नपुंसगो अ ३०, अण्णधम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअथेरी अ ३१, अण्णध-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२१||

दीप अनुक्रम [५७]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ २७ ॥

म्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअतरुणी अ ३२, अण्णधम्मिअमज्झिममहिला मज्झिमनपुंसगो अ ३३, अण्णधम्मिअमज्झिम-महिला अण्णधम्मिअथेरनपुंसगो य ३४, अन्नधम्मिअमज्झिममहिला अन्नधम्मिअतरुणनपुंसगो अ ३५, अण्णधम्मिअथेरी अण्णधम्मिअतरुणी य ३६, अण्णधम्मिअथेरी अण्णधम्मिअथेरनपुंसगो य ३७, अन्नधम्मिअथेरी अन्नधम्मिअमज्झिमनपुं-सगो य ३८, अण्णधम्मियथेरी अण्णधम्मियतरुणनपुंसगो अ ३९, अन्नधम्मिअतरुणी अन्नधम्मियमज्झिमनपुंसगो अ ४०, अन्नधम्मिअतरुणी अन्नधम्मिअथेरनपुंसगो य ४१, अन्नधम्मिअतरुणी अन्नधम्मिअतरुणनपुंसगो य ४२ अन्नधम्मिअत-रुणी अन्नधम्मिअमज्झिमनपुंसगो अ ४३, अन्नधम्मिअमज्झिमनपुंसओ अन्नधम्मिअथेरीनपुंसगो अ ४४ अण्णधम्मिअम-ज्झिमनपुंसगो अण्णधम्मिअतरुणनपुंसओ अ ४५, अण्णधम्मिअथेरनपुंसओ अन्नधम्मिअतरुणनपुंसगो अ ४६, एते अन्न-धम्मिअचारणियाए लद्धा । ते सवे य नऊई ॥ इदाणिं साहम्मिअ अन्नधम्मिअ उभयचारणिआ किज्जइ–साहम्मिअम-ज्झिमपुरिसो अन्नधम्मियमज्झिमपुरिसो य पुच्छिज्जइ १, साहम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मियथेरपुरिसो य २, साहम्मि-अमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणो अ ३, साहम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअ मज्झिममहिला अ ४, साहम्मिअम-ज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअथेरी अ ५, साहम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणी अ ६, साहम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्ण-धम्मिअमज्झिमनपुंसगो य ७, साहम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअथेरनपुंसगो अ ८, साहम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्ण-धम्मिअतरुणनपुंसगो य ९, एते नव साहम्मियमज्झिमपुरिसममुंचमाणेहिं लद्धा ॥ साहम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअम-ज्झिमपुरिसो अ १, साहम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअथेरपुरिसो चेव २, साहम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणो अ ३,

मार्गपृच्छा नि. २०

॥ २७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साहम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिममहिला अ ४, साहम्मिअ थेरपुरिसो अन्नधम्मिअमहिलथेरी अ ५, साहम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणी अ ६, साहम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसगो अ ७, साहम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मियनपुंसगथेरो अ ८, साहम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणनपुंसगो अ ९, एते नव साहम्मिअथेरपुरिसममुंचमाणेहिं लद्धा॥ साहम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो य १, साहम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मियथेरपुरिसो अ २, साहम्मियतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो अ ३, साहम्मियतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिममहिला अ ४, साहम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअथेरमहिला य ५, साहम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मियतरुणी अ ६, साहम्मियतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसगो अ ७, साहम्मिअतरुणपुरिसो अन्नधम्मिअतरुणनपुंसगो अ ८, साहम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअथेरनपुंसगो अ ९, एतेवि नव साहम्मिअतरुणममुंचमाणेहिं लद्धा ॥ साहम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अ १, साहम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अ २, साहम्मियमज्झिममहिला अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो अ ३, साहम्मिअमज्झिममहिला अन्नधम्मिअमज्झिममहिला अ ४, साहम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअथेरमहिला अ ५, साहम्मिअमज्झिममहेला अण्णधम्मिअतरुणमहिला अ ६, साहम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसगो अ ७, साहम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअथेरनपुंसगो अ ८, साहम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअतरुणनपुंसगो अ ९, एते नव साहम्मिअमज्झिममहिलाए लद्धा ॥ साहम्मिआ थेरी अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अ १, साहम्मिअथेरी अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अ २, साहम्मिअथेरी अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो य ३, साहम्मियथेरी अण्णधम्मिअमज्झिममहिला अ ४, साहम्मि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ २८ ॥

अथेरी अण्णधम्मिअथेरी अ ५, साहम्मिअथेरी अण्णधम्मिअतरुणी अ ६, साहम्मिअथेरी अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसगो अ ७ साहम्मियथेरी अन्नधम्मिअथेरनपुंसगो अ ८, साहम्मिअथेरी अण्णधम्मिअतरुणनपुंसगो अ ९, एते साहम्मियथेरीए अमुंचमाणीए लद्धा ॥ साहम्मिअतरुणी अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो य १, साहम्मिअतरुणी अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अ २, साहम्मिअतरुणी अण्णधम्मियतरुणपुरिसो य ३, साहम्मियतरुणी अण्णधम्मिअमज्झिममहिला य ४, साहम्मिअतरुणी अण्णधम्मिअथेरी अ ५ साहम्मिअतरुणी अण्णधम्मिअतरुणी अ ६ साहम्मिअतरुणी अन्नधम्मिअमज्झिमनपुंसगो अ ७, साहम्मिअतरुणी अन्नधम्मिअथेरनपुंसगो अ ८ साहम्मिअतरुणी अन्नधम्मिअतरुणनपुंसगो अ ९, एते नव साहम्मिअतरुणीए अमुंचमाणेण लद्धा ॥ साहम्मिअमज्झिमनपुंसगो अन्नधम्मिअमज्झिमपुरिसो अ १, साहम्मिअमज्झिमनपुंसगो अन्नधम्मिअथेरपुरिसो अ २, साहम्मिअमज्झिमनपुंसगो अन्नधम्मिअतरुणपुरिसो अ ३, साहम्मिअमज्झिमनपुंसओ अन्नधम्मियमज्झिममहिला य ४, साहम्मिअमज्झिमनपुंसओ अन्नधम्मिअथेरी अ ५, साहम्मिअमज्झिमनपुंसओ अन्नधम्मियतरुणी अ ६, साहम्मियमज्झिमनपुंसओ अन्नधम्मियमज्झिमनपुंसओ अ ७, साहम्मिअमज्झिमनपुंसओ अन्नधम्मियथेरनपुंसओ अ ८, साहम्मिअमज्झिमनपुंसओ अन्नधम्मिअतरुणनपुंसओ अ ९, एते नव साहम्मिअमज्झिमनपुंसगेण अमुंचमाणेण लद्धा ॥ साहम्मिअथेरनपुंसओ अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अ १, साहम्मिअथेरनपुंसगो अन्नधम्मिअथेरपुरिसो अ २, साहम्मिअथेरनपुंसगो अन्नधम्मिअतरुणपुरिसो अ ३, साहम्मिअथेरनपुंसगो अण्णधम्मिअमज्झिममहिला अ ४, साहम्मिअथेरनपुंसगो अन्नधम्मिअथेरी अ ५, साहम्मिअथेरनपुंसओ अण्णधम्मि

मार्गेपृच्छा नि. २०

॥ २८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२१||

दीप अनुक्रम [५७]

अतरुणी अ ६, साहम्मिअथेरनपुंसगो अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसगो अ ७, साहम्मिअथेरनपुंसगो अण्णधम्मिअथेरनपुंसगो अ ८, साहम्मिअथेरनपुंसगो अण्णधम्मिअतरुणनपुंसगो अ ९, एते नव साहम्मियथेरनपुंसगेण अमुंचमाणेण लद्धा ॥ साहम्मिअतरुणनपुंसगो अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अ १, साहम्मिअतरुणनपुंसगो अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अ २, साहम्मिअतरुणनपुंसगो अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो अ ३, साहम्मिअतरुणनपुंसगो अण्णधम्मिअमज्झिममहिला अ ४, साहम्मिअतरुणनपुंसगो अण्णधम्मिअथेरी अ ५, साहम्मिअतरुणनपुंसगो अण्णधम्मिअतरुणी अ ६, साहम्मिअतरुणनपुंसगो अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसगो अ ७, साहम्मिअतरुणनपुंसगो अण्णधम्मिअथेरनपुंसगो अ ८, साहम्मिअतरुणनपुंसगो अण्णधम्मिअतरुणनपुंसगो अ ९, एते नव साहम्मिअतरुणनपुंसगेण अमुंचमाणेण लद्धा ॥ एते नव नवगा साहम्मिअअण्णधम्मिअचारणिआए होंति । एगत्थ मिलिआ एक्कासीति ॥ उक्तं पृच्छाद्वारम् । (अथ) "छक्के पढमजयणा" (यदुक्तं)तां विवृण्वन्नाह—

तिविहो पुढविक्काओ सचित्तो मीसओ अ अचित्तो । एक्केक्को पंचविहो अचित्तेणं तु गंतव्वं ॥ २२ ॥

मार्गेपृथ्वीकायः नि. २२-२३

त्रिविधः पृथिवीकायः—सचित्तो मिश्रोऽचित्तश्चेति, इदानीं स त्रिविधोऽप्येकैकः पञ्चप्रकारः, तत्र योऽसौ सचित्तः स कृष्णनीलरक्तपीतशुक्लभेदेन पञ्चधा, एवं मिश्राचित्तावपि, तत्र कतरेण गन्तव्यमित्याह—'अचित्तेणं तु गंतव्वं'ति, तत्र योऽसावचेतनस्तेन गन्तव्यमित्युत्सर्गविधिः, तत्र स एव पृथिवीकायः शुष्क आर्द्रश्च स्यात्, आह च—

सुक्कोल्ल उल्लगमणे विराहणा दुविह सिग्गखुप्पंते । सुक्कोवि अ धूलीए ते दोसा भद्दिए गमणं ॥ २३ ॥

शुष्कः—चिक्खल आर्द्रश्चेति, तत्र द्वयोः शुष्कार्द्रयोः शुष्केन गन्तव्यं, किं कारणं ?, यत आर्द्रगमने विराधना द्विधा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२३||

दीप अनुक्रम [५९]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ २९ ॥

भवति, आत्मसंयमयोः, तत्रात्मनो विराधना कण्टकादिवेधात्, इतरा तु त्रसादिपीडनात् । इदानीं विराधनाऽधिकदोषप्रदर्शनायाह–'सिग्गखुप्पंते' 'सिग्ग उ'त्ति श्रमो भवति, 'खुप्पंते'त्ति कर्दम एव निमज्जति, सति तत्र शुष्केन पथा गमनमभ्यनुज्ञातमासीत्, तेनापि न गन्तव्यं यद्यसौ धूलीबहुलो भवति मार्गः, किं कारणं ?, यतो धूलीबहुलेनापि पथा गच्छतस्त एव दोषाः, के च ते ?, संयमविराधना आत्मविराधना च, तत्रात्मविराधना अक्ष्णोर्धूलिः प्रविशति, निमज्जन् श्रान्तश्च भवति, उपकरणं मलिनीभवति, तत्र यद्युपकरणक्षालनं करोत्यसामाचारी, अथ न क्षालयति प्रवचनहीलना स्यात्, अत उच्यते 'भट्ठिए गमणं'ति, भ्राष्ट्या गन्तव्यं–रजोरहितया तु गन्तव्यमिति । इदानीं भाष्यकार आर्द्रस्य पृथिवीकायस्य भेदान् दर्शयन्नाह—

तिविहो उ होइ उल्लो मधुसित्थो पिंडओ य चिक्खल्लो । लत्तपहलित्त उंडअ खुप्पिज्जइ जत्थ चिक्खल्लो ३३॥(भा०)

यस्तावदार्द्रः स त्रिविधः–'मधुसित्थो पिंडओ य चिक्खल्लो' एतेषां यथासङ्ख्येन स्वरूपमाह–'लत्तपहलित्तउंदग खुप्पिज्जति जत्थ चिक्खल्लो' 'लत्त'त्ति अलक्तोऽलक्तकः पथः येन प्रदेशेनालक्तः कामिन्याः पात्यते तावन्मात्रं यो लिम्पति कर्दमः स मधुसित्थकोऽभिधीयते, उंडकाः–पिण्डकास्तद्रूपो यो भवति, पादयोर्यः पिण्डरूपतया लगति स पिण्डक इत्यर्थः, यत्र तु निमज्जनं स्यात्स चिक्खल इति । शुष्कमार्गश्च भाष्यकृता न व्याख्यातः, प्रसिद्धत्वान्नेदरहितत्वाच्चेति । अथ स मार्गः शुष्कचिक्खलरूपोऽपि सप्रत्यपायो निष्प्रत्यपायश्चेति, ते चामी प्रत्यपायाः—

पचवाया वालाइसावया तेणकंटगा मेच्छा । अक्कंतमणक्कंते सपचवाएयरे चेव ॥ २४ ॥

कर्दमभेदाः भा. ३३ प्रत्यपायादि नि. २४

॥ २९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२५||

दीप अनुक्रम [६१]

इह हि प्रत्यपाया नाम दोषाः, के ते?, व्यालादिश्वापदाः स्तेनाः कण्टका म्लेच्छा इति। तत्थ पढमं सुक्केणं भट्टीए गम्मइ, सो दुविहो–अक्कंतो अणक्कंतो, अक्कंतेण गम्मइ, जोऽवि अक्कंतो सोवि दुविहो–सपच्चवाओ निपच्चवाओ य, पच्चवाया य तेणादओ भणिआ, णिप्पच्चवाएणं गम्मइ। अहवा अणक्कंता भट्टी सपच्चवाया य होज्जा ताहे धूलीपंथेणं अक्कंतेण गम्मइ, अहव न होज्जा धूलीपंथो सपच्चवाओ य होज्जा ताहे उल्लेणं गम्मइ, सो अ तिविहो–मधुसित्थो पिंडओ चिक्खल्लो य, तत्थेक्केक्को दुहा–अक्कंतो अणक्कंतो य, अक्कंतेणं गम्मइ,प्रासुकत्वात्, सो दुविहो सपच्चवाओ अपच्चवाओ य, निपच्चवाएणं गम्मइ, तस्स असइ अणक्कंतेणं आत्मादिरक्षाहेतुत्वात्। एवं सर्वत्र निष्प्रत्यपायेन गन्तव्यम्। स्थापना ॥ ISI SS 'अक्कंतो अपच्चवाओ' 'अक्कंतमणक्कंतो सपच्चवाएतरं चेव' त्ति कहियं ॥ अत्र भ्राष्ट्राः खल्वभावे धूलीपथेन यायात्, आह च—

तस्सासइ धूलीए अक्कंत निपच्चएण गंतव्वं। मीसगसच्चित्तेसुऽवि एस गमो सुक्कउल्लाइं ॥ २५ ॥

'तस्याः' भ्राष्ट्राः 'असति' अभावे सति धूलीपथेन गन्तव्यं, कीदृशेन ?–आक्रान्तेन निष्प्रत्यपायेन चेति। एष तावदचित्तपृथिवीकायमार्गगमने विधिरुक्तः, तदभावे मिश्रेण पृथिवीकायेन गन्तव्यं, तत्राप्येष एवाधस्तो विधिर्द्रष्टव्यः, तदभावे सचित्तेन गन्तव्यं, तथा चाह–'मीसगसच्चित्तेसुवि एस गमो' मिश्रसचेतनेष्वपि पृथिवीकायेषु एष गमः–शुष्कार्द्रादिः,। एतदुक्तं भवति–प्रथमं मिश्रशुष्केन गम्यते, तदभावे मिश्रार्द्रेण, तदभावे सचित्तशुष्केन, तदभावे सचित्तार्द्रेण। अथवा 'एस गमो'त्ति " अक्कंताणक्कंतसपच्चवायभेयभिन्नो जोएयव्वो सव्वत्थ सपच्चवाओ परिहरणीओ त्ति " एष विधिः। स इदानीं साधुः स्थण्डिलादस्थण्डिलं संक्रामन् कस्मिन् कस्मिन् काले केन प्रमार्जनं करोतीत्यत आह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२६||

दीप अनुक्रम [६२]

उडुबद्धे रयहरणं वासावासासु पायलेहणिआ ।
वडउंबरे पिलंखू तस्स अलंभंमि चिंचिणिआ ॥ २६ ॥

'ऋतुबद्धे' शीतोष्णकाले 'रयहरणं'ति रजोहरणेन प्रमार्जनं कृत्वा प्रयाति । तथा 'वासावासासु पायलेहणिआ' वर्षासु-यावद्वर्षा वर्षाकाले वर्षति सति पादलेखनिकया प्रमार्जनं कर्त्तव्यं, सा च किंमयी भवत्यत उच्यते–'वडे' त्यादि, वटमयी उदुम्बरमयी प्लक्षमयी, 'तस्यालाभे' प्लक्षस्याप्राप्तौ चिञ्चणिकामयी अम्बिलिकामयीति । सा च कियत्प्रमाणा भवतीत्याह–

बारसअंगुलदीहा अंगुलमेगं तु होइ विच्छिन्ना । घणमसिणनिद्वणावि अ पुरिसे पुरिसे य पत्तेअं ॥ २७ ॥

द्वादशाङ्गुलानि दीर्घा भवति, येन मध्ये हस्तग्रहो भवति, विस्तारस्त्वेकमङ्गुलं स्यात् । सा च 'घना' निबिडा कार्या, मसृणा निव्रणा च भवति । सा च किमेकैव भवति ?, नेत्याह–पुरुषे पुरुषे च प्रत्येकम्–एकैकस्य पृथगसौ भवति ।

उभओ नहसंठाणा सचित्ताचित्तकारणा मसिणा ।

' उभयोः' पार्श्वयोः 'नखसंस्थाना' नखवत्तीक्ष्णा, किमर्थमसौ उभयपार्श्वयोस्तीक्ष्णा क्रियते ?, सचित्ताचित्तकारणात्, तस्या एकेन पार्श्वेन सचित्तपृथिवीकायः सँलिख्यते, अन्येन पार्श्वनाचित्तपृथिवीकाय इति । किंविशिष्टा सा ?–'मसिण'-त्ति, मसृणा क्रियते, नातितीक्ष्णा, यतो लिखत आत्मविराधना न भवति । पृथिवीकाययतनाद्वारं गतम् । अप्कायद्वारमाह–

आउक्काओ दुविहो भोमो तह अंतलिक्खो य ॥ २८ ॥

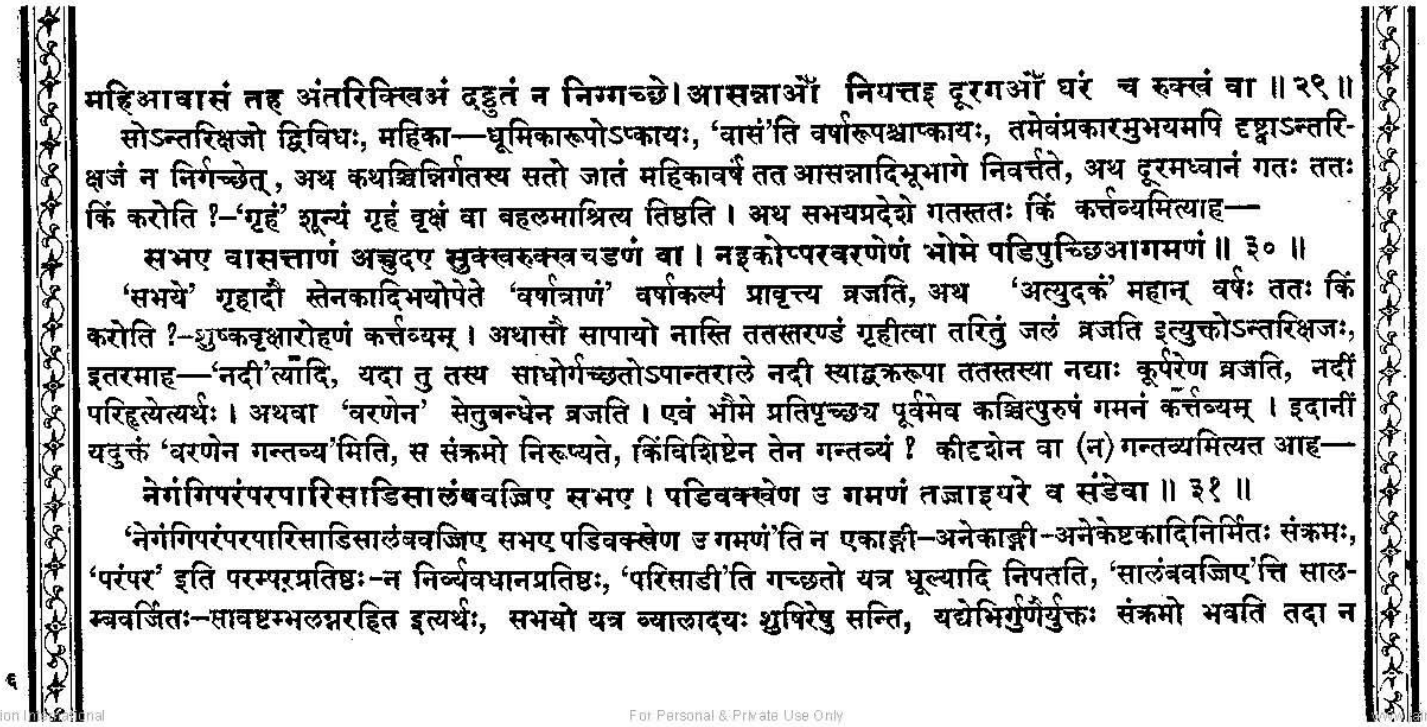
अप्कायो द्विविधः–भौमोऽन्तरिक्षश्च । इदानीं प्रत्यासत्तिन्यायादन्तरिक्षस्तावदुच्यते—

॥ ३० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२९||

दीप अनुक्रम [६६]



महिआवासं तह अंतरिक्खिअं दट्ठुतं न निग्गच्छे। आसन्नाओ नियत्तइ दूरगओ घरं च रुक्खं वा ॥ २९ ॥

सोऽन्तरिक्षजो द्विविधः, महिका—धूमिकारूपोऽप्कायः, 'वासं'ति वर्षारूपश्चाप्कायः, तमेवंप्रकारमुभयमपि दृष्ट्वाऽन्तरिक्षजं न निर्गच्छेत्, अथ कथञ्चिन्निर्गतस्य सतो जातं महिकावर्षं तत आसन्नादिभूभागे निवर्त्तते, अथ दूरमध्वानं गतः ततः किं करोति ?–'गृहं' शून्यं गृहं वृक्षं वा बहलमाश्रित्य तिष्ठति। अथ सभयप्रदेशे गतस्ततः किं कर्त्तव्यमित्याह—

सभए वासत्ताणं अच्चुदए सुक्खरुक्खचडणं वा। नइकोप्परवरणेणं भोमे पडिपुच्छिआगमणं ॥ ३० ॥

'सभये' गृहादौ स्तेनकादिभयोपेते 'वर्षात्राणं' वर्षाकल्पं प्रावृत्त्य व्रजति, अथ 'अत्युदकं' महान् वर्षः ततः किं करोति ?–शुष्कवृक्षारोहणं कर्त्तव्यम्। अथासौ सापायो नास्ति ततस्तरण्डं गृहीत्वा तरितुं जलं व्रजति इत्युक्तोऽन्तरिक्षजः, इतरमाह—'नदी'त्यादि, यदा तु तस्य साधोर्गच्छतोऽपान्तराले नदी स्याद्बहुरूपा ततस्तस्या नद्याः कूर्परेण व्रजति, नदीं परिहृत्येत्यर्थः। अथवा 'वरणेन' सेतुबन्धेन व्रजति। एवं भौमे प्रतिपृच्छ्य पूर्वमेव कञ्चित्पुरुषं गमनं कर्त्तव्यम्। इदानीं यदुक्तं 'वरणेन गन्तव्य'मिति, स संक्रमो निरूप्यते, किंविशिष्टेन तेन गन्तव्यं ? कीदृशेन वा (न) गन्तव्यमित्यत आह—

नेगंगिपरंपरपारिसाडिसालंबवज्जिए सभए। पडिवक्खेण उ गमणं तज्जाइयरे व संडेवा ॥ ३१ ॥

'नेगंगिपरंपरपारिसाडिसालंबवज्जिए सभए पडिवक्खेण उ गमणं'ति न एकाङ्गी–अनेकाङ्गी–अनेकेष्टकादिनिर्मितः संक्रमः, 'परंपर' इति परम्परप्रतिष्ठः–न निर्व्यवधानप्रतिष्ठः, 'परिसाडी'ति गच्छतो यत्र धूल्यादि निपतति, 'सालंबवज्जिए'त्ति सालम्बवर्जितः–सावष्टम्भलग्नरहित इत्यर्थः, सभयो यत्र व्यालादयः शुषिरेषु सन्ति, यद्येभिर्गुणैर्युक्तः संक्रमो भवति तदा न

ओ० ६

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यातव्यं, कथं तर्हि यातव्यं ?–'प्रतिपक्षेण' उक्तस्य विपर्ययेण। तत्रानेकाङ्गिनः प्रतिपक्ष एकाङ्गी, परम्परस्यापरम्परकः,परिशाटिनोऽपरिशाटी, सालम्बवर्जितस्य सालम्बः, सभयस्य निर्भयः प्रतिपक्षः, एतेषु प्रतिपक्षेषु गमनं। भङ्गकाश्चात्र पदपञ्चकनिष्पन्नत्वाद्वात्रिंशत्, तद्यथा–"अणेगंगिओ परंपरो परिसाडी सालंबवज्जितो सभउत्ति पढमो" एवं स्वबुद्ध्या रचनीयम्। स्थापना—

SSSSS	SSSIS	SSSSI	SSSII
ISSSS	ISSIS	ISSSI	ISSII
SISSS	SISIS	SISSI	SISII
IISSS	IISIS	IISSI	IISII
SSISS	SSIIS	SSISI	SSIII
ISISS	ISIIS	ISISI	ISIII
SIISS	SIIIS	SIISI	SIIII
IISS	IIIIS	IIISI	IIIII

पाठान्तरं वा 'णेगंगिचलऽथिर'त्ति, शेषं प्राग्वत्, तत्रानेकाङ्गी पूर्ववत्, 'चलथिर'त्ति एतत्पदद्वयं, तथाहि–एकश्चलः संक्रमो भवति, अपरस्त्वस्थिरः, तत्रारूढे गन्तरि सति वंशवद्यः अन्दोलते स चलः, अस्थिरस्तु भूमावप्रतिष्ठितः, शेषं प्राग्वत्, प्रतिपक्षा अपि प्राग्वदेव, केवलं चलस्याचलः प्रतिपक्षः, अनन्दोलनशीलत्वात्, अस्थिरस्य तु स्थिरः, भुवि प्रतिष्ठितत्वात्, एतेषु गमनं, एतानि च षट् पदानि, तद्यथा–"णेगंगि चलो अथिरे पारिसाडि सालंबवज्जिए सभए" एष प्रथमः, एवं चउसट्ठी भंगा कायवा। अन्ये त्वेवं पठन्ति–"एगंगिचलथिरपारिसाडिसालंबवज्जिए सभए" एकाङ्गेन निर्वृत्त एकाङ्गी, चलः–प्रेङ्खनशीलः, अस्थिरः–अधस्तादप्रतिष्ठितः, परिशाटी सालम्बवर्जितः सभयः, एभिः षड्भिः पदैश्चतुःषष्टिर्भङ्गाः, अस्यां यो मध्ये द्वात्रिंशत्तमो भङ्गः स एव परिगृह्यते, तद्ग्रहणाच्च तुलामध्यग्रहणवदुभयान्तर्वर्तिनः संगृहीताः, 'पडिपक्खेण उ गमणं'ति, अस्य मध्यमस्य भङ्गस्योपन्यस्तस्य यः प्रतिपक्ष एकान्तेन शुद्धश्चतुःषष्टितमस्तेन गन्तव्यं, अयमुत्सर्गविधिः, एतदभावे ये निर्भयाः संकीर्णभङ्गास्तैरपि गन्तव्यमेवेत्यपवादः। अथ संक्रमो नास्ति ततः को विधिः ?, अत आह–'तज्जाइयरे व संडेव'त्ति, सण्डेवकः–

॥ ३१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पाषाणादि, योऽन्यस्मिन् पाषाणादौ पादनिक्षेपः स संडेवकः, स च द्विविधः–तज्जात इतरश्च, तत्र तज्जातः–तस्यामेव भुवि यो जातः, इतरस्त्वन्यत आनीय तत्र निहितः, स एकैकस्त्रिविधः । तदेव त्रैविध्यं दर्शयन्नाह—

चलमाणमणक्कंते सभए परिहरिअ गच्छ इयरेणं । दगसंघट्टणलेवो पमज्ज पाए अदूरंमि ॥ ३२ ॥

तत्र योऽसौ तज्जातः स त्रिविधः–चलमानः अनाक्रान्तः सभयश्च, योऽप्यसावतज्जातः असावप्येवमेव त्रिविधः । ततश्चैवंविधे सण्डेवके किं कर्त्तव्यमित्याह–'गच्छ' व्रज 'इतरेणं'ति योऽचलः आक्रान्तः असभयश्चेति, अनेन पदत्रयेणाष्टौ भङ्गाः सूचिताः, तेषां चैषा स्थापना—

SSS
SSI
SIS
SII
ISS
ISI
IIS
III

को विधिरित्याह–'दग'इत्यादि, 'दग-कथमवतरणीयमित्याह–'पमज्ज पाए अदूरे–आसन्ने तीर इत्यर्थः । ततश्च-

पाहाणे महुसित्थे वालुअ तह

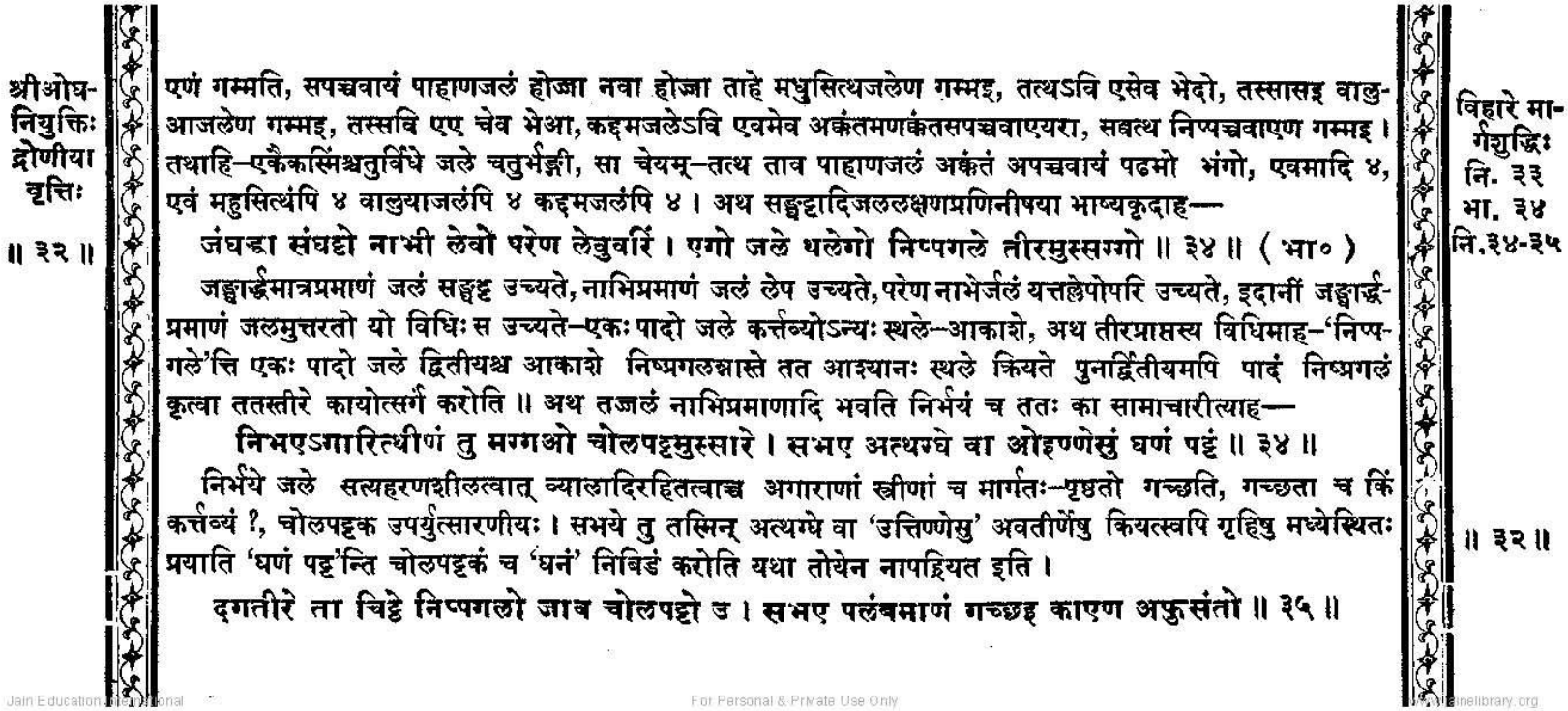
पाषाणजलं मधुसित्थुजलं वालुका-त्थकजलं यद् अलक्तकमार्गावगाहिक-यद् घनकर्दमस्योपरि वहति, अत्र च पाषाणजलादेराक्रान्तानाक्रान्तसप्रत्यपायनिष्प्रत्यपायैः सह संयोगा भवन्ति–भङ्गका इत्यर्थः । तत्थ पाहाणजलं अक्कंतं अणक्कंतं च, जं तत्थ अक्कंतं तेणं गम्मति, जं तं अक्कंतं सपच्चवायं अपच्चवायं च, अपच्चवा-

चलः–अनासक्तः । अथ संक्रमो नास्ति तत उदकमध्येनैव गन्तव्यं, तत्र संघट्टण'मिति, उदकं जङ्घार्द्धप्रमाणं, 'लेवे'ति उदकमेव नाभिप्रमाणं, तत्र अदूरंमि' पादौ प्रमृज्य, कियति भूमिभागे व्यवस्थित उदकस्येत्यत आह, तुर्द्धा जलम्—

कद्दमे य संजोगा । अक्कंतमणक्कंते सपच्चवाएयरे चेव ॥ ३३ ॥

जलं कर्दमजलं चेति, तत्र पाषाणजलं–यत्पाषाणानामुपरि वहति, मधुसि-र्दमस्योपरि वहति, वालुकाजलं तु यद्वालुकाया उपरि वहति, कर्दमजलं तु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



श्रीओघनियुक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ३२ ॥

एणं गम्मति, सपच्चवायं पाहाणजलं होज्जा नवा होज्जा ताहे मधुसित्थजलेण गम्मइ, तत्थऽवि एसेव भेदो, तस्सासइ वालुआजलेण गम्मइ, तस्सवि एए चेव भेआ, कद्दमजलेऽवि एवमेव अकंतमणकंतसपच्चवाएयरा, सव्वत्थ निप्पच्चवाएण गम्मइ। तथाहि–एकैकस्मिंश्चतुर्विधे जले चतुर्भङ्गी, सा चेयम्–तत्थ ताव पाहाणजलं अकंतं अपच्चवायं पढमो भंगो, एवमादि ४, एवं महुसित्थंपि ४ वालुयाजलंपि ४ कद्दमजलंपि ४। अथ सङ्घट्टादिजललक्षणप्रणिनीषया भाष्यकृदाह—

जंघद्धा संघट्टो नाभी लेवो परेण लेवुवरिं। एगो जले थलेगो निप्पगले तीरमुस्सग्गो ॥ ३४ ॥ (भा०)

जङ्घार्द्धमात्रप्रमाणं जलं सङ्घट्ट उच्यते, नाभिप्रमाणं जलं लेप उच्यते, परेण नाभेर्जलं यत्तल्लेपोपरि उच्यते, इदानीं जङ्घार्द्धप्रमाणं जलमुत्तरतो यो विधिः स उच्यते–एकः पादो जले कर्त्तव्योऽन्यः स्थले–आकाशे, अथ तीरप्राप्तस्य विधिमाह–'निप्पगले'त्ति एकः पादो जले द्वितीयश्च आकाशे निष्प्रगलन्नास्ते तत आश्यानः स्थले क्रियते पुनर्द्वितीयमपि पादं निष्प्रगलं कृत्वा ततस्तीरे कायोत्सर्गं करोति ॥ अथ तज्जलं नाभिप्रमाणादि भवति निर्भयं च ततः का सामाचारीत्याह—

निब्भएऽगारित्थीपं तु मग्गओ चोलपट्टमुस्सारे। सभए अत्थग्घे वा ओइण्णेसुं घणं पट्टं ॥ ३४ ॥

निर्भये जले सत्यहरणशीलत्वात् व्यालादिरहितत्वाच्च अगाराणां स्त्रीणां च मार्गतः–पृष्ठतो गच्छति, गच्छता च किं कर्त्तव्यं ?, चोलपट्टक उपर्युत्सारणीयः। सभये तु तस्मिन् अत्थग्घे वा 'उत्तिण्णेसु' अवतीर्णेषु कियत्स्वपि गृहिषु मध्येस्थितः प्रयाति 'घणं पट्ट'न्ति चोलपट्टकं च 'घनं' निबिडं करोति यथा तोयेन नापद्रियत इति।

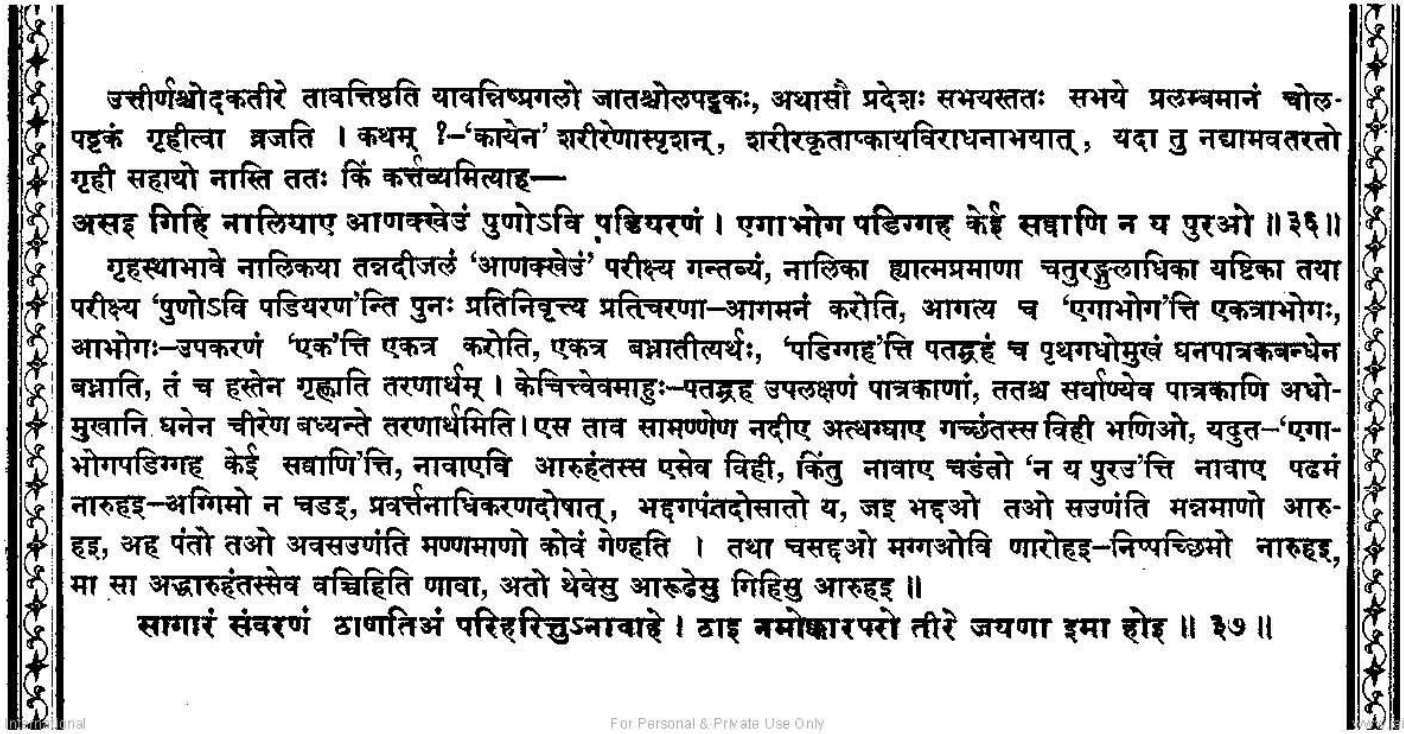
दगतीरे ता चिट्ठे निप्पगलो जाव चोलपट्टो उ। सभए पलंबमाणं गच्छइ काएण अफुसंतो ॥ ३५ ॥

विहारे मार्गशुद्धिः नि. ३३ भा. ३४ नि.३४-३५

॥ ३२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||३५|| दीप अनुक्रम [७४]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः



उत्तीर्णश्चोदकतीरे तावत्तिष्ठति यावच्चिष्प्रगलो जातश्चोलपट्टकः, अथासौ प्रदेशः सभयस्ततः सभये प्रलम्बमानं चोलपट्टकं गृहीत्वा व्रजति । कथम् ?–'कायेन' शरीरेणास्पृशन्, शरीरकृताप्कायविराधनाभयात्, यदा तु नद्यामवतरतो गृही सहायो नास्ति ततः किं कर्त्तव्यमित्याह—

असइ गिहि नालियाए आणक्खेउं पुणोऽवि पडियरणं । एगाभोग पडिग्गह केई सव्वाणि न य पुरओ ॥३६॥

गृहस्थाभावे नालिकया तन्नदीजलं 'आणक्खेउं' परीक्ष्य गन्तव्यं, नालिका ह्यात्मप्रमाणा चतुरङ्गुलाधिका यष्टिका तया परीक्ष्य 'पुणोऽवि पडियरण'न्ति पुनः प्रतिनिवृत्त्य प्रतिचरणा–आगमनं करोति, आगत्य च 'एगाभोग'त्ति एकत्राभोगः, आभोगः–उपकरणं 'एक'त्ति एकत्र करोति, एकत्र बध्नातीत्यर्थः, 'पडिग्गह'त्ति पतद्ग्रहं च पृथगधोमुखं धनपात्रकबन्धेन बध्नाति, तं च हस्तेन गृह्णाति तरणार्थम् । केचित्त्वेवमाहुः–पतद्ग्रह उपलक्षणं पात्रकाणां, ततश्च सर्वाण्येव पात्रकाणि अधोमुखानि धनेन चीरेण बध्यन्ते तरणार्थमिति। एस ताव सामण्णेण नदीए अत्थग्घाए गच्छंतस्स विही भणिओ, यदुक्त–'एगाभोगपडिग्गह केई सव्वाणि'त्ति, नावाएवि आरुहंतस्स एसेव विही, किंतु नावाए चडंतो 'न य पुरउ'त्ति नावाए पढमं नारुहइ–अग्गिमो न चडइ, प्रवर्त्तनाधिकरणदोषात्, भद्दगपंतदोसातो य, जइ भद्दओ तओ सउणंति मन्नमाणो आरुहइ, अह पंतो तओ अवसउणंति मण्णमाणो कोवं गेण्हति । तथा चसद्दओ मग्गओवि णारोहइ–निप्पच्छिमो नारुहइ, मा सा अद्धारुहंतस्सेव वच्चिहिति णावा, अतो थेवेसु आरूढेसु गिहिसु आरुहइ ॥

सागारं संवरणं ठाणतिअं परिहरित्तुऽनावाहे । ठाइ नमोक्कारपरो तीरे जयणा इमा होइ ॥ ३७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ३३ ॥

आरुहन्तो अ सो साहू सागारं संवरणं–पच्चक्खाणं करेति , आरूढो य संतो ठाणतिअं परिहरिउं अणावाहे ठाइ, तत्थ पुरओ न ठाइयव्वं, तत्थ किल णावादेवयाहिवासो, ण य मग्गओ, अवलग्गवाहणभयओ, न मज्झओ, मा नावाओ उदकं उल्लिंचाविजिहिन्ति । कत्थ पुण ठाइयव्वं?, पासे, तत्थ य उवउत्तो चिट्ठइ नमोक्कारपरो। एवं कुशलेन तीरपत्तस्स को विही?, भन्नइ–'तीरे जयणा इमा होति' वक्खमाणा—

नवि पुरओ नवि मग्गओ मज्झे उस्सग्ग पण्णवीसाउ । दइउदयं तुंबेसु अ एस विही होइ संतरणे ॥ ३८ ॥

इदाणिं तीरपत्ताए नावाए उत्तरंतो न लोअग्गिमो उत्तरति, पवत्तणाधिकरणादेव, नावि मग्गओ लोयस्स उत्तरति, झडत्ति पडिओ गच्छेज्जत्ति,(चल)स्वभावत्वात्, अहवा सो पच्छा एक्को उत्तरंतो कयाइ धरेज्जा नाविएणं तरपणट्ठा, तम्हा थोवेसु उत्तिण्णेसु गिहिसु उत्तरति । तीरत्थेण किं कायव्वंति ?, भण्णइ–'उस्सग्गो' कायोत्सर्गः कर्त्तव्यः, तत्र च कियन्त उच्छ्वासाः इत्यत आह–'पण्णवीसाउ'त्ति पञ्चविंशतिरुच्छ्वासाश्चिन्तनीयाः । 'दइउ'त्ति दतिउ चक्खल्लाउडुओ जेण तरिज्जइ 'तुंबं' अलाउअं, एएहिं नावाए अभावे संतरिज्जइ, जदि तरणजोग्गं पाणियंति । 'एस विहि'त्ति दृतिकादिभिरुत्तीर्णस्य एष एव विधिः 'संतरणे' प्लवने, यदुक्तं–'तीरं प्राप्तेनोत्सर्गः कार्यः' इति, अत्र चाप्काये मिश्राचित्तयतना न साक्षादुक्ता, छद्मस्थेन तयोस्तत्त्वतो ज्ञातुमशक्यत्वात्, यश्च ज्ञास्यति स करिष्यत्येवेति, सच्चित्तस्य तूक्तैव । उक्तमप्कायद्वारम्, अथ तेजस्कायस्तत्राह—[द्वारगाथा] ॥

वोलीणे अणुलोमे पडिलोमऽद्देसु ठाइ तणरहिए। असई य गत्तिणंतगउल्लण तलिगाइ डेवणया ॥ ३९ ॥

नद्युत्तार-विधिः नि. ३६-३७-३८

॥ ३३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यदा हि तस्य साधोर्गच्छतो वनदवोऽनुकूलो भवति, यदभिमुखं साधुर्व्रजति तदभिमुखमग्निरप्येतीत्यर्थः, ततस्तस्मिन् वनदवे व्यतिक्रान्ते सति गन्तव्यं, यदा तु प्रतिलोमः–अभिमुखमायाति ततः 'अद्देसु'त्ति आर्द्रेषु प्रदेशेषु तिष्ठति येनासौ नाभिभवति, तृणरहिते वा, 'असति' अभावे तस्य 'कत्तिणंतगउल्लणं'ति, कृत्तिः–चर्म तेनात्मानमावृत्य तिष्ठति, तदभावे 'णंतगउल्लणं' अणंतगं–कम्बलादिवस्त्रं तदार्द्रीकृत्य पानकेन तेनात्मानमावृणोति, ततस्तिष्ठति, अथ गच्छतो बहुगुणं ततः 'तडिगादिडेवणय'त्ति उपानहौ परिधाय डेवनं–लङ्घनमग्रेः कृत्वा व्रजति। तत्र यदा विध्याते तेजस्काये याति तदाऽचित्ततेजस्काययतना, यदा तूपानहौ परिधाय व्रजति तदा सचित्तो मिश्रो वा तेजस्कायः, एषा त्रिप्रकारा यतना। उक्तं तेजस्कायद्वारम्, अथ वायुद्वारं—

जह अंतरिक्खमुदए नवरि निअंबे अ वणनिगुंजे य। ठाणं सभए पाउण घणकप्पमलंबमाणं तु ॥ ४० ॥

यथा अन्तरिक्षोदके यतनोक्ता 'आसण्णाउ नियत्तति 'इत्यादिलक्षणा सैवेहापि द्रष्टव्या, 'नवर'न्ति केवलमयं विशेषः, 'नितम्बे' पर्वतैकदेशे वननिकुञ्जे वा स्थातव्यम्, यद्यसौ प्रदेशः सभयस्ततः 'पाउण घणकप्पं' घनं–निश्छिद्रं कल्पं–कम्बल्यादिरूपं प्रावृत्य गच्छति 'अलम्बमाणं तु'त्ति यथा कोणो न प्रलम्बते, प्रलम्बमानैर्वायुविराधनात्। तत्र महावायौ गच्छतः कल्पप्रावृतशरीरस्य सचित्तयतना भवति, अप्रलम्बं कल्पं कुर्वतः अचेतनयतना, मिश्रयतना कल्पप्रावृतस्यैव भवति, यतः किंचि ढक्किअं किंचिच्च न, इयं त्रिविधा यतना ॥ उक्तं वायुद्वारम्, अथ वनस्पतिद्वारमुच्यते—

तिविहो वणस्सई खलु परित्तऽणंतो थिराथिरेक्केक्को। संजोगा जह हेट्ठा अक्कंताई तहेव इहिं ॥ ४१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||४१||

दीप अनुक्रम [७९]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ३४ ॥

त्रिविधो वनस्पतिः–अचित्तो मिश्रः सचित्तश्च, योऽसावचित्तः सः परित्तो अणंतो य, परित्तो थिरो अथिरो अ, अणंतोवि थिरो अथिरो अ, इदाणिं मीसो सो दुविहो–परित्तो अणंतो अ, परित्तो दुहा–थिरो अथिरो अ, अणंतोऽवि दुविहो–थिरो अथिरो अ, इदाणिं सचित्तो, सो दुहा–परित्तो अणंतो अ, परित्तो दुहा–थिरो अथिरो अ, अणंतो दुहा–थिरो अथिरो अ, एक्केको अ भेओ चउहा–अक्कंतो निपच्चवाओ अ १, अक्कंतो सपच्चवाओ अ २, अणक्कंतो अपच्चवाओ य ३, अणक्कंतो सपच्चवाओ अ ४। तत्थ का जयणा ?, अचित्तेणं गम्मइ, तत्थवि परित्तेण, तेणवि थिरेण, तत्थवि अक्कंतनिपच्चवाएणं, तदभावे अणक्कंतेणं निपच्चवाएणं, तदभावे अचित्तपरित्तेणं अथिरेणं गम्मइ, सोऽवि यदि अक्कंतो निपच्चवाओ अ तदभावे अणक्कंतेण निपच्चवाएण य, तदभावे अचित्ताणंतेण थिरेण गम्मति, तत्थवि तेण अक्कंतेण निपच्चवाएण य, तदभावे अणक्कंतनिपच्चवाएणं, तदभावे अचित्ताणंतेणं अथिरेण सो अ अक्कंतनिपच्चवाओ य यदि होति, तदभावे अणक्कंतनिप्पच्चवाएणं, तदभावे मीसेणं, एवमेव भंगा जाणियव्वा जहा अचित्ते, तदभावे सचित्तेणं गम्मइ, तत्थवि एसेव गम्मइ। अथ गाथाऽक्षरघटना–त्रिविधो वनस्पतिः–सचित्तः अचित्तः मिश्रश्चेति, तत्रैकैको द्विधा–परीतोऽनन्तश्च, तत्र परीतः पृथक्शरीराणामेकद्वित्रिअसङ्ख्येयानां जीवानामाश्रयः, अनन्तस्तु अनन्तानामेकैकं शरीरं, स एकैकः स्थिरोऽस्थिरश्च, स्थिरो दृढसंहननः, इतरस्त्वस्थिरः। अत्र च संयोगाः कर्त्तव्याः, ते चाधस्ताद्यथोक्तास्तथैव दृश्याः, ते चाक्रान्तनिष्प्रत्यपायआ-

+ सो य अक्कंतनिप्पच्चवाओ जइ होइ।

अग्निवन० यतना. नि. ३९-४०-४१

॥ ३४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रान्तसप्रत्यपायअनाक्रान्तनिष्प्रत्यपायअनाक्रान्तसप्रत्यपायरूपाः । स्थापना— ||, IS, SI, SS च्यते ?, तथाहि–सचेतनविषया यतनेति न्यायः, उच्यते, तत्राप्यस्ति कारणं, पाञ्चिद्वनस्पतीनामविनष्टा योनिः स्याद् गुडूचीमुद्गादीनां, तथाहि–गुडूची भजन्ती दृश्यते, एवं कङ्कटुकमुद्गादिरपि, अतो योनिरक्षणार्थमचेतनयतनाऽपि ननु च कस्मादचित्तवनस्पतियतनोच्यते यद्यपि अचित्तस्तथाऽपि कदाचित्केशुष्काऽपि सती जलसेकात्तादात्म्यं न्यायवत्येवेति । अथवाऽचित्तवनस्पतियतनया दयालुतामाह, अचेतनस्यैते भेदा न भवन्ति, किन्तु सचित्तमिश्रयोरेव योजनीयाः । उक्तं वनस्पतिद्वारम्, अधुना त्रसद्वारमाह—

तिविहा बेइंदिया खलु थिरसंघयणेयरा पुणो दुविहा । अक्कंताई य गमो जाव उ पंचिंदिआ नेआ ॥ ४२ ॥

'त्रिविधाः' त्रिप्रकारा द्वीन्द्रियाः–सचित्तादिभेदात्, सचित्ताः सकलजीवप्रदेशवन्तः, अचित्तास्तु विपर्ययात्, मिश्रास्त्वेत एव करम्बीभूताः, पुनरेकैको द्विविधः, तथाहि–सचित्तो थिरसंघयणो अथिरसंघयणो अ, एवं अचित्तो मिस्सोवि, जो सो स्थिरसंघयणो तत्थ चउभंगी–अक्कंतोऽणक्कंतो सपच्चवाओ इयरो य, एवं अण्णेऽवि 'अक्कंतादीय'त्ति आक्रान्तादिर्गमको–भङ्ग इति, अनेन चतुर्भङ्गिका सूचिता । एवमयं क्रमस्त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियाणां सचित्ताचित्तमिश्रादिर्योजनीय इति ॥ एवं तावत्सजातीययतनोक्ता, इदानीं विजातीयेन सहाह—

पुढविदएय पुढविए उदए पुढवितस वालकंटा य । पुढविवणस्सइकाए ते चेव उ पुढविए कमणं ॥ ४३ ॥
पुढवितसे तसरहिए निरंतरतसेसु पुढविए चेव । आउवणस्सइकाए वणेण नियमा वणं उदए ॥ ४४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तेऊवाउविहूणा एवं सेसावि सव्वसंजोगा । नचा विराहणदुगं वज्जंतो जयसु उवउत्तो ॥ ४५ ॥

पृथिव्युदकयोः युगपद्गमनतया प्राप्तयोः सतोः कतरेण यातव्यमित्याह–पृथिव्या, उदके त्रसादिसद्भावात्, चशब्दाद्वनस्पतिश्च, पृथिवीं त्यक्त्वैव । अथ पृथिवीवनस्पतिकाययोः सतोः किं कर्त्तव्यमित्याह–पृथिव्यैव गन्तव्यं, वनस्पतौ तद्दोषसंभवात् ॥ पृथिवीत्रसयोः केन गन्तव्यं ?–त्रसरहितमार्गेण, एतदुक्तं भवति–विरलत्रसेषु तन्मध्येन, निरन्तरेषु तु पृथिव्या, अप्कायवनस्पतिकाययोः सतोः केन यातव्यमित्याह–वनेन वनस्पतिकायेन, उदके नियमाद्वनस्पतिसद्भावात् ॥ तेजस्कायवायुकायाभ्यां रहिता एवं शेषा अपि सर्वसंयोगाः अन्येऽपि ये नोक्तास्तेऽनुगन्तव्याः भङ्गकाः, सर्वथा विराधनाद्वयं ज्ञात्वा–आत्मविराधना संयमविराधना च, एतद्वयमपि वर्जयन् उपयुक्तो यतस्व–यतनां कुर्विति । इदानीं यदुक्तं–'एवं सेसावि सव्वसंजोगा' इति ते भङ्गका दर्श्यन्ते, ते चामी–तत्थ पुढविकाओ आउकाओ वणस्सइकाओ तसकाओ चेति चत्वारि पदानि काउं ततो दुगचारणियाए तिगचारणिआए चउक्कचारणियाए चारेयव्वा, सा य इमा चारणिआ–पुढविक्काओ आऊ य पढमो १, पुढवी वणस्सतीबीओ य २, पुढवी तसा य तइओ य ३, एवं पुढवीए तिन्नि लद्धा, आऊ दो लहइ, वणस्सई एक्कंति ६, पुढवी आऊ वणस्सई १, पुढवी आऊ तसा २, पुढवी वणस्सइ तसा ३, आऊवणस्सइतसा ४, एए तिगचारणियाए लद्धा, चउक्कचारणियाए उ एक्को चेव, सव्वेवि एक्कारस अचित्तेहिं पएहिं लद्धा, एवं मीसेसुवि ११ सचित्तेसुऽवि ११, सव्वेऽवि तेत्तीसं ३३ । उक्ता षट्कायायतना, आह–यदा पुनर्व्याघ्रदुस्तटीन्यायेनान्यतरविराधनामन्तरेण प्रवृत्तिरेव न घटां प्राञ्चति तदा किं कर्त्तव्यमित्याह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सव्वत्थ संजमं संजमाउ अप्पाणमेव रक्खिज्जा । मुच्चइ अइवायाओ पुणो विसोही न याविरई ॥ ४६ ॥

'सर्वत्र' सर्वेषु वस्तुषु, किम् ?–संयमरक्षा कार्या, तदभावेऽभिप्रेतार्थसिद्ध्यसिद्धेः, किमेष न्यायः ?, नेत्याह–संयमादप्यात्मानमेव रक्षेत्, आत्माभावेन तत्प्रवृत्त्यसिद्धेः, आत्मानमेव रक्षन्, जीवन्नित्यर्थः, 'मुच्यते' भ्रश्यते तस्मादतिपातात्–हिंसादिदोषात्, किं कारणम् ?, उच्यते, अतिपातनात् यतः पुनर्विशुद्धिस्तपआदिना भविष्यति, अथ मन्यसे–पृथिव्याद्यतिपातोत्तरकालं विशुद्धिर्भवति नाम, किन्तु हिंसायां वर्त्तमानः सः अविरतो लभ्यत इति 'एकव्रतभङ्गे सर्वव्रतभङ्ग' इति वचनात्, तदेतन्नास्ति, यत आह–'न याविरई', किं कारणं ?,–तस्याशयशुद्धतया, विशुद्धपरिणामस्य च मोक्षहेतुत्वात् । यद्वा सर्वत्र संयमं रक्षन्नतिपातान्मुच्यते–अतिपातो न भवति, किमयमेव न्यायः ?, नेत्याह—संयमादात्मानमेव रक्षन्, येन पुनरपि विशुद्धिर्भवति, न चातिपातेऽप्यविरतिरिति पूर्ववत् । किं कारणं संयमादप्यात्मा रक्षितव्यः ?, उच्यते, यतः—

संजमहेउं देहो धारिज्जइ सो कओ उ तदभावे ? । संजमफाइनिमित्तं देहपरिपालणा इट्ठा ॥ ४७ ॥

इह हि 'संयमहेतुः' संयमनिमित्तं देहो धार्यते, स च–संयमः कुतः 'तदभावे' देहाभावे ? । यस्मादेतदेवं तस्मात् 'संयमस्फातिनिमित्तं, संयमवृद्ध्यर्थं देहपरिपालनमिष्टं–धर्मकायसंरक्षणमभ्युपगम्यते ॥ आह–लोकेनाविशिष्टमेतत्, तथाहि—

चिक्खल्लवालसावयसरेणुकंटयतणे बहुजले अ । लोगोऽवि नेच्छइ पहे को णु विसेसो भयंतस्स ? ॥ ४८ ॥

चिक्खल्लव्यालस्वापदसरेणुकण्टकतृणान् बहुजलांश्च सोपद्रवान् मार्गान्–पथः लोकोऽपि नेच्छत्येव, अतः को नु विशेषो ? लोकात्सकाशाद्भदन्तस्य येनैवमुच्यत इति ?, उच्यते—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||४९||

दीप अनुक्रम [८५]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ३६ ॥

जयणमजयणं च गिही सचित्तमीसे परित्तऽणंते अ। नवि जाणंति न यासिं अवहपइण्णा अह विसेसो ॥४९॥

यतनामयतनां च गृहिणो न जानन्ति, क्व ?–सचित्तादौ, न च 'एतेषां' गृहिणां 'अवधप्रतिज्ञा' वधनिवृत्तिः, अत एव विशेषः ।

अविअ जणो मरणभया परिस्समभआ व ते विवज्जेइ। ते पुण दयापरिणया मोक्खत्थमिसी परिहरंति ॥ ५० ॥

कण्ठ्या ॥ "अपि च" इति अनेनाभ्युच्चयमाह, नवरं 'ते'त्ति सापायान् पथः। इतश्च साधोः प्राणातिपातापत्तावपि गृहिणा सह वैधुर्यमित्याह—

अविसिट्ठंमिवि जोगंमि बाहिरे होइ विहुरया इहरा। सुद्धस्स उ संपत्ती अफला जं देसिआ समए ॥ ५१ ॥

इह 'अविशिष्टेऽपि' तुल्येऽपि 'योगे' प्राणातिपातादिव्यापारे 'बाह्ये' बहिर्वर्त्तिनि भवति 'विधुरता' वैधुर्यं विसदृशता, इत्थं चैतदभ्युपगन्तव्यम्, इतरथा शुद्धस्य–साधोः 'संप्राप्तिः' प्राणातिपातापत्तिः 'अफला' निष्फला यतः प्रदर्शिता 'समये' सिद्धान्ते तद्विरुध्यते, तस्मादेतदेवमेवाभ्युपगन्तव्यं, बाह्यप्राणातिपातव्यापारः शुद्धस्य साधोर्न बन्धाय भवतीति ॥

एक्कंमिवि पाणिवहंमि देसिअं सुमहदंतरं समए। एमेव निज्जरफला परिणामवसा बहुविहीआ ॥ ५२ ॥

'एकस्मिन्नपि' तुल्येऽपि प्राणिवधे 'दर्शितं' प्रतिपादितं सुमहदन्तरं, क्व ?–'समये' सिद्धान्ते, तथाहि–यथा द्वौ पुरुषौ प्राणिवधप्रवृत्तौ, तयोश्च न तुल्यो बन्धो, यस्तत्रातीवसंक्लिष्टपरिणतिः स सप्तम्यां पृथिव्यामुत्पद्यते, अपरस्तु नातिसंक्लिष्टपरिणतिः स द्वितीयनरकादाविति । इयं तावद्विसदृशता बन्धमङ्गीकृत्य, इदानीं निर्जरामङ्गीकृत्य विसदृशतां दर्शयन्नाह—

संयमादात्मरक्षणं नि.४७-५२

॥ ३६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एवमेव 'निर्जरा' फलविशेषा अपि परिणामवशाद् 'बहुविधा' बहुप्रकारा विशिष्टविशिष्टतरविशिष्टतमाः । एकां प्राणिजातिमङ्गीकृत्यान्तरमुक्तम्, अधुना सकलव्यक्त्याश्रयमन्तरं प्रतिपिपादयिषुराह—

जे जत्तिआ अ हेऊ भवस्स ते चेव तत्तिआ मुक्खे । गणणाईया लोगा दुण्हवि पुण्णा भवे तुल्ला ॥ ५३ ॥

ये हेतवो यावन्तो–यावन्मात्रा 'भवस्य' संसारस्य निमित्तं त एव नान्ये तावन्मात्रा एव मोक्षस्य हेतवो–निमित्तानि । कियन्मात्रास्ते अत आह–गणनाया अतीताः–सङ्ख्याया अतिक्रान्ताः, के?, लोकाः 'द्वयोरपि' भवमोक्षयोः संबन्धिनां हेतूनामसङ्ख्येया लोकाः 'पूर्णाः' भृताः, ते तु पूर्णा एकहेतुन्यूना अपि भवन्त्यत आह–तुल्याः, कथंभूताः?–क्रियाविशेषणं 'तुल्याः' सदृशा इत्यर्थः । ननु तुल्यग्रहणमेव कस्मात्केवलं न कृतं ? येन पुनः पूर्णग्रहणं क्रियते, भण्णति पडिवयणं–तुल्लग्गहणेण संवलिआणं संसारमोक्खहेऊणं लोका तुलत्ति कस्सति वुद्धी होज्जा तेण पुण्णग्गहणंपि कीरइ, दोण्हवि पुण्णत्ति जया जया भरिअत्ति नेयवा, इयमत्र भावना–सर्व एव ये त्रैलोक्योदरविवरवर्त्तिनो भावा रागद्वेषमोहात्मनां पुंसां संसारहेतवो भवन्ति त एव रागादिरहितानां श्रद्धामतामज्ञानपरिहारेण मोक्षहेतवो भवन्तीति एवं तावत्प्रमाणमिदमुक्तम्, इदानीं येषाममी त्रैलोक्यापन्नाः पदार्था बन्धहेतवो भवन्ति न भवन्ति च येषां तदाह—

इरिआवहमाईआ जे चेव हवंति कम्मबंधाय । अजयाणं ते चेव उ जयाण निव्वाणगमणाय ॥ ५४ ॥

'ईर गतिप्रेरणयोः' ईरणमीर्या पथि ईर्या ईर्यापथं–गमनागमनमित्यर्थः, ईर्यापथमादौ येषां ते ईर्यापथाद्याः, आदिशब्दादृष्टिवागादिव्यापारा गृह्यन्ते, ईर्यापथाद्या व्यापारा य एव भवन्ति 'कम्मबंधाय' कर्मबन्धनिमित्तं–कर्मबन्धहेतवः, केषाम्?–

ओ० ७

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ३७ ॥

'अयतानाम्' अयत्नपराणां पुरुषाणां, त एव ईर्यापथाद्या व्यापारा 'यतानां' यत्नवतां 'निर्वाणगमनाय' मोक्षगमनाय भवन्ति ॥ एवं तावत्साधोर्गृहस्थेन सह तुल्येऽपि व्यापारे विसदृशतोक्ता, इदानीं सजातीयमेव साधुमाश्रित्य विसदृशतामादर्शयन्नाह—

एगंतेण निसेहो जोगेसु न देसिओ विही वावि । दलिअं पप्प निसेहो होज्ज विही वा जहा रोगे ॥ ५५ ॥

एकान्तेन निषेधः 'योगेषु' गमनादिव्यापारेषु 'न देशितः' नोपदिष्टः 'विधिर्वा' अनुज्ञा वा क्वचित्स्वाध्यायादौ न दर्शिता, किन्तु 'दलिअं' द्रव्यं वस्तु वा 'प्राप्य' विज्ञाय निषेधो भवेत्, तस्यैव वा 'विधिर्भवेत्' अनुष्ठानं भवेदिति । अयमत्र भावः—कस्यचित्साधोराचार्यादिप्रयोजनादिना सचित्तेऽपि पथि व्रजतो गमनमनुज्ञायते, कारणिकत्वात्, नाकारणिकस्य, दृष्टान्तमाह—'जहा रोगे'त्ति यथा 'रोगे' ज्वरादौ परिपाचनभोजनादेः प्रतिषेधः क्रियते, जीर्णज्वरे तु तस्यैव विधिरित्यतः साधूच्यते—वस्त्वन्तरमाश्रित्य विधिः प्रतिषेधो वा विधीयते । अथवाऽन्यथा व्याख्यायते—इहोक्तं—'अखिलाः पदार्था आत्मनः संसारहेतवो मोक्षहेतवश्च' ततश्च न केवलं त एव यान्यपि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि तान्यपि संसारमोक्षयोः कारणानीति, तथा चाह—'एगंतेण निसेहो०' एकान्तेन निषेधः सम्यग्दर्शनादिदानेषु तत्प्रख्यापकशास्त्रोपदेशेषु न दर्शितो विधिर्वा न दर्शित इति संटङ्कः, किन्तु 'दलिकं प्राप्य' पात्रविशेषं प्राप्य कदाचिद्दीयते कदाचिन्न, एतदुक्तं भवति—प्रशमादिगुणान्विताय दीयमानानि मोक्षाय, विपर्यये भवाय, तदाशातनात्, यथा ज्वरादौ तरुणे सत्यपथ्यं पश्चात्तु पथ्यमपि तदेव ॥ अथैकमेव वस्त्वासेव्यमानं बन्धाय मोक्षाय च कथं भवति ?, तदाह—

जंमि निसेविज्जंते अइआरो होज्ज कस्सइ कयाइ । तेणेव य तस्स पुणो कयाइ सोही हवेज्जाहि ॥ ५६ ॥

भवमोक्ष-हेतुसाम्यं नि. ५३-५४-५५

॥ ३७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'यस्मिन्' वस्तुनि क्रोधादौ निषेव्यमाणे 'अतिचारः' स्खलना भवति 'कस्यचित्' साधोः 'कदाचित्' कस्याञ्चिदवस्थायां 'तेनैव' क्रोधादिना तस्यैव पुनः कदाचिच्छुद्धिरपि भवेत्, चण्डरुद्रसाधोरिव, तेन हि रुषा स्वशिष्यो दण्डकेन ताडितः, तं च रुधिरार्द्रं दृष्ट्वा पश्चात्तापवान् संवृत्तः चिन्तयति च–धिग्मां यस्यैवंविधः क्रोधः इति विशुद्धपरिणामस्यापूर्वं करणं क्षपकश्रेणिः केवलोदयः संवृत्त इति ॥ बाह्यं व्यापारमङ्गीकृत्य विसदृशतोक्ता, अथ बाह्योऽपि व्यापारो यथा बन्धहेतुर्न स्यात्तथाऽऽह—

अणुमित्तोऽवि न कस्सई बंधो परवत्थुपच्चओ भणिओ। तहवि अ जयंति जइणो परिणामविसोहिमिच्छंता ॥ ५७ ॥

'अणुमात्रोऽपि' स्वल्पोऽपि बन्धो न कस्यचित् 'परवस्तुप्रत्ययाद्' बाह्यवस्तुनिमित्तात्सकाशाद् 'भणितः' उक्तः, किन्त्वात्मपरिणामादेवेत्यभिप्रायः। आह–यद्येवं न तर्हि पृथिव्यादियतना कार्या, उच्यते, यद्यपि बाह्यवस्तुनिमित्तो बन्धो न भवति तथाऽपि यत्नं विदधति पृथिव्यादौ मुनयः परिणामविशुद्धिं 'इच्छन्तः' अभिलषन्तः, एतदुक्तं भवति–यदि पृथिव्यादिकायतना न विधीयते ततो नैवेयं स्यात्, यस्तु हिंसायां वर्त्तते तस्य परिणाम एव न शुद्धः, इत्याह—

जो पुण हिंसाययणेसु वट्टई तस्स नणु परीणामो। दुट्ठो न य तं लिंगं होइ विसुद्धस्स जोगस्स ॥ ५८ ॥

यस्तु पुनः 'हिंसायतनेषु' व्यापत्तिधामसु वर्त्तते तस्य ननु परिणामो दुष्ट एव भवति, न च तद्धिंसास्थानवर्त्तित्वं 'लिङ्गं' चिह्नं भवति 'विशुद्धयोगस्य' मनोवाक्कायरूपस्य ॥

तम्हा सया विसुद्धं परिणामं इच्छया सुविहिएणं। हिंसाययणा सव्वे परिहरियव्वा पयत्तेणं ॥ ५९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||५९||

दीप अनुक्रम [९७]

श्रीओघ-नियुक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ३८ ॥

तस्मात् 'सदा' अजस्रं विशुद्धं परिणाममिच्छता सुविहितेन, किं कर्त्तव्यं ?–हिंसायतनानि सर्वाणि वर्जनीयानि प्रयत्नतः ॥ तथा च—

वज्जेमित्ति परिणओ संपत्तीए विमुच्चई वेरा । अविहिंतोऽवि न मुच्चइ किलिट्ठभावोत्ति वा तस्स ॥ ६० ॥

वर्जयाम्यहं प्राणिवधादीन्येवंपरिणतः सन् संप्राप्तावपि, कस्य ?–अतिपातस्य–प्राणिप्राणविनाशस्येत्युपरिष्टात्संबन्धः, तथाऽपि विमुच्यते 'वैरात्' कर्मसंबन्धात् । यस्तु पुनः क्लिष्टपरिणामः सोऽव्यापादयन्नपि न मुच्यते वैरात् ॥ तदेवं गच्छ-तस्तस्य षड्डायतनादिको विधिरुक्तः, स इदानीं गच्छन् ग्रामादौ प्रविशति, तत्र का सामाचारी ?, तद्दर्शनार्थमुपक्रमते—

पढमबिइया गिलाणे तइए सण्णी चउत्थ साहम्मी । पंचमियंमि अ वसही छट्ठे ठाणट्ठिओ होइ ॥ ६१ ॥

प्रथमद्वारे द्वितीयद्वारे च 'गिलाणे'त्ति ग्लानविषया यतना वक्तव्या, तृतीये द्वारे संज्ञी–श्रावको वक्तव्यः, चतुर्थे द्वारे साधर्मिकः–साधुर्वक्तव्यः, पञ्चमे द्वारे वसतिर्वक्तव्या, षष्ठे द्वारे वर्षाकालप्रतिघातात्स्थानस्थितो भवति । आह–तृतीयद्वारे षडर्थाधिकारा भविष्यन्ति, तद्यथा–"वइअग्गामे संखडि सण्णी दाणे अ भद्दे अ"त्ति, ततश्च किमिति संज्ञिन एव केवलस्य ग्रहणमकारि ?, उच्यते, संज्ञिनोऽतिरिक्तो विधिर्वक्ष्यमाणो भविष्यति अस्यार्थस्य ज्ञापनार्थं संज्ञिग्रहणमेवाकरोत्, अथवा तुलादण्डमध्यग्रहणन्यायेन मध्यग्रहणे शेषाण्यपि गृहीतान्येव द्रष्टव्यानि, आह–मध्यमेवैतन्न भवति, यतः षडमूनि द्वाराणि, उच्यन्ते, नैतदेवं, यतः सप्तमं चशब्दाक्षिप्तं महानिनादेति द्वारं भविष्यति, संज्ञिग्रहणेन मध्यमेव गृहीतमितीयं द्वारगाथा । नन्वस्यातित्वरिताचार्यकार्यप्रसृतत्वात्कोऽवसरो ग्रामादिप्रवेशनेन ?, उच्यते, तत्प्रवेशेऽधिकतरगुणदर्शनात्, तथा चाह—

विधिनिषे-धयोरने-कान्तता नि.५७-६० ग्रामप्रवेशः नि. ६१

॥ ३८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ग्रामप्रवेश विधिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||६२|| दीप अनुक्रम [१००]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

एहिअपारत्तगुणा दुन्नि य पुच्छा दुवे य साहम्मी । तत्थेक्केक्का दुविहा चउहा जयणा दुहेक्केक्का ॥ ६२ ॥

तस्य तत्र ग्रामे प्रविशत 'ऐहिकाः' इहलोकगुणा भक्तपानादयो भवन्ति, परत्रगुणाश्च ग्लानादिप्रतिजागरणादिकाः, प्रविशतश्च तस्य द्विधा पृच्छा भवति, सा च विध्यविधिलक्षणा वक्ष्यमाणा । साधर्मिकाश्च द्विधा–साम्भोगिका अन्यसाम्भोगिकाश्च, तत्रैकैको द्विविधः, योऽसौ साम्भोगिकः स च द्विविधः–कदाचिदेकः कदाचिदनेकः, एवमन्यसांभोगिकेऽपि वाच्यं, 'चउहा जयण'त्ति चतुर्विधा यतना, साम्भोगिकसंयतयतना साम्भोगिकसंयतीयतना च, अण्णसंभोइयसंजयजयणा अण्णसंभोइयसंयतीजयणा चेति । 'तत्थेक्केक्का दुविह'त्ति तत्रैकैको भेदो द्विविधः–साम्भोगिकसंयताः–कारणिका निष्कारणिकाश्च, णवरं (एवं) संभोइयसंजइओवि। एवं असंभोइअसंजयावि संजइओवि । अथवाऽन्यथा–'दुवे य साहम्मि'त्ति संभोइआ असंभोइआ चेति । 'तत्थेक्केक्का दुविह'त्ति जे ते संभोइआ ते संजया संजयइओ अ, एवमसंभोइयावि, 'चउहा जयण'त्ति चउविहा जयणा कायवा दवादि ४, 'दुहेक्केक्क'त्ति सा एकैका द्रव्यादियतना द्वेधा–तत्थ दवओ पढमं फासुएण कीरइ, तदभावे अफासुएणवि, खेत्ततो अकयाकारिआसंकप्पिए गिहे ठाइयवं, तदभावे उद्घाटनं गृहस्य कपाटादेरपि क्रियते कालतः प्रथमपौरुष्यां प्रासुकं दीयते, अथ तस्यां न लभ्यते ततः कृत्वाऽपि दीयते । भावतः प्रासुकद्रव्यं शरीरस्य समाधानमाधीयते, तदभावे त्वप्रासुकैरपि। इयं द्वारगाथा महती, तत्रैहिकगुणद्वारप्रतिपादनायाह–पडिदारगाहा–

इहलोइआ पवित्ती पासणया तेसि संखडी सड्ढो । परलोइआ गिलाणे चेइय वाई य पडिणीए ॥ ६३ ॥

'इहलोइअ'त्ति द्वारपरामर्शः, प्रविष्टस्य तस्यायं गुणो भवति–यानभिसन्धाय प्रवृत्तस्तदीयां कदाचित्तत्र वार्त्तां लभते–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ३९ ॥

यथा ततो निर्गत्यैतेऽधुनाऽमुकत्र तिष्ठन्तीति, एतदुक्तं भवति–मासकल्पपरिसमाप्तौ ते कदाचित्तत्रैवायाताः स्युः, ततश्चैतेषां साधूनां पश्यत्ता–संदर्शनं भवतीति तत्रैव कार्यपरिसमाप्तिः स्यात्, तथा कदाचित्तत्र संखडी भवति, ततश्च भक्तं गृहीत्वा व्रजतः कालक्षेपो (न) भवति, शीघ्रं चाभीष्टं ग्रामं प्राप्नोति, तत्र वा प्रविष्टस्य श्राद्धः-श्रावकः कश्चिद्भवति, तद्गृहात्पर्युषितभक्त-मादाय व्रजति । एते प्रविष्टस्यैहिका गुणाः, अथेतरे 'परलोइआ' इति द्वारपरामर्शः, 'गिलाण'त्ति कदाचित्तत्र प्रविष्ट इदं शृणुयात् यदुतात्र ग्लान आस्ते, ततश्च परिपालनं कार्यं, परिपालने च कथं न पारलौकिका गुणा इति, 'जो गिलाणं पडियरइ से मं पडिअरति, जो मं पडिअरइ सो गिलाणं पडियरति'त्ति वचनप्रामाण्यात्, कदाचिद्वा तत्र चैत्यायतनं भवेत् तद्वन्दने पुण्यावाप्तिः स्यात्, वादी वा तत्पराजयश्च, प्रत्यनीको वा साध्वादेस्तत्र स्यात् तद्दर्शनाच्चासावुपशमं यायात्, एवंलब्धिसं-पन्नत्वात् । उक्तमैहिकपारलौकिकगुणद्वारम्, अथ पृच्छाद्वारं, तत्र विधिपृच्छा अविधिपृच्छा च, अविधिपृच्छाद्वारमाह—

अविही पुच्छा अत्थित्थ संजया नत्थि तत्थ समणीओ। समणीसु अ ता नत्थी संका य किसोरवडवाए ॥ ६४॥

अविधिपृच्छेयं, यदुतास्त्यत्र संयताः ?, ततोऽसौ पृच्छ्य एतां विशेषविषयां पृच्छां श्रुत्वाऽऽह-नास्त्यत्र संयताः, तत्र च श्रमण्यो विद्यन्ते तेन च ता न कथिताः, विशेषप्रश्नाकरणात्, 'समणीसु य'त्ति अथ श्रमणीः पृच्छति ततोऽसावाह–न सन्त्यत्र ताः, तत्र च श्रमणाः सन्तीति प्राग्वत् । शङ्का च श्रमणीपृच्छायां स्यात्, 'किशोरवडवान्यायात्' ॥

सड्ढेसु चरिअकामो संका चारी य होइ सड्ढीसुं । चेइयघरं व नत्थिह तम्हा उ विहीइ पुच्छेज्जा ॥ ६५ ॥

अथ श्रावकान् पृच्छति ततः परो विकल्पयति–चरितुकामोऽयं–भक्षयितुकामः, अथ 'सड्ढीसु'त्ति श्राविकाविषयायां

ग्रामप्रवेशः नि.६२-६३ पृच्छा नि.६४-६५

॥ ३९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||६५||

दीप अनुक्रम [१०३]

पृच्छायां शङ्का स्यात्, नूनमयं तदर्थी चरितुकामश्च। अथ चैत्यगृहमेव केवलं पृच्छति, ततस्तदभावे वर्गचतुष्टयभावे च तत्प्रभवगुणहानिः स्यात्, तस्माद्विधिना पृच्छेत्। तत्प्रतिपादनायाह—

गामदुवारब्भासे अगडसमीवे महाणमज्झे वा। पुच्छेज्ज सयं पक्खा विआलणे तस्स परिकहणा ॥ ६६ ॥

ग्रामद्वारे—ग्रामस्य निष्काशप्रवेशे स्थित्वा पृच्छेत्, अथवा 'अब्भासे'त्ति ग्रामाभ्यर्णे कूपसमीपे वा महाजनस्य समुदाये वा, कं ?–स्वकं पक्षं, किमत्रास्मत्पक्षोऽस्ति नेति ?, यदि परोऽजानन् पृच्छति–को भवतां स्वपक्षः ? इत्येवंविचारणे ततस्तस्याग्रे साधोः परिकथना स्यात्, पञ्चविधोऽस्मत्पक्षः–चैत्यगृहादि। उक्तं पृच्छाद्वारम्। ततः पृच्छासमनन्तरं यदि चैत्यगृहमस्ति ततस्तस्मिन्नेव गन्तव्यं, तत्र च कथं गन्तव्यम् ?, उच्यते—

निस्संकिअ थूभाइसु काउं गच्छेज्ज चेइअघरं तु। पच्छा साहुसमीवं तेऽवि अ संभोइया तस्स ॥ ६७ ॥

पुवद्धं कंठं। अथ साहम्मिअद्वारमाह–'पच्छा साहुसमीवं'ति चैत्यगृहान्निर्गत्य पश्चात्साधुसमीपं याति, 'तेऽपि' साधवः साम्भोगिकाः 'तस्य' साधोः, चशब्दादन्यसाम्भोगिका वा। तत्र यदि साम्भोगिकास्ततः का सामाचारी ?, इत्याह—

निक्खिविउं किइकम्मं दीवणऽणाबाह पुच्छण सहाओ। गेलण्ण विसज्जणया अविसज्जुवएस दावणया ॥ ६८ ॥

'निक्षिप्य' विमुच्य साधुहस्ते, किम् ?, उपकरणं–पात्रकादि, ततः 'कृतिकर्म' वन्दनं करोति, ततश्च 'दीवणं'ति आगमनकार्याविर्भावनं करोति 'अणाबाहं'त्ति, अनाबाधा यूयम् ?, एवं पृष्टे सति तेऽप्याहुः–अनाबाधा वयमिति। 'पुच्छण'त्ति ततः साधुरेवमाह–भवद्दर्शनार्थमहं प्रविष्टो ग्राममिदानीं व्रजामीत्येवं पृच्छति, ततस्तेऽपि साधवो यद्यस्ति सहायस्तं दत्त्वा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ४० ॥

प्रेषयन्ति, अथ तत्र कश्चिद् ग्लानस्तत एवं ब्रवीति–अहमेनं ग्लानं परिचरामीति, ततस्तेऽप्याहुः–विद्यन्त एव परिचारकाः, एवमभिधाय 'विसज्जण'न्ति तं साधुं 'विसर्जयन्ति' प्रेषयन्ति वयमेव भलिष्याम इति । अथ न विसर्जयन्ति, एतच्च ब्रुवते–सर्वमत्र ग्लानप्रायोग्यमौषधादि लभ्यते, किन्तु तत्संयोजनां न जानीमः, ततः स उपदेशं ददाति–इदमौषधमनेन संयोज्य देयमिति, अथ त एवं ब्रुवते–औषधान्येवात्र वयं न लभामहे ततः स साधुर्दापयत्यौषधानि, याचयति वा पाठान्तरं, एवमसावौषधानि दापयित्वा व्रजति, अथ त एवमाहुः–औषधसंयोजनां न जानीमो न च लभामहे, तत एष साधुरौषधानि याचित्वा संयोज्य ग्लानाय दत्त्वा मनाक् प्रशान्ते व्याधौ सति व्रजति । अथ त एवमाहुर्गच्छन्तं साधुम्—

पुणरवि अयं खुभिज्जा अयाणगा मो स वा भणिज्ज संचिक्ख। उभओऽवि अयाणंता वेज्जं पुच्छंति जयणाए ॥६९॥

पुनरप्ययं व्याधिः क्षोभं यायात्–प्रकुप्येत्, वयं च न जानीम उपशमयितुं, स च ग्लान एवं ब्रूयात्–त्वया तिष्ठता अहमचिरात्प्रगुणीभवामि, ततः 'संचिक्खे'त्ति संतिष्ठति । अथोभावपि तावागन्तुकवास्तव्यौ न जानीतः क्रियां कर्तुं, तत उभावपि अजानन्तौ वैद्यं पृच्छतः, कथं ?–'यतनया' अनन्तरगाथावक्ष्यमाणयेति । सा चैवम्—

गमणे पमाण उवगरण सउण वाचार ठाण उवएसो। आपण गंधुदगाई उट्ठमणुट्ठे अ जे दोसा ॥ ७० ॥

यदि ग्लानो गन्तुं पारयति तत उत्सर्गेण स एव नीयते, अथ न पारयति ततोऽन्ये साधवो वैद्यसकाशे गमनं कुर्वन्ति, 'पमाणे'त्ति कियत्प्रमाणैर्गन्तव्यं ?, तत्रैकेन न गन्तव्यं यमदण्डपरिकल्पनात्, न द्वौ यमपुरुषपरिकल्पनात्, न चत्वारो वाहीकपरिकल्पनात्, अतस्त्रिपञ्चसप्तभिर्गन्तव्यं, उक्तं प्रमाणं, 'उवगरणे'त्ति शुक्लवासोभिर्यातव्यं, न कृष्णमलिनादिभिर्या-

पृच्छा नि. ६६ प्रवेशः नि. ६७ ग्लानवैयावृत्त्यं नि.६८-७०

॥ ४० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'ग्लान-वैयावच्च' संबंधी सामाचारी

तव्यं, उक्तमुपकरणं, 'सउण'त्ति शकुनेषु सत्सु गन्तव्यं, ते चामी 'नन्दीतूर'मित्यादयः, अपशकुनेषु न गन्तव्यं, ते चैते– मइलकुचेलादयः, उक्तं शकुनद्वारं, 'वावार'त्ति यद्यसौ वैद्यो भुङ्क्ते एकलशाटको वा छिन्दन् किञ्चिदास्ते भिन्दन्वा ततो न प्रष्टव्यः, अथ ग्लानस्यापि गण्डकादि छेत्तव्यं ततोऽस्मिन्नैव प्रष्टव्यः, उक्तो व्यापारः, 'ठाण'त्ति यद्युत्कुरुटिकादौ तुषरा-ख्यादौ स्थितस्ततो न प्रष्टव्यः, किं तर्हि ?, शुचिप्रदेशे स्थित इति, उक्तं स्थानं, 'उवएस'त्ति एवमसौ यतनया पृष्टो यमुप-देशं ददाति–द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च सोऽवधारणीयः, तत्र द्रव्यतः शाल्योदनं पारिहट्टं च खीरं क्षेत्रतो निर्वाता वसतिः कालतः पौरुष्यां देयं भावतो नास्य प्रतिकूलव्यवहारिभिर्भाव्यं, उक्त उपदेशः, अथ स वैद्य एवं ब्रूयात्–पश्यामि तावत्तमिति, ततः स वैद्यस्तत्समीपमानीयते, न च ग्लानस्तत्र नेयः, किं कारणं ?, वैद्यसमीपे नीयमाने उत्क्षिप्ते लोकः कदा-चिदेवं ब्रूयात्–यथा नूनमयं मृत इत्यपशकुनः, मूर्च्छा वा भवेद्विपत्तिर्वा वैद्यगृहे स्यादिति, आगच्छति च वैद्ये किं कर्त्तव्यं ?, गन्धोदकादिभिर्गन्धवासाः सन्निहिताः क्रियन्ते, तदानार्थमुदकमृत्तिकया विलेपनादि क्रियते । वैद्ये चागच्छति सूरिणा किं कर्त्तव्यमित्याह–'उट्ठमणुट्ठे अ जे दोस'त्ति यद्यसावाचार्यो वैद्यस्यागतस्योत्तिष्ठति ततो लाघवदोषः, अथ नाभ्युद्गतिमा-दत्ते ततः स्तब्ध इतिकृत्वा कोपं गृहीत्वा प्रतिकूलः स्यात्, तस्मादेतद्दोषपरिजिहीर्षयाऽनागतमेवोत्थाय प्राङ्गणे परिष्वष्कमाण-स्तिष्ठतीति। उक्तमुत्थितानुत्थितद्वारं, कियन्तं पुनः कालं तेन साधुना तस्य ग्लानस्य परिचरणं कर्त्तव्यमित्याह—

पढमावियारजोगं नाउं गच्छे विइज्जए दिण्णे। एमेव अण्णसंभोइयाण अण्णाइ वसहीए ॥ ७१ ॥

'पढम'त्ति यावत् प्रथमालिकां करोति तां चात्मनः स्वयमेवानयितुं समर्थः संवृत्तः, 'वियारजोग्गं'ति बहिर्भूमिगमनयोग्यो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-नियुक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ४१ ॥

जात इति, एवं ज्ञात्वा गच्छेत्, कथं ?, द्वितीये सहाये दत्ते सति, अथ नास्ति सहायस्तत एक एव व्रजति। एष तावत्साम्भोगिकान् प्राप्य विधिरुक्तः, इदानीमसाम्भोगिकविधिमतिदिशन्नाह–एवमेवान्यसाम्भोगिकग्लानस्य विधिः, किन्तु 'अण्णाए वसहीए'त्ति अन्यस्यां वसतौ व्यवस्थितेन ग्लानपरिचरणाविधिः कार्यः, अयमपरो विशेषः–असाम्भोगिकसकाशं प्रविशता तदनाक्रान्ते भूप्रदेशे निक्षिप्योपकरणं ततः कृतिकर्मादि साम्भोगिकेष्विव सर्वं कर्त्तव्यमिति, तदनाक्रान्तभूभागे चोपकरणं स्थापयति, मा भूच्छिक्षकाणां तत्सामाचारीदर्शनेऽन्यथाभावः स्यादिति। एवं तावत्साम्भोगिकबहुमध्यगतस्य ग्लानस्य विधिः, अन्यसाम्भोगिकबहुमध्यगतस्याप्येष एव विधिर्द्रष्टव्यः। इदानीमेकैकस्य साम्भोगिकस्येतरस्य च विधिमाह—

एगागि गिलाणंमि उ सिट्ठे किं कीरई ? न कीरई वावि। छगमुत्तकहणपाणगधुवणत्थर तस्स नियगं वा ॥ ७२ ॥

एवमसौ गच्छन् ग्रामाभ्यासे कस्मादपि पुरुषादिदं शृणुयात्–किं भवता ग्लानप्रतिजागरणं क्रियते उत न ?, ततश्चैवमेकाकिनि ग्लाने 'शिष्टे' कथिते सति क्रियते न क्रियते? इत्युक्ते परेण सति साधुरप्याह–सुष्ठु क्रियते, पर आह–यद्येवं 'छगमुत्तकहण'त्ति छगं–पुरीषं मूत्रं–प्रतीतं, ताभ्यां विलिप्त आस्ते, एवं कथिते सति स साधुर्बहिर्भूमेरेव 'पाणग'त्ति पानकं गृहीत्वा प्रविशति, प्रविष्टश्च 'धुवण'त्ति 'तस्य' ग्लानस्य धावनं करोति–प्रक्षालनं विदधाति, उपधिश्च 'अत्थरण'त्ति आस्तरणं करोति 'तस्स'त्ति तदीयैरेव चीवरैः, अथ तस्यान्यानि न सन्ति ततः 'नियगं व'त्ति निजैरेव चीवरैरास्तरणं करोतीति। तथा चाह—

सारवणं साहल्लय पागडधुवणे सुई समायारा। अहिंबिभले समाही सहुस्स आसासपडिअरणं ॥ ७३ ॥

सारवणं–निष्क्रियं तस्मिन् निष्क्रिये ग्लाने कृते सति, अथवा 'सारवणे'त्ति संमार्जिते प्रतिश्रये ग्लानसंबन्धिनि सति

वैयावृत्त्यं नि.७१-७३

॥ ४१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परः पृच्छति–तवायं केन संबन्धेन संबद्ध इति, साधुराह,–कत्थइ कहिंचि जोंता, एवमादि, ततः पर आह–'साहल्लय'त्ति, सफलता धर्मस्य, यददृष्टेऽपि परभवबन्धाविव क्रिया क्रियते, 'पायडधुवणे'त्ति प्रकटं ग्लानस्योपधेर्वा क्षालनं कर्त्तव्यं, प्रकट-क्षालने च लोक एवमाह, शुचिसमाचारा एते श्रमणा इति, अथासौ ग्लानोऽतिविह्वलः स्याद्–अतीव दुःखेन करालितः स्यात्ततः 'समाहि'त्ति यथा प्रार्थितं भोजनादि दातव्यं येन स्वस्थचित्तो भवति, स्वस्थीभूतश्चाभिधीयते–यथाकालं कुरु-ष्वेति । अथासौ सहः–समर्थस्ततश्चाश्वास्यते–न भेतव्यं अहं त्वां प्रतिजागरामीति । ततश्च—

सयमेव दिट्ठपाढी करेइ पुच्छइ अयाणओ वेज्जं । दीवण दवाइंमि अ उवएसो जाव लंभो उ ॥ ७४ ॥

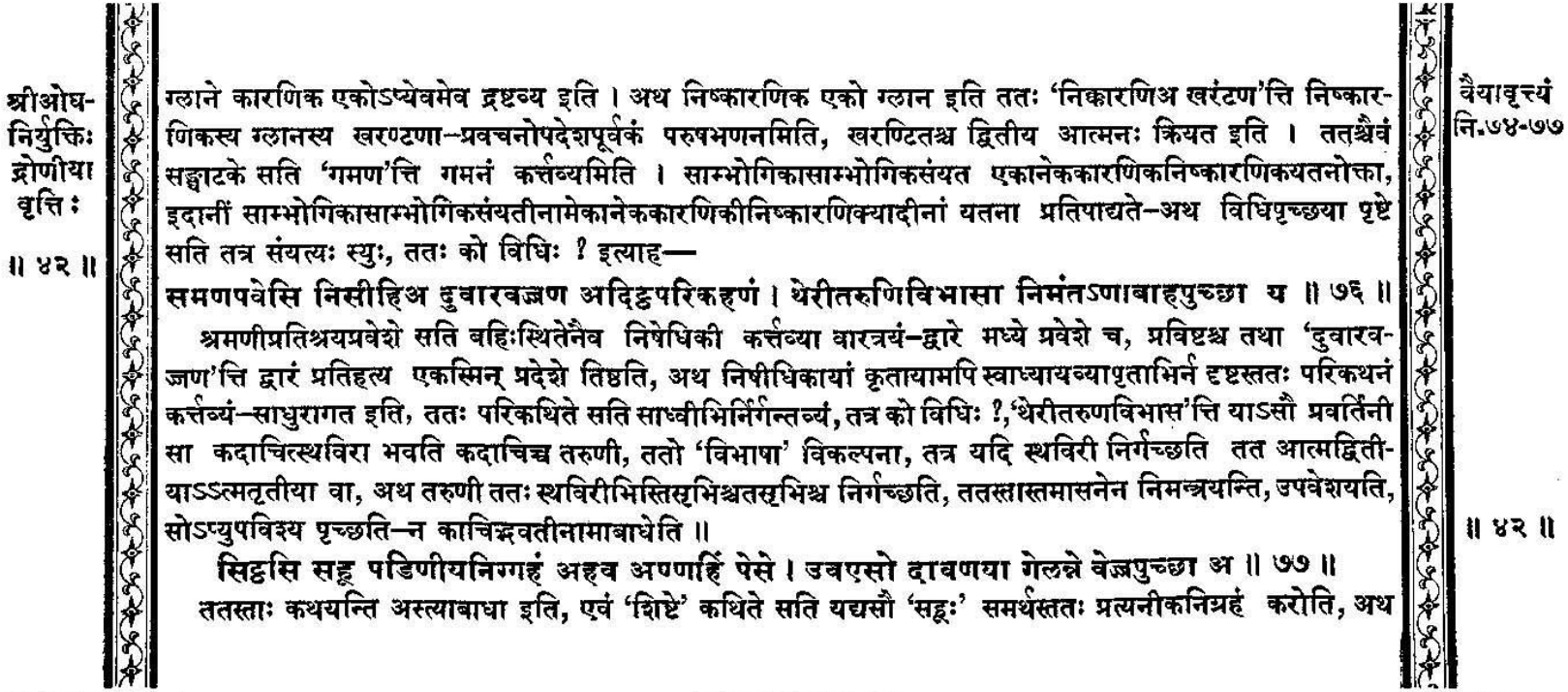
यद्यसौ साधुः 'दृष्टपाठी' दृष्टः–उपलब्धश्चरकसुश्रुतादिर्येन स दृष्टपाठी, अथवा 'दिट्ठ'त्ति वैद्यवद्दृष्टक्रियः क्रियाकुशलः, पाठीति सकलं वाहडादि पठति स एवंविधः स्वयमेव क्रियां करोति । अथासौ दृष्टपाठी न भवति ततः पृच्छति अज्ञः सन् वैद्यं, 'दीवण'त्ति वैद्यशालां गतः प्रकाशयति, यदुताहं कारणेनैककः संजातः, अतो निमित्तं न ग्राह्यं, 'दवादिंमि य'त्ति द्रव्यादिचतुष्टयोपदेशे सति तत्र द्रव्यतः प्रासुकमप्रासुकं वा क्षेत्रतः क्रीतकडा अक्रीतकडा वा वसही, कालतः प्रथमपौ-रुष्यामुपदिष्टं तस्यां च यदा प्रासुकं न लभ्यते तदाऽप्रासुकमपि क्रियते, भावतः समाधिः कर्त्तव्या प्रासुकाप्रासुकैरिति ॥

कारणिअ हट्ठपेसे गमणणुलोमेण तेण सह गच्छे । निक्कारणिअ खरंटण बिइज्ज संघाडए गमणं ॥ ७५ ॥

एवमसौ ग्लानो यदि कारणिको भवति, ततः 'हट्ठ'त्ति दृढीभूतः 'पेसे'त्ति प्रेषणीयः, अथ ग्लानस्याप्यनुकूलमेव गन्तव्यं भवति ततः 'गमणणुलोमेण' हेतुना तेन ग्लानेन सह गच्छेत्, उक्तः साम्भोगिकः ग्लान एकः कारणिकः, असाम्भोगिकः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः



श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ४२ ॥

ग्लाने कारणिक एकोऽप्येवमेव द्रष्टव्य इति । अथ निष्कारणिक एको ग्लान इति ततः 'निक्कारणिअ खरंटण'त्ति निष्कारणिकस्य ग्लानस्य खरण्टणा–प्रवचनोपदेशपूर्वकं परुषभणनमिति, खरण्टितश्च द्वितीय आत्मनः क्रियत इति । ततश्चैवं सङ्घाटके सति 'गमण'त्ति गमनं कर्त्तव्यमिति । साम्भोगिकासाम्भोगिकसंयत एकानेककारणिकनिष्कारणिकयतनोक्ता, इदानीं साम्भोगिकासाम्भोगिकसंयतीनामेकानेककारणिकीनिष्कारणिक्यादीनां यतना प्रतिपाद्यते–अथ विधिपृच्छया पृष्टे सति तत्र संयत्यः स्युः, ततः को विधिः ? इत्याह—

समणपवेसि निसीहिअ दुवारवज्जण अदिट्ठपरिकहणं । थेरीतरुणिविभासा निमंतऽणाबाहपुच्छा य ॥ ७६ ॥

श्रमणीप्रतिश्रयप्रवेशे सति बहिःस्थितेनैव निषेधिकी कर्त्तव्या वारत्रयं–द्वारे मध्ये प्रवेशे च, प्रविष्टश्च तथा 'दुवारवज्जण'त्ति द्वारं प्रतिहत्य एकस्मिन् प्रदेशे तिष्ठति, अथ निषीधिकायां कृतायामपि स्वाध्यायव्यापृताभिर्न दृष्टस्ततः परिकथनं कर्त्तव्यं–साधुरागत इति, ततः परिकथिते सति साध्वीभिर्निर्गन्तव्यं, तत्र को विधिः ?,'थेरीतरुणविभास'त्ति याऽसौ प्रवर्तिनी सा कदाचित्स्थविरा भवति कदाचिच्च तरुणी, ततो 'विभाषा' विकल्पना, तत्र यदि स्थविरी निर्गच्छति तत आत्मद्वितीयाऽऽत्मतृतीया वा, अथ तरुणी ततः स्थविरीभिस्तिसृभिश्चतसृभिश्च निर्गच्छति, ततस्तास्तमासनेन निमन्त्रयन्ति, उपवेशयति, सोऽप्युपविश्य पृच्छति–न काचिद्भवतीनामाबाधेति ॥

सिट्ठसि सहू पडिणीयनिग्गहं अहव अण्णहिं पेसे । उवएसो दावणया गेलन्ने वेज्जपुच्छा अ ॥ ७७ ॥

ततस्ताः कथयन्ति अस्त्याबाधा इति, एवं 'शिष्टे' कथिते सति यद्यसौ 'सहूः' समर्थस्ततः प्रत्यनीकनिग्रहं करोति, अथ

वैयावृत्त्यं नि.७४-७७

॥ ४२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निग्रहसमर्थो न भवति ततोऽन्यत्र प्रेषयति, अथ तत्र काचिद् ग्लाना तत उपदेशं ददाति, एवमेतदौषधादि दातव्यमस्याः। अथ तास्तत्र लभन्ते ततः 'दावण'त्ति असावेव दापयति, ग्लानत्वे सत्ययं विधिः। अथासौ स्वयं न जानाति औषधादि दातुं ततो वैद्यं पृच्छति ॥

तह चेव दीवण चउक्कएण अन्नत्थवसहि जा पढमा। तह चेवेगाणीए आगाढे चिलिमिली नवरं ॥ ७८ ॥

कथं वैद्यं पृच्छति ?, 'तथैव' प्राग्वत् 'दीवण'त्ति प्रकाशनं कारणिकोऽहमेकाकी नापशकुनबुद्ध्या ग्राह्यः, 'चउक्कएणं'ति वैद्येन द्रव्यादिचतुष्के कथिते सति यतना पूर्ववत्कर्त्तव्या, 'अण्णत्थवसहि'त्ति अन्यवसतिव्यवस्थितेन प्रतिजागरणं कर्त्तव्यं, कियन्तं कालं यावदत आह–'जा पढमा' यावत्प्रथमालिकानयनक्षमा संवृत्तेति ततो गच्छति। एवं तावद्बहूनां मध्ये एकस्या ग्लानविधिरुक्तः, इदानीमेकाकिन्या ग्लानविधिमतिदिशन्नाह–'तह चेवेगाणीए' 'तथैव' प्राग्वदेकाकिन्या ग्लानायाः प्रतिचरणविधिः, एतावांस्तु विशेषः–यदुतागाढे–अतीवापटुतायामेकस्मिन्नाश्रये 'चिलमिलि'त्ति यवनिकाव्यवधानं कृत्वा नवरं-केवलं प्रतिचरणमसौ करोति ॥

निक्कारणिअं चमढण कारणिअं नेइ अहव अप्पाहे। गमणित्थि मीससंबंधिवज्जए असइ एगागी ॥ ७९ ॥

यदि निष्कारणिकाऽसौ भवति ततः 'चमढण'त्ति प्रवचनोक्तैर्वचनैः खिंसनं करोति, अथासौ कारणिका ततस्तां स्वयमेव नयति, 'अहव अप्पाहे'त्ति अथवा तद्गुरोस्तत्प्रवर्त्तिन्या वा एवं संदिशति–यथैतामात्मसकाशे कुरुत, स्वयं च नयतः को विधिरत आह–'गमणित्थिमीससंबंधिवज्जए असइ एगागी' गमणं कायवं इत्थीहिं सह, ताओवि जइ संबंधिणीओ होंति,

ओ० ८

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः ॥ ४३ ॥

तदभावे मीसेहिं–इत्थीपुरिसेहिं संबंधीहिं सह गन्तव्वं, तदभावे असंबंधिणीहिं इत्थीहिं, तदभावे पुरिसित्थिमीसेणं (अ)संबंधेणं, तदभावे संबंधिपुरिसेहिं, तदभावे असंबंधिपुरिसेहिं, तदभावे–असंबंधे वर्जिते असति अन्नस्स उवायस्स एगागिणिं णेति ॥ इदानीं चतुर्द्धामप्युक्तयतनामुपसंजिहीर्षुराह—

एगबहूसमणुण्णाण वसहीए जो अ एगअमणुन्नो । अमणुन्न संजईण य अण्णहि एक्कं चिलिमिलीए ॥ ८० ॥

एतदुक्तं भवति–एगो समणुन्नो जे अ बहू समणुन्ना जो अ एगो असमणुन्नो एयाणं एगाए चेव वसहीए पडियरणं कायवं, 'अमणुण्ण'त्ति जे अ बहू अमणुन्ना संजया तेसिं ण एकाए वसहीए ठितेहिं पडियरणं कायवं 'संजईण य'त्ति संजईण य संभोइयाणं अण्णसंभोइयाण य बहूणं अण्णाए वसहीए ठिओ पडियरइ । 'एक्कं'ति एकां पुनर्ग्लानामाश्रित्य 'चिलिमिलीए' यवनिकाव्यवधानं कृत्वा एकस्यामेव वसतौ प्रतिजागरणं करोति । द्रव्यादियतना च सर्वत्रानुगता द्रष्टव्या । "एहिअपारत्तगुणा दोण्णि अ पुच्छा दुवे अ साहम्मी"त्यादि प्रतिद्वारगाथा व्याख्याता, तद्व्याख्यानाच्च व्याख्यातं पढमगिलाणं दुवारं । अथ द्वितीयग्लानप्रतिपादनायाह—

विहिपुच्छाऍ पवेसो सण्णिकुले चेइ पुच्छसाहम्मी । अन्नत्थ अत्थि इह ते गिलाणकज्जे अहिवडंति ॥ ८१ ॥

एवं तस्य व्रजतः पूर्ववद्विधिपृच्छायां सत्यां परेणाख्यातं,–यदुतास्ति श्रावकस्ततः 'पवेसो'त्ति प्रवेशं करोति, क ?–सञ्ज्ञिकुले 'चेइय'त्ति यदि तस्मिन् सञ्ज्ञिकुले चैत्यानि ततस्तद्वन्दनां करोति । ततः 'पुच्छ'त्ति पृच्छति तान् श्रावकान्–शोभना यूयं शीलव्रतैः ?, 'अहवा पुच्छा साहम्मिअ'त्ति साधुस्तत्र प्रविष्टः पृच्छति–किमिह साधर्मिकाः सन्ति उत न ?, तत्राह

वैयावृत्त्यं नि.७९-८० ८१

॥ ४३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रावकः–'अन्नत्थ अत्थि' अन्यत्र–आसन्नग्रामे विद्यन्ते, ते चेह 'ग्लानकार्ये' ग्लाननिमित्तं 'अहिवडंति' आगच्छन्ति प्रायोग्यभक्तादिग्रहणार्थमिति । ततश्च स साधुस्तस्माद्व्रजति, व्रजन्तं वा साधुं भोजनादिनाऽऽमन्त्रयति श्रावकः–भगवन् ! प्रथमालिकामादाय व्रज ॥ एवं चाभिहितः स किं करोतीत्याह—

सव्वंपि न घेत्तव्वं निमंतणे जं तहिं गिलाणस्स । कारणि तस्स य तुज्झ य विउलं दव्वं तु पाउग्गं ॥ ८२ ॥

'सर्वं' अशेषं प्रायोग्यमप्रायोग्यं वा न ग्राह्यं श्रावकनिमन्त्रणे सति, 'जं तहिं गिलाणस्स'त्ति यस्मात्तत्र ग्लानस्य गृह्यते अतो न ग्राह्यम्, ततः श्रावकः पुनरप्याह–'कारणि तस्स य तुज्झ य विउलं दव्वं तु पाउग्गं'ति, 'तस्य' ग्लानस्य 'कारणे' ग्लाननिमित्तं तव च कारणे तव निमित्तं 'विपुलं' प्रभूतं द्रव्यं शाल्योदनादि प्रायोग्यमस्त्यतो गृह्यतामिति । ततश्चासौ श्रावकस्योपरोधेन गृहीत्वा व्रजति ।

जाएँ दिसाएँ गिलाणो ताएँ दिसाएँ उ होइ पडियरणा। पुव्वभणिअं गिलाणो पंचण्हवि होइ जयणाए ॥ ८३ ॥

यया दिशा ग्लानस्तिष्ठति तया दिशा 'पडिअरण'त्ति प्रतिपालनां करोति साधूनां, अथवा 'पडिअरण'त्ति निरूवणं–आलोचनं तस्य श्रावकदानस्य करोति, तच्च परीक्षणं ग्लानप्रतिचारकसाधुदर्शने सति भवति अत उक्तं–यया दिशा ग्लानस्तया दिशा 'पडिअरणं'ति पुव्वभणिअं 'गिलाणे'त्ति पूर्वभणितो ग्लानविषयो विधिर्द्रष्टव्यः साम्भोगिकासाम्भोगिकस्य ग्लानस्य, किमस्यैव प्रतिचरणं कर्त्तव्यं ?, नेत्याह–'पंचण्हवि होति जयणाए' पञ्चानामपि–पासत्थोसण्णकुसीलसंसत्तणितिआणं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-नियुक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ४४ ॥

यतनया–प्रासुकान्नपानेन कर्त्तव्यं प्रतिजागरणमिति, अपिशब्दान्निह्नवका देवकुलप्रतिपालकाश्च गृह्यन्ते । इयं निर्युक्तिगाथा, एतां च भाष्यकृद्व्याख्यानयन्नाह—

तेसि पडिच्छण पुच्छण सुट्ठुकयं अत्थि नत्थि वा लंभो। खग्गूडे विलओलणदाणमणिच्छे तहिं नयणं ॥३५॥ (भा०)

'तेसि पडिच्छण'त्ति 'तेषां' ग्लानप्रतिजागरकसाधूनां प्रतिपालनां करोति, यया दिशा ते साधव आगच्छन्ति, 'पुच्छण'त्ति ततस्तान् साधून् दृष्ट्वा पृच्छति–एतन्ममामुकेन श्रावकेण दत्तं यदि ग्लानप्रायोग्यं ततो गृह्यतामिति, एवमुक्ते तेऽप्याहुः 'सुट्ठुकयं अत्थि'त्ति सुष्ठु कृतं श्रावकेण अस्ति ग्लानप्रायोग्यं तत्रान्यदपि त्वमेवेदं गृहाण, 'नत्थि व'त्ति अथवा एवं भणन्ति–नास्ति तत्रेदं द्रव्यं किन्त्वन्यत्र लाभो भविष्यति, त्वमेव गृहाणेदम् । अथ ते 'खग्गूडि'त्ति निर्धर्मप्रायास्तत एवमाहुः 'विडओ-लण'त्ति धाडिरेव निपतिता ततस्तद्द्रव्यं साधुः सकलं ददाति–समर्पयति, तेऽपि च रुषा नेच्छन्ति ग्रहीतुं, ततश्चासौ 'नयणं'ति ग्लानसमीपे तस्य द्रव्यस्य नयनं करोति ॥ इदानीं यद्यसौ समर्थस्ततश्च गच्छत्येव, अथासमर्थस्ततः—

पंतं असहू करित्ता निवेयणं गहण अहव समणुन्ना। खग्गूड देहि तं चिअ कमढग तस्सप्पणो पाए ॥३६॥ (भा०)

'प्रान्तं' नीरसप्रायं 'असहू' असमर्थः–क्षुत्पीडितः 'करेत्ता' अभ्यवहृत्य व्रजति । ततश्च तत्र प्राप्तः सन् निवेदनं करोत्या-चार्याय, सोऽप्याचार्यो ग्लानार्थं 'गहण'त्ति ग्रहणं करोति, कस्य ?, द्रव्यस्य, अथवा 'समणुण्ण'त्ति तस्यैव साधोरनुज्ञां करोति, यदुत–भक्षयेदं, ग्लानस्यान्यदपि भविष्यति । अथासावाचार्यः 'खग्गूडो' शठप्रायो भवेत्तत इदं वक्ति–'देहि तं चिअ' त्वमेव ग्लानाय प्रयच्छ, किं ममानेन ?, एवं चोक्तस्तेनाचार्येण गत्वा ग्लानसमीपं 'कमढग तस्स'त्ति तदीयके कम-

वैयावृत्त्यं नि.८२-८३ वैयावृत्त्य-विधिः भा. ३५-३६

॥ ४४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ढक्के ददाति, अथ तस्य तन्नास्ति, ततः 'अप्पणो पाए' आत्मीये पात्र एव ददाति, ततश्च पुनरप्याचार्यसमीपं व्रजति, गत्वा इदं ब्रवीति—

किं कीरउ ? जं जाणसि अतरंति सढेत्ति वच्च तं भंते !। निद्धम्मा न करेंती करणमणालोइयसहाओ ॥३७॥ (भा०)

हे आचार्य ! ग्लानस्य किमन्यत्क्रियते ?, आचार्योऽप्याह–'जं जाणसि'त्ति यज्जानासि तदेव कुरु, पुनश्चासौ ग्लानसमीपं गच्छति, 'अतरंतो'त्ति ग्लानोऽपि वक्ति–भगवन् ! शठास्ते य एवं त्वां खलीकुर्वन्ति, व्रज भदन्त ! अस्ति मे परिचारकाः, एवं चोक्ते व्रजति । 'निद्धम्मा न करेंती' अथासौ ग्लान एवमाह–यदुतैते निर्द्धर्मा मम न परिचेष्टां कुर्वन्ति, ततश्चासौ साधुः 'करणं'ति वैयावृत्त्यं करोति, पुनश्चासौ साधुस्तं ग्लानसमीपमेवं ब्रवीति–'अणालोइय'त्ति अमीषां निर्द्धर्माणां मध्येऽनालोचिताप्रतिक्रान्तं कथञ्चिदेव त्वं नष्ट इति, अत एवमभिधाय तमात्मसहायं कृत्वा प्रयाति ॥ यदा तु पुनः—

उभओ निद्धम्मेसुं फासुपडोआर इयरपडिसेहो। परिमिअदाण विसज्जण सच्छंदोद्धंसणागमणं ॥ ३८ ॥ (भा०)

'उभओ निद्धम्मेसु' इति यदा ग्लानः शेषसाधवश्च निर्द्धर्मास्तदा कथं परिचरणां करोतीत्याह–'फासुपडोआर' प्रासुकेनान्नपानेन परिपालनं करोति 'इतर' इति अप्रासुकं तस्य निषेधः, तेन न क्रियां करोतीत्यर्थः । 'परिमिअदाण'त्ति परिमितं–स्वल्पं ददाति येनासौ निर्विण्णः प्रेषयति, ततः 'विसज्जण'त्ति निर्विण्णः सन् विसर्जयति, गच्छंश्च स साधुः 'सच्छंदोद्धंसण'त्ति सच्छन्दस्त्वमित्येवं 'उद्धंसनां' उद्धुलनाम्–आक्रोशं करोति, ततो 'गमणं'ति गच्छति । परियरणा वक्खाणिआ, 'पुव्वभणिअं गिलाणे'त्ति एतदपि व्याख्यातम् । अथ 'पंचण्हवि होति जयणाए'त्ति, एतत्पदं व्याचिख्यासुराह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||३९||

दीप अनुक्रम [१२६]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः ॥ ४५ ॥

एस गमो पंचण्हवि होइ नियाइण गिलाणपडियरणे ।
फासुअकरणनिकायण कहण पडिक्कामणागमणं ॥ ३९ ॥ (भा०)

'एष गमः' एष परिचरणविधिः 'पंचण्हवि' पञ्चानामपि, केषामत आह–'नियाईणं' आदिशब्दात् पासत्थोसण्णकुसीलसंसत्ताणं, 'गिलाणपडिअरणे'त्ति ग्लानप्रतिचरणे एष विधिः–'फासुअकरण'त्ति यदुत प्रासुकेन भक्तादिना प्रतिचरणं कार्यं, 'निकायण'त्ति निकाचनं करोति, यदुत दृढीभूतेन त्वया यदहं ब्रवीमि तत्कर्त्तव्यम् , 'कहण'त्ति धर्मकथायां, यद्वा 'कहण'त्ति लोकस्य कथयति–किमस्य प्रव्रजितस्य शक्यतेऽशुद्धेन कर्तुम् ? । 'पडिकामण'त्ति यद्यसौ ग्लानः प्रतिक्रामति तस्मात्स्थानाच्चिवर्त्तत इतियावत् ततः स्थानात् 'गमण'त्ति तं ग्लानं गृहीत्वा गमनं करोति ॥ अथ यदुक्तं 'पंचण्हवि होति जयणाए'त्ति अत्रापिशब्द आस्ते तदर्थमादर्शयन्नाह—

संभावणेऽविसद्दो देउलिअखरंटयजयण उवएसो ।
अविसेस निण्हगाणवि न एस अम्हं तओ गमणं ॥ ४० ॥ (भा०)

संभावनेऽपिशब्दः, किं संभावयति ?–'देउलिअ'त्ति देवकुलपरिपालका वेषमात्रधारिणस्तेऽपि ग्लानाः सन्तः परिचरणीयाः, 'खरंटण'त्ति तेषां देवकुलिकानां खिंसनां करोति, यदुत धर्मे उद्यमं कुरुत, 'जयण'त्ति यतनया कर्त्तव्यं यथा संयमलाञ्छना न स्यात् । 'उवएसो'त्ति उपदेशं च क्रियाविषयं ददाति । 'अविसेस'त्ति, न यस्मिन् विषये साधुनिह्नावकविशेषो ज्ञायते तस्मिन् 'निण्हगाणंपि' निण्हावकानामपि यतनया परिचरणं करोति । अथ निह्नवकग्लान एवं ब्रूयात् 'न

वैयावृत्य-विधिःभा. ३७-४०

॥ ४५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एस अम्हं'ति योऽयं प्राघूर्णक आयातो नैषोऽस्मज्जातीय इति ततो गमनं करोति स साधुरिति। अथासौ निण्हावकादिरेवमभिदध्यात्—

तारेहि जयणकरणे अमुगं आणेहऽकप्प जणपुरओ। नवि एरिसया समणा जणणाएँ तओ अवक्कमणं ॥४१॥ (भा०)

भगवंस्तारय मामस्मान्मान्द्यात् ततः 'जयणकरणं'ति यतनया प्रतिचरणं करोति। अथासौ निण्हवकग्लान एवं ब्रूयात्—'अमुकं आणेहि'त्ति 'अमुकं' बीजपूरादि आनय, तत एवं वक्तव्यं—'अकप्प जणपुरओ'त्ति अकल्पनीयमेतदित्येवं जनपुरतः प्रत्याख्यापयति, एतच्च स साधुर्वक्ति—नवि एरिसगा समणा, एवं जनेन—लोकेन तयोर्भेदे ज्ञाते सति ततोऽसावपक्रामति—गच्छति तस्मात्स्थानात्। एवं प्रतिपादिते विधौ चोदक आह—

चोअगवयणं आणा आयरिआणं तु फेडिआ तेणं। साहम्मिअकज्जबहुत्तया य सुचिरेणवि न गच्छे ॥४२॥ (भा०)

चोदकस्य वचनं चोदकवचनं, किं तदित्याह—आज्ञा आचार्याणां संबन्धिनी अपनीता—विनाशिता ततो यतः साधर्मिककार्यप्रभूततया सुचिरेणापि न गच्छेत्—न यायाद्विवक्षितं स्थानमिति। अत आचार्य आह—

तित्थगराणा चोयग ! दिट्ठंतो भोइएण नरवइणा। जत्तुग्गय भोइअदंडिए अ घरदार पुव्वकए ॥ ४३ ॥ (भा०)

तीर्थकराणामियमाज्ञा हे चोदक !—यदुत ग्लानप्रतिजागरणं कर्त्तव्यं, "जो गिलाण"मित्यादिवचनात्, अत्र दृष्टान्तो ग्रामभोगिकनरपतिसंबन्धी। जहा कोइ राया जत्ताए उज्जओ, तेण य आणत्तं, अमुकगामे पयाणयं देसामित्ति तत्थावासे करेहित्ति, ताहे गतो गोहो, जस्सवि भोइअस्स सो गामो तेणवि कहिअं, ममवि करेह घरंति, ताहे गामेल्लया चिंतंति—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ४६ ॥

राया एगदिवसं एहिति, ता किं रण्णो सचित्रकर्मोज्ज्वलसुन्दरगृहेण?, एवं तेहिं रण्णो कायमाणं कयं,भोइअस्स उ रम्मं चाउस्सालं निम्मविअं । राया आगतो पेच्छति कयवंदणमालादिशोभिअं भोइयगिहं चाउस्सालं, ततोहितो पहाविंतो, ततो तेहिं भणिअं–भगवंत! एस तुम्हमावासो, इमो तुज्झंति, ता कस्स एसो?, भोइयस्स, ततो रण्णा रुट्ठेण भोइयस्स गामो हडो गामोवि दंडिओ।एत्थवि जहा भोइओ तहा आयरिआ, जहा नरवई तहा तित्थयरो, जहा कुडुंबी तहा साहू । अमुमेवार्थमाह–दृष्टान्तो ग्रामभोगिकनरपतिना यात्रोद्ग्रहदारुणा (त्रोद्गते भोजिके दण्डिके च तृणेन दारुणा च)पूर्वकृतेन–पूर्वचिन्तिततेन यत्कृतं गृहमिति।

रण्णो तणघरकरणं सचित्तकम्मं तु गामसामिस्स । दोण्हंपि दंडकरणं विवरीयऽण्णेणुवणओ उ ॥ ४४ ॥ (भा०)

राज्ञस्तृणगृहं कृतं सचित्रकर्म च ग्रामस्वामिनः, 'द्वयोरपि' ग्रामेयग्रामस्वामिनोर्दण्डकरणं–दण्डः कृतः । एवं तीर्थकराज्ञातिक्रमे द्वयोरप्याचार्यसाध्वोः संसारदण्ड इति । 'विवरीयऽण्णेणुवणओ'त्ति उक्ताद्योऽन्यः स विपरीतेनान्येनाख्यानकेनोपनयः कर्त्तव्यः । अण्णेहिं गामेल्लएहिं चिंतिअं–एअं भोइयस्स सुन्दरतरं कयल्लयं घरं, एयं चेव नरवइस्स होइ, गए णरवइंमि भोइयस्स चेव होहित्ति, भोइयस्सवि तणकुडी कया, राया पत्तो दिट्ठं भणति–कहं भो एगदिवसेण भवणं कयं?, ते भणंति–अम्हेहिं एयं कयं, एयं दलियं भोइयस्स आणीयं, तेण तुज्झ घरं कयं, भोइयस्सवि तणकुडी कया, ताहे रण्णा तुट्ठेण सो गामो अकरदाओ कओ, भोइओऽवि संपूइओ, अन्नो अ से गामो दिण्णो । एवं तित्थयराणमाणं करंतेण कया चेव आयरिआणं । अथ प्रथमोपनयोपदर्शनायाह—

जह नरवइणो आणं अइक्कमंता पमायदोसेणं । पावंति बंधवहरोहच्छिज्जमरणावसाणाइं ॥ ४५ ॥ (भा०)

वैयावृत्त्य-विधिः भा. ४१ जिना-ज्ञाप्राधान्यं भा.४२-४५ ४६

॥ ४६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तह जिणवराण आणं अइक्कमंता पमायदोसेणं । पावंति दुग्गइपहे विणिवायसहस्सकोडीओ ॥ ४६ ॥ (भा०)

यथा नरपतेराज्ञामतिक्रामन्तः प्रमाददोषेण–अज्ञानदोषेण प्राप्नुवन्ति बन्धो निगडादिभिः वधः–कशादिताडनं रोधो–गमनस्य व्याघातः छेदो हस्तादेः मरणावसानानि दुःखानि प्राप्नुवन्ति यथा—

तथा जिनवराणामाज्ञामतिक्रामन्तः प्रमादः–अज्ञानं स एव दोषस्तेन प्राप्नुवन्ति दुर्गतिपथे विनिपातानां–दुःखानां सहस्रकोटीः । इदानीं द्वितीयोपनयोपदर्शनायाह—

तित्थगरवयणकरणे आयरिआणं कयं पए होइ । कुज्जा गिलाणगस्स उ पढमालिअ जाव बहिगमणं ॥ ४७ ॥ (भा०)

तीर्थकरसंबन्धिवचनकरणे–वचनानुष्ठाने आचार्याणां 'कृतं पए'त्ति 'प्रागेव' पूर्वमेव कृतं भवति । यस्मादेतदेवं तस्मात्कुर्याद् ग्लानस्य प्रतिजागरणं साधुः, कियन्तं कालमत आह–'पढमालिअ जाव बहिगमणं'ति यावत्प्रथमालिकामानेतुं समर्थो जातः यावच्च बहिर्गमनक्षमो जात इति ॥ तथा—

जइ ता पासत्थोसण्णकुसीलनिण्हवगाणंपि देसिअं करणं । चरणकरणालसाणं सब्भावपरंमुहाणं च ॥४८॥ (भा०)

यदि तावत्पार्श्वस्थावसन्नकुशीलास्तेषां, तथा सद्भावः–तत्त्वं सम्यग्दर्शनं ततः पराङ्मुखाः, के ते ?, निह्नवकास्तेषाम्, अथवा 'चरणकरणालसाणं' अत एव सद्भावपराङ्मुखानां, केषां ?–सर्वेषामेव पार्श्वस्थावसन्नकुसीलनिह्नवकानां यदि तावत्कर्त्तव्यं प्रतिपादितं तत इतरेषां नितरामेव । एतदेवाह—

किं पुण जयणाकरणुज्जयाण दंतिंदिआण गुत्ताणं ? । संविग्गविहारीणं सव्वपयत्तेण कायव्वं ॥ ४९ ॥ (भा०)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ४७ ॥

किं पुनः–किमुत यतनाकरणे उद्यताः–उद्युक्तास्तेषां दान्तेन्द्रियाणां गुप्तानां मनोवाक्कायगुप्तिभिः संविग्नविहारिणः–उद्यतविहारिणो मोक्षाभिलाषिण इत्यर्थः, तेषां सर्वप्रयत्नेन कार्यम् ? । किं पुनः कारणमेतावन्ति विशेषणानि क्रियन्ते ?, एकस्यैव युज्यमानत्वात्तत्र, तथाहि–यद्येतावदुच्यते-यतनाकरणोद्यतानामिति, ततः कदाचिन्निह्नवका अपि यतनाकरणोद्यताः स्युः ?, अत आह–दान्तेन्द्रियाणां गुप्तानां चेति, तेऽपि च दान्तेन्द्रिया गुप्ताः कदाचिल्लाभादिनिमित्तं भवेयुरत उक्तं–संविग्नविहारिणो ये, तेषामवश्यं कर्त्तव्यमिति । उक्तं ग्लानद्वारम्, अथ सञ्ज्ञिद्वारं संबन्धयन्नाह—

एवं गेलन्नट्ठा वाघाओ अह इयाणि भिक्खट्ठा । वइयग्गामे संखडि सन्नी दाणे अ भद्दे अ ॥ ८४ ॥

एवं ग्लानार्थं 'व्याघातो' गमनप्रतिबन्धस्तस्य स्यात्, 'अथे'त्यानन्तर्ये, इदानीं भिक्षार्थं गमनविघातो न कार्य इत्यध्याहारः, अथवाऽन्यथा–एवं तावद् ग्लानार्थं गमनव्याघात उक्तः, इदानीं भिक्षार्थं यथाऽसौ स्यात्तथोपदर्श्यते–'वइयग्गामे संखडि सन्नी दाणे य भद्दे'त्ति, व्रज इति–गोकुलं तस्मिन् भिक्षार्थं प्रविष्टस्य गमनविघातः स्यात्, ग्रामः–प्रसिद्धः संखडी–प्रकरणं सञ्ज्ञी–श्रावकः 'दाणे'त्ति दानश्राद्धकः 'भद्दे अ'त्ति भद्रकः साधूनां, चशब्दान्महानिनादकुलानि । एतेषु प्रतिबध्यमानस्य यथा गमनविघातस्तथाऽऽह—

उव्वत्तणमप्पत्तं च पडिच्छे खीरगहण पहगमणे । वोसिरणे छक्काया धरणे मरणं दवविरोहो ॥ ८५ ॥

स हि अनुकूलं पन्थानमुत्सृज्य उद्वर्त्तते–यतो व्रजस्ततो याति, व्रजे च प्राप्तः सन् अप्राप्तां वेलां 'प्रतीक्षते' प्रतिपालयति, ततश्च 'खीरगहण'त्ति तत्र क्षीरग्रहणं करोति, क्षीराभ्यवहारमित्यर्थः, 'पहगमण'त्ति पीते क्षीरे पथि गमनं करोति ।

सर्ववैयावृत्त्यकृतिः भा.४७-४९ भिक्षया व्याघातः नि.८४-८५

॥ ४७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||८५||

दीप अनुक्रम [१३८]

पुनश्च तेनास्य भेदः कृतः, ततश्च 'वोसिरणं'ति मुहुर्मुहुः पुरीषोत्सर्गं विदधाति, तत्र च षट्कायविराधना, तद्वेगधरणे च मरणं, 'दवविरोहो'त्ति द्रवेण–काञ्जिकेन सह विरोधो भवति, साधोः प्रायस्तत्संव्यवहारात्, यद्वा 'दवविरोहो'त्ति द्रवम्–उदकं तेन निर्लेपनं करोति सागारिकपुरतः, अथ न करोत्युड्डाहः–प्रवचनहीला भवति, अथवा द्रवविरोधो विनाशो, यत-स्तृषितः संस्तदेव पिबति। एवं व्रजे गच्छत आत्मविराधना प्रवचनोपघातश्च स्यात्, गमनविघातश्च नितरां स्यात्। उक्तं व्रजद्वारम्, अथ ग्रामद्वारम्—

खद्धादाणिअगामे संखडि आइन्न खद्ध गेलन्ने। सण्णी दाणे भद्दे अप्पत्तमहानिनादेसु ॥ ८६ ॥

खद्धादानिकग्रामः–समृद्धग्रामस्तस्मिन्नुद्वर्त्तनं करोति, अप्राप्तां वेलां च प्रतिपालयति, क्षीरग्रहणं करोति, तत्र च त एव दोषाः "वोसिरणे छक्काया धरणे मरणं दवविरोहो"। उक्तं ग्रामद्वारम्, अथ संखडिद्वारं, तत्राह–'संखडि आइन्नगेलण्णं'ति संखडी प्रकरणं तदर्थमुद्वर्त्तते, अप्राप्तां च वेलां प्रतिपालयति, तत्र च 'आइण्ण'त्ति आकीर्णं–संबाधनं स्त्रीस्पर्शादिदोषाः, तथा 'खद्धगेलण'त्ति खद्धं–प्रभूतमुच्यते, ततश्च भूरिभक्षणे मान्द्यं स्यात्, त एव च दोषाः "वोसिरणे छक्काया धरणे मरणं दवविरोहो"। उक्तं संखडिद्वारम्, अथ सञ्ज्ञिद्वारम्–'सन्नि'त्ति सञ्ज्ञिनं श्रुत्वा उद्वर्त्तनं करोति, अप्राप्तां च वेलां प्रति-पालयति, तत्र च त एव दोषा वोसिरणादयः। उक्तं सञ्ज्ञिद्वारम्, इदानीं दानश्रावकद्वारं, तत्रापि "उवत्तणमप्पत्तं च पडिच्छे"त्ति पूर्ववत्, ततश्चासौ दानश्रावकः प्रभूतं घृतं ददाति, तत्रापि त एव दोषा वोसिरणादयः। उक्तं दानद्वारम्, अथ भद्रकद्वारं–'भद्दग'त्ति कश्चित्स्वभावत एव साधुभद्रकः स्यात् तत्समीपगमनार्थमुद्वर्त्तनं करोति, अप्राप्तां च वेलां

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ४८ ॥

प्रतिपालयति, ततश्चासौ लड्डुकादिप्रदानं करोति, त एव दोषाः । अथ महानिनादद्वारमाह–'अप्पत्तमहानिनाएसु'त्ति महा-निनादेषु–शब्दितेषु कुलेषु–प्रख्यातेषु कुलेषु उद्वर्त्तनं कृत्वा 'अप्पत्त'ति अप्राप्तां वेलां प्रतिपालयति, तेषु च स्निग्धमन्नं लभ्यते, एवं च तत्रापि त एव दोषाः "वोसिरणे छक्काया"इत्यादयः । उक्तं चशब्दाक्षिप्तं महानिनादकुलद्वारं, तथाऽनु-कूलात्स्वमार्गाद(न)नुकूलेषु व्यवस्थितेषु व्रजादिषु अप्राप्तां वेलां भक्तार्थं प्रतिपालयतो गमनविघातदोष उक्तः, इदानीमनुकूल-मार्गव्यवस्थितेषु व्रजादिषु भक्तार्थं प्रविष्टस्य यथा गमनविघातो भवति तथा प्रतिपादयन्नाह—

पडुच्छिक्खीर सतरं घयाइ तक्कस्स गिण्हणे दीहं । गेहि विगिंचणिअभया निसट्ठ सुवणे अ परिहाणी ॥ ८७॥

पडुच्छिक्षीरं–पारिहिट्टिक्षीरं तदन्विषन् शेषक्षीरं चागृण्हन् दीर्घां भिक्षाचर्यां करोति, तथा 'सतरं'ति सतरं दधि अन्वे-षमाणस्तररहितं चागृह्णन् दीर्घां भिक्षाचर्यां करोति, घृतादि चान्विषन्, आदिशब्दान्नवनीतमोदकादि गृह्यते, तदन्विषन् दीर्घां तां करोति, तक्रस्य वा ग्रहणे दीर्घां तां करोति । इदानीं तत्क्षीरादि प्रचुरं लब्धं सत् 'गेहि'त्ति गृद्धः सन् प्रचुरं भक्षयति, यद्वा 'विगिंचणिअभया निसट्ठं'ति विगिञ्चनं–परित्यागस्तद्भयान्निसृष्टं–प्रचुरं भक्षयति, ततश्च प्रचुरभक्षणे 'सुयणे अ परिहाणी' प्रदोष एव स्वाध्यायमकृत्वैव स्वपिति, सुप्तस्य च 'परिहाणी' सूत्रार्थविस्मरणमित्यर्थः, चशब्दात् 'अह जग्गति गेलन्नं"इत्येतद्वक्ष्यति तृतीयगाथायाम् । एवं तावदनुकूलमार्गव्यवस्थिते व्रजे भक्तार्थं प्रविशतो गमनप्रतिघात उक्तः, इदानीमनुकूलमार्गव्यवस्थिते ग्रामे भक्तार्थं प्रविष्टस्य यथा गमनविघातो भवति तथाह—

गामे परितलिअगमाइमग्गणे संखडी छणे विरूवा । सण्णी दाणे भद्दे जेमणविगई गहण दीहं ॥ ८८ ॥

भिक्षया व्याघातः नि.८६-८९ ८८

॥ ४८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'ग्रामे' इति द्वारपरामर्शः, ग्रामे प्रविष्टः सन् परितलितादिमार्गणं करोति, परितलितं–सुकुमालिकादि उच्यते, तदन्विषन् दीर्घां भिक्षाचर्यां करोति। उक्तमनुकूलग्रामद्वारम्, इदानीमनुकूलसंखडीद्वारमुच्यते–'संखडी छण विरूव'त्ति संखडीप्रकरणं, सा च 'क्षणे' उत्सवे विविधरूपा भवति, एतदुक्तं भवति–गृहे गृहे घृतपूरादि लभ्यते, तदर्थं च दीर्घां भिक्षाचर्यां करोति। उक्तमनुकूलसंखडीद्वारं, इदानीमनुकूलव्यवस्थितसञ्ज्ञिद्वारमुच्यते–'सण्णि'त्ति सञ्ज्ञिनः–श्रावका उच्यन्ते, तेषु मृष्टान्नार्थीं दीर्घां भिक्षाचर्यां करोति। उक्तमनुकूलसञ्ज्ञिद्वारम्, इदानीमनुकूलदानश्राद्धकद्वारमुच्यते–'दाणे'त्ति दानश्राद्धका उच्यन्ते, तेष्वनुकूलपथव्यवस्थितेषु प्रविष्टो मृष्टभोजनार्थीं दीर्घां भिक्षाचर्यां करोति। उक्तं दानश्राद्धकद्वारम्, इदानीं भद्रकद्वारमुच्यते–'भद्दे'त्ति अनुकूलपथव्यवस्थितेषु भद्रकेषु 'जेमणविगईगहण दीह'त्ति मृष्टभोजनविकृतिग्रहणार्थं, दीर्घां भिक्षाचर्यां करोतीति सर्वत्र योज्यमिति। तत्र प्रागिदमुक्तं–प्रचुरभक्षणात्स्वपतः सूत्रार्थपरिहानिर्भवति, अथ न स्वपिति ततः को दोष ? इत्यत आह—

अह जग्गइ गेलन्नं अस्संजयकरणजीववाघाओ। इच्छमणिच्छे मरणं गुरुआणा छड्डुणे काया ॥ ८९ ॥

अथ स्निग्धे आहारे भक्षिते जागरणं करोति, सूत्रार्थपौरुषीं करोतीत्यर्थः, ततश्च को दोष ? इत्यत आह–'गेलन्नं' ग्लानत्वं भवति, ग्लानत्वे सति तस्य साधोर्यद्यसंयतः प्रतिजागरणं करोति इच्छति च ततः को दोषस्तदेत्यत आह–असंयतकरणे जीवव्याघातो भवति इच्छतः, अथ नेच्छति असंयतेन क्रियां क्रियमाणां ततः 'अणिच्छे मरणं' अनिच्छतो मरणं भवति, न केवलमयमेव दोषः, 'गुरुआणा छड्डुणे काया' गुरोराज्ञालोपः कृतो भवति, मृतस्य च छड्डुणे–परित्यागे गृहस्थाः षट्काय-

ओ० ९

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यापादनं कुर्वन्ति । यदा तु पुनस्तेषु व्रजादिषु तक्रौदनादिग्रहणं करोति तदा पूर्वोक्ता दोषाः परिहृता भवन्ति । एतदेव प्रतिपादयन्नाह—

तक्कोयणाण गहणे गिलाण आणाइया जढा होंति । अप्पत्तं च पडिच्छे सोच्चा अहवा सयं नाउं ॥ ९० ॥

तक्रौदनानां ग्रहणे सति ग्लानत्वदोष आज्ञाभङ्गदोषश्च, आदिशब्दात्पथि पलिमन्थदोषश्च, एते जढा इति–त्यक्ता भवन्ति । इदानीं प्रतिषिद्धस्यापि कारणान्तरेणानुज्ञां दर्शयन्नाह–'अप्राप्तां च पडिच्छे' अप्राप्तामपि वेलां प्रतिपालयति, किमर्थं ?,– वक्ष्यमाणान् दोषान् श्रुत्वा पथिकादेः सकाशात्, 'अहवा सयं नाउं' स्वयमेव ज्ञात्वा, कान् ?–दूरव्यवस्थितग्रामादिदोषान्, अप्राप्तामपि वेलां प्रतीक्षत इति । इदानीं तानेव दोषान् प्रतिपादयन्नाह—

दूरुट्ठिअ खुड्डुलए नव भड अगणी अ पंत पडिणीए । अप्पत्तपडिच्छण पुच्छ बाहिं अंतो पविसिअव्वं ॥ ९१ ॥

कदाचिदसौ ग्रामो दूरे भवति ततोऽप्राप्तामपि वेलां प्रतिपालयति, 'उट्ठिउ'त्ति कदाचिदसौ ग्राम उत्थितः–उद्गसितो भवति, कदाचिच्च 'खुड्डुलय'त्ति स्वल्पकुटीरकः, कदाचित् 'णव' इति अभिनववासितो भवति, तत्र पृथिवीकायः सचित्तो भवति, कदाचिच्च भटाक्रान्तोऽसौ भवति, कदाचित् 'अगणी य'त्ति अग्निना दग्धो भवति, कदाचिच्च प्रान्तः–दरिद्रप्रायो भवति, कदाचिच्च प्रत्यनीकाक्रान्तो भवति, अत एभिः कारणैः 'अप्पत्तपडिच्छण'त्ति अप्राप्तामपि वेलां प्रतिपालयति, तेन च साधुना सञ्ज्ञिकुलं प्रविशता विधिपृच्छा पूर्ववत्कर्त्तव्या, एतदेवाह–'पुच्छ'त्ति, विधिपृच्छा पूर्ववत् । 'बाहिं'ति चोदक एवमाह–बहिरेव स साधुस्तिष्ठति यावत्सञ्ज्ञिकुले वेला भवतीति, आचार्यस्त्वाह–'अंतो पविसियव्वं' इमं च गाथाऽ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वयवं भाष्यकारो व्याख्यानयिष्यतीति । इदानीं तत्र सञ्ज्ञिकुलेषु प्रविष्टः साधुः कारणमाश्रित्य दीर्घामपि भिक्षाचर्यां यथा करोति तथा प्रतिपादयन्नाह—

कक्खडखेत्तचुओ वा दुब्बल अद्धाण पविसमाणो वा । खीराइगहण दीहं बहुं च उवमा अयकडिल्ले ॥ ९२ ॥

'कक्खडं' रूक्षादिगुणसमन्वितं यत्क्षेत्रं तस्माच्युतः–आयातः सन्, तथा दुर्बलो यदि भवति–वाध्यादिरोगाक्रान्तः, तथा पुरस्तादीर्घमध्वानं प्रवेक्ष्यति यदि, तत एभिः कारणैः क्षीरादिग्रहणनिमित्तं दीर्घां भिक्षाचर्यां करोति, बहुं च क्षीरादि गृह्णाति येनास्य कार्यस्य समर्थो भवति । आह–बहुभक्षणात्कथं विसूचिकादिदोषो न भवति ?, उच्यते, 'उवमा अयकडिल्ले' उपमा–उपमानं अयो–लोहं तन्मयं यत्कडिल्लं तेन उपमा, एतदुक्तं भवति–यथा तप्तलोहकडिल्ले तोयादि क्षयमुपयाति एवमस्मिन् साधौ रूक्षस्वभावे बह्वपि घृतादि क्षयं यातीति । इदानीं य एव प्राग् व्यावर्णिता दोषास्तानेव कारणान्तरमुद्दिश्य गुणवत्तया स्थापयन्नाह—

जे चेव पडिच्छणदीहखद्धसुवणेसु वण्णिआ दोसा । ते चेव सपडिवक्खा होंति इहं कारणज्जाए ॥ ९३ ॥

य एव दोषा 'पडिच्छणे'ति प्रतिपालने 'दीहं'ति दीर्घायां भिक्षाचर्यायां 'खद्ध'त्ति प्रचुरभक्षणे 'सुवण'त्ति स्वापे, एतेषु स्थानान्तरेषु 'वर्णिताः' कथिता ये दोषास्त एव सप्रतिपक्षाः–सविपर्ययाः गुणा इत्यर्थः, भवन्ति, 'इह' अस्मिन् 'कारणजाते कारणमाश्रित्य । इदानीं यदुक्तं निर्युक्तिकृता–"पुच्छ बाहिं अंतो पविसिअवं"ति, एतद् व्याख्यानयन् भाष्यकार आह—

विहिपुच्छाए सण्णी सोउं पविसे न बाहि संचिक्खे। उग्गमदोसभएणं चोयगवयणं बहिं ठाउ ॥ ५० ॥ (भा०)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघनियुक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ५० ॥

'विधिपृच्छया' पूर्वाभिहितया 'सञ्ज्ञिनं' श्रावकं श्रुत्वा ततः प्रविशेत्, क ?–श्रावकगृहे, न च बहिः संतिष्ठेत्, किं कारणम् ?–उद्गमदोषभयात्, मा भूत्तं साधुमुद्दिश्य कञ्चिदाहारं कुर्याद् असौ सञ्ज्ञी। एवमुक्ते सत्याह चोदकः, किं तद् ?, इत्याह–'बहिं ठाउ' बहिरेवासौ साधुर्भिक्षावेलां प्रतिपालयतु, मा भूत् प्राघूर्णक इतिकृत्वा श्रावक आहारपाकं करिष्यतीति। एवमुक्ते सत्याचार्य आह—

सोच्चा दट्ठूणं वा बाहिठिअं उग्गमेगयर कुज्जा। अप्पत्तपविट्ठो पुण चोयग ! दट्ठुं निवारेज्जा ॥ ५१ ॥ (भा०)

श्रुत्वा तं साधुं बहिर्वर्त्तिनमन्यस्मात्पुरुषादेः स्वयं वा दृष्ट्वा उद्गमादीनां दोषाणामेकतरं–अन्यतमं कुर्यात्। 'अप्पत्त'त्ति अप्राप्तायां वेलायामेतच्छ्रावकः कुर्यात्, एष बहिस्तिष्ठतो दोषः, 'पविट्ठो पुण चोयग ! दट्ठुं निवारेज्जा' प्रविष्टः पुनरसौ साधुः सञ्ज्ञिकुलं हे चोयग ! 'दट्ठुं'ति दृष्ट्वा उद्गमादिदोषं निवारयेत्। किञ्च—

उग्गमदोसाईणं कहणा उप्पायणेसणाणं च। तत्थ उ नत्थी सुन्ने बाहिं सागार कालदुवे ॥ ९४ ॥

उद्गमदोषादीनां कथनं करोति उत्पादनादोषाणां एषणादोषाणां च कथनं करोति, ततश्च यदि शुद्धं भक्तं ततस्तत्रैव सञ्ज्ञिगृहे भोक्तव्यम्, अथ तत्र नास्ति ततोऽन्यत्र गन्तव्यम्। एतदेवाह–'तत्थ उ'त्ति तत्रैव–श्रावकगृहे भुङ्क्ते, 'नत्थि'त्ति अथ तत्र नास्ति भोजनस्थानं ततः 'सुण्ण'त्ति शून्यगृहे याति, 'बाहिं'ति अथ शून्यगृहे सागारिकैर्भोक्तुं न शक्यते ततो बाह्यतो व्रजति, अथ तत्रापि 'सागार'त्ति सागारिकाः ततः 'कालदुवे'त्ति कालद्वितयं ज्ञातव्यं, किं ?, स्वल्पो दिवस आस्ते आहोश्वित् महान् ?, यदि महांस्ततो दूरमपि स्थण्डिले गत्वा समुद्दिशति, अथ स्वल्पो दिवसस्ततोऽस्थण्डिल एव यतनया

कारणे दीर्घभिक्षा नि.९२-९३ विधिपृच्छा प्रवेशश्च भा. ५०-५१ दोष-कथा नि. ९४

॥ ५० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समुद्दिशतीति । इयं तावन्निर्युक्तिगाथा, एतामेव भाष्यकारः प्रतिपदं व्याख्यानयति, तत्र चोद्गकाक्षेपपरिहारद्वारेण प्रवेश-विधिरुक्तः, इदानीं बहिस्तिष्ठतोऽधिकतरदोषप्रतिपादनायाह—

फेडेज्ज व सइ कालं संखडि घेत्तूण वा पए गच्छे । सुण्णघराइपलोअण चेइअ आलोयणाऽबाहं ॥५२॥(भा०)

स हि तत्र बहिर्व्यवस्थितः किं कुर्यादत आह–'फेडेज्ज व सइ कालं' अपनयेत् 'सति'त्ति विद्यमानं भिक्षाकालम्, एतदुक्तं भवति–ग्रामे प्रहरमात्र एव भिक्षावेला भवति, तत्र च व्यवस्थितः साधुस्तां भिक्षावेलामपनयति, 'संखडि'त्ति कदाचित्तत्रान्यस्मिन् दिवसे सङ्खडिरासीत्, तदुद्धरितं च पर्युषितभक्तं प्रत्यूषस्येव भक्षितं गृहस्थैरतोऽसौ साधुर्बहिर्व्यवस्थितस्तस्य भ्रष्ट इति, 'घेत्तूण वा पए गच्छे'त्ति गृहीत्वा वा यत्तत्र राद्धं पक्वं वा तत्प्रागेव श्रावको गृहीत्वा ग्रामान्तरं गतः, ततश्चासौ साधुस्तस्य भ्रष्ट इति; अत एतद्दोषभयात्प्रवेष्टव्यम् । प्रविशतश्च को विधिरित्यत आह–'सुण्णघरादिपलोयण' प्रविशंश्चासौ साधुः शून्यगृहादिप्रलोकनं करोति, कदाचित्तत्र भुजिक्रियां करोति, प्रविष्टश्च श्रावकगृहे 'चेइय'त्ति चैत्यवन्दनं करोति 'आलोयण'त्ति आलोचनां श्रावकाय ददाति, यदुताहमाचार्येण कारणवशादेकाकी प्रहित इति, 'अबाहि'त्ति न काचिद्बाधा शीलव्रतेषु भवतामित्येवं पृच्छति । तत्र च प्रविष्टो भिक्षादोषान् कथयन्नाह—

उग्गम एसणकहणं न किंचि करणिज्ज अम्ह विहिदाणं । कस्सट्ठा आरंभो तुज्झेसो? पाहुणा डिंभा॥५३(॥भा०)

उद्गमदोषाणाम्-आधाकर्मादिदोषाणां कथनं एषणादोषाणां च कथनं,ततश्च आरम्भं दृष्ट्वा एतच्च ब्रवीति–नास्मदर्थे किञ्चित्कर्त्तव्य आहारविधिः, किन्त्वस्माकं विधिदानं क्रियते, तथा चोक्तं–"विहिगहिअं विहिदिण्णं दोण्हंपि बहुप्फलं जहा होति"।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ कदाचिच्छ्रावको न कथयति तदा डिम्भरूपाणि पृच्छति, तानि ह्यज्ञत्वाद्यथाव्यवस्थितं कथयन्ति। किं पृच्छति ?, 'कस्सट्ठा आरंभो' कस्य निमित्तमयमारम्भः ?, इत्येवं साधुना पृष्टे सति डिम्भरूपाण्यपि कथयन्ति–'तुज्झेसो'त्ति त्वदर्थ-मयमारम्भः, यतः 'पाहुण'त्ति प्राघूर्णका यूयमिति, अथवा 'पाहुण'त्ति प्राघूर्णकानामर्थेऽयमारम्भो न तव, एवं 'डिंभ'त्ति अर्भकरूपाणि कथयन्ति। अथ तत्रार्भकरूपाणि न सन्ति यानि पृच्छ्यन्ते ततः स्वयमेव केनचिद्व्याजेन रसवती यतो याति, एतदेवाह—

रसवइपविसण पासण मिअममिअमुवक्खडे तहा गहणं। पज्जत्ते तत्थेव उ उभएगयरे य ओयविए ॥५४॥ (भा०)

रसवती–सूपकारशाला तस्यां प्रवेशनं करोति, प्रविष्टश्च पश्यत्तां–दर्शनं करोति, तत्र च 'मितममितं उवक्खडे'त्ति कदाचिन्मितमुपस्क्रियते स्वल्पं, कदाचिदमितं उपस्क्रियते बहु,'तहा गहणं'ति तत्र यदि मितं राद्धं ततः स्वल्पं गृह्णाति, अथ प्रचुरं राद्धं ततस्तदनुरूपमेव गृह्णाति। तत्र निर्युक्तिगाथायाः संबन्धि पूर्वार्द्धं व्याख्यातं, कतमत् ? "उग्गमदोसाईणं कहणं उप्पायणेसणाणं च" इति, इदानीं मूलनिर्युक्तिकारगाथायां तस्यामेव यदुपन्यस्तं "तत्थ उ"त्ति तद्व्याख्यानयन्नाह, 'पज्जत्ते तत्थेव उ' यदि पर्याप्तं भक्तं लब्धं ततस्तस्मिन्नेव गृहे भुङ्क्ष इति। 'उभएगयरे च ओयविए'त्ति उभयं श्रावकः श्राविका च 'ओयविअं' खेदज्ञं उभयं यदि भवति 'एगतरं च ओयविअं' अल्पसागारिकः–श्रावक इत्यर्थः, श्राविका वा ओय-विआ–अल्पसागारिकेत्यर्थः, ततो भुङ्क्ष इति। 'तत्थ उ'त्ति अयमवयवो व्याख्यातः, इदानीं 'नत्थि'त्ति अवयवो व्याख्यायते—

असइ अपज्जत्ते वा सुण्णघराईण बाहि संसद्दे। लट्ठीइ दारघट्टण पविसण उस्सग्ग आसत्थे ॥ ५५ ॥ (भा०)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

असति तस्मिन्नुभये यदा श्रावकोऽल्पसागारिको नास्ति, नापि श्राविकाऽल्पसागारिका, श्राविकश्राविकयोरन्यतरो वा यदाऽल्पसागारिको नास्ति तदा अभावे सति 'अपज्जत्ते व'त्ति यदा पर्याप्तं तस्मिन् श्रावकगृहे भक्तं न भवति लब्धं तदाऽन्यत्रापि भिक्षाटनं कृत्वा 'सुण्णघराइं'ति शून्यगृहादिषु गम्यते भोजनार्थम्, आदिशब्दादेवकुलादिषु वा, तेषां च शून्यगृहादीनां बहिरेव व्यवस्थितः संशब्दं–काशितादिरूपं करोति, कदाचित्तत्र कश्चित्सागारिको दुश्चारित्री भवेत् स च तेन शब्देन निर्गच्छति, अथैवमपि शब्दे कृते न निर्गच्छति ततो यष्ट्या द्वारे घट्टनं–आहननं क्रियते, ततः प्रविशति, प्रविष्टश्च यदि कञ्चिन्न पश्यति ततः 'उस्सग्गं'ति ईर्यापथनिमित्तं पञ्चविंशत्युच्छ्वासप्रमाणं कायोत्सर्गं करोति, तथा च 'आसत्थे'त्ति मनागाश्वासितः सन्। ततश्च—

आलोअणमालोवो अदिट्ठंमिवि तहेव आलावो। किं उल्लावं न देसी ? अदिट्ठ निस्संकिअं भुंजे ॥५६॥ (भा०)

'आलोकनं' निरूपणं तत् करोति, अथ निरूपिते [कश्चिद्दृष्टः] 'आलावो'त्ति, यदि कश्चिद्दृष्टस्तत आलपनं करोति, किमिह भवानागतः ? इति। 'अदिट्ठंमिवि तहेव आलावो'त्ति अदृष्टेऽपि सागारिके तथैवालपनं करोति, किमिह भवानायातः इति। अथैवमप्युक्तो न कश्चित्तत्रोत्तरं ददाति तत इदमुच्यते–'किमुल्लावं न देसीति ?,' तस्मादुल्लापं प्रतिवचनं प्रयच्छेति। अथैवमपि न कश्चित्तत्रोपलब्धस्ततः 'अदिट्ठे'त्ति सर्वथा सागारिकेऽनुपलब्धे सति निःशङ्कितं भुङ्क्ष्व इति। अथ एभिरप्युपायैर्न प्रकटीभूतः सागारिकः पश्चात्तु प्रकटीभूतो भुञ्जतः सतस्ततः,—

दिट्ठ असंभम पिंडो तुज्झवि य इमोत्ति साह वेउवी। सोवि अगारो दोच्चा नीइ पिसाउत्ति काऊणं ॥५७॥(भा०)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टे सागारिके सति 'असंभम'त्ति असम्भ्रमो–न भयं कर्त्तव्यम्, असम्भ्रान्तेन च तेन साधुना 'पिण्डो तुज्झवि अ इमो' त्ति स्वाहा' भिक्षापिण्डं गृहीत्वा एवं करोति–अयं यमाय पिण्डः, अयं वरुणाय पिण्डः, अयं धनदाय पिण्डः, अयमिन्द्राय पिण्डः, तुज्झवि अ इमोत्ति स्वाहा–तवाप्ययं पिण्डः स्वाहा 'वेउवि'त्ति विकृतं शरीरं करोति पिशाचगृहीत इव, एवंविधं साधुं दृष्ट्वा सोऽप्यगारी 'दोच्चा' इति भयेन 'णीति' निर्गच्छति,'मुणि(पिसा)ऊ त्ति काऊणं' पिशाचोऽयमितिकृत्वा। एवं तावदभ्यन्तरस्थसागारिकदर्शने भुञ्जानस्य विधिरुक्तः, यदा तु पुनर्बहिर्व्यवस्थित एव एभिः स्थानान्तरं पश्यति तदा को विधिः ? इत्यत आह—

तिव्वेण व मालेण व वाउपवेसेण अहव सढयाए। गमणं च कहण आगम दूरब्भासे विही इणमो ॥५८॥(भा०)

यदा तु सागारिको बहिर्व्यवस्थित एव साधुं तीव्रेण–छिद्रेण कुटिकापवड्डुकेन कटकेन पश्यति, 'मालेण व'त्ति माले–उपरितलव्यवस्थितो यदा कदाचिच्छठतया पश्यति, 'वाउपवेसण'त्ति, अथवा 'वायुप्रवेशेन' गवाक्षेण शठतया पश्यति, अथवेति विकल्पार्थः, एतेनान्येन वा प्रदेशेन 'शठतया' धूर्त्ततया पश्यति, दृष्ट्वा च गमनं च करोति स सागारिकः, 'कहणं'-ति गत्वा चान्येभ्यः कथयति–यदुतागच्छत पश्यत पत्रके भुञ्जानः साधुर्दृष्ट इति, तत्र 'आगम'त्ति तेऽप्यागच्छन्ति, पश्यामः किमेतत्सत्यं न वेति, 'दूरब्भासे विही इणमो' दूरादागच्छतां अभ्यासाद्वाऽऽगच्छतां 'विही इणमो' विधिः 'अयं' वक्ष्यमाणलक्षणो भवति। कश्चासौ विधिरित्यत आह—

थोवं भुंजइ बहुअं विगिंचई पडमपत्तपरिगुणणं। पत्तेसु कहिं भिक्खं दिट्ठमदिट्ठे विभासा उ ॥ ५९ ॥ (भा०)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यदि तावद्दूरे सागारिकास्ततः स साधुः 'थोवं भुंजति' स्तोकं भुङ्क्ते, बहुभक्तं 'विगिंचति' त्यजति गर्त्तादौ–अल्पसागारिकं करोति धूलिना वा आच्छादयति, अथाभ्यास एव सागारिकास्ततः 'थोवं भुंज'त्यन्यथा व्याख्यायते–स्तोकं भुङ्क्ते यावन्मात्रं मुखस्यान्तस्तिष्ठति तावन्मात्रमेव भुङ्क्ते, शेषं परित्यजतीति प्राग्वत् , 'पउमपत्त'त्ति पद्मपत्रसदृशं निर्लेपनं पात्रे करोति 'परिगुणण'त्ति स्वाध्यायं कुर्वंस्तिष्ठतीति। एवं च व्यवस्थितस्य साधोस्ते सागारिकाः प्राप्ताः, ते च प्राप्ताः सन्त इदं पृच्छन्ति-'कहिं भिक्खं'ति क्व त्वया भिक्षा कृतेति । तत्र 'दिट्ठमदिट्ठे विभासा उ' दृष्टेऽदृष्टे च 'विभाषा' विकल्पना कार्या, यदि दृष्टो भिक्षामटन् तत इदं वक्ति–तत्रैव श्रावकादिगृहे भक्षयित्वा इहागत इति । अथ न दृष्टो भिक्षामटंस्ततः—

अदिट्ठे किं वेला तेसि निबंधंमि दायणे खिंसा । ओहामिओ उ बडुओ वण्णो अ पहाविओ तहिअं ॥ ६० ॥

अदृष्टे सतीदं वक्तव्यं–किं वेला वर्त्तते भिक्षाटनस्य ?, अथैवमप्युक्तानां पत्रकदर्शने निर्बन्धः ततो 'दाण'त्ति दर्शयति पत्रकं, दृष्टे च पत्रके सति 'खिंसति' ते सागारिकास्तं बटुकं जुगुप्सन्ते–धिक् त्वामसमीक्षितभाषिणमिति। ततः किं जातम् ?–'ओहामिओ उ बडुओ' अपभ्राजितो बटुकस्तिरस्कृत इत्यर्थः । वर्णश्च–यशः प्रख्यापितं तत्रेति–तस्मिन् भोजनविधौ । 'सुण्ण' इत्ययमवयवो व्याख्यातः, इदानीं 'बहिं सागार'त्ति अमुमवयवं व्याख्यानयन्नाह,—

सुण्णघरासइ बाहिं देवकुलाईसु होइ जयणा उ । तेगिच्छधाउखो भो मरणं अणुकंपपडिअरणं ॥६१॥(भा०)

शून्यगृहस्यासति–अभावे 'बाहिं देवकुलाईसु होति जयणा उ' ततो बहिर्देवकुलादौ व्रजति, तत्रापि देवकुलादौ वनगह्वरादौ इयमेव यतना कर्त्तव्या 'बाहिं संसद्द लट्ठीए दारघट्टण' इत्येवमादि सर्वं कर्त्तव्यम् । अथ कथं बहिः सागारिकस-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

म्भवः ?, अत आह, 'तेगिच्छि'त्ति 'चिकित्सकः' वैद्यः स कदाचित्तस्य साधोर्भिक्षामटतः 'धातुखोभे'त्ति धातुवैषम्यं दृष्ट्वा इदं चिन्तयति–यद्यस्यामवस्थायामयं साधुर्भक्षणं करोति ततः 'मरणं'ति अवश्यमेव म्रियते, स वैद्यः 'अणुकंप'त्ति अनुकम्पया 'पडियरणं'ति साधोरनुमार्गेण गत्वा निरूपणं करोति, यद्ययमिदानीमेव भक्षयिष्यति ततो निवारयिष्यामि वैद्यकशास्त्रपरीक्षणं वा कृतं भवति, एवमसौ वैद्यस्तस्य साधोरनुमार्गेण गत्वा लीनस्तिष्ठति साधुरपि,—

इरियाइ पडिक्कंतो परिगुणणं संधिआ भि का गुणिआ ?। अम्हं एसुवएसो धम्मकहा दुविहपडिवत्ती ॥ ६२ ॥

ईर्यापथिकाप्रतिक्रान्तः सन् 'परिगुणण'त्ति कियन्मात्रकमपि स्वाध्यायं करोति, अस्मिंश्च प्रस्तावे साधुः समधातुरेव संजातः, ततश्च वैद्योऽपि तं साधुं समधातुं दृष्ट्वा इदं वक्ति–'संहिता भे का गुणिया'संहिता–चरकसुश्रुतरूपा का गुणिता ?–अधीता,येन भवताऽऽगमनमात्रेणैव न भुङ्क्ते । साधुरप्याह–'अम्हं एसुवएसो' अस्माकमयं सर्वज्ञोपदेशः, यदुत–स्वाध्यायं कृत्वा भुज्यत इति । 'धम्मकहा दुविहपडिवत्ती' ततश्चासौ साधुर्धर्मकथां करोति, पश्चात्तस्य वैद्यस्य 'दुविहपडिवत्ति'त्ति कदाचित्संयतो भवेत् कदाचिच्छ्रावक इति । इदानीं बहिर्देवकुलादौ भुञ्जानस्य विधिरुक्तः, यदा तु पुनर्देवकुलाद्यपि सागारिकैर्व्याप्तं भवति तदाऽनुकूलमार्गव्यवस्थितं स्थण्डिलं प्रति प्रयाति—

थंडिल्लासइ चीरं निवायसंरक्खणाइ पंचेव । सेसं जा थंडिल्लं असईए अण्णगामंमि ॥ ६३ ॥ (भा०)

'थंडिल्ल'त्ति स्थण्डिले गत्वा भुङ्क्ते, 'असति'त्ति अथ स्थण्डिलं नास्ति क्षुधा च पीड्यते ततोऽस्थण्डिल एव 'चीर'न्ति चीरमास्तीर्य पादयोरधस्ततश्च भुङ्क्ते, किमर्थं पुनस्तच्चीरमास्तीर्यते ? अत आह–'निपातसंरक्षणाय' परिशाटिनिपातसंरक्षणार्थं,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तया हि परिशाट्या निपतन्त्या पृथिवीकायादि विध्वस्यते इति। 'पंचेव'त्ति तत्र चीरोपरि अस्थण्डिलस्थः कियन्नक्षयति ?, त्रीन् पञ्च वा कवलान्। 'सेसं जा थंडिलं' शेषं–अपरं भक्तं तावन्नयति यावत्स्थण्डिलं प्राप्तम्। 'असईए'त्ति अपान्तराले स्थण्डिलस्यासति 'अण्णगामंमि'त्ति अन्यद्ग्रामं प्रयाति, तत्र च स्थण्डिले भुङ्क्ते इति। इदानीं यदुक्तं 'कालदुवे'त्ति निर्युक्तिकृता तद्भाष्यकृद् व्याख्यानयन्नाह—

अपहुप्पंते काले तं चेव दुगाउयं नइक्कामे। गोमुत्तिअदड्ढाइसु भुंजइ अहवा पएसेसुं ॥ ६४ ॥ (भा०)

अथ तस्य भिक्षोर्गच्छतो योऽसावभिप्रेतो ग्रामः स क्रोशत्रये संजातः, तत्र च यदि कालः पर्याप्यते ततस्तद्भक्तं पूर्वगृहीतं परित्यज्यान्यद्गृह्णाति, अथास्तमयकाल आसन्नस्ततः 'तं चेव'त्ति तदेव पूर्वगृहीतं भक्तं क्षेत्रातिक्रान्तमपि भुङ्क्ते, 'दुगाउअं नइक्कामे'त्ति यदा तु कालः पर्याप्यते तदा तत्पूर्वगृहीतं भक्तं द्विगव्यूतात्परतो नातिक्रामयति–न नयति, गव्यूतद्वय एव तत्परित्यज्य याति, तत्र च गतः काले पर्याप्यमाणेऽन्यद् ग्रहीष्यतीति, यदा पुनस्तस्य साधोर्व्रजतः क्रोशद्वयव्यवस्थितग्रामस्यारत आदित्योऽस्तमुपयाति न चान्तराले स्थण्डिलमस्ति तदा 'गोमुत्तिगदड्ढादिसु भुंजे' गोमूत्रदग्धेषु देशेषु भुञ्जीत, आदिशब्दात्सूकरोत्कीर्णभूप्रदेशादौ भुङ्क्ते इति, 'अहवा पएसेसु'त्ति यदि गोमूत्रदग्धादिस्थानं न भवति ततो धर्माधर्माकाशास्तिकायकल्पनां तस्मिन् स्थाने कृत्वा भुङ्क्ते, एतदुक्तं भवति–धर्माधर्माकाशास्तिकायैस्तिरोहितायां भुवि ऊर्ध्वव्यवस्थितः, ततश्चानया यतनया सशूकता दर्शिता भवति। उक्तं सञ्ज्ञिद्वारम्, इदानीं साधर्मिकद्वारप्रतिपादनायाह—

दिट्ठमदिट्ठा दुविहा नायगुणा चेव हुंति अन्नाया। अदिट्ठावि अ दुविहा सुअमसुअ पसत्थमपसत्था ॥ ९५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||६४||

दीप अनुक्रम [१६२]

साधर्मिका द्विविधाः–दृष्टा अदृष्टाश्च, 'नायगुणा तह य चेव अण्णाया' ये ते दृष्टाः साधर्मिकास्ते द्विविधाः–कदाचिज्ज्ञातगुणा भवन्ति कदाचिदज्ञातगुणाः, 'अदिट्ठावि अ दुविहा' येऽप्यदृष्टाः साधर्मिकास्तेऽपि द्विविधाः–'सुय असुय'त्ति श्रुतगुणा अश्रुतगुणाश्च । 'पसत्थापसत्थ'त्ति ये ते ज्ञातगुणास्ते द्विविधाः–प्रशस्तज्ञातगुणा अप्रशस्तज्ञातगुणाश्च, येऽपि तेऽज्ञातगुणास्तेऽपि द्विविधाः–प्रशस्ताज्ञातगुणा अप्रशस्ताज्ञातगुणाश्चेति, येऽपि ते श्रुतगुणास्तेऽपि द्विविधाः–प्रशस्तश्रुतगुणा अप्रशस्तश्रुतगुणाश्च, येऽपि तेऽश्रुतगुणास्तेऽपि द्विविधाः–प्रशस्ताश्रुतगुणा अप्रशस्ताश्रुतगुणाश्च । आह–ये दृष्टास्ते कथमज्ञातगुणा भवन्तीत्यत आह—

दिट्ठा व समोसरणे न य नायगुणा हवेज्ज ते समणा । सुअगुण पसत्थ इयरे समणुन्निअरे य सव्वेवि ॥ ९६ ॥

'दृष्टाः' उपलब्धाः सामान्यतो झटिति क्व ?–'समवसरणे' स्नात्रादौ, न च ज्ञातगुणास्ते भवेयुः श्रमणाः, 'सुयगुणपसत्थ इयरे'त्ति इतरे इति अदृष्टानां परामर्शः, ते अदृष्टाः सुयगुणेति–श्रुतगुणा अपि सन्तः पसत्थत्ति–प्रशस्तश्रुतगुणा गृह्यन्ते, तदनेन सुयगुण पसत्थत्ति भावितं, इयरेत्ति–इतरे इत्यदृष्टानां परामर्शः ते अदृष्टाः श्रुतगुणा इत्ययमनन्तरगाथोपन्यस्तभङ्गकः एकः सूचित इति 'समणुन्नियरे य सव्वेऽवि' सर्वेऽपि चैते श्रुतादिगुणभेदभिन्नाः साधवः समनोज्ञाः इतरे च–असमनोज्ञा इति च, साम्भोगिका असाम्भोगिकाश्चेत्यर्थः । इदानीमेषां श्रमणानां सर्वेषां मध्ये ये शुद्धास्तेष्वेव संवसनं करोति नेतरेष्विति, अमुमेवार्थं प्रतिपादयन्नाह—

जइ सुद्धा संवासो होइ असुद्धाण दुविह पडिलेहा । अब्भिंतरबाहिरिआ दुविहा दव्वे अ भावे अ ॥ ९७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||९७||

दीप अनुक्रम [१६५]

यदि शुद्धाः–संवासशुद्धाः, के अभिधीयन्ते ?, प्रशस्तश्रुतगुणास्तथा प्रशस्ताज्ञातगुणाश्च, तेष्वेवंविधेषु संवासं–संवसनं करोति। 'होइ असुद्धाण दुविह पडिलेहा' भवत्यशुद्धानां द्विविधा प्रत्युपेक्षणा, तत्राशुद्धा अप्रशस्तश्रुतगुणास्तथाऽप्रशस्तज्ञातगुणा अशुद्धा अभिधीयन्ते, तद्विषयं द्विविधं प्रत्युपेक्षणं भवति, कथम् ?–'अब्भितरबाहिरिआ' एका अभ्यन्तरप्रत्युपेक्षणाऽभ्यन्तरेत्यर्थः, अपरा बाह्यप्रत्युपेक्षणा, 'दुविहा दव्वे य भावे य' एकैका च प्रत्युपेक्षणा द्विविधा, 'दव्वे य भावे य' याऽसौ अभ्यन्तरा प्रत्युपेक्षणा सा द्रव्यतो भावतश्च भवति, याऽपि बाह्या प्रत्युपेक्षणा साऽपि द्रव्यतो भावतश्चेति द्विविधैव। इदानीं बाह्यां प्रत्युपेक्षणां द्रव्यतः प्रतिपादयन्नाह—

घट्टाइतलिअदंडग पाउय संलग्गिरी अणुवओगो। दिसि पवणगामसूरिअ वितहं उच्छोलणा दव्वे ॥ ९८ ॥

'घट्टादि'त्ति घृष्टा जङ्घासु दत्तफेनका, आदिशब्दात्तु मट्टा तुप्पोट्टादयो गृह्यन्ते, 'तलिग'त्ति सोपानत्काः–उपानद्दृढपादाः 'दंडग'त्ति चित्रलतादण्डकैर्गृहीतैः 'पाउय'मिति प्रावृतं यथा संयत्यः प्रावृण्वन्ति कल्पं तथा तैः प्रावृतं 'संलग्गिरि'त्ति परस्परं हस्तावलगिकया व्रजन्ति, अथवा संलग्गिरीति युगलिता व्रजन्ति, 'अणुवओगो'त्ति अनुपयुक्ता व्रजन्ति, ईर्यायामनुपयुक्ताः, एवं बहिर्भुवं गच्छन्तः प्रत्युपेक्षिताः, इदानीं सञ्ज्ञाभूमीप्राप्तान् संयतान् प्रत्युपेक्षते–'दिसि'त्ति आगमोक्तदिग्विपर्यासेनोपविशन्ति, 'पवण'त्ति पवनस्य प्रतिकूलमुपवेष्टव्यं ते तु आनुकूल्येन पवनस्योपविशन्ति, 'गाम'त्ति ग्रामस्याभिमुखेनोपवेष्टव्यं, ते तु पृष्ठं दत्त्वोपविशन्ति, 'सूरिय'त्ति सूर्यस्याभिमुखेनोपवेष्टव्यं, ते तु पृष्ठं दत्त्वोपविशन्ति। एवमुक्तेन प्रकारेण वितथं कुर्वन्ति, 'उच्छोलण'त्ति पुरीषमुत्सृज्य प्रभूतेन पयसा क्षालनं कुर्वन्ति, 'दव्वे'त्ति द्वारपरामर्शः, इयं

ओ० १०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ५५ ॥

तावद्वाह्या द्रव्यतः प्रत्युपेक्षणा । आह–अनन्तरमाधायां अभ्यन्तरायाः प्रत्युपेक्षणायाः प्रथममुपन्यासः कृतः, ततस्तामेव व्याख्यातुं युक्तं न तु बाह्यामिति, उच्यते, प्रथमं तावद्बाह्यैव प्रत्युपेक्षणा भवति पश्चादाभ्यन्तरा, अतो बाह्यैव व्याख्यायते, आह–किमितीत्थमेव नोपन्यासः कृतः ?, उच्यते, अभ्यन्तरप्रत्युपेक्षणायाः प्राधान्यख्यापनार्थमादावुपन्यासः कृतः । एवं तावद्बाह्या प्रत्युपेक्षणा द्रव्यतोऽभिहिता, इदानीं बाह्यां प्रत्युपेक्षणां भावतः प्रतिपादयन्नाह—

विकहा हसिउग्गाइय भिन्नकहा चक्कवालछलिअकहा । माणुसतिरिआवाए दायणआयरणया भावे ॥ ९९ ॥

'विकथा'विरूपा कथा अथवा 'विकथा' स्त्रीभक्तचौरजनपदकथा तां कुर्वन्तो व्रजन्ति, तथा हसन्त उद्गायन्तश्च व्रजन्ति, 'भिन्नकह'त्ति मैथुनसंबद्धा राभसिका कथा तां कुर्वन्तो व्रजन्ति, 'चक्कवाल'त्ति मण्डलबन्धेन स्थिता व्रजन्ति, 'छलिअकह'त्ति षट्प्रज्ञकगाथाः पठन्तो गच्छन्ति, तथा 'माणुसतिरिआवाए'त्ति मानुषापाते तिर्यगापाते सञ्ज्ञां व्युत्सृजन्ति, 'दायण'त्ति (दर्शनता) परस्परस्याङ्गुल्या किमपि दर्शयन्ति इयमेव आचरणता दर्शनताऽऽचरणता,'भावे'त्ति द्वारपरामर्शः, इयं बाह्यभावमङ्गीकृत्य प्रत्युपेक्षणा, एवं बाह्यप्रत्युपेक्षणयाऽशुद्धानपि साधून् दृष्ट्वा प्रविशति, कदाचित्ते गुरोरनादेशेनैव एवं कुर्वन्ति । एतदेव प्रतिपादयन्नाह—

बाहिं जइवि असुद्धा तहावि गंतूण गुरुपरिक्खा उ। अहव विसुद्धा तहवि उ अंतो दुविहा उ पडिलेहा ॥१००॥

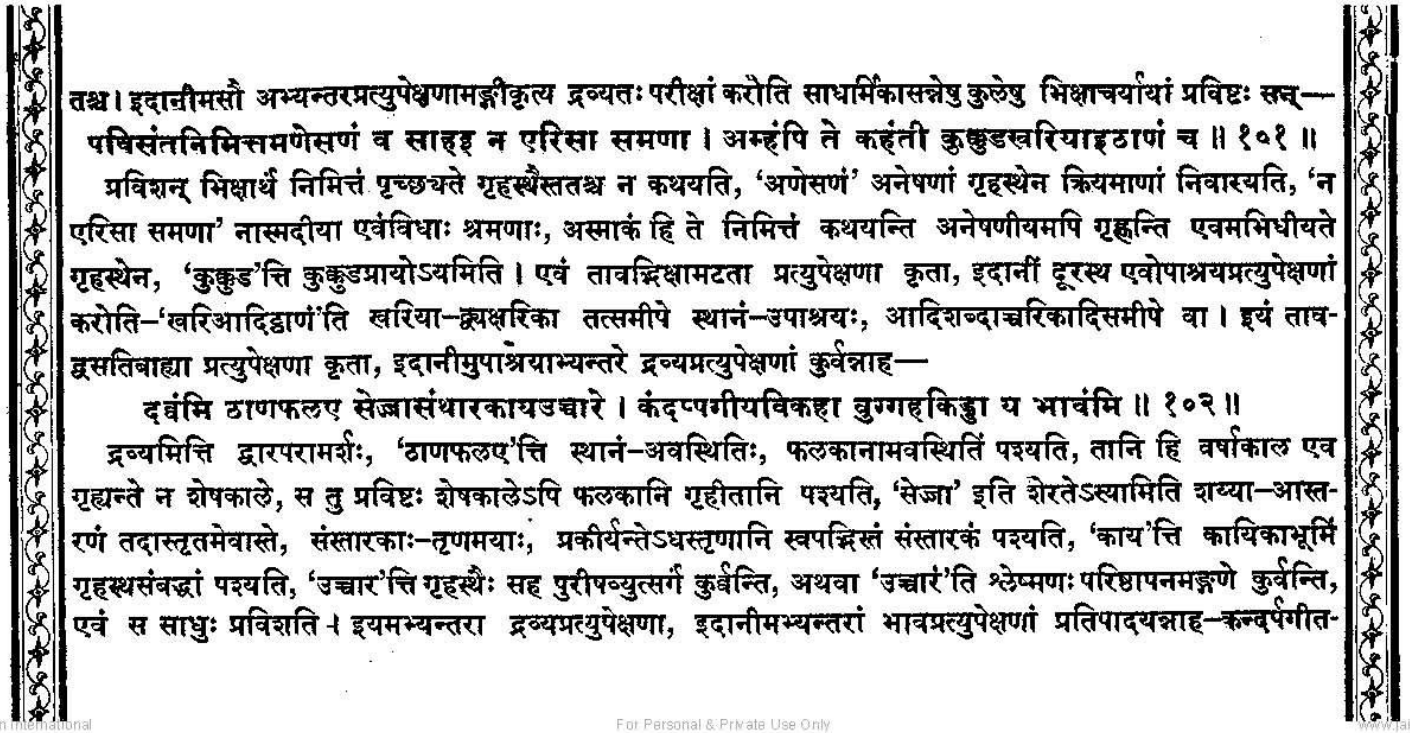
बाह्यप्रत्युपेक्षणामङ्गीकृत्य यद्यप्यशुद्धास्तथाऽपि प्रविश्य गुरोः परीक्षा कर्त्तव्या, अथवा बाह्यप्रत्युपेक्षणया विशुद्धा एव भवंति तथाऽपि त्वन्तः–अभ्यन्तरतः अभ्यन्तरां प्रत्युपेक्षणामाश्रित्य द्विविधैव प्रत्युपेक्षणा भवति कर्त्तव्या–द्रव्यतो भाव-

साधुपरीक्षा नि. ९८-९९-१००

॥ ५५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१००|| दीप अनुक्रम [१६८]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः



तश्च। इदानीमसौ अभ्यन्तरप्रत्युपेक्षणामङ्गीकृत्य द्रव्यतः परीक्षां करोति साधर्मिकासन्नेषु कुलेषु भिक्षाचर्यायां प्रविष्टः सन्—

पविसंतनिमित्तमणेसणं व साहइ न एरिसा समणा। अम्हंपि ते कहंती कुक्कुडखरियाइठाणं च ॥ १०१ ॥

प्रविशन् भिक्षार्थं निमित्तं पृच्छयते गृहस्थैस्ततश्च न कथयति, 'अणेसणं' अनेषणां गृहस्थेन क्रियमाणां निवारयति, 'न एरिसा समणा' नास्मदीया एवंविधाः श्रमणाः, अस्माकं हि ते निमित्तं कथयन्ति अनेषणीयमपि गृह्णन्ति एवमभिधीयते गृहस्थेन, 'कुक्कुड'त्ति कुक्कुडप्रायोऽयमिति। एवं तावद्भिक्षामटता प्रत्युपेक्षणा कृता, इदानीं दूरस्थ एवोपाश्रयप्रत्युपेक्षणां करोति–'खरिआदिट्ठाणं'ति खरिया–द्व्यक्षरिका तत्समीपे स्थानं–उपाश्रयः, आदिशब्दाच्चरिकादिसमीपे वा। इयं तावद्बहिर्वृत्तिबाह्या प्रत्युपेक्षणा कृता, इदानीमुपाश्रयाभ्यन्तरे द्रव्यप्रत्युपेक्षणां कुर्वन्नाह—

दव्वंमि ठाणफलए सेज्जासंथारकायउच्चारे। कंदप्पगीयविकहा वुग्गहकिड्डा य भावंमि ॥ १०२ ॥

द्रव्यमित्ति द्वारपरामर्शः, 'ठाणफलए'त्ति स्थानं–अवस्थितिः, फलकानामवस्थितिं पश्यति, तानि हि वर्षाकाल एव गृह्यन्ते न शेषकाले, स तु प्रविष्टः शेषकालेऽपि फलकानि गृहीतानि पश्यति, 'सेज्जा' इति शेरतेऽस्यामिति शय्या–आस्तरणं तदास्तृतमेवास्ते, संस्तारकाः–तृणमयाः, प्रकीर्यन्तेऽधस्तृणानि स्वपद्भिस्तं संस्तारकं पश्यति, 'काय'त्ति कायिकाभूमिं गृहस्थसंबद्धां पश्यति, 'उच्चार'त्ति गृहस्थैः सह पुरीषव्युत्सर्गं कुर्वन्ति, अथवा 'उच्चारं'ति श्लेष्मणः परिष्ठापनमङ्गणे कुर्वन्ति, एवं स साधुः प्रविशति। इयमभ्यन्तरा द्रव्यप्रत्युपेक्षणा, इदानीमभ्यन्तरां भावप्रत्युपेक्षणां प्रतिपादयन्नाह–कन्दर्पगीत-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१०२||

दीप अनुक्रम [१७०]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ५६ ॥

विकथाः कुर्वन्ति, तथा 'वुग्गह'त्ति विग्रहः–कलहस्तं कुर्वन्ति, 'किड्ड'त्ति पाशककपर्दकैः क्रीडन्ति, 'भावंमि' भावविषया प्रत्युपेक्षणा । उक्ता अभ्यन्तरा भावप्रत्युपेक्षणा, इदानीमेतद्दोषवर्जितेषु संयतेषु प्रविशति, एतदेवाह—

संविग्गेसु पवेसो संविग्गऽमणुन्न बाहि किइकम्मं । ठवणकुलापुच्छणया एत्तोच्चिअ गच्छ गवेसणया ॥१०३॥

संविग्नाः–मोक्षाभिलाषिणस्तेषु प्रवेशः कर्त्तव्यः समनोज्ञेषु । अथ समनोज्ञा न सन्ति ततः 'संविग्गऽमणुण्ण'त्ति संविज्ञेषु अमनोज्ञेषु प्रवेशः, तत्र च 'बाहि'त्ति बहिरेव प्रविशन्नुपकरणमेकस्मिन् प्रदेशे मुञ्चति, ततः 'कितिकम्मं'ति तदुत्तरकालं वंदनं करोति, ततः 'ठवणकुलापुच्छणया' स्थापनाकुलानि पृच्छति भिक्षार्थं, ततस्ते कथयन्ति–अमुकत्रामुकानि । 'एत्तोच्चिअ गच्छ'त्ति अस्या एव भिक्षाटनभूमेर्गमिष्यामि, इत्येवं ब्रवीति । 'गवेसणय'त्ति तं तस्माद्ग्रामादेर्निर्गतं न निर्गतमिति वा एवं गवेषणं कुर्वन्ति । उक्तं साधर्मिकद्वारम्, इदानीं वसतिद्वारमभिधीयते, स च साधुर्गच्छन् अस्तमनसमये वसतिं निरूपयति, सा च एषु स्थानेषु निरूपणीया—

संविग्गसंनिभद्दग सुन्ने निइयाइ मोत्तुऽहाच्छंदे । वच्चंतस्सेतेसुं वसहीए मग्गणा होइ ॥ १०४ ॥

'संविग्गेसु वसतिमग्गणा होइ' संविग्नेषु वसतिमार्गणा कर्त्तव्या, सञ्ज्ञी–श्राद्धः भद्रकः–संविग्नभावितस्तस्मिन् वा वसतिमार्गणा कर्त्तव्या, तदभावे शून्यगृहादौ वसतिमार्गणा कर्त्तव्या, 'णितियादि'त्ति नित्यवासादिषु, आदिशब्दात्पार्श्वस्थादयस्त्रयो गृह्यन्ते, तेषु वसतिमार्गणं कर्त्तव्यं, 'मोत्तुऽहाच्छंदे'त्ति मुक्त्वा यथाच्छन्दान् स्वच्छन्दानित्यर्थः, तत्र वसतिर्न मृग्यते,

साधुपरीक्षा नि. १०१-१०२-१०३ स्थानविधिः नि. १०३-१०४

॥ ५६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	वसति-स्थान संबंधी विधानं

व्रजतः साधोरेतेष्वनन्तरोदितेषु वसतेर्मार्गणा–अन्वेषणं कर्त्तव्यम् । इयं द्वारगाथा वर्त्तते । इदानीमेतामेव गाथां प्रतिपदं व्याख्यानयन्नाह—

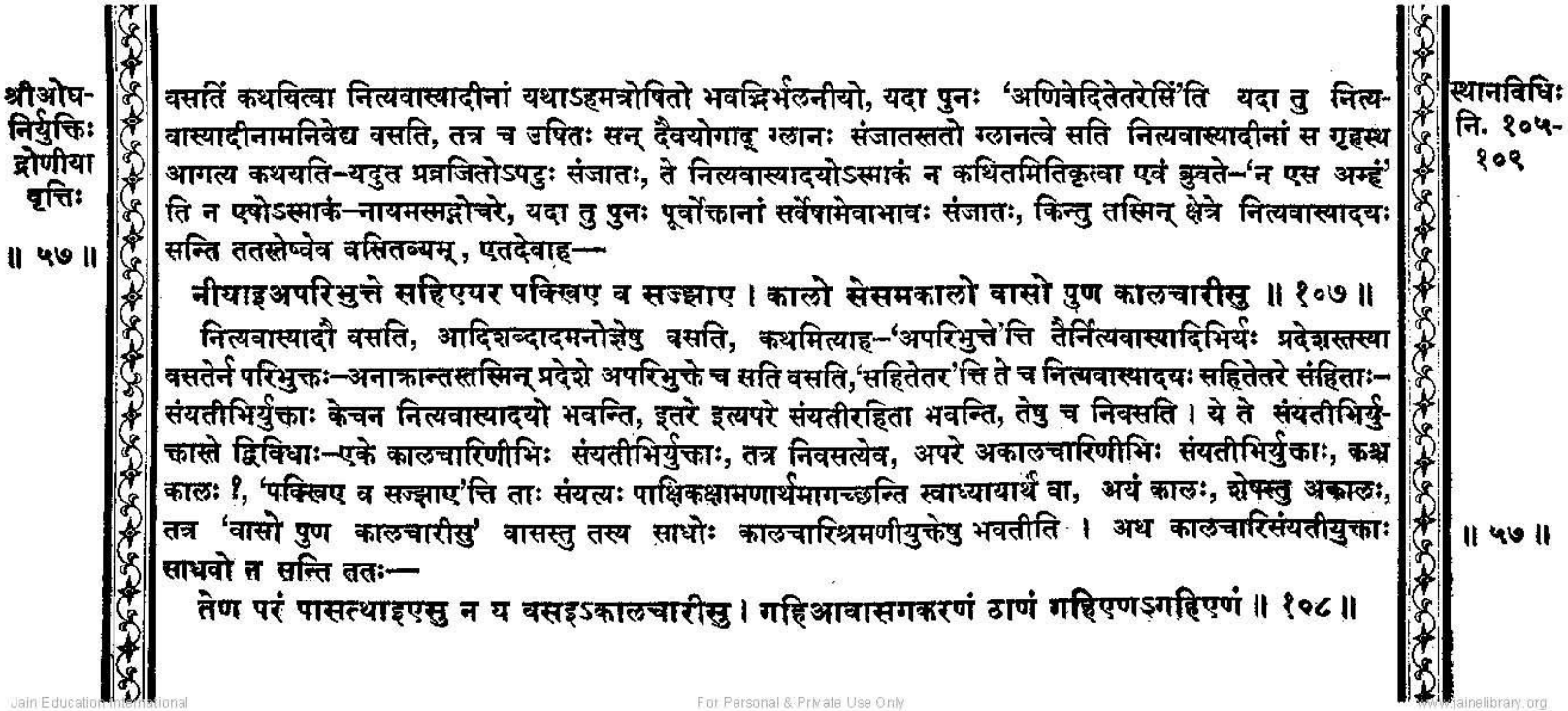
वसही समणुण्णेसुं निइयादमणुण्ण अण्णहि निवेए। संनिगिहि इत्थिरहिए सहिए वीसुं घरकुडीए ॥ १०५॥

वसतिरन्वेषणीया, क्व ?, अत आह–'समणुण्णेसुं' संविग्नसमनोज्ञेषु आदौ वसतिरन्वेषणीया, 'नितियादमणुन्न अण्णहि निवेए' अथ तु तत्र नित्यवास्यादयः अमनोज्ञा अन्यसामाचारीप्रतिबद्धा वा भवन्ति, आदिशब्दात्पार्श्वस्थादयो गृह्यन्ते, ततश्चैतेषु विद्यमानेषु नैतेषां मध्ये निवसितव्यं, किन्तु 'अण्णहि' अन्यत्र वसतिं कृत्वा 'णिवेदे' निवेदयित्वा एषामेव–यथाऽमुष्मिन् अहं वसिष्यामि प्रतिजागरणीयो भवद्भिरिति, क्वासौ निवसति ? किंविशिष्टे वा गृहे निवसति ?–सञ्ज्ञी–श्रावकः, स च यदि महिलया रहितस्ततस्तद्गृहे वसति, अथासौ नास्ति ततः 'गिहि'त्ति गृही भद्रकोऽत्र सूचितः, स च स्त्रिया रहितस्तत्समीपे वसति, अथ भद्रकोऽपि स्त्रीरहितो नास्ति किन्तु सहितः स्त्रिया, ततः सहिते–स्त्रीयुक्ते सति 'वीसुं'ति पृथग् निवसति, क्व ?–'घरकुटीए' तस्यैव गृहस्थस्य बहिरवस्थितं धनकादि, अथवा तत्फलहिकान्तर्गतकुड्यां वा निवसति । अथ भद्रकादिगृहं नास्ति ततः शून्यगृहे निवसति । किंविशिष्टे ?, अत आह—

अहुणुव्वासिअ सकवाड निब्बिले निच्चले वसइ सुण्णो । अनिवेइएयरेसिं गेलन्ने न एस अम्हंति ॥ १०६ ॥

'अहुणुव्वासिय'त्ति अधुना यदुद्वसितं तदपि सकपाटं यदि भवति तदपि निर्बिलं भवति निर्बिलमपि यदि निश्चलं भवति न पतनभयं यत्र तत्र वसितव्यं, तत्र चैते गाथोपन्यस्तानां चतुर्णां पदानां षोडश भङ्गका निष्पद्यन्ते, स चैवंविधे गृहे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ५७ ॥

वसतिं कथयित्वा नित्यवास्यादीनां यथाऽहमत्रोषितो भवद्भिर्भलनीयो, यदा पुनः 'अणिवेदितेतरेसिं'ति यदा तु नित्यवास्यादीनामनिवेद्य वसति, तत्र च उषितः सन् दैवयोगाद् ग्लानः संजातस्ततो ग्लानत्वे सति नित्यवास्यादीनां स गृहस्थ आगत्य कथयति–यदुत प्रव्रजितोऽपटुः संजातः, ते नित्यवास्यादयोऽस्माकं न कथितमितिकृत्वा एवं ब्रुवते–'न एस अम्हं'ति न एषोऽस्माकं–नायमस्मद्गोचरे, यदा तु पुनः पूर्वोक्तानां सर्वेषामेवाभावः संजातः, किन्तु तस्मिन् क्षेत्रे नित्यवास्यादयः सन्ति ततस्तेष्वेव वसितव्यम्, एतदेवाह—

नीयाइअपरिभुत्ते सहिएयर पक्खिए व सज्झाए । कालो सेसमकालो वासो पुण कालचारीसु ॥ १०७ ॥

नित्यवास्यादौ वसति, आदिशब्दादमनोज्ञेषु वसति, कथमित्याह–'अपरिभुत्ते'त्ति तैर्नित्यवास्यादिभिर्यः प्रदेशस्तस्या वसतेर्न परिभुक्तः–अनाक्रान्तस्तस्मिन् प्रदेशे अपरिभुक्ते च सति वसति,'सहितेतर'त्ति ते च नित्यवास्यादयः सहितेतरे संहिताः–संयतीभिर्युक्ताः केचन नित्यवास्यादयो भवन्ति, इतरे इत्यपरे संयतीरहिता भवन्ति, तेषु च निवसति । ये ते संयतीभिर्युक्तास्ते द्विविधाः–एके कालचारिणीभिः संयतीभिर्युक्ताः, तत्र निवसत्येव, अपरे अकालचारिणीभिः संयतीभिर्युक्ताः, कश्च कालः ?, 'पक्खिए व सज्झाए'त्ति ताः संयत्यः पाक्षिकक्षामणार्थमागच्छन्ति स्वाध्यायार्थं वा, अयं कालः, शेषस्तु अकालः, तत्र 'वासो पुण कालचारीसु' वासस्तु तस्य साधोः कालचारिश्रमणीयुक्तेषु भवतीति । अथ कालचारिसंयतीयुक्ताः साधवो न सन्ति ततः—

तेण परं पासत्थाइएसु न य वसइऽकालचारीसु । गहिआवासगकरणं ठाणं गहिएणऽगहिएणं ॥ १०८ ॥

स्थानविधिः नि. १०५-१०९

॥ ५७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ततः पार्श्वस्थादिषु वसति, न च वसत्यकालचारिसंयतीयुक्तेषु, तेषु च पार्श्वस्थादिषु को विधिरित्येतदाह–'गहिआवासगकरणं'ति गृहीतेन, केन ?–उपधिना, अनिक्षिप्तेनेत्यर्थः, आवश्यकं–प्रतिक्रमणं करोति, ततश्च प्रतिक्रान्ते सति तत्रैव 'ठाणं'ति कायोत्सर्गं करोति । 'गहिएणऽगहिएणं'ति यदि शक्नोति ततो गृहीतेनोपकरणेन कायोत्सर्गं करोति, अथ न शक्नोति ततः 'अगहिएणं'ति अगृहीतेनोपकरणेन कायोत्सर्गं करोति। अथ कायोत्सर्गं कर्तुं न शक्नोति श्रान्तः सन् ततः—

निसिअ तुयट्टण जग्गण विराहणभएण पासि निक्खिवइ । पासत्थाईणेवं निइए नवरं अपरिभुत्ते ॥ १०९ ॥

ततो निषण्णः–उपविष्टः गृहीतेनोपकरणेनास्ते 'तुअट्टणं'ति त्वग्वर्त्तनं–निमज्जनं करोति, गृहीतेनोपकरणेन करोति यदि शक्नोति, 'जग्गण'त्ति यदिवा गृहीतेनैवोपकरणेन जाग्रदास्ते, न स्वपिति, अथ जागरणमपि कर्तुं न शक्नोति ततः 'विराहणभएणं'ति विराधनाभयेन–पात्रकभङ्गभयेनोपकरणं पार्श्वे निक्षिपति, ततः स्वपिति निक्षिप्तोपकरणः सन्, 'पासत्थादीणेवं' पार्श्वस्थादीनां संबन्धिन्यां वसतौ एवंविधो विधिः–उक्तलक्षणो द्रष्टव्यः । 'निइए नवरं अपरिभुत्ते' नियतवासिनां वसतौ अयं विधिर्ज्ञेयः, यदुत–"गहिआवासयकरण"मित्यादि, यदि परं अपरिभुक्ते प्रदेशे पात्राद्युपकरणं स्थापयित्वा स्वपितीति । यथा पार्श्वस्थादिषु वसतो विधिरुक्तः, एवं अहाच्छंदेऽपि विधिरिति, अत आह—

एमेव अहाच्छंदे पडिहणणा झाण अज्झयण कन्ना । ठाणट्ठिओ निसामे सुवणाहरणा य गहिएणं ॥ ११० ॥

यः पार्श्वस्थादौ वसतो विधिः प्रतिपादितः एवमेव अहाच्छन्देऽपि विधिर्द्रष्टव्यः, केवलमयं विशेषः–'पडिहणण'त्ति तस्य अहाच्छन्दस्य धर्मकथां कुर्वतोऽसन्मार्गप्ररूपिकां तेन साधुना 'प्रतिहननं' व्याघातः कर्त्तव्यः, यथैतदेवं न भवति,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'झाण'त्ति अथ तद्धर्मकथायाः प्रतिघातं कर्तुं न शक्नोति ततो ध्यानं करोति, ध्यायन्नास्ते धर्मध्यानं, अथ तथाऽपि धर्मकथां करोति ततः 'अज्झयण'त्ति धर्मकथाव्याघातार्थमध्ययनं करोति, अथ तथाऽपि न तिष्ठति ततः कर्णौ स्थगयति धर्मकथाव्याघातार्थमिति । अथवा 'सुवणाहरणा य'त्ति सुप्तः सन् आहरणा–घोरयति घोरणं करोति महता शब्देन, सोऽपि निर्विण्णः सन् उपसंहरति धर्मकथामिति । उक्तं वसतिद्वारं, षष्ठे द्वारे स्थानस्थितो भवति इदमुक्तं, स च एभिः कारणैः—

असिवे ओमोयरिए रायदुट्ठे भए नदुट्ठाणे । फिडिअगिलाणे कालगवासे ठाणट्ठिओ होइ ॥ १११ ॥

'असिवे' देवताजनितोपद्रवे सति तस्मिन् यत्राभिप्रेतं गमनं कदाचिदपान्तराले वा भवति ततश्चानेन कारणेन स्थानस्थितो भवति, 'ओमोयरिए'त्ति दुर्भिक्षं विवक्षिते देशे जातमपान्तराले वा ततश्च स्थानस्थितो भवति, 'रायदुट्ठे'त्ति राजद्विष्टं कदाचित्तत्र भवत्यभिप्रेतदेशे अन्तराले वा तेनैव कारणेन स्थानस्थितो भवति, 'भए'त्ति म्लेच्छादिभयं विवक्षिते देशे अपान्तराले वा तेन कारणेन स्थानस्थितो भवति, 'नइ'त्ति कदाचिन्नदी विवक्षिते देशेऽपान्तराले वा भवति तेन प्रतिबन्धेन स्थानस्थितो भवति ('उट्ठिए'त्ति कदाचित्तत्रापान्तराले वा उद्वसितं जातं तेन कारणेन स्थानस्थितो भवति) 'फिडिय'त्ति कदाचिदसावाचार्यः तस्मात् क्षेत्रात् च्युतः–अपगतो भवति ततश्च तावदास्ते यावद्वार्त्ता भवति, अनेन कारणेन स्थानस्थितो भवति । 'गिलाणे'त्ति ग्लानः कदाचिन्मनाग् भवति स्वयं कदाचिदन्यः कश्चिद् ग्लानो भवति तेन प्रतिबन्धेन स्थानस्थितो भवति । 'कालगय'त्ति कदाचिदसावाचार्यः कालगतो–मृतो वा भवति, यावत्तन्निश्चयो भवति तावत्स्थान-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१११||

दीप अनुक्रम [१७९]

स्थितो भवति । 'वासं'ति वर्षाकालः संजातस्ततस्तत्प्रतिबन्धात्स्थानस्थितो भवति–तत्रैव ग्रामादावास्ते । इयं द्वारगाथा, इदानीं निर्युक्तिकार एव कानिचिद्वाराणि व्याख्यानयन्नाह—

तत्थेव अंतरा वा असिवादी सोउ परिरयस्सऽसइं। संचिक्खे जाव सिवं अहवावी ते तओ फिडिआ ॥११२॥

'तत्रे'ति योऽसौ विवक्षितो देशः 'अन्तरा' अन्तराले वा असिवादयो जाता इति 'श्रुत्वा' आकर्ण्य, आदिग्रहणादवमोदरिकाराजद्विष्टभयानि परिगृह्यन्ते 'परिरयस्सऽसइ'त्ति भमाडयस्स 'असति' अभावे तिष्ठति, एतदुक्तं भवति–यदि गन्तुं शक्नोति भ्रमिणा ततोऽपान्तरालं परिहृत्याभिलषितं स्थानं गच्छति । अथ न शक्यते गन्तुं ततः 'संचिक्खे'त्ति संतिष्ठेत्, कियन्तं कालं यावदत आह–'जाव सिवं' 'यावच्छिवं' निरुपद्रवं जातमिति । 'अहवावी ते ततो फिडिआ' अथवा 'ते' आचार्यादयः 'तस्मात्' क्षेत्रात् 'अपगताः' भ्रष्टा इति, ततश्च वार्त्तोपलम्भं यावत्तिष्ठति । इदानीं भाष्यकृच्छेषद्वाराणि व्याख्यानयन्नाह—

पुण्णा व नई चउमासवाहिणी नवि अ कोइ उत्तारे। तत्थंतरा व देसो व उट्ठिओ न य लब्भइ पवत्ती ॥६५॥ (भा०)

'पूर्णा' भृता, का ?–नदी, किंविशिष्टा ?–चतुर्मासवाहिनी, न कश्चिदुत्तारयति, ततोऽपान्तराल एव तिष्ठति । 'तत्र' अन्तराले वा देशः 'उत्थितः' उद्वसितः, न च 'प्रवृत्तिः' वार्त्ता लभ्यते अतस्तिष्ठति तावत्,—

फिडिएसु जा पवित्ती सयं गिलाणो परं व पडियरइ। कालगया व पवत्ती ससंकिए जाव निस्संकं ॥ ६६ ॥ (भा०)

'फिडितेसु' तस्मात्क्षेत्रादपगतेषु सत्सु 'जा पवत्ती' यावद्वार्त्ता भवति तावत्तिष्ठति, तथा 'सयं गिलाणो' स्वयमेव ग्लानो

स्थानकारणानि नि॰ ११२ भा.६५-६६

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जातस्ततस्तिष्ठति, 'परं व पडियरइ' अन्यं वा ग्लानं सन्तं प्रतिचरति । द्वारम् । 'कालगया व पवत्ती' अथवा कालगतास्त आचार्या इत्येवंभूताः प्रवृत्तिः श्रुता–अतः 'ससंकिते जाव नीसंकं' सशङ्कायां–वार्त्तायामनिश्चितायां तावदास्ते यावन्निःशङ्कं संजातमिति ॥

वासासुं उब्भिण्णा बीयाईं तेण अंतरा चिट्ठे । तेगिच्छि भोइ सारक्खणहट्ठे ठाणमिच्छंति ॥ ११३ ॥

वर्षासु उद्भिन्ना बीजादयः, आदिशब्दादनन्तकायः, तेन कारणेनापान्तराल एव तिष्ठति, तत्र च वर्षाकालप्रतिबन्धाद्ग्रामादौ तिष्ठन् किं करोति ?–'तेगिच्छि' चिकित्सकः–वैद्यस्तमापृच्छति, यथा त्वया ममेह तिष्ठतो मन्दस्य भलनीयम् । 'भोइ'त्ति 'भोगिकं' ग्रामस्वामिनं पृच्छति, किमर्थं पुनर्वैद्यभोगिकयोः प्रच्छनं करोत्यत आह–'सारक्खणहट्ठे' वैद्यं पृच्छति मन्दतायां सत्यां दृढीकरणार्थं, भोगिकं पृच्छति संरक्षणार्थं परिभवादेः, ततः स्थानं–वसनमिच्छन्ति, केष्वित्यत आह—

संविग्गसंनिभद्दग अहप्पहाणेसु भोइयघरे वा । ठवणा आयरियस्सा सामायारी पउंजणया ॥ ११४ ॥

वैद्यभोगिकयोः कथयित्वा संविग्नेषु–मोक्षाभिलाषिषु तिष्ठति । 'सण्णि'त्ति सञ्ज्ञी–श्रावकस्तद्गृहे तिष्ठति, भद्रकः साधूनां तद्गृहे वा निवासं करोति । 'अहप्पहाणेसु'त्ति यथाप्रधानेष्विति–यो यत्र ग्रामादौ प्रधानः तेषु यथाप्रधानेष्वेव प्रधानतः तिष्ठति । एतेषामभावे 'भोइयघरे व'त्ति 'भोगिकगृहे वा' ग्रामस्वामिनो गृहे वा तिष्ठति, तत्र च तिष्ठन् किं करोतीत्यत आह–'ठवणा आयरियस्सा' दण्डकादिकमाचार्यं कल्पयति निराबाधे प्रदेशे, अयं ममाचार्य इति, तस्य चाग्रतः सकलां चक्रवालसामाचारीं प्रयुङ्क्ते, निवेद्य करोतीत्यर्थः । एष एकः कारणिकः, एतच्च कारणिकद्वारं,—

चतुर्मासीः स्थानविधि-नि.११३-११४

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||११५||

दीप अनुक्रम [१८५]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

एवं ता कारणिओ दुइज्जइ जुत्त अप्पमाएणं । निक्कारणिअं एत्तो चहओ आहिंडिओ चेव ॥ ११५ ॥

एवं तावत् कारणिको 'दूइज्जइ'विहरति, कथं विहरति ?–'जुत्तो अप्पमाएणं' अप्रमादेन युक्तः प्रयत्नपर इत्यर्थः, निष्कारणिकः इतः अत ऊर्ध्वमुच्यते,स द्विविधः–चइओ–त्याजितः सारणावारणादिभिस्त्याजितः, आहिण्डकः–अगीतार्थः स्तूपादि दर्शनप्रवृत्तः । तत्र तावत्त्याजित उच्यते—

जह सागरंमि मीणा संखोहं सागरस्स असहंता । निंति तओ सुहकामी निग्गयमित्ता विनस्संति ॥ ११६ ॥

यथा 'सागरे' समुद्रे 'मीनाः' मत्स्याः संक्षोभं सागरस्य असहमाना निर्गच्छन्ति ततः समुद्रात् 'सुखकामिनः' सुखाभिलाषिणो, निर्गतमात्राश्च विनश्यन्ति ॥

एवं गच्छसमुद्दे सारणवीईहिं चोइया संता । निंति तओ सुहकामी मीणा व जहा विणस्संति ॥ ११७ ॥

एवं गच्छसमुद्रे सारणावारणा एव वीचयस्ताभिस्त्याजिताः सन्तो निर्गच्छन्ति ततो गच्छसमुद्रात्सुखाभिलाषिणो मीना इव–मीना यथा तथा विनश्यन्ति । उक्तं त्याजितद्वारम्, इदानीमाहिण्डक उच्यते—

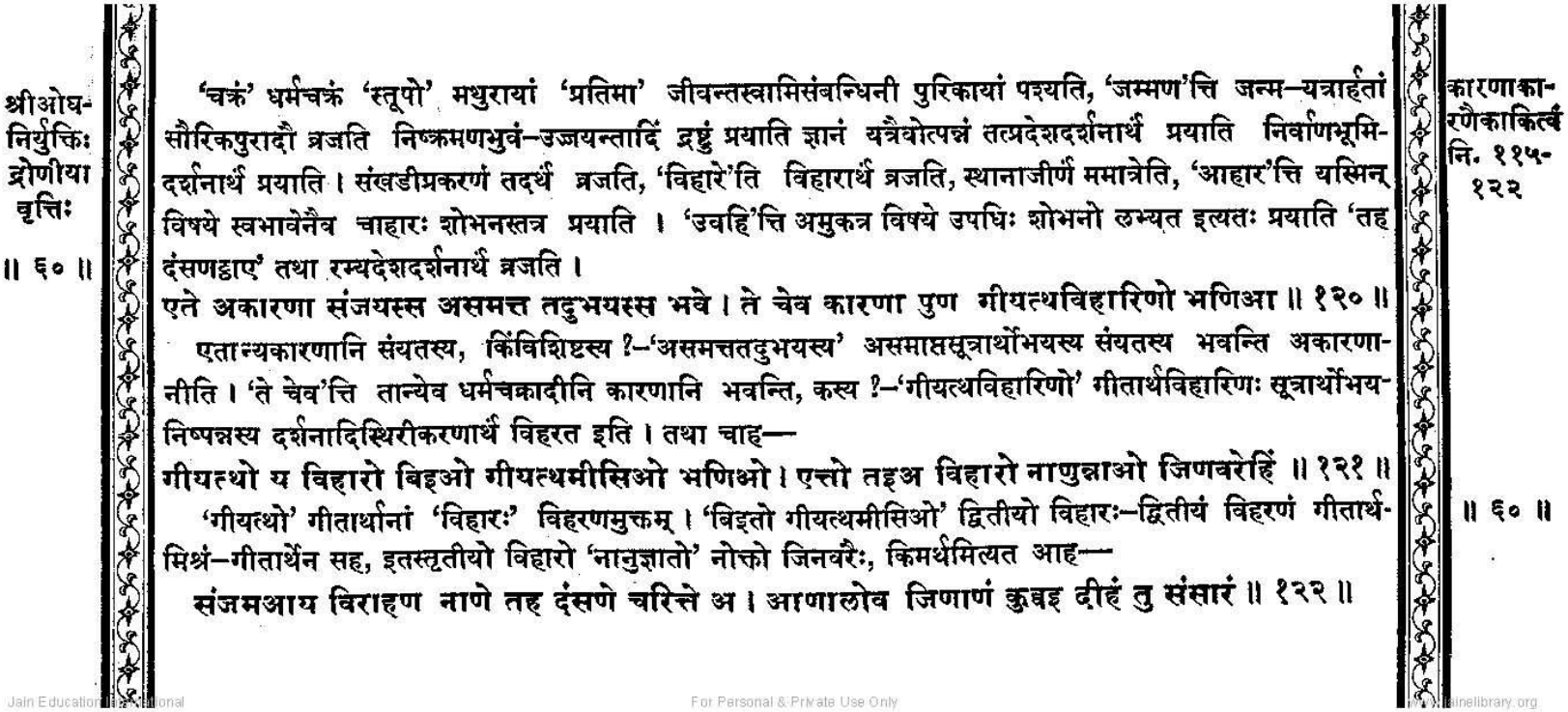
उवएस अणुवएसा दुविहा आहिंडआ समासेणं । उवएस देसदंसण अणुवएसा इमे होंति ॥ ११८ ॥

उपदेशहिण्डका अनुपदेशहिण्डकाश्च, एवं द्विविधा हिण्डकाः 'समासतः' सङ्क्षेपेण । 'उवएस'त्ति उपदेशहिण्डको यो देशदर्शनार्थं सूत्रार्थोभयनिष्पन्नो 'हिण्डते' विहरति । 'अणुवदेस'त्ति अनुपदेशाहिण्डका इमे भवन्ति वक्ष्यमाणकाः—

चक्के थूभे पडिमा जम्मण निक्खमण नाण निव्वाणे । संखडि विहार आहार उवहि तह दंसणट्ठाए ॥ ११९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः



श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ६० ॥

'चक्रं' धर्मचक्रं 'स्तूपो' मथुरायां 'प्रतिमा' जीवन्तस्वामिसंबन्धिनी पुरिकायां पश्यति, 'जम्मण'त्ति जन्म–यत्रार्हतां सौरिकपुरादौ व्रजति निष्क्रमणभुवं–उज्जयन्तादिं द्रष्टुं प्रयाति ज्ञानं यत्रैवोत्पन्नं तत्प्रदेशदर्शनार्थं प्रयाति निर्वाणभूमि-दर्शनार्थं प्रयाति । संखडीप्रकरणं तदर्थं व्रजति, 'विहारे'ति विहारार्थं व्रजति, स्थानाजीर्णं ममात्रेति, 'आहार'त्ति यस्मिन् विषये स्वभावेनैव चाहारः शोभनस्तत्र प्रयाति । 'उवहि'त्ति अमुकत्र विषये उपधिः शोभनो लभ्यत इत्यतः प्रयाति 'तह दंसणट्ठाए' तथा रम्यदेशदर्शनार्थं व्रजति ।

एते अकारणा संजयस्स असमत्त तदुभयस्स भवे । ते चेव कारणा पुण गीयत्थविहारिणो भणिआ ॥ १२० ॥

एतान्यकारणानि संयतस्य, किंविशिष्टस्य ?–'असमत्ततदुभयस्य' असमाप्तसूत्रार्थोभयस्य संयतस्य भवन्ति अकारणा-नीति । 'ते चेव'त्ति तान्येव धर्मचक्रादीनि कारणानि भवन्ति, कस्य ?–'गीयत्थविहारिणो' गीतार्थविहारिणः सूत्रार्थोभय-निष्पन्नस्य दर्शनादिस्थिरीकरणार्थं विहरत इति । तथा चाह—

गीयत्थो य विहारो बिइओ गीयत्थमीसिओ भणिओ । एत्तो तइअ विहारो नाणुन्नाओ जिणवरेहिं ॥ १२१ ॥

'गीयत्थो' गीतार्थानां 'विहारः' विहरणमुक्तम् । 'बिइतो गीयत्थमीसिओ' द्वितीयो विहारः–द्वितीयं विहरणं गीतार्थ-मिश्रं–गीतार्थेन सह, इतस्तृतीयो विहारो 'नानुज्ञातो' नोक्तो जिनवरैः, किमर्थमित्यत आह—

संजमआय विराहण नाणे तह दंसणे चरित्ते अ । आणालोव जिणाणं कुवइ दीहं तु संसारं ॥ १२२ ॥

कारणाकारणैकाकित्वं नि. ११५-१२२

॥ ६० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संयमविराधना आत्मविराधना तथा ज्ञानदर्शनचारित्राणां विराधना आज्ञालोपश्च जिनानां कृतो भवति, तथा अगीतार्थ एकाकी हिण्डन् करोति दीर्घं च संसारमिति । इदानीमेनामेव गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह—

संजमओ छक्काया आयाकंटऽट्ठिऽजीरगेलण्णे । नाणे नाणायारो दंसण चरगाइवुग्गाहे ॥ ६७ ॥ (भा०)

'संजमतो छक्काया' संयमविराधनामङ्गीकृत्य षट्कायविराधना संभवति । 'आय'त्ति आत्मविराधना संभवति, कथं ?, 'कंटऽट्ठिऽजीरगेलण्णे' कण्टकेभ्यः अस्थिशकलेभ्यः आहारस्याचरणेन तथा ग्लानत्वेन । 'नाणे' ज्ञानविराधना भवति, कथं ? स हिण्डन् ज्ञानाचारं न करोति, 'दंसण चरगाइउग्गाहे' दर्शनविराधना, कथं संभवति ?, स ह्यगीतार्थश्चरकादिभिर्व्युद्ग्राह्यते, ततश्चापैति दर्शनम्, किं पुनः कारणं चारित्रं न व्याख्यातम् ?, उच्यते, ज्ञानदर्शनाभावे चारित्रस्याप्यभाव एव द्रष्टव्यः । द्वारम् । एवं तावदेकः कारणिको 'निक्कारणिओ य सोवि ठाणट्ठिओ दूतिज्जंतओ य भणिओ' इदानीमनेकान् प्रत्युपेक्षकान् प्रतिपादयन्नाह—

णेगावि होंति दुविहा कारणनिक्कारणे दुविहभेओ । जं एत्थं नाणत्तं तमहं वोच्छं समासेण ॥ १२३ ॥

अनेकेऽपि द्विविधा भवन्ति, कतमेन द्वैविध्येन ?, अत आह–'कारणनिक्कारणि'त्ति कारणमङ्गीकृत्य अकारणं चाङ्गीकृत्य द्विविधाः, 'दुविह भेद'त्ति पुनर्द्विविधो भेदः, ये ते कारणिकास्ते स्थानस्थिता दूइज्जमानाश्च, येऽपि ते निष्कारणिकास्तेऽपि स्थानस्थिता दूइज्जमानाश्च । तत्थ जे कारणिआ दूतिज्जंतगा ठाणट्ठिआ अ ते तहेव असिवादीकारणेहिं जहापुव्वं एगस्स गमणविहिं वक्खाणंतेण भणिअं, जेवि निक्कारणिआ दूइज्जंता ठाणट्ठिआ य तेऽवि तह चेव थूभाइहिं,

ओ० ११

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ६१ ॥

'जं एत्थ नाणत्तं' यदत्र नानात्वं–यो विशेषस्तमहं वक्ष्ये समासतः । इदानीमनन्तरगाथोक्ताः सर्व एव सामान्येन चतुर्विधाः साधवो भवन्ति ।

जयमाणा विहरंता ओहाणाहिंडगा चउद्धा उ । जयमाणा तत्थ तिहा नाणट्ठा दंसणचरित्ते ॥ १२४ ॥

'यती प्रयत्ने' 'यतमानाः' प्रयत्नपराः 'विहरन्तः' विहरमाणा मासकल्पेन पर्यटन्तः 'ओहाण'त्ति अवधावमानाः, प्रव्रज्यातोऽवसर्पन्त इत्यर्थः, तथा 'आहिण्डकाः' भ्रमणशीलाः, एवमेते चतुर्विधाः, इदानीं "यथोद्देशं निर्देशः"इति न्यायाद्यतमाना उच्यन्ते–'जयमाणा तत्थ तिहा' यतमानास्त्रिप्रकाराः, कथं ?, 'नाणदंसणचरित्ते' तत्थ णाणट्ठा कथं जयन्ति ?, जदि आयरिआणं जं सुअं अत्थो वा पग्गहिअ अण्णा य से सत्ती अत्थि घेत्तुं धारेउं वा ताहे विसज्जावेत्ता अत्ताणं अन्नओ वच्चंति, एवं चेव दंसणपभावगाणं सत्थाणं अट्ठाए वच्चंति, तत्त्वार्थादीनां, तथा चरित्तट्ठाए देसंतरं गयाणं केणइ कारणेणं, तत्थ जदि पुढविकाइयाइ पउरं ततो न चरित्तं सुज्झइ ताहे निग्गच्छन्ति, एसा चरित्तजयणा खलु, एवं तिविहा समासतो समक्खाया । दारं । इदानीं विहरमाणका उच्यन्ते, अत आह–'विहरंतावि अ दुविहा' विहरमाणका द्विप्रकारा, गच्छगता निग्गया चेव, एतदेव व्याख्यानयन्नाह—

पत्तेयबुद्ध जिणकप्पिया य पडिमासु चेव विहरंता । आयरिअथेरवसभा भिक्खू खुड्डा य गच्छंमि ॥ १२५ ॥

प्रत्येकबुद्धा जिनकल्पिकाश्च प्रतिमाप्रतिपन्नाश्च–'मासाई सत्तंता' इत्येवमादि एते गच्छनिर्गता विहरमाणकाः । इदानीं गच्छप्रविष्टा उच्यन्ते–'आयरिअ' आचार्यः–प्रसिद्धः, स्थविरो–यः सीदन्तं ज्ञानादौ स्थिरीकरोति, वृषभो–वैयावृत्त्यकरण-

अगीतार्थ-विहारे दोषाः भा. ६७ अनेके प्रत्युपेक्षकाः नि. १२३-१२५

॥ ६१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र एका प्रक्षेप-गाथा वर्तते. मया संपादित "आगम सुत्ताणि" मूलं अथवा सटीकं पुस्तके सा मुद्रितं वर्तते

समर्थःभिक्षवः–एतद्व्यतिरिक्ताः, क्षुल्लकाः प्रसिद्धाः, 'एते गच्छगतागच्छनिर्गताश्च' इत्थमुपन्यासः प्राक् कृतः, तत्कस्मा-जिनकल्पिकादयो गच्छनिर्गता आदौ व्याख्याताः ?, उच्यते, जिनकल्पिकादीनां प्राधान्यख्यापनार्थम् , आह–प्रथममेव कस्मादित्थं नोपन्यासः कृतः ?, उच्यते, तेऽपि जिनकल्पिकादयो गच्छगतपूर्वा एवास्यार्थस्य ज्ञापनार्थम्, आह–प्रत्येक-बुद्धा न गच्छनिर्गताः, न, तेषामपि जन्मान्तरे तन्निर्गतत्वसद्भावात्, यतस्तेषां नव पूर्वाणि पूर्वाधीतानि विद्यन्ते। द्वारम्। इदानीमवधावतः प्रतिपादयन्नाह—

ओहावंता दुविहा लिंगविहारे य होंति नायव्वा। लिंगेणऽगारवासं नियया ओहावण विहारे ॥ १२६ ॥

'अवधावन्तः' प्रव्रज्यादेरपसर्पन्तः 'द्विविधाः' द्विप्रकाराः 'लिंगविहारे य'त्ति लिङ्गादवधावन्ते–अवसर्पन्ति गृहस्थतां प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः, 'विहारे य'त्ति उद्यतविहाराद् येऽवधावन्ति–अपसर्पन्ति पार्श्वस्थादयो भवन्ति, एवमेते विज्ञेया भवन्त्य-वधावमानाः। एतदेव व्याख्यानयन्नाह–'लिंगेणऽगारवासं'लिङ्गेनावधावन् गृहवासं प्रतिपद्यते,'नितिया ओहावण विहारे' विहारादवधावन्नित्यादिषु वासं करोति। दारं। इदानीमाहिण्डकान् प्रतिपादयन्नाह—

उवएस अणुवएसा दुविहा आहिंडआ मुणेयव्वा। उवएसदेसदंसण थूभाई हुंति णुवएसा ॥ १२७ ॥

तत्र एके उपदेशाहिण्डकाः अपरेऽनुपदेशाहिण्डकाः एवमेते द्विविधा आहिण्डका मुणितव्याः। तत्र 'उवएस'त्ति द्वार-परामर्शः 'देसदंसण'त्ति देशदर्शनार्थं द्वादश वर्षाणि ये पर्यटन्ति सूत्रार्थौ गृहीत्वा एते उपदेशाहिण्डकाः। अनुपदेशे त्वमी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ६२ ॥

भवन्ति -'थूभादी होंतिऽणुवएसा' स्तूपादिगमनशीला अनुपदेशाद्दिण्डकाः । उक्ता आहिण्डकाः । द्वारम् । अधुना ये ते गच्छगता विहरमाणकास्तेषामेव विधिं प्रतिपादयन्नाह—

पुण्णंमि मासकप्पे वासावासासु जयणसंकमणा । आमंतणा य भावे सुत्तत्थ न हायई जत्थ ॥ १२८ ॥

'मासकल्पे' मासावस्थाने पूर्णे सति तथा 'वासावासासु'त्ति वर्षायां वासो वर्षावासः तस्मिन् वा यो वासकल्पस्तस्मिन् पूर्णे सति । पुनश्च यतनया–संक्रामणया क्षेत्रसंक्रान्तिः कर्त्तव्या । किं कृत्वा ?–'आमंतणा य'त्ति आमन्त्रणं आचार्यः शिष्यानामन्त्रयति–पृच्छति क्षेत्रप्रत्युपेक्षकप्रेषणकाले,चशब्दादागतेषु क्षेत्रप्रत्युपेक्षकेषु क्षेत्रगमने वा,'भावे'त्ति आगतेषु क्षेत्रप्रत्युपेक्षकेषु भावं प्रतीक्षते, कस्य किं क्षेत्रं रोचते ?, तत्र सर्वेषां मतं गृहीत्वा यत्र सूत्रार्थहानिर्न भवति तत्र गमनं करिष्यत्याचार्यः ॥ इदानीमेनामेव गाथां व्याख्यानयति, अत्र यदुपन्यस्तं 'जयणसंकमण'त्ति तद् व्याख्यानयन्नाह—

अप्पडिलेहिअदोसा वसही भिक्खं च दुल्लहं होज्जा । बालाइगिलाणाण व पाउग्गं अहव सज्झाओ ॥ १२९ ॥

अप्रत्युपेक्षणे दोषा भवन्ति, ते चामी–'वसहि'त्ति कदाचिद्वसतिर्दुर्लभा भवेत्, तथा भिक्षा वा दुर्लभा भवेत् तथा बालादिग्लानानां प्रायोग्यं दुर्लभं भवेत् । अथवा स्वाध्यायो दुर्लभः, मांसाद्याकीर्णत्वात् तस्मात् किम् ?—

तम्हा पुव्वं पडिलेहिऊण पच्छा विहीए संकमणं । पेसेइ जइ अणापुच्छिउं गणं तत्थिमे दोसा ॥ १३० ॥

तस्मात्पूर्वमेव 'प्रत्युपेक्ष्य' निरूप्य पश्चाद् 'विधिना' यतनया संक्रमणं कर्त्तव्यम् । इदानीं यदुपन्यस्तं 'आमंतणा ये'

अनेके प्रत्युपेक्षकाः नि. १२६-१३०

॥ ६२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वयमेव तं व्याख्यानयन्नाह–'पेसेति जइ अणापुच्छियं गणं' प्रेषयति क्षेत्रप्रत्युपेक्षकान् यदि गणमनापृच्छ्य तत्रेमे 'दोषाः' वक्ष्यमाणलक्षणाः—

अइरेगोवहिपडिलेहणाए कत्थवि गयत्ति तो पुच्छे । खेत्ते पडिलेहेउं अमुगत्थ गयत्ति तं दुट्ठं ॥ १३१ ॥

यदा क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः शेषप्रव्रजिताननापृच्छ्य गतास्तदा कथं ज्ञायन्ते ?, अत आह–अतिरिक्तोपधिप्रत्युपेक्षणायां सत्यां ते पृच्छन्ति–कुत्र गतास्त इत्येवं पृच्छन्ति । आचार्योऽप्याह–क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितुममुकत्र क्षेत्रे गता इति, तेऽप्याहुः–'तं दुट्ठं'त्ति, 'तत्' क्षेत्रं न शोभनं, यतस्तत्र गच्छतां,—

तेणा सावय मसगा ओमऽसिवे सेह इत्थिपडिणीए । थंडिल्लअगणि उट्ठाण एवमाई भवे दोसा ॥ १३२ ॥

स्तेनाः अर्द्धपथे स्वापदानि–व्याघ्रादीनि मशका वाऽतिदुष्टाः ओमं–दुर्भिक्षं 'असिवं' देवताकृत उपद्रवो यदिवा 'सेह'त्ति अभिनवप्रव्रजितस्य स्वजना विद्यन्ते, ते चोत्प्रव्राजयन्ति, 'इत्थि'त्ति स्त्रियो वा मोहप्रचुराः, 'पडिणीए'त्ति प्रत्यनीकोपद्रवश्च, 'थंडिल्ल'त्ति स्थण्डिलानि वा न तत्र विद्यन्ते, 'अगणि'त्ति अग्निना वा दग्धः स देशः, 'उट्ठाणे'त्ति 'उत्थितः' उद्वसितः प्रदेशो वाऽपान्तराले इत्येवमादयो दोषा भवन्ति, तत्रापि प्राप्तस्यैते दोषाः—

पच्चंति तावसीओ सावयदुब्भिक्खतेणपउराइं । णियगपदुट्ठुट्ठाणे फेडणहरियाइ(हरिहरिय)गपण्णीए ॥१३३॥

स हि प्रत्यन्तदेशः म्लेच्छाद्युपद्रवोपेतः 'तापस्यः' तापसप्रव्राजिकाः ताश्च प्रचुरमोहाः संयमाद्भ्रंशयन्ति श्वापदभयदुर्भिक्षभयस्तेनप्रचुराणि वा क्षेत्राणि 'नियग'त्ति अभिनवप्रव्रजितस्य निजः–स्वजनादिः स चोत्प्रव्राजयति 'पदुट्ठ'त्ति प्रद्विष्टो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१३३||

दीप अनुक्रम [२०५]

वा तत्र कश्चित् 'उट्ठाणे'त्ति उत्थितः–उद्वसितः स कदाचिदेशो भवेत् 'फेडण'त्ति प्राक् तत्र वसतिरासीत् इदानीं तु कदाचिदपनीता भवेत् । (हरि)'हरितपण्णीय'त्ति हरितं तत्र शाकादि बाहुल्येन भक्ष्यते, तच्च साधूनां न कल्पते दुर्भिक्षप्रायं वा 'हरितपर्णी'ति तत्र देशे केषुचिद्गृहेषु राज्ञो दण्डं दत्त्वा देवतायै बल्यर्थं पुरुषो मार्यते, स च प्रव्रजितादिर्भिक्षार्थं प्रविष्टः सन्, तत्र गृहस्योपरि आर्द्रा वृक्षशाखा चिह्नं क्रियते, तच्च गृहीतसङ्केतो दूरत एव परिहरति, अगृहीतसङ्केतश्च विनश्यति, तस्माद्गणं पृष्ट्वा गन्तव्यमिति । अथवाऽन्यकर्तृकीयं गाथा, ततश्च न पुनरुक्तदोषः । इदानीं स आचार्यः क्षेत्रप्रत्युपेक्षकान् प्रेषयन् सर्वं गणमालोचयति, अथ तु विशेष्यं कञ्चिदेकमालोचयति शिष्यादिकं ततश्चैते दोषा भवन्ति—

सीसे जइ आमंतइ पडिच्छगा तेण बाहिरं भावं । जइ इयरा तो सीसा तेवि समत्तंमि गच्छंति ॥ १३४ ॥

शिष्यान् विशिष्य केवलान् यद्यामन्त्रयति ततश्च को दोषः ?, 'पडिच्छग'त्ति सूत्रार्थग्रहणार्थं ये आयाताः साधवस्ते प्रतीच्छकाः 'तेण'त्ति तेन अनालोचनेन 'बाहिरं भावं'ति बहिर्भावं चिन्तयन्ति, बाह्या वयमत्र । अथेतरान्–प्रतीच्छकानालोचयति ततः शिष्या बहिर्भावं मन्यन्ते, प्रतीच्छकाश्च सूत्रार्थग्रहणसमाप्तौ गच्छन्ति ततश्चाचार्य एकाकी संजायत इत्येवं दोषस्तावत् । अथ वृद्धान् पृच्छति ततः—

तरुणा बाहिरभावं न य पडिलेहोवही न किइकम्मं । मूलयपत्तसरिसया परिभूया वच्चिमो थेरा ॥ १३५ ॥

वृद्धानालोचयति तरुणा बहिर्भावं मन्यन्ते, ततश्च ते तरुणाः किं कुर्वन्त्यत आह–'न य पडिलेहोवही' उपधेः प्रत्युपेक्षणां न कुर्वन्ति, न च कृतिकर्म–पादप्रक्षालनादि कुर्वन्ति । अथ तरुणानेव पृच्छति ततः को दोष ?, वृद्धा एवं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१३५||

दीप अनुक्रम [२०७]

चिन्तयंति–'मूलयपत्तसरिसया' मूलं–आधं यत्पर्णं निस्सारं परिपक्वप्रायं तत्तुल्या वयमत एव च परिभूतास्ततश्च व्रजामः इत्येवं स्थविराश्चिन्तयन्ति, यदिवा 'मूलयपत्तसरिसया' मूलकपत्रतुल्याः शाकपत्रप्राया वयम्, अथ मतं स्थविरा न प्रष्टव्या एव, तत्तु न, यत आह—

जुण्णमएहिं विहूणं जं जूहं होइ सुट्ठुवि महल्लं। तं तरुणरहसपोइयमयगुम्मइअं सुहं हंतुं ॥ १३६ ॥

जीर्णमृगैर्विहीनं यद्यूथं भवति सुष्ठ्वपि महत्तद्यूथं तरुणरभसे–रोगे पोतितं–निमग्नं मदेन गुल्मयितं–मूढं 'सुखं हन्तुं' विनाशयितुं–सुखेन तद्व्यापाद्यते। यस्मादेतदेवं तस्मात्सर्व एव मिलिताः सन्तः प्रष्टव्याः, कथम् ?,—

थुइमंगलमामंतण नागच्छइ जो य पुच्छिओ न कहे। तस्सुवरिं ते दोसा तम्हा मिलिएसु पुच्छेज्जा ॥ १३७ ॥

स्तुतिमङ्गलं कृत्वा–प्रतिक्रमणस्यान्ते स्तुतित्रयं पठित्वा ततश्चामन्त्रयति, आकारिते च दूरस्थो यदि नागच्छति कश्चिद्यो वा पृष्टः सन्न कथयति ततस्तस्योपरि ते दोषाः, तस्मान्मिलितेषु प्रच्छनीयमेकत्रीभूतेषु।

केई भणंति पुव्वं पडिलेहिअ एवमेव गंतव्वं। तं च न जुज्जइ वसही फेडण आगंतु पडिणीए ॥ १३८ ॥

केचनाचार्या एवं ब्रुवते–प्राक् प्रत्युपेक्षिते यस्मिन् क्षेत्रे प्रागपि स्थिता आसन् तस्मिन् पुनरप्रत्युपेक्ष्य गम्यते, तच्च न युज्यते, यस्मात्तत्र कदाचित् 'वसही फेडण'त्ति सा प्राक्तनी वसतिरपनीता, आगन्तुको वा प्रत्यनीकः संजातः, अत एव दोषभयात्पूर्वदृष्टाऽपि वसतिः प्रत्युपेक्षणीया। इदं च ते प्रष्टव्याः—

कयरी दिसा पसत्था ? अमुई सवेसि अणुमई गमणं। चउदिसि ति दु एगं वा सत्तग पणगं तिग जहण्णं ॥१३९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ६४ ॥

कतरा दिक् 'प्रशस्ता' शोभना ?, सुक्षेमपथेत्यर्थः, तेऽप्याहुः 'अमुई' अमुका दिक् सुक्षेमेति । एवं सर्वेषां यदा 'अनुमता' अभिरुचिता भवति, पथे(पन्था इ)त्यर्थः, तदा गमनं कर्त्तव्यम् । तत्र 'चतसृष्वपि दिक्षु' पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरासु प्रत्युपेक्षकाः प्रयान्ति, अथवा चतसृणां दिशामुपद्रवादिसम्भवे तिसृषु यान्ति, तदभावे द्वयोर्दिशोर्यान्ति, तदभावेऽप्येकस्यां दिशि । तासु च दिक्षु व्रजन्तः कियन्तो व्रजन्त्यत आह–'सत्तग पणगं तिग जहण्णं' एकैकस्यां दिशि उत्कृष्टतः सप्त सप्त प्रयान्ति, सप्तानामभावे पञ्च पञ्च प्रजन्ति, पञ्चानामभावे जघन्येन त्रयस्त्रयः प्रयान्तीति । अत्र च ये आभिग्रहिकास्ते प्रहेतव्याः, तेषां त्वभावे—

अणभिग्गहिए वावारणा उ तत्थ उ इमे न वावारे । बालं वुड्ढमगीअं जोगिं वसहं तहा खमगं ॥ १४० ॥

'अणभिग्गहिए'त्ति यैरभिग्रहो न गृहीतस्तान् व्यापारयेद्–गमनाय चोदयेदित्यर्थः । तत्र तु बालं वृद्धं अगीतार्थं योगिनं 'वृषभं' वैयावृत्त्यकरं तथा 'क्षपकं' मासक्षपकादिकम्, एतान्न व्यापारयेद्गमनाय । इदानीमेतामेव गाथां भाष्यकृद् व्याख्यानयन्नाह—

हीलेज्ज व खेलेज्ज व कज्जाकज्जं न याणई बालो । सो वाऽणुकंपणिज्जो न दिंति वा किंचि बालस्स ॥६८॥(भा०)

बाले प्रेष्यमाणेऽयं दोषो–ह्रियते म्लेच्छादिना क्रीडेत वा बालस्वभावत्वात् कार्याकार्यं च–कर्त्तव्याकर्त्तव्यं वा न जानाति बालः, स च बालः क्षेत्रप्रत्युपेक्षणार्थं प्रहितः सन् अनुकम्पया सर्वं लभते, आगत्य चाचार्याय कथयति यदुत सर्वं लभ्यते, गतश्च तत्र गच्छो यावन्न किञ्चिल्लभते, चेल्लकस्यैवानुकम्पया स लाभ आसीत्, अथवा न ददाति वा किञ्चिद्बालाय परिभवेनातस्तं न व्यापारयेत् । वृद्धोऽपि न प्रेषणीयो, यतस्तत्रैते दोषाः—

॥ ६४ ॥

आपृच्छा नि. १३६-१३८
बालादेरप्रेषणं नि. १३९-१४०
भा. ६८

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वुड्ढोऽणुकंपणिज्जो चिरेण न य मग्गयंडिले पेहे । अहवावि बालवुड्ढा असमत्था गोयरतिअस्स ॥ ६९ ॥(भा०)

वृद्धोऽनुकम्पनीयस्ततश्चासावेव लभते, नान्यः, तथा 'चिरेणं'ति 'चिरेण' प्रभूतेन कालेन गमनं आगमनं च करोति, न च 'मार्गं' पन्थानं प्रत्युपेक्षितुं समर्थः नापि स्थण्डिलानि प्रत्युपेक्षितुं समर्थः, इदानीं तु द्वयोरपि बालवृद्धयोस्तुल्यदोषोद्भावनार्थमाह–अथवा बाला वृद्धाश्च 'असमर्थाः' अशक्ताः 'गोचरत्रिकस्य' त्रिकालभिक्षाटनस्येत्यर्थः । दारं । अगीतार्थेऽपि प्रेष्यमाणे एते दोषाः—

पंथं च मासवासं उवस्सयं एचिरेण कालेणं । एहामोत्ति न याणइ चउविहमणुण्ण ठाणं च ॥ ७० ॥ (भा०)

'पन्थानं' मार्गं न जानाति वक्ष्यमाणं 'मासं'ति मासकल्पं न जानाति 'वासं'ति वर्षाकल्पं न जानाति, तथा 'उपाश्रयं' वसतिं परीक्षितुं न जानाति, तथा शय्यातरेण पृष्टः–कदा आगमिष्यथ ?, ततश्च ब्रवीति–'एच्चिरेण एहामो'त्ति इयता कालेन–अर्द्धमासादिना एष्याम इत्येवं वदतो यो दोषः अविधिभाषणजनितस्तं न जानाति, यतः कदाचिदन्या दिक् शोभनतरा शुद्धा भवति तत्र गम्यते, अतो नैवं वक्तव्यम्–एतावता कालेनैष्यामः । तथा 'चउविह मणुण्ण'त्ति तत्रोपाश्रये शय्यातरश्चतुर्विधमनुज्ञाप्यते–द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्चेति, तत्र द्रव्यतस्तृणडगलादि अनुज्ञाप्यते, क्षेत्रतः पात्रकप्रक्षालनभूमिरनुज्ञाप्यते, कालतो दिवा रात्रौ वा निस्सरणमनुज्ञाप्यते, भावतो ग्लानस्य कस्यचिद्भावप्रणिधानार्थं कायिकासञ्ज्ञादि निरूप्यते, एतां चतुर्विधामनुज्ञामनुज्ञापयितुं न जानाति । 'ठाणं च'त्ति वसतिः कीदृशे प्रशस्ते स्थाने भवतीत्येतन्न जानाति । द्वारं । योगिनमपि न प्रेषयेत् , कस्मात् ?—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ६५ ॥

तूरंतो अ ण पेहे पंथं पाढट्ठिओ न चिर हिंडे । विगई पडिसेहेइ तम्हा जोगिं न पेसेज्जा ॥ ७१ ॥ (भा०)

त्वरमाणः सन्न प्रत्युपेक्षते पन्थानं, तथा पाठार्थी सन्न चिरं भिक्षां हिण्डते, तथा लभ्यमाना विकृतीः–दध्यादिकाः प्रतिषेधयति, तस्माद्योगिनं न प्रेषयेत् । दारं । वृषभोऽपि न प्रेषणीयो यत एते दोषा भवन्ति—

ठवणकुलाणि न साहे सिट्ठाणि न देंति जा विराहणया । परितावण अणुकंपण तिण्हऽसमत्थो भवे खमगो७२ भा०

वृषभो हि प्रेष्यमाणः कदाचिद्वृषा स्थापनाकुलानि 'न साहे'त्ति न कथयति, अथवा 'सिट्ठाणि न देंति'त्ति कथितान्यपि तानि स्थापनाकुलानि न ददति अन्यस्य, तस्यैव तानि परिचितानि, 'जा विराहणय'त्ति ततश्च स्थापनाकुलेषु अलभ्यमानेषु या विराधना ग्लानादीनां सा सर्वा आचार्यस्य दोषेण कृता भवति । दारं । अथ क्षपकोऽपि न प्रेष्यते, यतः परितापना–दुःखासिका आतपादिना भवति क्षपकस्य, 'अणुकंपण'त्ति अनुकम्पया वा लोकः क्षपकस्यैव ददाति, नान्यस्य, तथा 'तिण्हऽसमत्थो भवे खमओ' त्रयो वारा यद्भिक्षाटनं तस्य–वारत्रयाटनस्यासमर्थः क्षपकः । द्वारम् । यदा तु पुनः प्रेषणार्हा न भवन्ति,—

एए चेव हवेज्जा पडिलोमेणं तु पेसए विहिणा । अविही पेसिज्जंते ते चेव तहिं तु पडिलोमं ॥ १४१ ॥

एत एव बालादयो भवेयुस्तदा किं कर्त्तव्यमित्याह–'पडिलोमेणं तु पेसए विहिणा' अनुलोमः–उत्सर्गस्तद्विपरीतः प्रतिलोमः–अपवादस्तं प्रतिलोमं–अपवादमङ्गीकृत्य एतानेव बालादीन् प्रेषयेत्, कथम् ?–'विधिना' यतनया-वक्ष्यमाणया । यदा पुनस्त एव बालादयोऽविधिना प्रेष्यन्ते तदाऽविधिना प्रेष्यमाणेषु त एव दोषाः, क्व ?, 'तहिं तु' 'तस्मिन्' क्षेत्रे प्रेष्यमा-

बालादेरप्रेषणं भा. ६९-७२ अगीतार्थादेरपि प्रेषणं नि. १४१

॥ ६५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

णानां, कथम् ?–'पडिलोमं'ति प्रतिलोमं अपवादमङ्गीकृत्य । अथवाऽविधिना प्रेष्यमाणेषु त एव दोषाः, तत्र 'पडिलोमं'ति अविधिप्रतिलोमो विधिस्तेन–प्रतिलोमविधिना प्रेषयेत् । इदानीं बालादीनां प्रेषणार्हत्वे प्राप्ते यतना प्रतिपाद्यते–तत्र च गणावच्छेदकः प्रेष्यते, तदभावेऽन्यो गीतार्थः, तदभावेऽगीतार्थोऽपि प्रेष्यते, तस्य को विधिः ?—

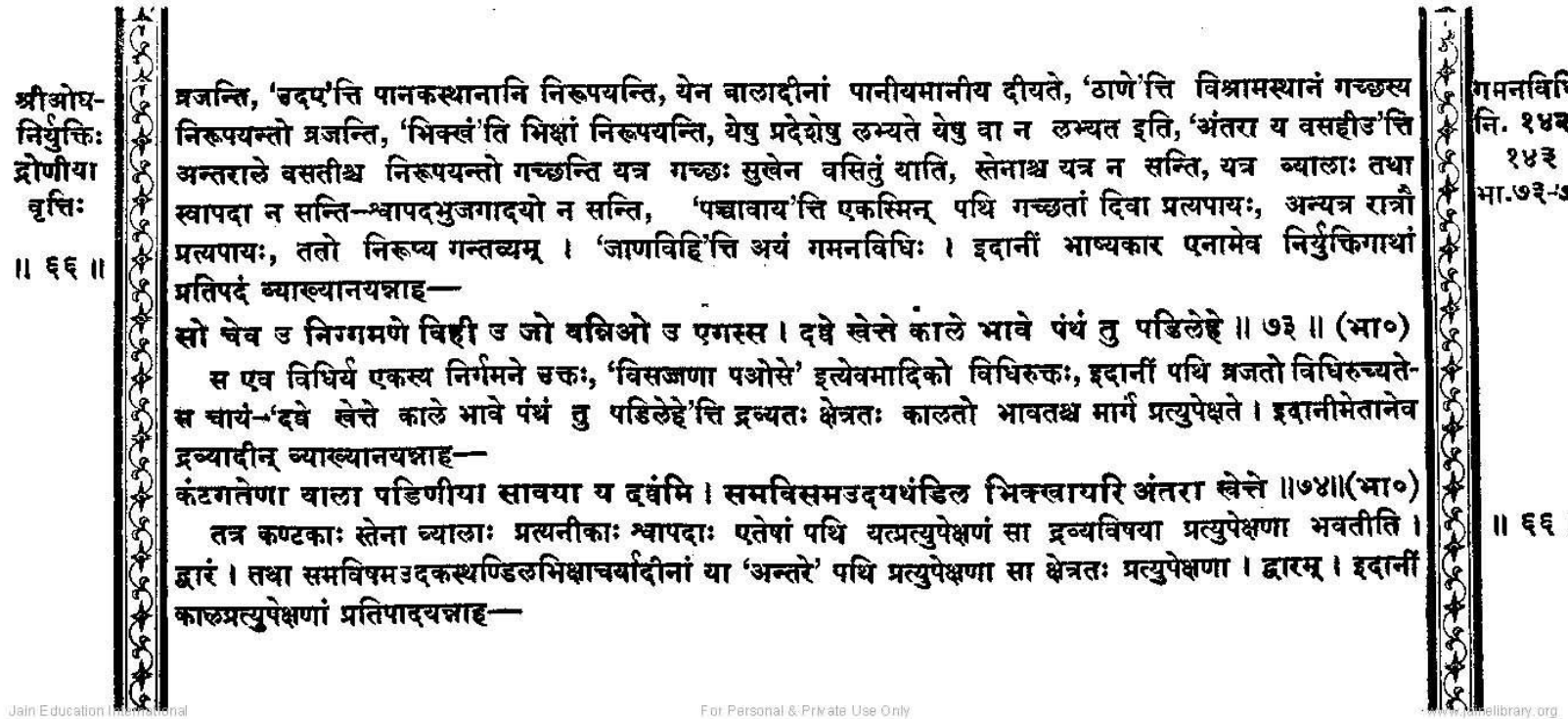
सामायारिमगीए जोगमणागाढ खवग पारावे । वेयावच्चे दायणजुयलसमत्थं व सहिअं वा ॥ १४२ ॥

अगीतार्थस्य सामाचारी कथ्यते, ततः प्रेष्यते, तदभावे योगी प्रेष्यते, किंविशिष्टः ?–'अणागाढे'त्ति अनागाढयोगी–बाह्ययोगी योगं निक्षिप्य 'पारयित्वा' भोजयित्वा प्रेष्यते, ततस्तदभावे क्षपकः प्रेष्यते, कथं ?–'पारावे'त्ति भोजयित्वा, तदभावे वैयावृत्त्यकरः, एतदेवाह–'वेयावच्चे'त्ति वैयावृत्त्यकरः प्रेष्यते, 'दायण'त्ति स च वैयावृत्त्यकरः कुलानि दर्शयति, तदभावे 'जुअल'त्ति युगलं प्रेष्यते–वृद्धस्तरुणसहितः बालस्तरुणसहितो वा, 'समत्थं व सहिअं व'त्ति समर्थे वृषभे प्रेष्यमाणे तरुणेन सह वृद्धेन वा सह, द्वितीयो वकारः पादपूरणः । आह–प्रथमं बालादय उपन्यस्ताः, तत्कस्मात्तेषामेव प्रेषणविधिर्न प्रतिपादितः प्रथमं ?, उच्यते, अयमेव प्रेषणक्रमः, यदुत प्रथममगीतार्थः प्रेष्यते पश्चाद्योगिप्रभृतय इति, आह–इत्थमेवोपन्यासः कस्मान्न कृतः ?, उच्यते, अप्रेषणार्हत्वं सर्वेषां तुल्यं वर्त्तते, ततश्च योऽस्तु सोऽस्तु प्रथममिति न कश्चिद्दोषः । इदानीं तेषां गमनविधिं प्रतिपादयन्नाह—

पंथुच्चारे उदए ठाणे भिक्खंतरा य वसहीओ । तेणा सावयवाला पचावाया य जाणविही ॥ १४३ ॥

'पंथ'त्ति पन्थानं–मार्गं चतुर्विधया प्रत्युपेक्षणया निरूपयन्तो गच्छन्ति, 'उच्चारे'त्ति उच्चारणप्रश्रवणभूमिं निरूपयन्तो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः ॥ ६६ ॥

व्रजन्ति, 'उदए'त्ति पानकस्थानानि निरूपयन्ति, येन बालादीनां पानीयमानीय दीयते, 'ठाणे'त्ति विश्रामस्थानं गच्छस्य निरूपयन्तो व्रजन्ति, 'भिक्खं'ति भिक्षां निरूपयन्ति, येषु प्रदेशेषु लभ्यते येषु वा न लभ्यत इति, 'अंतरा य वसहीउ'त्ति अन्तराले वसतीश्च निरूपयन्तो गच्छन्ति यत्र गच्छः सुखेन वसितुं याति, स्तेनाश्च यत्र न सन्ति, यत्र व्यालाः तथा स्वापदा न सन्ति–श्वापदभुजगादयो न सन्ति, 'पच्चावाय'त्ति एकस्मिन् पथि गच्छतां दिवा प्रत्यपायः, अन्यत्र रात्रौ प्रत्यपायः, ततो निरूप्य गन्तव्यम् । 'जाणविहि'त्ति अयं गमनविधिः । इदानीं भाष्यकार एनामेव निर्युक्तिगाथां प्रतिपदं व्याख्यानयन्नाह—

सो चेव उ निग्गमणे विही उ जो वन्निओ उ एगस्स । दवे खेत्ते काले भावे पंथं तु पडिलेहे ॥ ७३ ॥ (भा०)

स एव विधिर्य एकस्य निर्गमने उक्तः, 'विसज्जणा पओसे' इत्येवमादिको विधिरुक्तः, इदानीं पथि व्रजतो विधिरुच्यते-स चायं–'दवे खेत्ते काले भावे पंथं तु पडिलेहे'त्ति द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च मार्गं प्रत्युपेक्षते । इदानीमेतानेव द्रव्यादीन् व्याख्यानयन्नाह—

कंटगतेणा वाला पडिणीया सावया य दवंमि । समविसमउदयथंडिल भिक्खायरि अंतरा खेत्ते ॥७४॥(भा०)

तत्र कण्टकाः स्तेना व्यालाः प्रत्यनीकाः श्वापदाः एतेषां पथि यत्प्रत्युपेक्षणं सा द्रव्यविषया प्रत्युपेक्षणा भवतीति । द्वारं । तथा समविषमउदकस्थण्डिलभिक्षाचर्यादीनां या 'अन्तरे' पथि प्रत्युपेक्षणा सा क्षेत्रतः प्रत्युपेक्षणा । द्वारम् । इदानीं कालप्रत्युपेक्षणां प्रतिपादयन्नाह—

गमनविधिः नि. १४२-१४३ भा.७२-७४

॥ ६६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दियराउऽपच्चवाए य जाणई सुगमदुग्गमे काले। भावे सपक्खपरपक्खवेक्खणा निण्हगाईया ॥ ७५ ॥ (भा०)

दिवा प्रत्यपायो रात्रौ वा प्रत्यपायो न वा प्रत्यपाय इत्येतज्जानाति, तथा दिवाऽयं पन्थाः सुगमो दुर्गमो वा रात्रौ वा सुगमो दुर्गमो वा एवं यत्परिज्ञानं सा कालतः प्रत्युपेक्षणा । द्वारम् । भावतः प्रत्युपेक्षणा इयं, यदुत स विषयः स्वपक्षेण परपक्षेण वाऽऽक्रान्तो–व्याप्तः, कश्चासौ स्वपक्षः परपक्षश्चात आह–'निण्हगाईया' निह्नवकादिः स्वपक्षः, आदिग्रहणाच्चरकपरिव्राजकादिः परपक्षः, एभिरनवरतं प्रार्थ्यमानो लोको न किञ्चित् दातुमिच्छति इत्येवं या निरूपणा सा भावप्रत्युपेक्षणा । द्वारं । कथं पुनस्ते व्रजन्तीत्याह—

सुत्तत्थं अकरिंता भिक्खं काउं अइंति अवरण्हे । बिइयदिणे सज्झाओ पोरिसिअद्धाइ संघाडो ॥ १४४ ॥

सूत्रपौरुषीं अर्थपौरुषीं चाकुर्वन्तो व्रजन्ति तावद्यावदभिमतं क्षेत्रं प्राप्ता भवन्ति, पुनश्च ते किं कुर्वन्तीत्यत आह–'भिक्खं काउं अइंति अवरण्हे' भिक्षां कृत्वा–तदासन्नग्रामे तद्बहिर्वा भक्षयित्वा पुनश्चापराह्णे प्रविशन्ति, ततो वसतिमन्वेषयन्ति, लब्धायां च वसतौ कालं गृहीत्वा द्वितीयदिवसे किञ्चिन्न्यूनपौरुषीमात्रं कालं स्वाध्यायं कुर्वन्ति । पुनश्च 'पोरिसिअद्धाइ संघाडो' 'पौरुसिअद्धाए' पौरुषीकाले सङ्घाटकं कृत्वा भिक्षार्थं प्रविशन्ति, अथवा स्वाध्यायं कियन्तमपि कालं कृत्वा 'पौरुसिअद्धाए' अर्द्धपौरुष्यामित्यर्थः, सङ्घाटकं कृत्वा प्रविशन्तीति । इदानीं ते सङ्घाटकेन प्रविष्टास्तत्क्षेत्रं त्रिधा विभजयन्ति, एतदेवाह—

खेत्तं तिहा करेत्ता दोसीणे नीणिअंमि अ वयंति । अण्णो लद्धो बहुओ थोवं दे मा य रूसेज्जा ॥ १४५ ॥

ओ० १२

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्षेत्रं त्रिधा कृत्वा–त्रिभिर्भागैर्विभज्य एको विभागः प्रत्युषस्येव हिण्ड्यते, अपरो मध्याह्ने हिण्ड्यते, अपरोऽपराह्णे, एवं ते भिक्षामटन्ति । 'दोसीणे नीणियंमि उ वदंति' 'दोसीणे' पर्युषिते आहारे निस्सारिते सति वदन्ति–'अण्णो लद्धो बहुओ' अन्य आहारो लब्धः प्रचुरः, ततश्च 'थोवं दे'त्ति 'स्तोकं ददस्व' स्वल्पं प्रयच्छ, 'मा य रूसेज्ज'त्ति मा वा रोषं ग्रहीष्यस्यनादरजनितम् , एतच्चासौ परीक्षार्थं करोति, किमयं लोको दानशीलो ? न वेति ।

अहव ण दोसीणं चिअ जायामो देहि दहि घयं खीरं ।खीरे घयगुलपेज्जा थोवं थोवं च सव्वत्थ॥ १४६ ॥

अथवा एतदसौ साधुर्ब्रवीति–न वयं दोसीणं चिअ याचयामः, किन्तु दधि याचयामः, तथा क्षीरं याचयामः, तथा क्षीरे लब्धे सति गुडं घृतं पेयां ददस्व । 'सर्वत्र' सर्वेषु कुलेषु स्तोकं २ गृह्णन्ति ते साधवः, एवं तावत्प्रत्युषसि भिक्षाटनं कुर्वन्ति । अधुना मध्याह्नाटनविधिरुच्यते—

मज्झण्हि पउरभिक्खं परिताविअपिज्जजूसपयकढिअं । ओभट्ठमणोभट्ठं लब्भइ जं जत्थ पाउग्गं ॥ १४७ ॥

मध्याह्ने प्रचुरा भिक्षा लभ्यते 'परितावियं'त्ति परितलितं सुकुमारिकादि, तथा पेया लभ्यते, जूषः पाटलादेः, [पटोलादेः] तथा पयः–कथितं 'ओहट्ठमणोभट्ठं लब्भति' प्रार्थितमप्रार्थितं वा लभ्यते 'जं जत्थ' 'यद्' यद्वस्तु 'यत्र' क्षेत्रे 'प्रायोग्यं' इष्टं तदित्थंभूतं क्षेत्रं प्रधानमिति । इदानीमपराह्णे भिक्षावेलां प्रतिपादयन्नाह—

चरिमे परितावियपेज्जजूस आएस अतरणट्ठाए । एक्केक्कगसंजुत्तं भत्तट्ठं एक्कमेक्कस्स ॥ १४८ ॥

'चरिमे' चरमपौरुष्यामटन्ति, तत्र च परितलितानि पेया यूषश्च यदि लभ्यते ततः 'आएस'त्ति प्राघूर्णकः 'अतरण'त्ति

द्रव्यादिप्रत्युपेक्षणा भा. ७५ नि. १४४-१४८

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ग्लानस्तदेषामर्थाय भवति, ततश्च तत्प्रधानम् । एवं तेऽटित्वा 'भत्तट्ठं'ति उदरपूरणमेकस्यानयन्ति, कथम् ?–'एक्केक्कगसंजुत्तं' एकः साधुरेकेन संयुक्तो यस्मिन्नानयने तदेकैकसंयुक्तमानयन्ति, 'एक्कमेक्कस्स'त्ति परस्परस्य आनयन्ति, एदुक्तं भवति— द्वौ साधू अटतः एक आस्ते प्रत्युषसि पुनर्द्वितीयवेलायां तयोर्द्वयोर्मध्यादेक आस्ते अपरः प्रयाति प्रथमव्यवस्थितं गृहीत्वा, तृतीयवेलायां च यो द्वितीयवेलायां रक्षपालः स्थितः स प्रथमस्थितरक्षपालेन सह व्रजति, इतरस्तु येन वाराद्वयमटितं स तिष्ठति, एवमेव एषां त्रयाणामेकैकस्य सङ्घाटककल्पनया पर्यटनं द्वयोर्योजनीयम् । एवम्—

ओसह भेसज्जाणि अ कालं च कुले य दाणमाईणि । सग्गामे पेहित्ता पेहंति ततो परग्गामे ॥ १४९ ॥

एवं औषधं–हरितक्यादि, भेषजं–पेयादि, एतच्च प्रार्थनाद्वारेण प्रत्युपेक्षते, 'कालं च'त्ति कालं प्रत्युपेक्षते, 'कुले य दाणमाईणि' कुलानि च दानश्राद्धकादीनि, "दाणे अहिगमसड्ढे" एवमादि, एतानि कुलानि प्रत्युपेक्षते । एतानि च स्वग्रामे 'पेहेत्ता' प्रत्युपेक्ष्य ततः परग्रामे प्रत्युपेक्षन्ते ।

चोयगवयणं दीहं पणीयगहणे य नणु भवे दोसा । जुज्जइ तं गुरुपाहुणगिलाणगट्ठा न दप्पट्ठा ॥ १५० ॥

चोदकवचनं, किमित्यत आह–'दीहं' दीर्घं भिक्षाटनं कुर्वन्ति ते 'पणीयगहणे'त्ति स्नेहवद्द्रव्यग्रहणे च ननु भवन्ति दोषाः । आचार्यस्त्वाह–'जुज्जति तं' युज्यते तत्सर्वं दीर्घं भिक्षाटनं यत् प्रणीतग्रहणं च, यतः 'गुरुपाहुणगिलाणगट्ठा' गुरु-प्राघूर्णकग्लानार्थमसौ प्रत्युपेक्षते न दर्पार्थं, न चात्मार्थं प्रणीतादेर्ग्रहणमिति ।

जइ पुण खद्धपणीए अकारणे एक्कसिंपि गिण्हेज्जा । तहिअं दोसा तेण उ अकारणे खद्धनिद्धाइं ॥ १५१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यदि पुनः खद्धं–प्रचुरं प्रणीतं–स्निग्धं, एतानि अकारणे सकृदपि गृह्णीयात् 'तहिअं दोसा' ततस्तस्मिन् ग्रहणे दोषा भवेयुः । किं कारणम् ?–यतः 'तेण उ' 'तेन' साधुना 'अकारणे खद्धनिद्धाइं' 'अकारणे' कारणमन्तरेणैव खद्धाइं–भक्षितानि स्निग्धानि–स्नेहवन्ति द्रव्याणि, अथवा अकारणे 'खद्धनिद्धाइं' प्रचुरस्निग्धानि तेनासेवितानीति ।

एवं–रुइए थंडिल वसही देउलिअसुण्णगेहमाईणि । पाओगमणुण्णवणा वियालणे तस्स परिकहणा ॥१५२॥

'एवं' उक्तेन प्रकारेण 'रुचिए'त्ति 'रुचिते' अभीष्टे क्षेत्रे सति 'थंडिल'त्ति ततः स्थण्डिलानि प्रत्युपेक्षन्ते, येषु मृतः परिष्ठाप्यते महास्थण्डिलं 'वसहि'त्ति वसतिं निरूपयन्ति, किं प्रशस्ते प्रदेशे आहोश्विदप्रशस्ते–सिंगखोडादियुक्ते इति, पत्तनमध्ये शालादि, तदभावे 'देउलिआ' देवकुलं शून्यं प्रत्युपेक्ष्यते 'सुन्नगेहमादीणि' शून्यगृहादीनि आदिशब्देन सभा गृह्यते, तां च वसतिं लब्ध्वा किं कर्त्तव्यं ?–'पाउग्गमणुण्णवणा' प्रायोग्यानां–तृणडगलकादीनां शय्यातरोऽनुज्ञापनां कार्यते–यथा उत्सकलय एतानि वस्तूनि । अथासौ प्रायोग्यानि न जानाति 'वियालणे'त्ति विचारयति, प्रायोग्यं किमभिधीयते ? इति, एवंविधे विचारे तस्य शय्यातरस्य कथ्यते 'परिकहणा' यथाऽस्माकं तृणक्षारडगलादि उत्संकलयेत् । एतां निर्युक्तिगाथां भाष्यकारो व्याख्यानयति, तत्र रुचिते क्षेत्रे स्थण्डिलं परीक्ष्यते, तच्च बहुवक्तव्यत्वादुपरिष्टाद्वक्ष्यति, वसतिस्तु कीदृशे स्थाने कर्त्तव्या कीदृशे च न कर्त्तव्येति व्याख्यानयन्नाह—

सिंगक्खोडे कलहो ठाणं पुण नेव होइ चलणेसुं । अहिठाणि पोट्टरोगो पुच्छंमि अ फेडणं जाण ॥७६॥(भा०)

मुहमूलंमि अ चारी सिरे य कउहे य पूयसक्कारो । खंधे पट्टीऍ भरो पोट्टंमि य धायओ वसहो ॥७७॥ (भा०)

द्रव्यादिप्रत्युपेक्षकाः नि. १४९-१५२ वसतेर्वृषभकल्पना भा.७६-७७

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

[भाग-३२] "ओघनिर्युक्ति"– मूलसूत्र-२/१ (मूलं+निर्युक्ति:+वृत्ति:)

मूलं [२३२] ●➔ "निर्युक्ति: [१५२] + भाष्यं [७७] + प्रक्षेपं [५-१२]" ←●

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्ति:

तत्र वामपार्श्वोपविष्टपूर्वाभिमुखवृषभरूपं क्षेत्रं बुद्ध्या कल्पयित्वा तत इदमुच्यते–'शृङ्गखोडे' शृङ्गप्रदेशे यदि वसतिं करोति ततः कलहो भवतीति क्रिया वक्ष्यति, 'स्थानं' अवस्थितिर्नास्ति 'चरणेषु' पादप्रदेशेषु, 'अधिष्ठाने' अपानप्रदेशे वसतौ क्रियमाणायामुदररोगो भवतीति क्रिया सर्वत्र योजनीया। 'पुच्छे' पुच्छप्रदेशे 'फेडणं' अपनयनं भवति वसत्याः ॥ मुखमूले चारी भवति, शिरसि–शृङ्गयोर्मध्ये ककुदे च पूजासत्कारो भवति, स्कन्धे पृष्ठे च भारो भवति, साधुभिराग-च्छद्भिराकुला भवति, उदरप्रदेशे तु नित्यं तृप्त एव भवति क्षेत्रवृषभः। वसतिर्व्याख्याता, तद्व्याख्यानाच्च देवकुलशून्य-गृहाद्यपि व्याख्यातमेव द्रष्टव्यम्। इयं च वृषभपरिकल्पना यावन्मात्रं वसतिनाऽऽक्रान्तं तस्मिन् नोपरिष्टात्, उपरिष्टात्तु तदनुसारेण कर्त्तव्या वसतिः। अधुना 'पाउग्गअणुण्णवण'त्त्यमुमेवावयवं व्याख्यानयन्नाह, तत्र प्रायोग्यानामनुज्ञापना कर्त्तव्या–द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतः—

दव्वे तणडगलाई अच्छणभाणाइधोवणा खेत्ते। काले उच्चाराई भावेण गिलाणकूरुवमा ॥ ७८ ॥ (भा०)

'द्रव्यतः' द्रव्यमङ्गीकृत्य तृणानां संस्तारकार्थं डगलानां च–अधिष्ठानप्रोञ्छनार्थं लेष्टूनामनुज्ञापना क्रियते। 'क्षेत्रे' क्षेत्रवि-षयाऽनुज्ञापना 'अच्छणं'ति आस्था यत्रास्यते यथासुखेन स्वाध्यायपूर्वकं 'भाणादिधोवणा' भाजनादिधावनं–क्षालनं पात्र-कादेर्यत्र क्रियते सा क्षेत्रानुज्ञा। कालविषयाऽनुज्ञा दिवा रात्रौ वा उच्चारादिव्युत्सर्जनम्। भावविषयाऽनुज्ञापना ग्लानादेः साम्यकरणार्थं निवातप्रदेशाद्यनुज्ञापना क्रियते। इदानीं 'वियालणे तस्स परिकहण'त्ति अमुमवयवं व्याख्यानयन्नाह, 'कूरुवमा' यदा शय्यातर एवं ब्रूते–इयति प्रदेशे मयाऽवस्थानमनुज्ञातं भवतां नोपरिष्टात्, तदा तस्य परिकथना क्रियते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

● अत्र अष्टा प्रक्षेप-गाथा: वर्तते. मया संपादित "आगम सुत्ताणि" मूलं अथवा सटीकं पुस्तके सा मुद्रितं वर्तते

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ६९ ॥

कूरदृष्टान्तेन, यो हि भोजनं कस्यचिद्ददाति स नियमेनैव भोजनोदकासेचनाद्यपि ददात्यनुक्तमपि सामर्थ्याक्षिप्तम्, एवं वसतिं प्रयच्छता उच्चारप्रश्रवणभूम्यादि सामर्थ्याक्षिप्तं सर्वमेव दत्तं भवति, अथवा इदमसौ शय्यातरो विचारयति–कियन्तं कालमत्र स्थास्यन्ति भवन्तः ?, अस्मिन् विचारे तस्स परिकहणा–

जाव गुरूण य तुज्झ य केवइया तत्थ सागरेणुवमा। केवइकालेणेहिह ? सागार ठवंति अण्णेवि ॥ १५३ ॥

यावद् गुरूणां ते–तव च प्रतिभाति तावदवस्थानं करिष्यामः, अथैवमसौ विचारयति–वियालणा, यदुत 'केवइआ' कियन्त इहावस्थास्यन्ते ?, तस्स परिकहणा क्रियते, सागरेणोपमा, यथा हि सागरः क्वचित्काले प्रचुरसलिलो भवति क्वचित्पुनर्मर्यादावस्थ एव भवति, एवं गच्छोऽपि कदाचिद्बहुप्रव्रजितो भवति कदाचित्स्वल्पप्रव्रजित इति । अथासौ पुनरपि 'विआलण'त्ति विचारयति–यथा 'केवइकालेणेहिह'त्ति कियता कालेनागमिष्यथ ?, एवमुक्ताः सन्तः साधवः तत्र 'सागार ठविंति' सविकल्पं कुर्वन्तीत्यर्थः, कथं कुर्वन्ति ?–'अन्नेवि' अन्येऽपि साधवः क्षेत्रप्रत्युपेक्षणार्थं गता एव, ततश्च तदालोचनेनागमिष्याम इति ॥

पुव्वदिट्ठे इच्छइ अहव भणिज्जा हवंतु एवइया। तत्थ न कप्पइ वासो असईं खेत्ताणऽणुन्नाओ ॥ १५४ ॥

यदा त्वसौ पूर्वदृष्टानेवेच्छति यैः प्राग् मासकल्पः कृत आसीत्, स्वभावेनेर्ष्यालुः स दृष्टप्रत्ययानिच्छति, नान्यान्, तत्र न कल्पते वासः। अथवा भणेदसौ–एतावन्त एवात्र तिष्ठन्तु, तत्र 'न कल्पते वासः' न युज्यतेऽवस्थानं, यतः साधवः कदाचित्स्तोकाः कदाचिद्बहवो भवन्ति। अथान्यानि क्षेत्राणि न सन्ति तदा 'असति' क्षेत्राणामन्येषामभावे 'अणुन्नाउ'त्ति

द्रव्याद्यनुज्ञापनं भा. ७८ शय्यातरेण कालादिविचारः नि. १५३-१५४

॥ ६९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तस्यामेव वसतावनुज्ञातो वासः । शेषक्षेत्राभावे सति तत्र च नियतपरिमितायां वसतौ यदि प्राघूर्णका आगच्छन्ति ततः को विधिरित्यत आह—

सक्कारो सम्माणो भिक्खग्गहणं च होइ पाहुणए । जइ जाणउ वसइ तहिं साहम्मिअवच्छलाऽऽणाई ॥१५५॥

'सत्कारः' वन्दनाभ्युत्थानादिकः 'सन्मानः' पादप्रक्षालनादिकः 'भिक्षाग्रहणं' भिक्षानयनं च, एतत्प्राघूर्णके आगते सति क्रियते । पुनश्च तस्य प्राघूर्णकस्य वसतिस्वरूपं कथ्यते यथा–परिमितैरेवैषा लब्धा, नान्यस्यावकाशः, ततश्च त्वयाऽन्यत्र वसितव्यम् । 'यदि जाणउ वसइ तहिं'ति एवमसावुक्तो ज्ञोऽपि सन्–यदि जानन्नपि तत्र वसति ततः को दोषोऽत आह-'साहम्मिअवच्छलाऽऽणाई' साधर्मिकवात्सल्यं न कृतं भवति, यतोऽसौ शय्यातरो रुष्टस्तानपि निर्द्धाटयति, आज्ञाभङ्गश्च कृतः–आज्ञालोपश्चैवं कृतो भवति सूत्रस्य, आदिशब्दात्तद्द्रव्यान्यद्रव्यव्यच्छेदः । इदानीं ते क्षेत्रप्रत्युपेक्षका आचार्यसमीपमागच्छन्तः किं कुर्वन्तीत्यत आह—

जइ तिन्नि सव्वगमणं एसु न एसुत्ति दोसुवि अ दोसा । अण्णपहेणऽगुणंता नियया वासोऽह मा गुरुणो ॥ १५६ ॥

यदि ते क्षेत्रप्रत्युपेक्षकास्त्रय एव ततः सर्व एव गमनं कुर्वन्ति, अथ सप्त पञ्च वा ततः सङ्घाटकमेकं मुक्त्वा व्रजन्ति । 'एसु न एसु'त्ति शय्यातरेण पृष्टाः सन्तस्ते नैवं वदन्ति–एष्यामो न वा एष्याम इति, यत एवं भणने दोषः, किं कारणं ?, यदैवं भणन्ति यदुत आगमिष्यामः, ततश्च शोभनतरे क्षेत्रे लब्धे सति नागच्छन्ति ततश्चानृतदोषः, अथ भणन्ति–नागमि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१५६||

दीप अनुक्रम [२४७]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ७० ॥

ष्यामः, ततश्च कदाचिदन्यत्क्षेत्रं न परिशुद्ध्यति ततश्च पुनस्तत्रागच्छतां दोषोऽनृतजनितः। 'अण्णपहेणं'ति ते हि क्षेत्रप्रत्युपेक्षका गुरुसमीपमागच्छन्तोऽन्येन मार्गेणागच्छन्ति, कदाचित्स शोभनतरो भवेत् , 'अगुणंत'त्ति सूत्रपौरुषीमकुर्वन्तः प्रयान्ति, मा भून्नित्यवासो गुरोरिति, किं कारणं?, यतस्तेषां विश्रब्धमागच्छतां मासकल्पोऽधिको भवति, ततश्च नित्यवासो गुरोरिति॥

गंतूण गुरुसमीवं आलोएत्ता कहेंति खेत्तगुणा । न य सेसकहण मा होज्ज संखडं रत्ति साहेंति ॥ १५७ ॥

गत्वा गुरुसमीपं आलोचयित्वा ईर्यापथिकातिचारं कथयन्त्याचार्याय क्षेत्रगुणान्। 'न य सेसकहणं'ति न च शेषसाधुभ्यः क्षेत्रगुणान् कथयन्ति । किं कारणम् ?–'मा होज्ज संखडं' मा भवेत् स्वक्षेत्रपक्षपातजनिता राटिरिति, तस्मात् 'रत्ति साहें-ति'त्ति रात्रौ मिलितानां सर्वेषां साधूनां क्षेत्रगुणान् कथयन्ति । ते च गत्वा एतत्कथयन्ति—

पढमाएँ नत्थि पढमा तत्थ उ घयखीरकूरदहिलंभो । बिइयाए बिइ तइयाए दोवि तेसिं च धुवलंभो ॥ १५८॥
ओहासिअधुवलंभो पाउग्गाणं चउत्थिए नियमा । इहरावि जहिच्छाए तिकालजोगं च सव्वेसिं ॥ १५९ ॥

'प्रथमायां' पूर्वस्यां दिशि नास्ति प्रथमा–नास्ति सूत्रपौरुषीत्यर्थः, किन्तु तत्र घृतक्षीरकूरदधिलाभोऽस्ति, अन्ये त्वन्यस्यां दिशि कथयन्ति, द्वितीयायां दिशि नास्ति द्वितीया–नास्त्यर्थपौरुषी, यतस्तत्र द्वितीयायां पौरुष्यामेव भोजनं, घृतादिवस्तु लभ्यत एव,'ततिआए दोवि'त्ति तृतीयायां दिशि द्वे अपि सूत्रार्थपौरुष्यौ विद्येते 'तेसिं च धुव लंभो'त्ति तेषां घृतादीनां नि-श्चितं लाभः ॥ 'ओभासिअधुवलंभो'त्ति प्रार्थितस्य ध्रुवो लाभः, केषां ?–प्रायोग्यानां घृतादीनाम् 'चउत्थीए' चतुर्थ्यां दिशि

संकीर्णे विधिः नि. १५५-१५६ आचार्याया लोचना नि. १५७-१५९

॥ ७० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'नियमात्' अवश्यं 'इहरावि'त्ति अप्रार्थितेऽपि यदृच्छया त्रिकालयोग्यं प्रातर्मध्याह्नसायाह्नेषु त्रिकालमपि 'सवेसिं'ति 'सर्वेषां' बालादीनां योग्यं प्राप्यत इति । एवं तैः सर्वैः क्षेत्रप्रत्युपेक्षकैराख्याते सत्याचार्यः किं करोतीत्याह—

मयगहणं आयरिओ कत्थ वयामो त्ति ? तत्थ ओयरिआ । खुभिआ भणंति पढमं तं चिअ अणुओगतत्तिल्ला १६०

'मतग्रहणं' अभिप्रायग्रहणं आचार्यः शिष्याणां करोति, यदुत भो आयुष्मन्तः ! तत्क्व व्रजामः ?–कथा दिशा गच्छामः ? तत्रैवमामन्त्रिते शिष्यगणे आचार्येण 'तत्र औदरिका' उदरभरणैकचित्ताः 'क्षुभिताः' आकुला भणन्ति–यदुत 'पढमं'ति प्रथमां दिशं व्रजामः, यत्र प्रथमपौरुष्यां भुज्यते, 'तं चिय'त्ति तामेव दिशं 'अणुओगतत्तिल्ला' व्याख्यानार्थिन इच्छन्ति, यतस्ते सूत्रग्रहणनिरपेक्षाः केवलमर्थग्रहणार्थिनः, ते चार्थग्रहणप्रपञ्चो द्वितीयायां पौरुष्यां भवतीत्यतस्तामेवेच्छन्तीति ॥

बिइयं सुत्तग्गाही उभयग्गाही अ तइययं खेत्तं । आयरिओ अ चउत्थं सो उ पमाणं हवइ तत्थ ॥ १६१ ॥

द्वितीयां च दिशं सूत्रग्राहिण इच्छन्ति, यतः प्रथमपौरुष्यामेव स्वाध्यायो भवति, स च तेषामस्ति, 'उभयग्राहिणश्च' सूत्रार्थग्राहिणस्तृतीयं क्षेत्रमिच्छन्ति, आचार्यस्तु चतुर्थं क्षेत्रमिच्छन्ति, यतस्तत्र चतुर्थ्यामपि पौरुष्यां प्राघूर्णकादेः प्रायोग्यं लभ्यत इति, 'स एव प्रमाणं' आचार्य एव सर्वेषां प्रमाणं भवति 'तत्थे'ति तत्र शिष्यगणमध्ये, किं पुनः कारणं आचार्या-श्चतुर्थमेव क्षेत्रमिच्छन्ति ?, अत आह—

मोहुब्भवो उ बलिए दुब्बलदेहो न साहए जोए । तो मज्झबला साहू दुट्ठऽस्सेणेत्थ दिट्ठंतो ॥ १६२ ॥

प्रथमद्वितीययोः क्षेत्रयोः प्रचुरभक्तपानकेभ्यः सकाशाद्बलवान् भवति, बलिनश्च मोहोद्भवो भवति–कामोद्भवो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१६२||

दीप अनुक्रम [२५३]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ७१ ॥

भवतीत्यर्थः । आह–एवं तर्हि यत्र भिक्षा न लभ्यते तत्र प्रयान्तु, उच्यते, 'दुर्बलदेहः' कृशशरीरो न साधयति–नाराधयति 'योगान्' व्यापारान् यतस्ततो मध्यमबलाः साधव इष्यन्ते । दुष्टाश्वेन चात्र दृष्टान्तः, दुष्टाश्वो–गर्दभ उच्यते, स यथा प्रचुरभक्षणाद्दर्पिष्टः सन् कुम्भकारारोपितभाण्डकानि भनक्ति दर्पोत्सेकादुत्प्लुत्य, पुनस्तेनैव कुम्भकारेण निरुद्धाहारः सन्नति-दुर्बलत्वात्प्रस्खलितः सन् भनक्ति, स एव च गर्दभो मध्यमाहारक्रियया सम्यग् भाण्डानि वहति, एवं साधवोऽपि संयम-क्रियां मध्यमबला वहन्ति ।

पणपण्णगस्स हाणी आरेणं जेण तेण वा धरइ । जइ तरुणा नारागा वच्चंति चउत्थगं ताहे ॥ १६३ ॥

अथ तस्मिन् गच्छे पञ्चपञ्चाशद्वर्षदेशीयाः त्रिंशद्वर्षाः चत्वारिंशद्वर्षा वा भवन्ति, ततो गम्यते चतुर्थं क्षेत्रं, यतस्ते येन केनचिद्भियन्ते–यापयन्ति (प्यन्ते) । तथा यदि च तरुणा 'नीरोगाः' शक्ता भवन्ति ततश्चतुर्थमेव क्षेत्रं व्रजन्ति ।

अह पुण जुण्णा थेरा रोगविमुक्का य असहुणो तरुणा । ते अणुकूलं खेत्तं पेसंति न यावि खग्गूडे ॥ १६४ ॥

अथ पुनर्जूर्णा (जीर्णाः) स्थविरा भवन्ति रोगेण च–ज्वरादिना मुक्तमात्रास्तरुणाः, नाद्यापि येषां साम्यं भवति शरी-रस्य, ततस्ताननुकूलं क्षेत्रं प्रेषयन्त्याचार्याः । 'न यावि खग्गूडे'त्ति 'खग्गूडा' अलसा निर्द्धर्मप्रायास्तान्न प्रेषयन्ति । कियता पुनः कालेन वृद्धादय आप्याय्यन्ते ?, उच्यते, पञ्चमात्रैर्दिवसैः, यत उक्तं वैद्यके—

एगपणअद्धमासं सट्ठी सुणभणुयगोणहत्थीणं । राइंदिएण उ बलं पणगं तो एक्क दो तिन्नि ॥ १६५ ॥

एकेन रात्रिन्दिवेन शुनो बलं भवति, पञ्चभिर्दिनैर्मनुजस्य बलं भवति, अर्द्धमासेन बलीवर्दस्य, षष्टिभिर्दिनैर्हस्तिनो बलं

आचायण गच्छपृच्छ· नं नि.१६० १६४ ग्लानबल-कालं नि. १६५

॥ ७१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भवति, एवमेतद्यथासङ्ख्यं योजनीयम् । 'पणगं तो एक्क दो तिण्णि' एवमसौ तस्मिन् क्षेत्रे पञ्चकमेकं धार्यते, अथ तथाऽपि बलं न गृह्णाति द्वौ पञ्चकौ धार्यते, त्रीन् वा पञ्चकान् धार्यते, पुनरानीयत इति । एवं ते आलोचितशिष्यगणा आचार्याः शय्यातरमापृच्छ्य क्षेत्रान्तरं संक्रामन्ति । अथ न पृच्छन्ति ततो दोष उपजायते । एतदेवाह—

सागरिअपुच्छगमणं बाहिरा मिच्छ छेय कयनासी।गिहि साहू अभिधारण तेणगसंकाइ जं चऽण्णं॥ १६६ ॥

'सागारिकं' शय्यातरं अनापृच्छ्य यदि गमनं क्रियते ततो 'बाहिर'त्ति बाह्या लोकधर्मस्थैते भिक्षवः इत्येवं वक्ति शय्यातरः, ये च धर्मं लोकधर्मं न जानन्ति दृष्टं ते कथमदृष्टं जानन्ति ? इत्यतः 'मिच्छ'त्ति मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते, 'छेद'त्ति अपच्छेदो वसतिदानस्य, पुनस्तेऽन्ये वा वसतिं न लभन्ते, 'कतणासि'त्ति अकृतज्ञा ह्येते प्रव्रजिता इत्येवं मन्यते,'गिहि साधू अभिधारण'त्ति गृही कश्चिच्छ्रावकस्तमाचार्यमभिधार्य–संचिन्त्यायातः प्रव्रज्यार्थं, तेनाप्यागत्य शय्यातरः पृष्टः–क्वाचार्यः ?, सोऽपि रुष्टः सन्नाह–यः कथयित्वा व्रजति स ज्ञायते, तं तु को जानाति ?, तमाकर्ण्य स श्रावकः कदाचिद्-र्शनमप्युज्झति, लोकज्ञानमप्येषां नास्ति कुतः परलोकज्ञानमिति?, कदाचित्साधुः कश्चित्तमाचार्यं अभिधार्य–मनसि कृत्वा उप-संपदादानार्थमायाति, सोऽपि शय्यातरं पृच्छति, शय्यातरोऽप्याह–न जाने क्व गत इति, ततः स साधुः अनाचारवानाचार्य इति विचिन्त्यान्यत्र गतः, सोऽपि निर्जराया आचार्योऽनाभागी जात इति । 'तेणग'त्ति कदाचित्तद्गृहं केनचित्तस्मि-न्नेव दिवसे मुष्टं भवेत्तत एवंविधा बुद्धिर्भवेत्–यदुत स्तेनास्ते इत्येवं शङ्कां करोति, आदिशब्दाद्योषित् केन केचित्सह गता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	शय्यात्तर संबंधी विधानानि

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१६७||

दीप अनुक्रम [२५८]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ७२ ॥

ततो गृहात् तेऽप्यनाख्याय गताः ततश्च शङ्कोपजायते, 'जं चऽण्णं'ति यच्चान्यत् शङ्कादि जातं पत्तनगतं तत्सर्वमुपजायत इति गच्छद्भिश्च शय्यातर आपृच्छनीयः ॥ स च विधिना, यतोऽविधिना पृच्छत एते दोषाः—

अविहीपुच्छा उग्गाहिएण सिज्जातरी उ रोएज्जा । सागारियस्स संका कलहे य सएज्जिआ खिंसे ॥ १६७ ॥

अविधिपृच्छा इयं वर्त्तते, यदुत–'उग्गाहितेन' उत्क्षिप्तेन उपकरणेन पृच्छति, तत्र 'सेज्जातरी उ रोएज्जा' तेनाकस्मिकेन गमनेन शय्यातर्यो रोदनं कुर्युः, ततश्च 'सागारिकस्य' शय्यातरस्य शङ्कोपजायते, कलहे च सति 'सइज्जिआए' सह सस्निक्रियया 'खिंस'त्ति यथा न शोभना त्वं येन त्वया तत्र काले भिक्षोर्गच्छतो रुदितं, किं च–ते स पिता भवति ? येन रोदिषीति । अथानागतमेव कथयन्ति–अमुकदिवसे गमिष्यामः, तत्राप्येते दोषाः—

हरिअच्छेयण छप्पइय घट्टणं किट्टणं च पोत्ताणं । छण्णेयरं च पगयं इच्छमणिच्छे य दोसा उ ॥ १६८ ॥

तद्धि शय्यातरकुटुम्बं साधवो यास्यन्तीति विमुक्तशेषव्यापारं सत् गृह एव तिष्ठति, कृष्यादिप्रतिजागरणं न करोति, ततश्च क्षणिकं सत् स्वगृहजातहरितच्छेदं करोति । तथा निर्व्यापारत्वादेव च ता रण्डाः षट्पदीनां परस्परनिरूपणेनोपमर्दं कुर्वन्ति । 'किट्टणं च पोत्ताणं'ति तत्र दिवसे क्षणिका विमुक्तकृषिलवनव्यापारा वस्त्राणि शोधयन्ति । 'छण्णेयरं च पगयं' प्राकृतं–भोजनं छन्नं कुर्वन्ति, अप्रगटमित्यर्थः, 'इतरं व'त्ति प्रकटमेव भोजनं संयतार्थं कुर्वन्ति, तत्र चेच्छतामनिच्छतां च दोषा भवन्ति, कथं ?, यदि तद्भोजनं गृह्णन्ति ततस्तदकल्पनीयम्, अथ न गृह्णन्ति ततो रोषभावं कदाचित्प्रतिपद्यते । एते दोषा अनागतकथने, ततश्च कः पृच्छाविधिरित्याह—

शय्यातरा-पृच्छादि नि. १६६-१६८

॥ ७२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

● अत्र एका प्रक्षेप-गाथा वर्तते. मया संपादित "आगम सुत्ताणि" मूलं अथवा सटीकं पुस्तके सा मुद्रितं वर्तते

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१६९||

दीप अनुक्रम [२६१]

जइआ चेव उ खेत्तं गया उ पडिलेहगा तओ पाए। सागारियस्स भावं तणुएंति गुरू इमेहिं तु ॥ १६९ ॥

यदैव क्षेत्रं गताः प्रत्युपेक्षकाः 'ततो पाए'त्ति ततःप्रभृति 'सागारिकस्य' शय्यातरस्य 'भावं' स्नेहप्रतिबन्धं तनूकुर्वन्ति, के ?– गुरवः 'एभिः'वक्ष्यमाणैर्गाथाद्वयोपन्यसैर्वचनैरिति—

उच्छू वोलिंति वइं तुंबीओ जायपुत्तभंडा य। वसभा जायत्थामा गामा पवायचिक्खल्ला ॥ १७० ॥
अप्पोदगा य मग्गा वसुहावि अ पक्कमट्टिआ जाया। अण्णक्कंता पंथा साहूणं विहरिउं कालो ॥ १७१ ॥

एतद्गाथाद्वयं शृण्वतः शय्यातरस्य पठन्ति, ततः सोऽपि श्रुत्वा भणति–किं यूयं गमनोत्सुकाः ?, आचार्योऽप्याह—

समणाणं सउणाणं भमरकुलाणं च गोउलाणं च। अनियाओ वसहीओ सारइयाणं च मेहाणं ॥ १७२ ॥

सुगमा ॥ ततश्चैतां गाथां पठित्वा इदमाचरन्ति—

आवस्सगकयनियमा कल्लं गच्छाम तो उ आयरिआ। सपरिजणं सागारिअ वाहिरिउं दिंति अणुसिट्ठिं १७३

'आवश्यककृतनियमाः' कृतप्रतिक्रमणा इत्यर्थः, विकालवेलायां कृतावश्यका इदं भणन्ति–यदुत कल्लं गच्छामः। पुनश्च तत आचार्यः सपरिजनं 'सागारिकं' शय्यातरं आहूय 'अनुशास्तिं ददति' धर्मकथां कुर्वन्तीत्यर्थः।

१ इक्षवो व्युत्क्रामन्ति वृति–तुम्ब्यो जातपुत्रभाण्डाश्च। वृषभा जातस्थामानः ग्रामाः प्रवातकर्दमाः १७०॥ २ अल्पोदकाश्च मार्गा वसुधाऽपि च पक्वमृत्तिका जाता। अन्याक्रान्ताः पन्थानः साधूनां विहर्तुं (योग्यः) कालः॥ १७१॥ ३ श्रमणानां शकुनानां भ्रमरकुलानां च गोकुलानां च। अनियता वसतयः शारदिकानां च मेघानाम्॥ १७२॥

ओ० १३

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१७४||

दीप अनुक्रम [२६६]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ७३ ॥

पवज्ज सावओ वा दंसण भद्दो जहण्णयं वसहिं । जोगंमि वट्टमाणे अमुगं वेलं गमिस्सामो ॥ १७४ ॥

सोऽपि सागारिको धर्मकथां श्रुत्वा एवंविधो भवति–प्रव्रज्यां प्रतिपद्यते श्रावको वा भवति दर्शनधरो वा भवति भद्रको वा भवति, सर्वथा जघन्यतो वसतिमात्रमवश्यं ददाति । पुनश्च धर्मकथां कृत्वाऽऽचार्या एवं ब्रुवते–यदुत 'योगे वर्त्तमाने' योऽसौ योगो गमनाय मां प्रेरयति तस्मिन् वर्त्तमाने–भवति सति अमुकवेलायां गमिष्याम इति । इदानीं ते विकालवेलायां कथयित्वा प्रत्युषसि व्रजन्ति, किं कृत्वेत्यत आह—

तदुभय सुत्तं पडिलेहणा य उग्गयमणुग्गए वावि । पडिछाहिगरणतेणे नट्ठे खग्गूड संगारो ॥ १७५ ॥

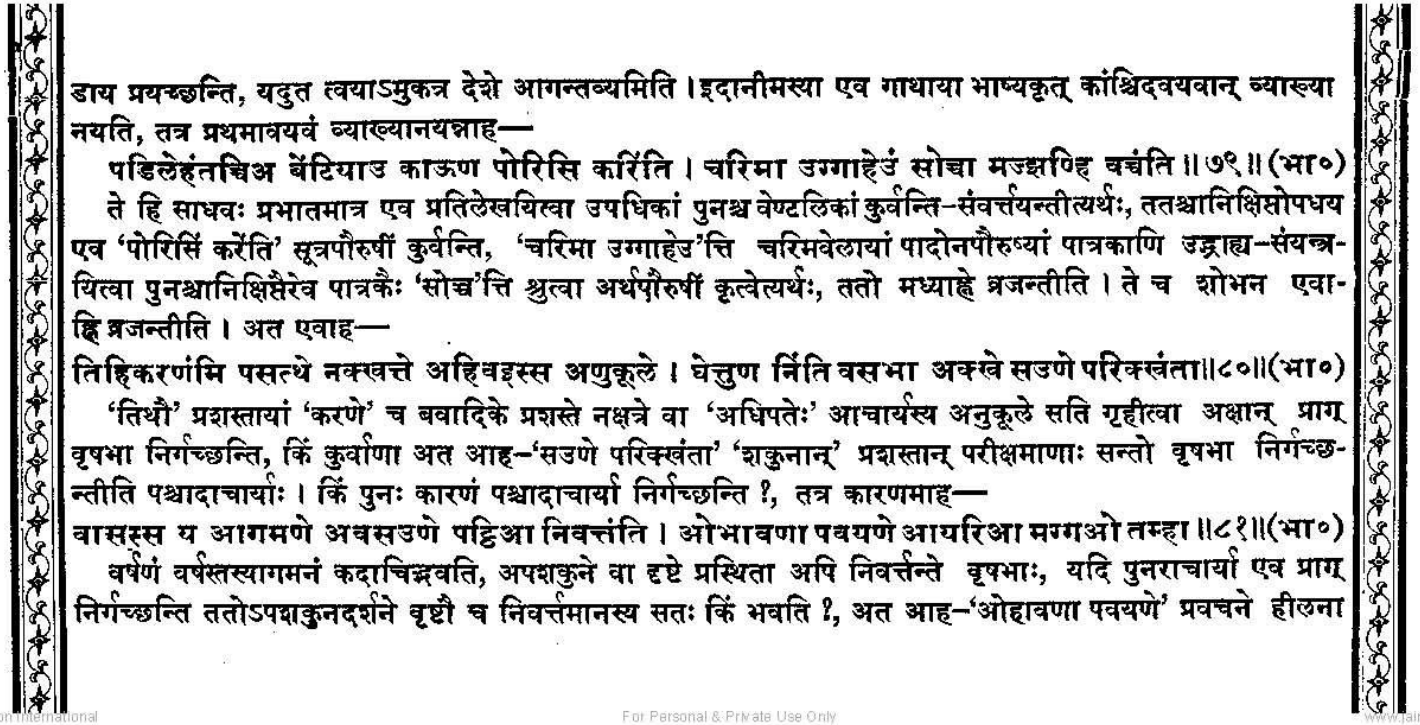
'तदुभयं' सूत्रपौरुषीमर्थपौरुषीं च कृत्वा व्रजन्ति, 'सुत्तं'ति सूत्रपौरुषीं वा कृत्वा व्रजन्ति, अथ दूरतरं क्षेत्रं भवति ततः पादोनप्रहर एव पात्रप्रतिलेखनामकृत्वा व्रजन्ति, 'उग्गय'त्ति उद्गतमात्र एव वा सूर्ये गच्छन्ति, 'अणुग्गय'त्ति अनुद्गते वा सूर्ये रात्रावेव गच्छन्ति, 'पडिच्छं'ति ते साधवस्तस्माद्विनिर्गताः परस्परं प्रतीक्षन्ते, 'अधिकरण'त्ति अथ ते साधवो न प्रतीक्षन्ते ततो मार्गमजानानाः परस्परतः पूत्कुर्वन्ति, तेन च पूत्कृतेन लोको विबुध्यते, ततश्चाधिकरणं भवति, 'तेण'त्ति स्तेनका वा विबुद्धाः सन्तो मोषणार्थं पश्चाद्व्रजन्ति 'नट्ठ'त्ति कदाचित्कश्चिन्नश्यति, ततश्च प्रदोष एव सङ्गारः क्रियते, अमुकत्र विश्रमणं करिष्यामः अमुकत्र भिक्षाममुकत्र वसतिमिति, ततश्च रात्रौ गच्छद्भिः सङ्केतः क्रियते । 'खग्गूडे'त्ति कश्चित् खग्गूडप्रायो भवति, स इदं ब्रूते–यदुत साधूनां रात्रौ न युज्यत एव गन्तुं, पुनः स आस्ते, ततश्च 'संगारो'त्ति सङ्केतं खग्गू-

गच्छतां शय्यातर-बोधनं नि. १६९-१७४ वि-हाररीतिः नि. १७५

॥ ७३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१७५|| दीप अनुक्रम [२६७]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः



डाय प्रयच्छन्ति, यदुत त्वयाऽमुकत्र देशे आगन्तव्यमिति । इदानीमस्या एव गाथाया भाष्यकृत् कांश्चिदवयवान् व्याख्या नयति, तत्र प्रथमावयवं व्याख्यानयन्नाह—

पडिलेहंतचिअ बेंटियाउ काऊण पोरिसिं करिंति । चरिमा उग्गाहेउं सोच्चा मज्झण्हि वच्चंति ॥ ७९ ॥ (भा०)

ते हि साधवः प्रभातमात्र एव प्रतिलेखयित्वा उपधिकां पुनश्च वेष्टलिकां कुर्वन्ति–संवर्त्तयन्तीत्यर्थः, ततश्चानिक्षिप्तोपधय एव 'पोरिसिं करेंति' सूत्रपौरुषीं कुर्वन्ति, 'चरिमा उग्गाहेउ'त्ति चरिमवेलायां पादोनपौरुष्यां पात्रकाणि उद्ग्राह्य–संयन्त्रयित्वा पुनश्चानिक्षिप्तैरेव पात्रकैः 'सोच्च'त्ति श्रुत्वा अर्थपौरुषीं कृत्वेत्यर्थः, ततो मध्याह्ने व्रजन्तीति । ते च शोभन एवाह्नि व्रजन्तीति । अत एवाह—

तिहिकरणंमि पसत्थे नक्खत्ते अहिवइस्स अणुकूले । घेत्तुण निंति वसभा अक्खे सउणे परिक्खंता ॥ ८० ॥ (भा०)

'तिथौ' प्रशस्तायां 'करणे' च बवादिके प्रशस्ते नक्षत्रे वा 'अधिपतेः' आचार्यस्य अनुकूले सति गृहीत्वा अक्षान् प्राग् वृषभा निर्गच्छन्ति, किं कुर्वाणा अत आह–'सउणे परिक्खंता' 'शकुनान्' प्रशस्तान् परीक्षमाणाः सन्तो वृषभा निर्गच्छन्तीति पश्चादाचार्याः । किं पुनः कारणं पश्चादाचार्या निर्गच्छन्ति ?, तत्र कारणमाह—

वासस्स य आगमणे अवसउणे पट्ठिआ निवत्तंति । ओभावणा पवयणे आयरिआ मग्गओ तम्हा ॥ ८१ ॥ (भा०)

वर्षणं वर्षस्तस्यागमनं कदाचिद्भवति, अपशकुने वा दृष्टे प्रस्थिता अपि निवर्त्तन्ते वृषभाः, यदि पुनराचार्या एव प्राग् निर्गच्छन्ति ततोऽपशकुनदर्शने वृष्टौ च निवर्त्तमानस्य सतः किं भवति ?, अत आह–'ओहावणा पवयणे' प्रवचने हीलना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	विहार-रीतिः एवं तस्य विधानं

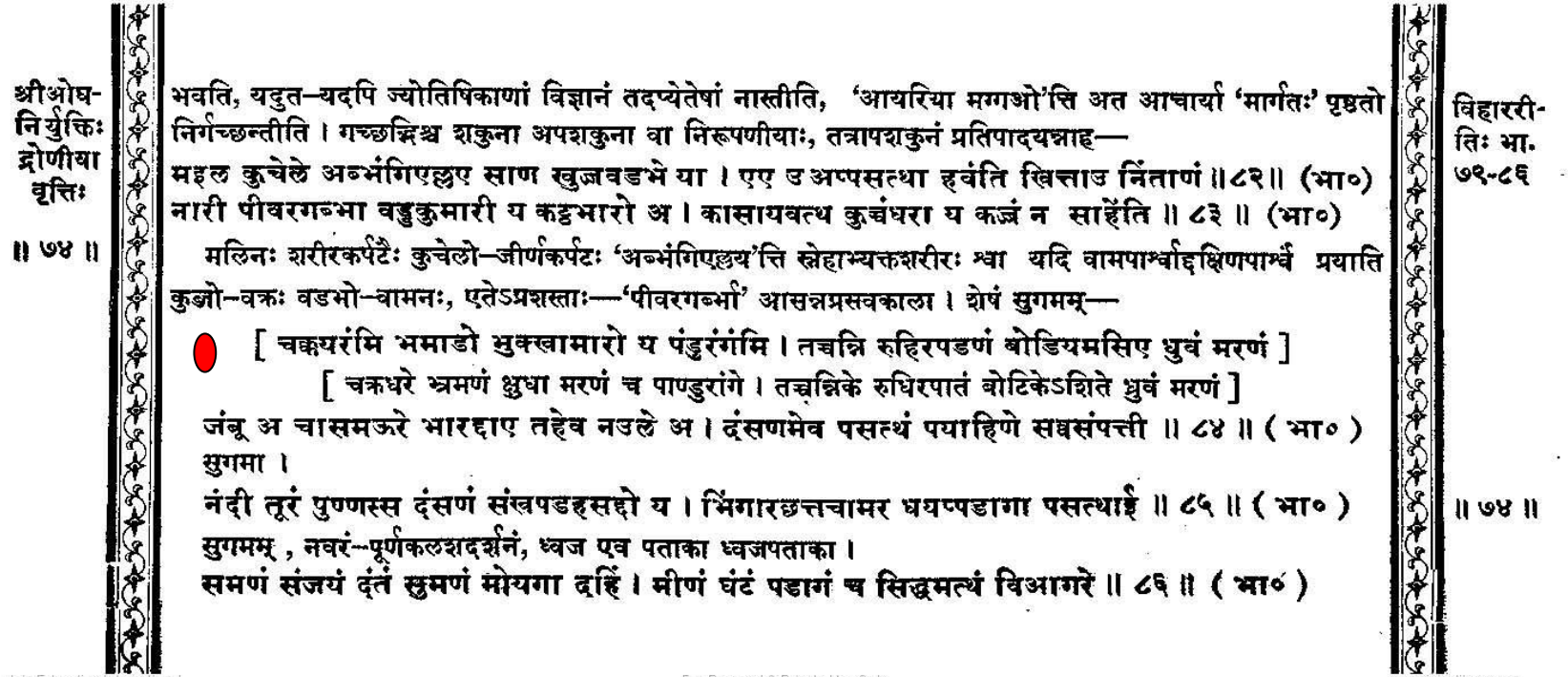
[भाग-३२] "ओघनिर्युक्ति"– मूलसूत्र-२/१ (मूलं+निर्युक्तिः+वृत्तिः)

मूलं [२७०] ●➔ "निर्युक्तिः [१७५...] + भाष्यं [८१] + प्रक्षेपं [१४]" ←●

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||८१||

दीप अनुक्रम [२७०]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः



श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ७४ ॥

भवति, यदुत–यदपि ज्योतिषिकाणां विज्ञानं तदप्येतेषां नास्तीति, 'आयरिया मग्गओ'त्ति अत आचार्या 'मार्गतः' पृष्ठतो निर्गच्छन्तीति । गच्छन्निश्च शकुना अपशकुना वा निरूपणीयाः, तत्रापशकुनं प्रतिपादयन्नाह—

महल कुचेले अब्भंगिएल्लए साण खुज्जवडभे या । एए उ अप्पसत्था हवंति खित्ताउ निंताणं ॥८२॥ (भा०)

नारी पीवरगब्भा वडुकुमारी य कट्टभारो अ । कासायवत्थ कुचंधरा य कज्जं न साहेंति ॥ ८३ ॥ (भा०)

मलिनः शरीरकर्पटैः कुचेलो–जीर्णकर्पटः 'अब्भंगिएल्लय'त्ति स्नेहाभ्यक्तशरीरः श्वा यदि वामपार्श्वाद्दक्षिणपार्श्वं प्रयाति कुब्जो–वक्रः वडभो–वामनः, एतेऽप्रशस्ताः—'पीवरगब्भा' आसन्नप्रसवकाला । शेषं सुगमम्—

● [चक्कयरंमि भमाडो भुक्खामारो य पंडुरंगंमि । तच्चन्नि रुहिरपडणं बोडियमसिए धुवं मरणं]

[चक्रधरे भ्रमणं क्षुधा मरणं च पाण्डुरांगे । तच्चन्निके रुधिरपातं बोटिकेऽशिते ध्रुवं मरणं]

जंबू अ चासमऊरे भारद्दाए तहेव नउले अ । दंसणमेव पसत्थं पयाहिणे सव्वसंपत्ती ॥ ८४ ॥ (भा०)

सुगमा ।

नंदी तूरं पुण्णस्स दंसणं संखपडहसद्दो य । भिंगारछत्तचामर धयप्पडागा पसत्थाई ॥ ८५ ॥ (भा०)

सुगमम् , नवरं–पूर्णकलशदर्शनं, ध्वज एव पताका ध्वजपताका ।

समणं संजयं दंतं सुमणं मोयगा दहिं । मीणं घंटं पडागं च सिद्धमत्थं विआगरे ॥ ८६ ॥ (भा०)

विहाररीतिः भा. ७९-८६

॥ ७४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

● एका प्रक्षेप-गाथा इदम्

'श्रमणः' लिङ्गमात्रधारी 'संयतः' सम्यक् संयमानुष्ठाने यतः–यत्नपरः 'दान्तः' इन्द्रियनोइन्द्रियैः 'सुमनसः' पुष्पाणि, शेषं सुगमम् । गच्छंश्चासौ—

सेज्जातरेऽणुभासइ आयरिओ सेसगा चिलिमिलीए । अंतो गिण्हन्तुवहिं सारविअपडिस्सया पुव्विं ॥८७॥(भा०)

व्रजनसमये शय्यातरानुभाषते–व्रजाम इत्येवमादि आचार्यः । 'सेसगा चिलिमिलीए अंतो' शेषाः साधवः 'चिलिमिलिण्याः' जवनिकाया 'अन्तः' अभ्यन्तरे, किम् ?–उपधिं 'गृह्णन्ति' संयन्त्रयन्तीत्यर्थः । 'सारविअपडिस्सया पुव्विं'ति किंविशिष्टाः सन्तस्ते साधव उपधिं गृह्णन्ति ?–संमार्जितः–उपलिप्तः प्रतिश्रयो यैस्ते संमार्जितप्रतिश्रयाः 'पुव्विं' प्रागेव, प्रथममेवेत्यर्थः । इदानीं कः कियदुपकरणं गृह्णातीत्याह—

बालाई उवगरणं जावइयं तरति तत्तिअं गिण्हे । जहण्णेण जहाजायं सेसं तरुणा विरिंचिंति ॥८८॥(भा०)

बालादयः, आदिशब्दाद्वृद्धा गृह्यन्ते, ते ह्युपकरणं यावन्मात्रं 'तरन्ति' शक्नुवन्ति तावन्मात्रं गृह्णन्ति, तैश्च बालादिभिः 'जघन्येन' जघन्यतः 'जहाजायं'ति रजोहरणं चोलपट्टकश्च, एतदशक्नुवद्भिरपि ग्राह्यं, शेषं उपगरणं तरुणाः आभिग्रहिकाः 'विरिञ्चन्ति' विभजन्ति बालादिसत्कम् । यदा तु पुनराभिग्रहिका न सन्ति तदा—

आयरिओवहि बालाइयाण गिण्हंति संघयणजुत्ता । दो सोत्ति उण्णिसंथारए य गहणेक्कपासेणं ॥८९॥(भा०)

आचार्योपधिं 'बालाइयाणं'ति बालादीनां च संबन्धिनमुपधिं गृह्णन्ति, के ?–'संघयणजुत्ता' येऽन्ये शेषा अनाभिग्रहिकाः संहननोपेतास्ते गृह्णन्ति, कथं पुनर्गृह्णन्ति ते उपधिं ?–'दो सुत्तिउ'त्ति द्वौ सौत्रिकौ कल्पौ एक और्णिकः कल्पः संस्तारकश्च-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ७५ ॥

शब्दादुत्तरपट्टकश्च, एषां ग्रहणं 'एकपासेणं'ति ग्रहणं एकस्मिन् पार्श्वे–एकत्र स्कन्धे ग्रहणं करोति, द्वितीये तु 'पार्श्वे' स्कन्धे पात्रकाणि गृह्णन्ति, आत्मीयां तूपधिं विण्टलिकां कृत्वा यत्र स्कन्धे उपधिः कृतस्तयैव दिशा कक्षायां करोति । इदानीं 'अधिकरणतेणे'त्ति अमुमवयवं व्याख्यानयन्नाह—

आउज्जोवण वणिए अगणि कुडुंबी कुकम्म कम्मरिए । तेणे मालागारे उब्भामग पंथिए जंते ॥ ९० (भा०)

ते हि यदि सशब्दं व्रजन्ति ततश्च लोको विबुध्यते, विबुद्धश्च सन् 'आउज्जोवण'त्ति अप्काययन्त्राणि 'योत्रिज्यन्ते' वहनाय सज्जीक्रियन्ते । अथवा 'आउ'त्ति अप्कायाय योषितो विबुद्धा व्रजन्ति 'जोवणं'ति धान्यप्रकरः तदर्थं लोको याति, प्रकरो–मर्दनं धान्यस्य, लाटविषये 'जोवणं धण्णपइरणं भण्णइ','वणिय''त्ति वणिजो–वालञ्जुकाविभातमिति कृत्वा व्रजन्ति। 'अगणि'त्ति लोहकारशालादिषु अग्निः प्रज्वाल्यते 'कुडुंबि'त्ति कुटुम्बिनः स्वकर्मणि लगन्ति 'कुकम्म'त्ति कुत्सितं कर्म येषां ते कुकर्माणः मात्स्यिकादयः कुत्सिता माराः कुमाराः–सौकरिकाः, एषां बोधो भवति रात्रौ पूत्कारयतां, 'तेणे'त्ति स्तेनकानां च, 'मालाकार'त्ति मालिका विबुध्यन्ते 'उब्भामग'त्ति पारदारिका विबुध्यन्ते 'पंथिए'त्ति पथिका विबुध्यन्ते 'जंते'त्ति यान्त्रिकाः विबुद्धाः सन्तो यन्त्राणि वाहयन्ति चाक्रिकादयः । तत्र यदुक्तं प्राक् "नट्ठे खग्गूडसिंगारो" तत्रेदमुक्तं निर्युक्तिकृता सङ्गारकरणमात्रम् , इह पुनः स एव निर्युक्तिकारः स सङ्गारः कथा यतनया कर्त्तव्यः ? कस्यां च वेलायां कर्त्तव्यः ? इत्येतदाह—

संगार बीय वसही तइए सण्णी चउत्थ साहम्मी । पंचमगंमि अ वसही छट्ठे ठाणट्ठिओ होति ॥ १७६ ॥

विहाररीतिः भा. ८७-९०

॥ ७५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'संगार'त्ति सङ्केतोऽभिधीयते, तद्विधिर्वक्तव्यः, 'बितिअ वसहि'त्ति द्वितीये द्वारे वसतिः कर्त्तव्या, पूर्वप्रत्युपेक्षिता तस्या व्याघाते वा वसतेर्ग्रहणविधिर्वक्तव्यः, 'ततिए सण्णि'त्ति तृतीये द्वारे सञ्ज्ञी श्रावको वक्तव्यः,'चउत्थ साहम्मि'त्ति चतुर्थे द्वारे साधर्मिका वक्तव्याः, 'पंचमगंमि अ वसहि'त्ति पञ्चमे द्वारे वसतिर्वक्तव्या–'विच्छिण्णा खुड्डुलिआ' इत्येवमादि,'छट्ठे ठाणट्ठिओ होंति' षष्ठे द्वारे स्थानस्थितो भवति। द्वारगाथेयम्। इदानीं निर्युक्तिकृतोपन्यस्तं सङ्गारद्वयं भाष्यकृद् व्याख्यानयन्नाह–

आओसे संगारो अमुई वेलाए निग्गए ठाणं। अमुगत्थ वसहिभिक्खं बीओ खग्गूडसंगारो ॥ ९१ ॥(भा०)

'आओसे'त्ति प्रदोषे 'संगारो'त्ति सङ्केतः आचार्येण कर्त्तव्यः, कथम् ?–'अमुई वेलाए'त्ति अमुकया वेलया यास्यामः, पुनश्च 'निग्गए ठाणं अमुगत्थ' निर्गतानां सताम् अमुकत्र स्थानं–विश्रामसंस्थानं करिष्यामः, 'वसहि'त्ति अमुकत्र वसतिर्भविष्यति–वासको भविष्यतीत्यर्थः, 'भिक्ख'त्ति अमुकत्र ग्रामे भिक्षाटनं कर्त्तव्यम् , एकस्तावदयं 'सङ्गारः' सङ्केतः । 'बितिओ खग्गूडसंगारो'त्ति द्वितीयः सङ्केतः खग्गूडस्य दीयते । स चैवमाह—

रत्तिं न चेव कप्पइ नीयदुवारे विराहणा दुविहा। पण्णवण बहुतरगुणे अणिच्छ बीउव्व उवही वा ॥९२॥ (भा०)

'रत्तिं न चेव कप्पति'त्ति रात्रौ साधूनां गमनं न कल्पयति, द्विविधविराधनासंभवात् , यत उक्तं दिवापि तावत्– 'नीयदुवारे विराहणा दुविह'त्ति, दिवाऽपि तावदयं दोषः,"नीयंदुवारं तमसं, कोट्ठगं परिवज्जए" [नीचद्वारं तामसं कोष्ठकं परिवर्जयेत्] इतिवचनात्, नीचद्वारे द्विविधा विराधना सतमस्कत्वाद् आस्तां तावद्रात्रौ, एष च धर्मश्रद्धया न निर्गच्छति।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||९२||

दीप अनुक्रम [२८५]

'पण्णवण बहुतरगुण'त्ति पुनश्च तस्य प्रज्ञापना–प्ररूपणा क्रियते, तत्र रात्रिगमने बहवो गुणा दृश्यन्ते, बालवृद्धादयः सुखेन गच्छन्ति रात्रौ, न तृषा बाध्यन्त इति, 'अणिच्छ'त्ति अथ तथाऽपि नेच्छति गमनम् 'बितिओ व'त्ति द्वितीयस्तस्य दीयते–तदर्थं मुच्यत इति। 'उवही व'त्ति उपधिस्तस्य दीयते जीर्णा, तदीयश्च शोभनो गृह्यत इति, मा भूत्तत्पार्श्वे स्थितमुपधिं स्तेनका आच्छेत्स्यन्ति। इदानीमसावेकाकी यदि स्वपिति ततो दोषः प्रमादजनितस्ततश्चोपधिरुपहन्यते, उपहतश्चाकल्प्यो भवति, एतदेवाह—

सुवणे वीसुवघातो पडिबज्झंतो अ जो उ न मिलेज्जा। जग्गण अप्पडिबज्झण जइवि चिरेणं न उवहम्मे ९३ (भा०)

स्वापे 'वीसुं' एकाकिनो निद्रावशे सति, को दोषः ?–'उवघाउ'त्ति तस्यैकाकिनः सुप्तस्य उपधिरुपहन्यते, स ह्येकाकी स्वपन् प्रमादवान् भवति रथ्याद्यभियोगसंभवात्, ततश्च निद्रावशं प्राप्तस्य उपधिरुपहन्यते, अतोऽकल्पनीयो भवति परिष्ठापनीयश्चासौ। गच्छे तु स्वपतोऽपि नोपहन्यते, किं कारणम्?, यतस्तत्र केचित्सूत्रपौरुषीं कुर्वन्ति, अन्ये द्वितीयप्रहरेऽर्थानुचिन्तनं कुर्वन्ति, तृतीये तु प्रहरे आचार्य उत्तिष्ठति ध्यानाद्यर्थं, चतुर्थे तु प्रहरे सर्व एव भिक्षव उत्तिष्ठन्ति, ततश्च रात्रेर्नैकोऽपि प्रहरः शून्यः ततो नोपहन्यते उपधिः, एकाकिनस्तु जागरणं नास्त्यत उपघातः। 'पडिबज्झंते व जो उ न मिलेज्ज'त्ति प्रतिबध्यमानो वा व्रजादिषु क्षीरयाचनेच्छया प्रतिबध्यमानो यो न मिलेत् तस्याप्युपहन्यते उपधिः। किं कारणम्?, एकाकिनः पर्यटनं नोक्तम्?, एकाकी च पर्यटन् प्रमादभाग् भवति अतो व्रजादिप्रतिबन्धेऽप्युपधिरुपहन्यते। यस्तु पुनर्जागर्त्ति तस्मिन् दिवसेऽभुक्तो न व्रजादिषु प्रतिबध्यते स एवंविधस्तस्मिन् दिवसे मिलन्नपि नोपधिमुपहन्ति। 'जइवि चि-

विहार-रीतिः नि. १७६ भा९१-९३

॥ ७६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रेणं'ति किं बहुना?, जाग्रन्निशि गोकुलादिषु वाऽप्रतिबध्यमानो यद्यपि चिरेण मिलति बहुभिर्दिवसैस्तथाऽप्युपधिस्तस्य नोपहन्यते, अप्रमादपरत्वात्तस्येति । इदानीं गच्छस्य गमनविधिं प्रतिपादयन्नाह—

पुरओ मज्झे तह मग्गओ य ठायंति खित्तपडिलेहा । दाइंतुच्चाराई भावासण्णाइरक्खट्ठा ॥ १७७ ॥

क्षेत्रप्रत्युपेक्षका एषु विभागेषु भवन्ति–केचन 'पुरतः' अग्रतो गच्छस्य, केचन मध्ये गच्छस्य, ते हि मार्गानभिज्ञाः 'मार्गतश्च' पृष्ठतश्च तिष्ठन्ति क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः । किमर्थं पुरत एव तिष्ठन्ति?, 'दाइंतुच्चाराई' उच्चारप्रश्रवणस्थानानि दर्शयन्ति गच्छस्य, गच्छस्य 'भावासण्णादिरक्खट्ठ'त्ति भावासण्णो–अणहियासओ, तद्रक्षणार्थम्, एतदुक्तं भवति–उच्चारादिना बाध्यमानस्य ते मार्गज्ञाः स्थण्डिलानि दर्शयन्ति ।

डहरे भिक्खग्गामे अंतरगामंमि ठावए तरुणे । उवगरणगहण असहू व ठावए जाणगं चेगं ॥ १७८ ॥

'डहरे भिक्खग्गामे'त्ति यत्र ग्रामे वासकोऽभिप्रेतः भिक्षा च अटितुमभिप्रेता तस्मिन् 'डहरे' क्षुल्लके ग्रामे सति किं कर्त्तव्यमत आह–'अंतरगामंमि' अपान्तराल एव यो ग्रामस्तस्मिन् भिक्षार्थं तरुणान् स्थापयेत्, 'उवगरणगहणं'ति तदीयमुपकरणमन्ये भिक्षवो गृह्णन्ति, 'असहू व ठावए'त्ति अथ ते तत्स्थापितेतरभिक्षुसत्कमुपकरणं ग्रहीतुं न शक्नुवन्ति ततोऽसहिष्णव एव तत्रान्तरग्रामे भिक्षार्थं स्थाप्यन्ते 'जाणगं चेगं'ति ज्ञं चैकं–मार्गज्ञं चैकं तेषां मध्ये स्थापयेत् येन सुखेनैवागच्छन्ति

दूरुट्ठिअ खुड्डुलए नव भड अगणी य पंत पडिणीए । संघाडेगो धुवकम्मिओ व सुण्णे नवरि रिक्खा ॥ १७९ ॥

अथवाऽसौ वासकभिक्षार्थमभिप्रेतो ग्रामो दूरे स्थितः स्याद् उत्थितो वा–उद्वसितः क्षुल्लको वा प्राक् संपूर्णो दृष्टः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इदानीमर्द्धमुद्वसितमतः क्षुल्लकः, 'नवः' प्राग् यस्मिन् स्थाने दृष्टस्ततः स्थानादन्यत्र प्रदेशे जातः 'भड'त्ति भटाक्रान्तो जातः 'अगणि'त्ति अग्निना वा इदानीं दग्धः 'प्रान्तः' प्राक् शोभनो दृष्ट इदानीं प्रान्तीभूतो विरूपो जातः 'पडिणीए'त्ति प्रत्यनीकाक्रान्त इदानीं जातः, प्राक् प्रतिलेखनाकाले प्रत्यनीकस्तत्र नासीत् इदानीं तु आयातः, पूर्वप्रतिलेखिते ग्रामे एवंविधे जाते सति दूरोत्थितादिदोषाभिभूते सति किं कर्त्तव्यं ?–'संघाड'त्ति तत्र सङ्घाटकः स्थाप्यते, पाश्चात्यप्रव्रजितमीलनार्थम् 'एगोवि'त्ति सङ्घाटकाभावे एकः स्थाप्यते साधुः 'धुवकम्मिओ'त्ति ध्रुवकर्मिको–लोहकारादिस्तस्य कथ्यते–यथा वयमन्यत्र ग्रामे यास्यामः, त्वया पाश्चात्यसाधुभ्यः कथनीयं–यथाऽनेन मार्गेणागन्तव्यमिति, एवं तावत् वसति ग्रामे एस विही । 'सुण्णे नवरि रिक्ख'त्ति यदा त्वसौ शून्यो ग्रामस्तदा किं कर्त्तव्यं ?–'नवरि रिक्ख'त्ति वर्त्मनि–अनभिप्रेते तिरश्चीनं रेखाद्वयं पात्यते, येन तु वर्त्मना गतास्तत्र दीर्घा रेखां कुर्वन्ति । यदा तु पुनरेभिरुक्तदोषैर्युक्तो न भवति स ग्रामस्तदा तत्रैव या वसतिस्तस्यां प्रविशति । ततश्च ये ते भिक्षार्थमन्तरालग्रामे स्थिता आसन् तेषां मध्ये यदि वसतिमार्गज्ञो भवति ततस्तस्यामेव वसतौ आगच्छन्ति, न कश्चित्प्रतिपालयति । एतदेवाह—

जाणंतठिएँ ता एउ वसहीए नत्थि कोइ पडियरइ । अण्णाएऽजाणंतेसु वावि संघाड धुवकम्मी ॥ १८० ॥

'जाणंतट्ठिए' मार्गाभिज्ञे स्थिते तस्यां वसतावागच्छन्ति 'नत्थि कोइ पडियरइ'त्ति न कश्चित्तान् प्रतिपालयति बहिःस्थितः, 'अण्णाए'त्ति यदा तस्याः पूर्वप्रत्युपेक्षिताया वसतेर्व्याघातः संजातः किन्त्वन्या, तस्यामन्यस्यां वसतौ जातायां अजाणंतेसु वावि, अथवा ये ते भिक्षानिमित्तं स्थिताः पश्चादागमिष्यन्ति तेषु अजानत्सु 'संघाडधुवकम्मि'त्ति वसति-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१८०||

दीप अनुक्रम [२८८]

परिज्ञानार्थं सङ्घाटको बहिः स्थाप्यते, ध्रुवकर्मको–लोहकारस्तस्य कथ्यते, यदुत–साधव आगमिष्यन्ति तेषामियं वसतिर्दर्शनीया कथनीया वेति । इदानीं ये ते भिक्षार्थं पश्चाद्ग्रामे स्थापितास्तैः किं कर्त्तव्यमत आह—

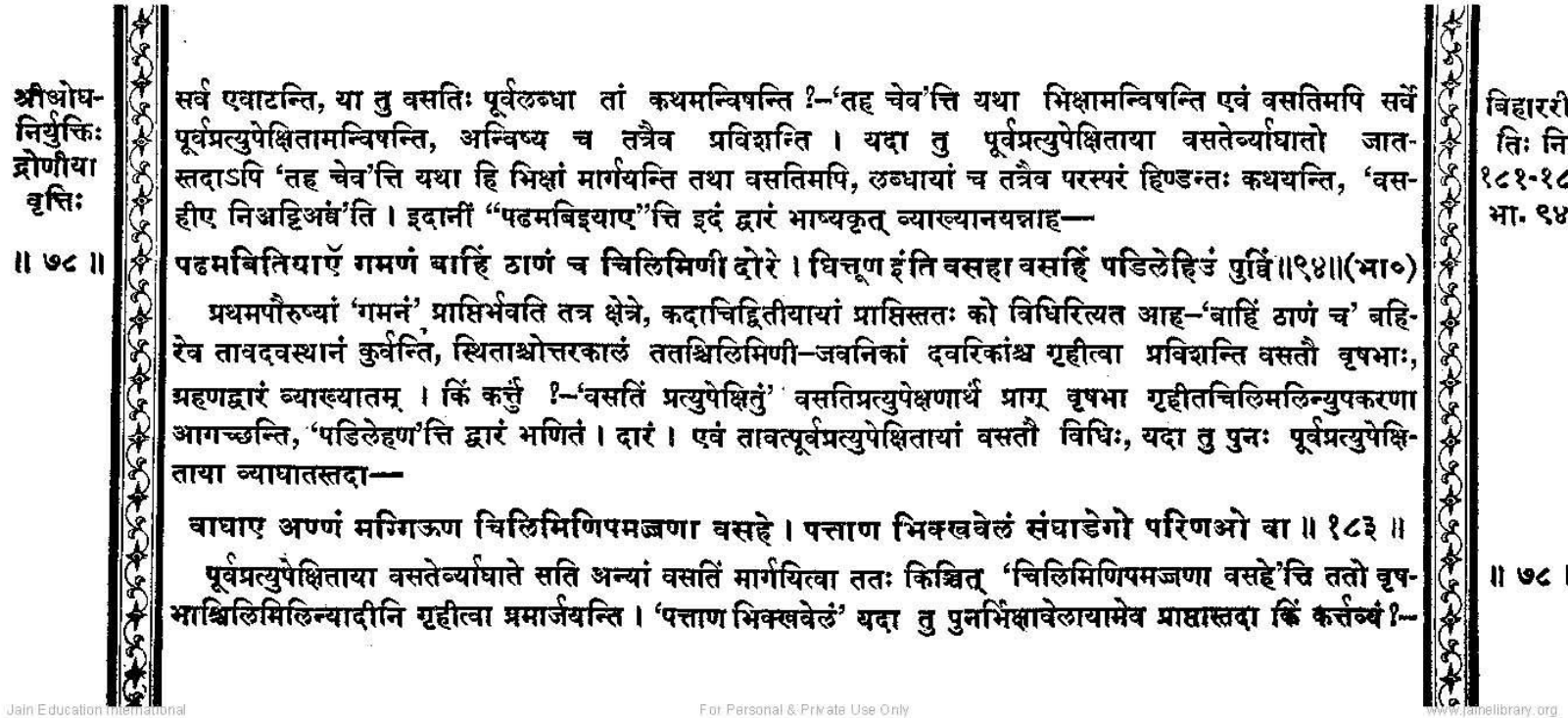
जइ अब्भासे गमणं दूरे गंतुं दुगाउयं पेसे । तेवि असंथरमाणा इंती अहवा विसज्जंति ॥ १८१ ॥

यदि 'अभ्यासे' आसन्ने गच्छस्ततस्ते 'गमणं'ति गच्छसमीपमेव गच्छन्ति,'दूरे'त्ति अथ दूरे गच्छस्ततो 'गन्तुं द्विगव्यूतं' गत्वा क्रोशद्वयं, किं ?–'पेसे'त्ति एकं श्रमणं गच्छसमीपे प्रेषयन्ति, 'तेवि असंथरमाणा इंति' 'तेऽपि' गच्छगताः साधवः 'असंस्तरमाणाः' अतृप्ताः सन्तः किं कुर्वन्ति ?–'एंति' आगच्छन्ति, क्व ?–यत्र ते साधवो भिक्षया गृहीतया तिष्ठन्ति, अथ च तृप्तास्ततस्तं साधुं विसर्जयन्ति, यदुत–पर्याप्तमस्माकं, यूयं भक्षयित्वाऽऽगच्छत । संगारेत्ति दारं व्याख्यातं, तत्प्रसङ्गायातं च व्याख्यातम् , इदानीं वसतिद्वारमुच्यते, तत्प्रतिपादनायेदमाह—

पढमबियाए गमणं गहणं पडिलेहणा पवेसो उ । काले संघाडेगो वऽसंथरंताण तह चेव ॥ १८२ ॥

'पढम'त्ति तस्यां च वसतौ 'गमनं' प्राप्तिः कदाचित्प्रथमपौरुष्यां भवति कदाचिच्च 'बितियाए'त्ति द्वितीयपौरुष्यां 'गमनं' प्राप्तिरित्यर्थः । 'गहणं'ति दंडउंछयणदोरयचिलिमिलीणं कृत्वा ग्रहणं वृषभाः प्रविशन्ति । पुनश्च 'पडिलेहणा' तां वसतिं प्रमार्जयन्ति, 'पवेसो'त्ति ततो गच्छः प्रविशति, 'काले'त्ति कदाचिद्भिक्षाकाल एव प्राप्तास्ततश्च को विधिः ?, अत आह–सङ्घाटक एको वसतिं प्रमार्जयति, अन्ये भिक्षार्थं व्रजन्ति । 'एगो व'त्ति यदा सङ्घाटको न पर्याप्यते तदा एको गीतार्थो वसतिप्रत्युपेक्षणार्थं प्रेष्यते, यदा तु पुनरेकोऽपि न पर्याप्यते तदा किम् ?–'असंथरंताणं' अणुघट्टंताणं अतृप्यन्तः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ७८ ॥

सर्व एवाटन्ति, या तु वसतिः पूर्वलब्धा तां कथमन्विषन्ति ?–'तह चेव'त्ति यथा भिक्षामन्विषन्ति एवं वसतिमपि सर्वे पूर्वप्रत्युपेक्षितामन्विषन्ति, अन्विष्य च तत्रैव प्रविशन्ति । यदा तु पूर्वप्रत्युपेक्षिताया वसतेर्व्याघातो जातस्तदाऽपि 'तह चेव'त्ति यथा हि भिक्षां मार्गयन्ति तथा वसतिमपि, लब्धायां च तत्रैव परस्परं हिण्डन्तः कथयन्ति, 'वसहीए निअट्टिअव्वं'ति । इदानीं "पढमबिइयाए"त्ति इदं द्वारं भाष्यकृत् व्याख्यानयन्नाह—

पढमबितियाएँ गमणं बाहिं ठाणं च चिलिमिणी दोरे । घित्तूण इंति वसहा वसहिं पडिलेहिउं पुव्विं ॥९४॥(भा०)

प्रथमपौरुष्यां 'गमनं' प्राप्तिर्भवति तत्र क्षेत्रे, कदाचिद्वितीयायां प्राप्तिस्ततः को विधिरित्यत आह–'बाहिं ठाणं च' बहिरेव तावदवस्थानं कुर्वन्ति, स्थिताश्चोत्तरकालं ततश्चिलिमिणी–जवनिकां दवरिकांश्च गृहीत्वा प्रविशन्ति वसतौ वृषभाः, ग्रहणद्वारं व्याख्यातम् । किं कर्तुं ?–'वसतिं प्रत्युपेक्षितुं' वसतिप्रत्युपेक्षणार्थं प्राग् वृषभा गृहीतचिलिमलिन्युपकरणा आगच्छन्ति, 'पडिलेहण'त्ति द्वारं भणितं । दारं । एवं तावत्पूर्वप्रत्युपेक्षितायां वसतौ विधिः, यदा तु पुनः पूर्वप्रत्युपेक्षिताया व्याघातस्तदा—

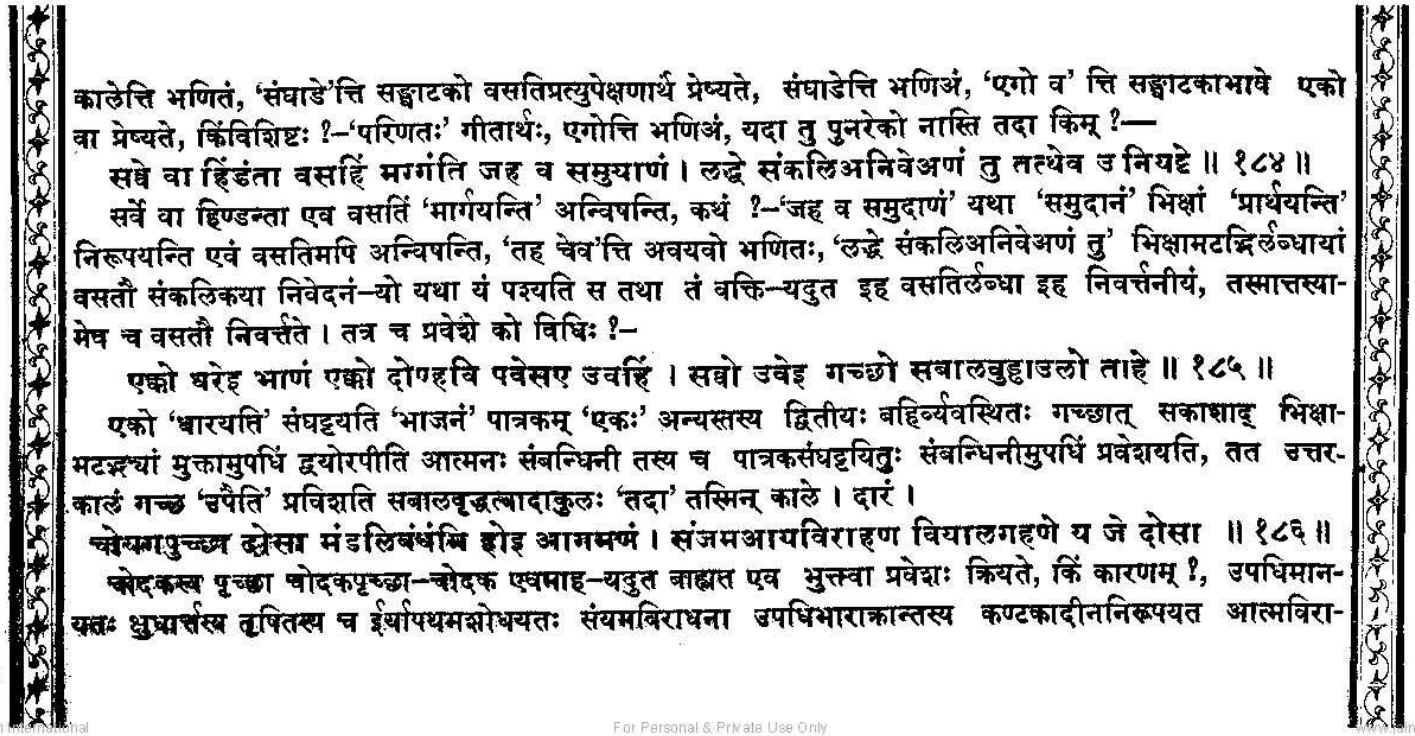
वाघाए अण्णं मग्गिऊण चिलिमिणिपमज्जणा वसहे । पत्ताण भिक्खवेलं संघाडेगो परिणओ वा ॥ १८३ ॥

पूर्वप्रत्युपेक्षिताया वसतेर्व्याघाते सति अन्यां वसतिं मार्गयित्वा ततः किञ्चित् 'चिलिमिणिपमज्जणा वसहे'त्ति ततो वृषभाश्चिलिमिलिन्यादीनि गृहीत्वा प्रमार्जयन्ति । 'पत्ताण भिक्खवेलं' यदा तु पुनर्भिक्षावेलायामेव प्राप्तास्तदा किं कर्त्तव्यं ?–

बिहाररीतिः नि. १८१-१८३ भा. ९४

॥ ७८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



कालेत्ति भणितं, 'संघाडे'त्ति सङ्घाटको वसतिप्रत्युपेक्षणार्थं प्रेष्यते, संघाडेत्ति भणिअं, 'एगो व' त्ति सङ्घाटकाभावे एको वा प्रेष्यते, किंविशिष्टः ?–'परिणतः' गीतार्थः, एगोत्ति भणिअं, यदा तु पुनरेको नास्ति तदा किम् ?—

सव्वे वा हिंडंता वसहिं मग्गंति जह व समुयाणं। लद्धे संकलिअनिवेअणं तु तत्थेव उ नियट्टे ॥ १८४ ॥

सर्वे वा हिण्डन्ता एव वसतिं 'मार्गयन्ति' अन्विषन्ति, कथं ?–'जह व समुदाणं' यथा 'समुदानं' भिक्षां 'प्रार्थयन्ति' निरूपयन्ति एवं वसतिमपि अन्विषन्ति, 'तह चेव'त्ति अवयवो भणितः, 'लद्धे संकलिअनिवेअणं तु' भिक्षामटद्भिर्लब्धायां वसतौ संकलिकया निवेदनं–यो यथा यं पश्यति स तथा तं वक्ति–यदुत इह वसतिर्लब्धा इह निवर्त्तनीयं, तस्मात्तस्यामेव च वसतौ निवर्त्तते। तत्र च प्रवेशे को विधिः ?–

एक्को धरेइ भाणं एक्को दोण्हवि पवेसए उवहिं। सव्वो उवेइ गच्छो सबालवुड्ढाउलो ताहे ॥ १८५ ॥

एको 'धारयति' संघट्टयति 'भाजनं' पात्रकम् 'एकः' अन्यस्तस्य द्वितीयः बहिर्व्यवस्थितः गच्छात् सकाशाद् भिक्षाभटद्भ्यां मुक्तामुपधिं द्वयोरपीति आत्मनः संबन्धिनी तस्य च पात्रकसंघट्टयितुः संबन्धिनीमुपधिं प्रवेशयति, तत उत्तरकालं गच्छ 'उपैति' प्रविशति सबालवृद्धत्वादाकुलः 'तदा' तस्मिन् काले। दारं।

चोयगपुच्छा दोसा मंडलिबंधंमि होइ आयम्मं। संजमआयविराहण वियालगहणे य जे दोसा ॥ १८६ ॥

चोदकस्य पृच्छा चोदकपृच्छा–चोदक एवमाह–यदुत गृहात एव भुक्त्वा प्रवेशः क्रियते, किं कारणम् ?, उपधिमानयतः क्षुधार्त्तस्य तृषितस्य च ईर्यापथमशोधयतः संयमविराधना उपधिभाराक्रान्तस्य कण्टकादीननिरूपयत आत्मविरा-

ओ० १४

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१८६||

दीप अनुक्रम [२९५]

धना, ततश्च बहिरेव भुक्त्वा विकाले प्रविशन्तु, आचार्यस्त्वाह–बहिर्भुञ्जतां दोषाः, कथं ?–मण्डलिबन्धे सति आगमनं भवति सागारिकाणां, तत्र च संयमात्मविराधना भवति 'वियालगहणे'त्ति विकालवेलायां च वसतिग्रहणे ये दोषा भवन्ति ते वक्ष्यन्ते । द्वारगाथेयं । चोदकपृच्छेति व्याख्यानयन्नाह—

अइभारेण उ इरिअं न सोहए कंटगाइ आयाए । भत्तट्ठिअ वोसिरिआ अइंतु एवं जढा दोसा ॥ १८७ ॥

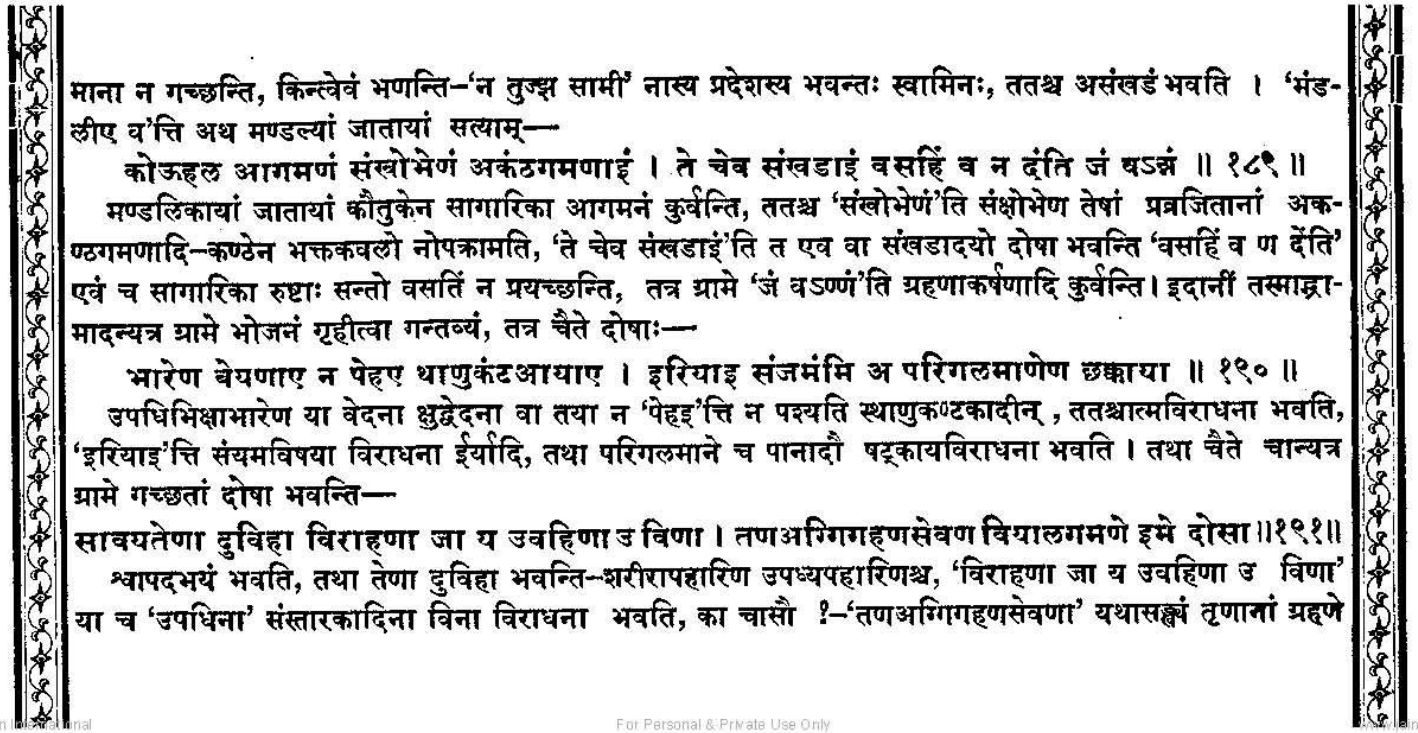
चोदक एवमाह यदुत गच्छसमीपादुपधिं प्रवेशयन् तदतिभारेण बुभुक्षया च पीडितः सन्नीर्यापथिकां न शोधयति यतोऽतः संयमविराधना भवति, तथा कण्टकादीनि च न पश्यति बुभुक्षितत्वादेव यतोऽत आत्मविराधना भवति, तस्माद् 'भत्तट्ठिय'त्ति बहिरेव भुक्ताः सन्तः, तथा 'वोसिरिय'त्ति उच्चारप्रश्रवणं कृत्वा ततः 'अइंतु'त्ति प्रविशन्तु, क्व ?–वसतौ, 'एवं जढा दोस'त्ति एवं क्रियमाणे दोषाः–आत्मविराधनादयः परित्यक्ता भवन्ति । एवमुक्ते सत्याहाचार्यः—

आयरिअवयण दोसा दुविहा नियमा उ संजमायाए । वच्चह न तुज्झ सामी असंखडं मंडलीए वा ॥ १८८ ॥

आचार्यस्य वचनं आचार्यवचनं, किं तदित्याह–'दोसा' बाह्यतो भुञ्जतां दोषा भवन्ति द्विविधाः 'नियमाद्' अवश्यतया, 'संजम'त्ति संयमविराधनादोषः 'आयाए'त्ति आत्मविराधनादोषः । तत्र संयमविराधनादोष एवं भवति–तत्र च भोजन-स्थाने सागारिका यदि बहवस्तिष्ठन्ति ततस्ते साधवो भिक्षामटित्वा गताः सन्तो यद्येवं भणन्ति–यदुत वच्चह–हे सागारिका गच्छतास्मात्स्थानात्, ततश्चैवमुच्यमाने संयमविराधना भवति । आत्मविराधना चैवं भवति–यदा ते सागारिका उच्च-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१८८|| दीप अनुक्रम [२९७]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः



माना न गच्छन्ति, किन्त्वेवं भणन्ति–'न तुज्झ सामी' नास्य प्रदेशस्य भवन्तः स्वामिनः, ततश्च असंखडं भवति । 'मंडलीए व'त्ति अथ मण्डल्यां जातायां सत्याम्—

कोऊहल आगमणं संखोभेणं अकंठगमणाइं । ते चेव संखडाइं वसहिं व न दंति जं वऽन्नं ॥ १८९ ॥

मण्डलिकायां जातायां कौतुकेन सागारिका आगमनं कुर्वन्ति, ततश्च 'संखोभेणं'ति संक्षोभेण तेषां प्रव्रजितानां अकण्ठगमणादि–कण्ठेन भक्तकवलो नोपक्रामति, 'ते चेव संखडाइं'ति त एव वा संखडादयो दोषा भवन्ति 'वसहिं व ण देंति' एवं च सागारिका रुष्टाः सन्तो वसतिं न प्रयच्छन्ति, तत्र ग्रामे 'जं वऽण्णं'ति ग्रहणाकर्षणादि कुर्वन्ति। इदानीं तस्माद्ग्रामादन्यत्र ग्रामे भोजनं गृहीत्वा गन्तव्यं, तत्र चैते दोषाः—

भारेण वेयणाए न पेहए थाणुकंटआयाए । इरियाइ संजमंमि अ परिगलमाणेण छक्काया ॥ १९० ॥

उपधिभिक्षाभारेण या वेदना क्षुद्वेदना वा तया न 'पेहइ'त्ति न पश्यति स्थाणुकण्टकादीन् , ततश्चात्मविराधना भवति, 'इरियाइ'त्ति संयमविषया विराधना ईर्यादि, तथा परिगलमाने च पानादौ षट्कायविराधना भवति । तथा चैते चान्यत्र ग्रामे गच्छतां दोषा भवन्ति—

सावयतेणा दुविहा विराहणा जा य उवहिणा उ विणा । तणअगिगहणसेवण वियालगमणे इमे दोसा ॥१९१॥

श्वापदभयं भवति, तथा तेणा दुविहा भवन्ति–शरीरापहारिण उपध्यपहारिणश्च, 'विराहणा जा य उवहिणा उ विणा' या च 'उपधिना' संस्तारकादिना विना विराधना भवति, का चासौ ?–'तणअगिगहणसेवणा' यथासङ्ख्यं तृणानां ग्रहणे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१९१||

दीप अनुक्रम [३००]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ८० ॥

संयमविराधना अग्नेश्च सेवने संयमविराधनेति । द्वारम् । एवं तावद्वाह्यतो भुञ्जानानामन्यग्रामे च गच्छतां दोषा व्याख्याताः, इदानीं तु यदुक्तमासीच्चोदकेन यदुत विकाले प्रवेष्टुं युज्यते तन्निरस्यन्नाह–'वियालगम(ह) णे इमे दोसा' विकालगमने वसतौ 'एते' वक्ष्यमाणलक्षणा दोषा भवन्ति, ते चामी—

पविसणमग्गणठाणे वेसित्थिदुगुंछिए य बोद्धव्वे । सज्झाए संथारे उच्चारे चेव पासवणे ॥ १९२ ॥

'पविसण'त्ति तत्र ग्रामे विकाले प्रविशतां ये दोषास्तान् वक्ष्यामः, 'मग्गण'त्ति वसतिमार्गणा, अन्वेषणे च विकालवेलायां ये दोषास्तान् वक्ष्यामः । 'ठाणे वेसित्थिदुगुंछिए अ' इत्येतद्वक्ष्यतीति विकालवेलायां 'बोद्धव्यं' ज्ञेयम् । 'सज्झाए'त्ति स्वाध्यायं अप्रत्युपेक्षितायां वसतौ अगृहीते काले कुर्वतो दोषः, अथ न करोति तथाऽपि दोषः–हानिलक्षणः । 'संथारे'त्ति अप्रत्युपेक्षितायां वसतौ संस्तारकभुवं गृह्णतः संयमात्मविराधना दोषः । 'उच्चारे'त्ति अप्रत्युपेक्षितायां वसतौ स्थण्डिलेष्वनिरूपितेषु व्युत्सृजतां दोषो, धरणेऽपि दोषः, 'पासवणे'त्ति अप्रत्युपेक्षितेषु स्थण्डिलेषु व्युत्सृजतो दोषः धारयतोऽपि दोष एव । इयं द्वारगाथा इदानीं प्रतिपदं व्याख्यायते—

सावयतेणा दुविहा विराहणा जा य उवहिणा उ विणा । गुम्मिअगहणाऽऽहणणा गोणाईचमढणा चेव ॥१९३॥

विकाले प्रविशतां ग्रामे श्वापदभयं भवति । स्तेना द्विप्रकाराः–शरीरस्तेना उपधिस्तेनाश्च, तद्भयं भवति विकाले प्रविशताम्, विराधना या च उपधिना विना भवति–अग्नितृणयोर्ग्रहणसेवनादिका, सा च विकाले प्रवेशे दोषः । 'गुम्मिय'त्ति

भुक्ताप्रवेशः नि. १८९-१९३

॥ ८० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गुल्मं–स्थानं तद्रक्षपाला गुल्मिकास्तैर्ग्रहणमाहननं च भवति विकाले प्रविशतामयं दोषः । 'गोणादिचमढणा' बलीवर्दादिपादप्रहारादिश्च, एवमयं विकालप्रवेशे दोषः । "पविसणे"त्ति गयं । इदानीं 'मग्गणे'ति व्याख्यायते—

फिडिए अण्णोण्णारण तेण य राओ दिया य पंथंमि । साणाइ वेसकुत्थिअ तवोवणं मूसिआ जं च ॥ १९४॥'

'फिडिए'त्ति विकालवेलायां वसतिमार्गणे–अन्वेषणे 'फिडितः' भ्रष्टो भवेत् तत्र 'अन्योऽन्यं' परस्परतः 'आरणं संशब्दनं तच्छ्रुत्वा स्तेनका रात्रौ मुषितुमभिलषन्ति,'दिया य पंथंमि'त्ति दिवा वा प्रभाते पथि गच्छतस्तान् श्रमणान् मुष्णन्ति 'साणादि'त्ति रात्रौ वसतेरन्वेषणे श्वादिर्दशति । 'मग्गणे'त्ति भणिअं, 'वेसत्थिदुगुंछिए'त्ति व्याख्यायतेऽवयवः, तत्राह– 'वेसकुत्थिअ तवोवणं मूसिगा चेव' रात्रौ वसतिलाभे न जानन्ति किमेतत्स्थानं वेश्यापाटकासन्नमनासन्नं वा ?, ते चाजानानास्तस्यां वसतौ निवसन्ति, तत्र चायं दोषः–वेश्यासमीपे वसतां लोको भणति–अहो तपोवनमिति । कुत्सितर्द्धिपकादिस्थानासन्ने लोको ब्रवीति–स्वस्थाने मूषिका गताः, एतेऽप्येवंजातीया एव । 'वेसित्थिकुत्सिते'त्ति गतं । स्वाध्यायद्वारं व्याख्यातमेव द्रष्टव्यम् । इदानीं 'संथार'त्ति व्याख्यायते—

अप्पडिलेहिअकंटाविलंमि संथारगंमि आयाए । छक्कायसंजमंमि अ चिलिणे सेहऽन्नहाभावो ॥ १९५ ॥

अप्रत्युपेक्षितायां वसतौ कण्टका भवन्ति बिलं वा, तत्र संस्तारके क्रियमाणे 'आयाए'त्ति आत्मविराधना भवति 'छक्काय'त्ति षट्कायस्यापि अप्रत्युपेक्षितवसतौ स्वपतः 'संजमंमि'त्ति संयमविषया विराधना भवति । 'चिलिणे'त्ति तथा चिली-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ८१ ॥

नं–अशुचिकं, भवति, तस्मिंश्च सेहस्य जुगुप्सया अश्रुताथेस्यान्यथाभावः उन्निष्क्रमणादिर्भवति । संथारुत्ति गयं, इदानीं 'उच्चारपासवणे''त्ति व्याख्यायते—

कंटगथाणुगवालाविलंमि जइ वोसिरेज्ज आयाए । संजमओ छक्काया गमणे पत्ते अइंते य ॥ १९६ ॥

अप्रत्युपेक्षितायां वसतौ कण्टकस्थाणुव्यालाविले–समाकुले प्रदेशे व्युत्सृजत आत्मविराधना भवति,'संजमओ'त्ति संयमतो विराधना षट्कायोपमर्दे सति रात्रौ भवति, 'गमणे'त्ति कायिकाव्युत्सृजनार्थं गमने दोषाः 'पत्ते'त्ति कायिकाभुवं प्राप्तस्य व्युत्सृजतः 'अयंते य'त्ति पुनः कायिकां व्युत्सृज्य वसतिं प्रविशतो षट्कायोपमर्दो भवतीति । अथ तु पुनर्निरोधं करोति, ततश्चैते दोषा भवन्ति—

मुत्तनिरोहे चक्खू वच्चनिरोहेण जीवियं चयइ । उड्ढनिरोहे कोट्ठं गेलन्नं वा भवे तिसुवि ॥ १९७ ॥

सुगमा ॥ 'उच्चारपासवणि''त्ति गयं । इदानीमपवाद उच्यते—

जइ पुण वियालपत्ता पए व पत्ता उवस्सयं न लभे । सुन्नघरदेउले वा उज्जाणे वा अपरिभोगे ॥ १९८ ॥

यदि पुनर्विकाल एव प्राप्ताः, ततश्च तेषां विकालवेलायां वसतौ प्रविशतां प्रमादकृतो दोषो न भवति, 'पए व पत्त'त्ति प्रागेव प्रत्यूषस्येव प्राप्ताः किन्तु उपाश्रयं न लभन्ते ततः क्व समुद्दिशन्तु ?–शून्यगृहे देवकुले वा उद्याने वा 'अपरिभोगे' लोकपरिभोगरहिते समुद्दिशन्तीति क्रियां वक्ष्यति ।

आयरिअचिलिमिणीए रण्णे वा निब्भए समुद्दिसणं । सभए पच्छन्नाऽसइ कमढय कुरुया य संतरिआ ॥१९९॥

भुक्ताप्रवेशः नि· १९४-१९६ अपवादः नि. १९७-१९९

॥ ८१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ शून्यगृहादौ सागारिकाणामापातो भवति तत आपाते सति चिलिमिणी–यवनिका दीयते, 'रण्णे व'त्ति अथ शून्यगृहादि सागारिकाक्रान्तं ततः अरण्ये निर्भये समुद्दिशनं क्रियते, सभयेऽरण्ये प्रच्छन्नस्य वा 'असति' अभावे ततो वसिमसमीप एव कमढकेषु शुक्लेन लेपेन सबाह्याभ्यन्तरेषु लिप्तेषु भुज्यते, 'कुरुआ य'त्ति कुरुकुचा–पादप्रक्षालनादिका क्रियते 'संतरित'त्ति सान्तराः–सावकाशा बृहदन्तराला उपविशन्ति । इदानीं भुक्त्वा बहिः पुनर्विकाले वसतिमन्विषन्ति, सा च कोष्ठकादिका भवति, तत्र च लब्धायां वसतौ को विधिरित्यत आह—

कोट्ठग सभा व पुव्विं काल वियाराइभूमिपडिलेहा । पच्छा अइंति रत्तिं पत्ता वा ते भवे रत्तिं ॥ २०० ॥

कोष्ठकः–आवासविशेषः सभा–प्रतीता कोष्ठकसभा वसतौ लब्धायां प्रागेव 'काले'त्ति कालभूमिं प्रत्युपेक्षन्ते यत्र कालो गृह्यते तथा 'वियारभूमिपडिलेहा' विचारभूमिः–सञ्ज्ञाकायिकाभूमिस्तस्याश्च प्रत्युपेक्षणा क्रियते । तत एवं प्रत्युपेक्षितायां विकाले वसतौ 'पच्छा अतिंति रत्तिं'ति पश्चाच्छेषाः साधवो रात्रौ प्रविशन्ति । 'पत्ता वा ते भवे रत्तिं'ति यदा पुनस्ते आगच्छन्त एव कथमपि रात्रावेव प्राप्तास्तदा रात्रावपि प्रविशन्ति ॥ तत्र च प्रविशतां—

गुम्मिअभेसण समणा निब्भय बहिठाण वसहिपडिलेहा। सुन्नघरपुव्वभणिअं कंचुग तह दारुदंडेणं ॥ २०१ ॥

गुल्मिकाः–स्थानकरक्षपालाः 'भेसणं'ति यदि ते कथञ्चित्त्रासयन्ति ततश्चेदं वक्तव्यं–यदुत श्रमणा वयं न चौराः, 'निब्भय'त्ति अथ तु स सन्निवेशो निर्भय एव भवेत्तदा 'बहिठाणं'ति बहिरेव गच्छस्तावत्तिष्ठति, वृषभास्तु वसतिप्रत्युपेक्षणार्थं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२०१||

दीप अनुक्रम [३१०]

व्रजन्ति । किंविशिष्टाऽसौ वसतिरन्विष्यते ?–'शून्यगृहादि' पूर्वोक्तं, 'कंचुग तह दारुदंडेणं'ति दण्डकपुञ्छनं तद्धि कञ्चुकं परिधाय सर्पपतनभयाद्दण्डनपुञ्छनकेन वसतिमुपरिष्टात्प्रस्फोटयन्ति, गच्छश्च प्रविशति, ततः को विधिः स्वापे ?—

संथारगभूमितिगं आयरियाणं तु सेसगाणेगा । रुंदाए पुप्फइन्ना मंडलिआ आवली इयरे ॥ २०२ ॥

संस्तारकभूमित्रयमाचार्याणां निरूप्यते, एका निवाता संस्तारकभूमिरन्या प्रवाता अन्या निवातप्रवाता, 'सेसगाणेग'-त्ति शेषाणां साधूनामेकैका संस्तारकभूमिर्दीयते, 'रुंदाए'त्ति यद्यसौ वसतिर्विस्तीर्णा भवति ततः पुष्पावकीर्णाः स्वपन्ति–पुष्पप्रकरवदयथायथं स्वपन्ति येन सागारिकावकाशो न भवति, 'मंडलिय'त्ति अथासौ वसतिः क्षुल्लिका भवति ततो मध्ये पात्रकाणि कृत्वा मण्डल्या पार्श्वे स्वपन्ति । स्थापना चेयम्— [redacted] 'आवलिय'त्ति प्रमाणयुक्तायां वसतौ 'आवल्या' पङ्क्त्या स्वपन्ति 'इयरे'त्ति क्षुल्लिकाप्रमाणयुक्तयोर्वसत्योरयं विधिः—

संथारगहणाए वेंटिअउक्खेवणं तु कायव्वं ॥॥॥॥ संथारो घेत्तव्वो मायामयविप्पमुक्केणं ॥ २०३ ॥

'संथारकग्रहणाय' संस्तारकभूमिग्रहणकाले, एतदुक्तं भवति– ॥॥॥॥ यदा स्थविरादिः संस्तारकभूमिविभजनं करोति तदा साधुभिः किं कर्त्तव्यमत आह–'वेंटिअउक्खेवणं तु कायव्वं' वेंटिआ–उपधिवेष्टलिकास्तासां सर्वैरेव साधुभिरात्मीयात्मीयानामुत्क्षेपणं कर्त्तव्यं येन सुखेनैव दृष्टायां भुवि विभजितुं संस्तारकाः शक्यन्ते । स च संस्तारको यो यस्मै दीयते साधवे स कथं तेन ग्राह्य इत्याह ?–'मायामदविप्रमुक्तेन' तेन न माया कर्त्तव्या, यदुताहं वातार्थी ममेह प्रयच्छ, नापि मदः–अह-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

v

अथ संस्तारकविधिः वर्णयते

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२०१||

दीप अनुक्रम [३१०]

द्धारः कार्यो, यदुताहमस्यापि पूज्यो येन मम शोभना संस्तारकभूर्दत्तेति ॥ जइ रत्तिं आगया ताहे कालं न गेण्हंति, निज्जुत्तीओ संगहणीओ य सणिअं गुणेंति, मा वेसित्थिदुगुंछिआदउ दोसा होहिंति, कायिकां मत्तएसु छड्डंति उच्चारंपि जयणाए। जइ पुण कालभूमी पडिलेहिया ताहे कालं गिण्हंति, यदि सुद्धो करेंति सज्झायं, अह न सुद्धो न पडिलेहिआ वा वसही ताहे निज्जुत्तीओ गुणेंति, पढमपोरिसिं काऊणं बहुपडिपुण्णाए पोरिसीए गुरुसगासं गंतूण भणंति–इच्छामि खमासमणो वंदिउं जावणिज्जाए निसीहिआए मत्थएण वंदामि, खमासमणा ! बहुपडिपुण्णा पोरिसी, अणुजाणह राईसंथारयं, ताहे पढमं काइआभूमिं वच्चंति, ताहे जत्थ संथारगभूमी तत्थ वच्चंति, ताहे उवहिंमि उवओगं करेंता पमज्जंता उवहीए दोरयं उच्छोडेंति, ताहे संथारगपट्टअं उत्तरपट्टयं च पडिलेहित्ता दोवि एगत्थ लाएत्ता ऊरुंमि ठवेंति, ताहे संथारगभूमिं पडिलेहंति, ताहे संथारयं अच्छुरंति सउत्तरपट्टं, तत्थ य लग्गा मुहपोत्तिआए उवरिल्लं कायं पमज्जंति, हेट्ठिल्लं रयहरणेणं,

---

१ यदा रात्राधागतास्तदा कालं न गृह्णन्ति, निर्युक्तीः संग्रहणीश्च शनैर्गुणयन्ति, मा वेश्यास्त्रीकुसिसतादयो दोषा भूवन्, कायिकीं मात्रकेषु व्युत्सृजन्ति उच्चारमपि यतनया। यदि पुनः कालभूमयः प्रतिलेखितास्तदा कालं गृह्णन्ति, यदि शुद्धः कुर्वन्ति स्वाध्यायं, अथ न शुद्धो न प्रतिलेखिता वा वसतिस्तदा निर्युक्तीर्गुणयन्ति। प्रथमां पौरुषीं कृत्वा बहुप्रतिपूर्णायां पौरुष्यां गुरुसकाशं गत्वा भणन्ति–इच्छामि क्षमाश्रमणा वन्दितुं यापनीयया नैषेधिक्या मस्तकेन वन्दे, क्षमाश्रमण ! बहुप्रतिपूर्णा पौरुषी, अनुजानीत रात्रिसंस्तारकं, तदानीं प्रथमं कायिकीभूमिं व्रजन्ति, ततो यत्र संस्तारकभूमिस्तत्र व्रजन्ति, तदोपधावुपयोगं कुर्वन्तः प्रमार्जयन्त उपधेर्दवरकमुच्छोटयन्ति, तदा संस्तारकपट्टकमुत्तरपट्टकं च प्रतिलिख्य द्वे अप्येकत्र लात्वोरुणि स्थापयन्ति, तदा संस्तारकभूमिं प्रतिलेखयन्ति, तदा संस्तारकमास्तृण्वन्ति सोत्तरपट्टकं, तत्र च लग्ना मुखवस्त्रिकयोपरितनं कायं प्रमार्जयन्ति, अधस्तनं रजोहरणेन,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कप्पे य वामपासे ठवेंति, पुणो संथारए चडंतो भणइ जेट्ठज्जाईणं पुरतो चिट्ठंताणं–अणुजाणेज्जहा, पुणो सामाइअं तिण्णि वारे कड्ढिऊणं सोवइ, एस ताव कम्मो । इदानीं गाथा व्याख्यायते—

पोरिसिआपुच्छणया सामाइय उभयकायपडिलेहा । साहणिअ दुवे पट्टे पमज्ज भूमिं जओ पाए ॥ २०४ ॥

पौरुष्यां निर्युक्तीर्गुणयित्वा 'आपुच्छण'त्ति आचार्यसमीपे मुखवस्त्रिकां प्रतिलेखयित्वा भणति बहुपडिपुण्णा पोरिसी संदिशत संस्तारके तिष्ठामीति, 'सामाइयं'ति सामायिकं वारात्रयमाकृष्य स्वपिति, 'उभयं'ति सञ्ज्ञाकायिकोपयोगं कृत्वा 'कायपडिलेह'त्ति सकलं कायं प्रमृज्य 'साहणिअ दुवे पट्टे'त्ति साहणिय–एकत्र लाएत्ता दुवे पट्टे–उत्तरपट्टो संथारपट्टो अ, तत ऊर्वोः स्थापयति, 'पमज्ज भूमिं पाओ जओ' त्ति पादौ यतस्तेन भूमिं प्रमृज्य ततः सोत्तरपट्टं संस्तारकं मुञ्चति, अस्याश्च सामाचार्यनुक्रमेण गाथायां संबन्धो न कृतः, किन्तु स्वबुद्ध्या यथाक्रमेण व्याख्येया । एवमसौ संस्तारकमारोहन् किं भणतीत्याह—

अणुजाणह संथारं बाहुवहाणेण वामपासेणं । कुक्कुडिपायपसारण अतरंत पमज्जए भूमिं ॥ २०५ ॥

अनुजानीध्वं संस्तारकं, पुनश्च बाहूपधानेन वामपार्श्वेन स्वपिति, 'कुक्कुडिपायपसारणं'त्ति यथा कुक्कुटी पादावाकाशे

१ कल्पांश्च वामपार्श्वे स्थापयन्ति, पुनः संस्तारकमारोहन्तो भणंति ज्येष्ठार्यादीनां पुरतस्तिष्ठतां अनुजानीत, पुनः सामायिकं त्रीन् वारान् कृत्वा (उच्चार्य) स्वपिति, एष तावत् क्रमः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रथमं प्रसारयति एवं साधुनाऽप्याकाशे पादौ प्रथममशक्नुवता प्रसारणीयौ, 'अतरंतो'त्ति यदा आकाशव्यवस्थिताभ्यां पादाभ्यां न शक्नोति स्थातुं तदा 'पमज्जए भूमि'न्ति भुवं प्रमृज्य पादौ स्थापयति ।

संकोए संडासं उव्वत्तंते य कायपडिलेहा । दव्वाईउवओगं णिस्सासनिरुंभणालोयं ॥ २०६ ॥

यदा तु पुनः सङ्कोचयति पादौ तदा 'संडासं'ति संदंसं–ऊरुसन्धिं प्रमृज्य सङ्कोचयति 'उव्वत्तंते य'त्ति उद्वर्त्तयंश्चासौ साधुः कायं प्रमार्जयति, एवमस्य स्वपतो विधिरुक्तः । यदा पुनः कायिकार्थमुत्तिष्ठति स तदा किं करोतीत्याह–'दव्वाई-उवओगं' द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्चोपयोगं ददाति, तत्र द्रव्यतः कोऽहं प्रव्रजितोऽप्रव्रजितो वा ?, क्षेत्रतः किमु-परितलेऽन्यत्र वा ?, कालतः किमियं रात्रिर्दिवसो वा ?, भावतः कायिकादिना पीडितोऽहं न वेति, एवमुपयोगे दत्तेऽपि यदा निद्रयाऽभिभूयते तदा 'णिस्सासनिरुंभण'त्ति 'निःश्वासं निरुणद्धि' नासिकां दृढं गृह्णाति निःश्वासनिरोधार्थं, ततोऽ-पगतायां निद्रायां 'आलोयं'ति आलोकं पश्यति द्वारम् । यतः—

दारं जा पडिलेहे तेणभए दोण्णि सावए तिण्णि । जइ य चिरं तो दारे अण्णं ठावेत्तु पडिअरइ ॥ २०७ ॥

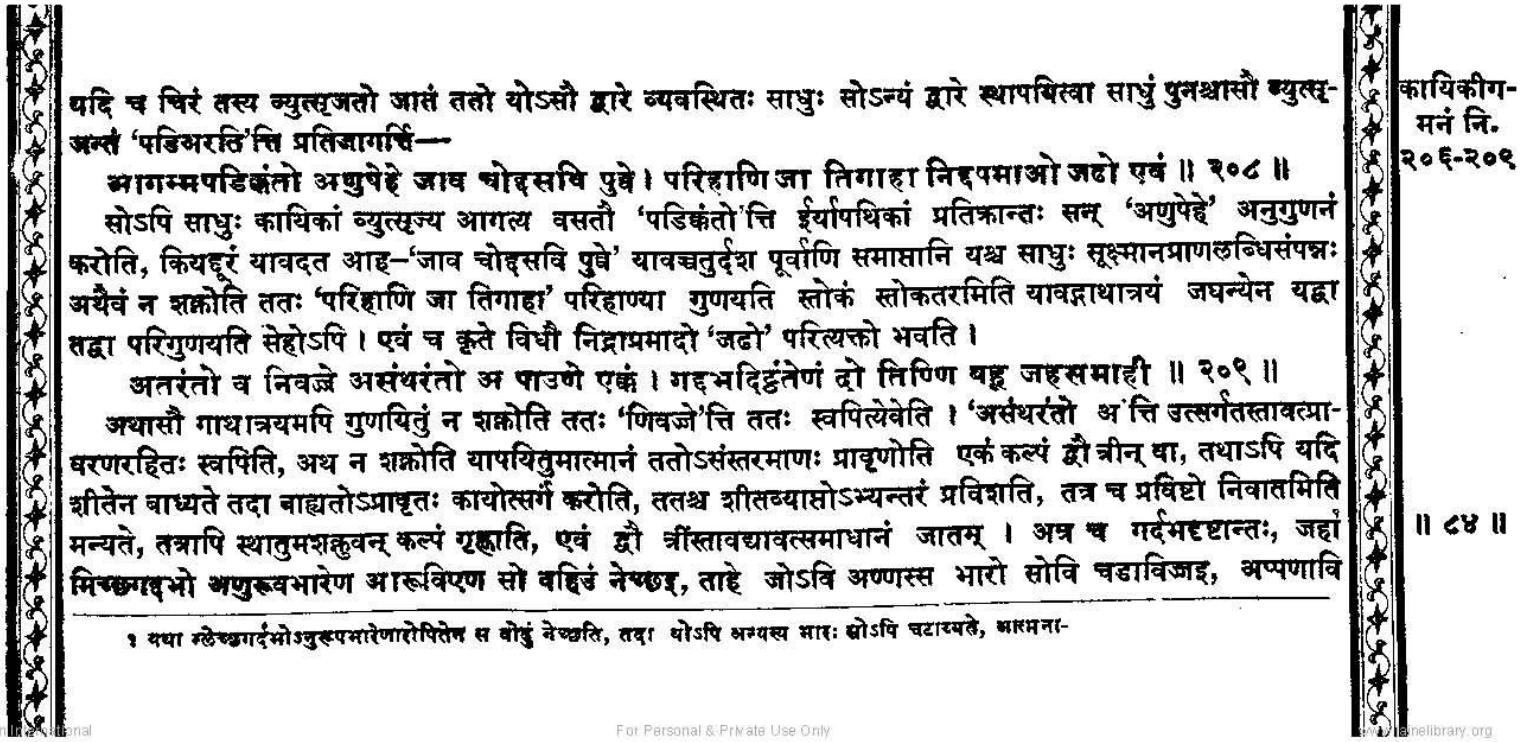
तदाऽसौ द्वारं यावत् 'प्रत्युपेक्षयन्' प्रमार्जयन् व्रजति, एवमसौ निर्गच्छति, तत्र च यदि स्तेनभयं भवति ततः 'दोण्णि'-त्ति द्वौ साधू निर्गच्छतः तयोरेको द्वारे तिष्ठति अन्यः कायिकां व्युत्सृजति, 'सावए तिण्णि'त्ति श्वापदभये सति त्रयः साधव उत्तिष्ठन्ति तत्रैको द्वारे तिष्ठति अन्यः कायिकां व्युत्सृजति अन्यस्तत्समीपे रक्षपालस्तिष्ठति । 'जति य चिरं'ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२०७||

दीप अनुक्रम [३१६]



श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ८४ ॥

यदि च चिरं तस्य व्युत्सृजतो जातं ततो योऽसौ द्वारे व्यवस्थितः साधुः सोऽन्यं द्वारे स्थापयित्वा साधुं पुनश्चासौ व्युत्सृ-
अन्तं 'पडिअरति'त्ति प्रतिजागर्त्ति—

आगम्मपडिक्कंतो अणुपेहे जाव चोद्दसवि पुवे। परिहाणि जा तिगाहा निद्दपमाओ जढो एवं ॥ २०८ ॥

सोऽपि साधुः कायिकां व्युत्सृज्य आगत्य वसतौ 'पडिक्कंतो'त्ति ईर्यापथिकां प्रतिक्रान्तः सन् 'अणुपेहे' अनुगुणनं करोति, कियद्दूरं यावदत आह–'जाव चोद्दसवि पुवे' यावच्चतुर्दश पूर्वाणि समाप्तानि यश्च साधुः सूक्ष्मानप्राणलब्धिसंपन्नः अथैवं न शक्नोति ततः 'परिहाणि जा तिगाहा' परिहाण्या गुणयति स्तोकं स्तोकतरमिति यावद्गाथात्रयं जघन्येन यद्वा तद्वा परिगुणयति सेहोऽपि। एवं च कृते विधौ निद्राप्रमादो 'जढो' परित्यक्तो भवति।

अतरंतो व निवज्जे असंथरंतो अ पाउणे एक्कं। गद्दभदिट्ठंतेणं दो तिण्णि वहू जहसमाही ॥ २०९ ॥

अथासौ गाथात्रयमपि गुणयितुं न शक्नोति ततः 'णिवज्जे'त्ति ततः स्वपित्येवेति। 'असंथरंतो अ'त्ति उत्सर्गतस्तावत्मा-धरणरहितः स्वपिति, अथ न शक्नोति यापयितुमात्मानं ततोऽसंस्तरमाणः प्रावृणोति एकं कल्पं द्वौ त्रीन् वा, तथाऽपि यदि शीतेन बाध्यते तदा बाह्यतोऽप्रावृतः कायोत्सर्गं करोति, ततश्च शीतव्यासोऽभ्यन्तरं प्रविशति, तत्र च प्रविष्टो निवातमिति मन्यते, तत्रापि स्थातुमशक्नुवन् कल्पं गृह्णाति, एवं द्वौ त्रींस्तावद्यावत्समाधानं जातम्। अत्र च गर्दभदृष्टान्तः, जहा मिच्छगद्दभो अणुरूवभारेण आरूविएण सो वहिउं नेच्छइ, ताहे जोऽवि अण्णस्स भारो सोवि चडाविज्जइ, अप्पणावि

१ यथा म्लेच्छगर्दभोऽनुरूपभारेणारोपितेन स वोढुं नेच्छति, तदा योऽपि अन्यस्य भारः सोऽपि चटाद्यते, आत्मना-

कायिकीग-मनं नि. २०६-२०९

॥ ८४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२०९||

दीप अनुक्रम [३१८]

आरोहति, जाहे नातिदूरं गया ताहे अप्पणा उत्तरति, ताहे सो जाणति–उत्तरीतो मम भारोत्ति तुरियतरं पहाविओ, पच्छा अण्णो से अवणीओ, ताहे सो सिग्घयरं पहाविओ। एवं साहूवि णिवायतरं मण्णंतो सुहेण अच्छति, जाहे रत्तिं, एस विही, अववाएणं जहा वा समाही होति तहा कायव्वं। "संगारविहिअवसहि"त्ति व्याख्यातम्, इदानीं सञ्ज्ञिद्वारं व्याख्यायते–दारं।

दुविहो य विहरियाविहरिओ उ भयणाउ विहरिए होइ। संदिट्ठो जो विहरितो अविहरिअविही इमो होइ ॥२१०॥

एवं ते भजनतः सञ्ज्ञिद्वारमं प्राप्ताः, स च द्विविधः–विहृतोऽविहृतश्च, विहृतः साधुभिर्यः श्रुण्णः, आसेवित इत्यर्थः, अविहरितो यः साधुभिर्न श्रुण्णो–नासेवित इत्यर्थः। तुशब्दो विशेषणार्थः। किं विशिनष्टि ?–सोऽसौ विहरितः स सञ्ज्ञियुक्तः सञ्ज्ञिरहितो वा। 'भयणा उ विहरिए होति'त्ति सोऽसौ विहृतः सञ्ज्ञियुक्तस्तत्र 'भजना' विकल्पना, यद्यसौ संज्ञी संविग्नभावितस्ततः प्रविशन्ति, अथ तु पार्श्वस्थादिभावितस्ततो न प्रविशन्ति। 'संदिट्ठो जो विहरितो'त्ति संविग्नविहृते सञ्ज्ञिगृहे 'संदिष्टः' प्रेषितः प्रायोऽसावार्यप्रायोग्यं त्वया सञ्ज्ञिकुलादानयनीयमित्यतः प्रविशन्ति। अथवाऽन्यथा व्याख्यायते–द्विविधः कतरः ?, सञ्ज्ञिद्वारस्य प्रक्रान्तत्वाद् सञ्ज्ञयो वा, कतमेन द्वैविध्येन अत आह–विहृतोऽविहृतश्च, साधुभिः श्रुण्णोऽश्रुण्णश्च, तत्र भजना विहृते श्रावके सति, यद्यसौ संविग्नविहृतः प्रवेशः क्रियते, अथ पार्श्वस्थादिविहृतस्ततो न प्रवेष्टव्यं, संदिष्टो विहरितोऽत्र स संविग्नैः साम्भोगिकैश्च यैर्विहृतस्ततोऽप्याचार्यसंदिष्टः प्रविशति आचार्यप्रायोग्यग्रहणार्थं, 'अविहरिअविही

१ आरोहति, यदा नातिदूरे गतस्तदाऽऽत्ममोचरति, तदा स जानाति–उत्तीर्णो मम भार इति त्वरिततरं प्रधावति, पश्चादन्यस्तस्मादपनीतः, तदा स शीघ्रतरं प्रधावति, एवं साधुरपि निवाततरं मन्यमानः सुखेन तिष्ठति ग्लानादिः, एष त्रिधिरपवादेन यथा वा समाधिर्भवति तथा कर्तव्यं।

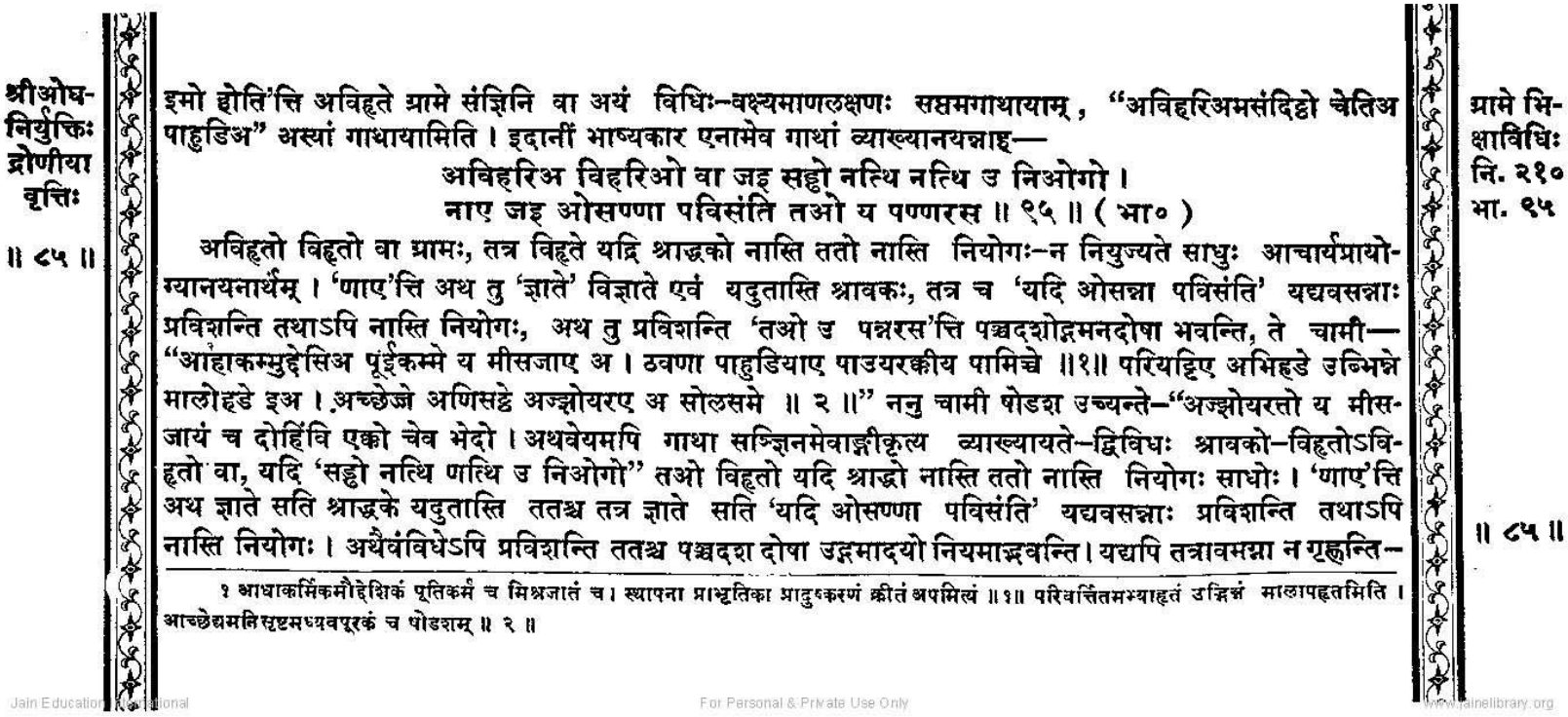
ओ० ३५

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२१०||

दीप अनुक्रम [३१९]



श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ८५ ॥

इमो होति'त्ति अविहृते ग्रामे संज्ञिनि वा अयं विधिः–वक्ष्यमाणलक्षणः सप्तमगाथायाम्, "अविहरिअमसंदिट्ठो चेतिअ पाहुडिअ" अस्यां गाथायामिति। इदानीं भाष्यकार एनामेव गाथां व्याख्यानयन्नाह—

अविहरिअ विहरिओ वा जइ सड्ढो नत्थि नत्थि उ निओगो।
नाए जइ ओसण्णा पविसंति तओ य पण्णरस ॥ ९५ ॥ (भा०)

अविहृतो विहृतो वा ग्रामः, तत्र विहृते यद्रि श्राद्धको नास्ति ततो नास्ति नियोगः–न नियुज्यते साधुः आचार्यप्रायोग्यानयनार्थम्। 'णाए'त्ति अथ तु 'ज्ञाते' विज्ञाते एवं यदुतास्ति श्रावकः, तत्र च 'यदि ओसन्ना पविसंति' यद्यवसन्नाः प्रविशन्ति तथाऽपि नास्ति नियोगः, अथ तु प्रविशन्ति 'तओ उ पन्नरस'त्ति पञ्चदशोद्गमनदोषा भवन्ति, ते चामी— "आहाकम्मुद्देसिअ पूईकम्मे य मीसजाए अ। ठवणा पाहुडियाए पाउयरक्कीय पामिच्चे ॥१॥ परियट्टिए अभिहडे उब्भिन्ने मालोहडे इअ। अच्छेज्जे अणिसट्ठे अज्झोयरए अ सोलसमे ॥ २ ॥" ननु चामी षोडश उच्यन्ते–"अज्झोयरतो य मीसजायं च दोहिंवि एक्को चेव भेदो। अथवेयमपि गाथा सञ्ज्ञिनमेवाङ्गीकृत्य व्याख्यायते–द्विविधः श्रावको–विहृतोऽविहृतो वा, यदि 'सड्ढो नत्थि णत्थि उ निओगो" तओ विहृतो यदि श्राद्धो नास्ति ततो नास्ति नियोगः साधोः। 'णाए'त्ति अथ ज्ञाते सति श्राद्धके यदुतास्ति ततश्च तत्र ज्ञाते सति 'यदि ओसण्णा पविसंति' यद्यवसन्नाः प्रविशन्ति तथाऽपि नास्ति नियोगः। अथैवंविधेऽपि प्रविशन्ति ततश्च पञ्चदश दोषा उद्गमादयो नियमाद्भवन्ति। यद्यपि तत्रावमज्ञा न गृह्णन्ति–

१ आधाकर्मिकमौद्देशिकं पूतिकर्म च मिश्रजातं च। स्थापना प्राभृतिका प्रादुष्करणं क्रीतं अपमित्यं ॥१॥ परिवर्त्तितमभ्याहृतं उद्भिन्नं मालापहृतमिति। आच्छेद्यमनिसृष्टमध्यवपूरकं च षोडशम् ॥ २ ॥

ग्रामे भिक्षाविधिः नि. २१० भा. ९५

॥ ८५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ ग्रामे भिक्षाविधे: वर्णनं क्रियते

संविग्गमणुण्णाए अइंति अहवा कुले विरंचंति । अण्णाउंछं व सहू एमेव य संजईवग्गे ॥ ९६ ॥ (भा०)

अथ तु ससञ्ज्ञैः संविज्ञैश्च विहृतः–अमनोज्ञैर्वसद्भिर्भावितः ततः 'अणुण्णाए अइंति'त्ति तैरेवानुज्ञाते सति श्रावकगृहे प्रविशन्ति । अथवा श्राधककुलानि 'विरंचन्ति' विभजन्ति, एते चान्यसाम्भोगिकाः संविग्नाः 'अण्णाउंछं व सहू' [1]अण्णाउंछं जत्थ सावगा नत्थि तहिं हिंडंति वत्थवा । जइ सहू समत्था इयरे अपाहुणगा जप्पसरीरा सावगकुलानि हिंडंति, अह वत्थवा जप्पसरीरगा पाहुणगा य सहू ततो अण्णायउंछं हिंडंति । 'एमेव य संजईवग्गे' एवमेव संयतीवर्गे विधिः, यदुत ताभिरनुज्ञातेषु श्रावककुलेषु प्रवेष्टव्यम् । बहुषु च कुलेषु सत्सु ता एवं विरञ्चन्ति, "अण्णाउंछं व सहू" इति, अयं च विधिर्द्रष्टव्यः ।

एवं तु अण्णसंभोइयाण संभोइयाण ते चेव । जाणित्ता निब्बंधं वत्थव्वेणं स उ पमाणं ॥ ९७ ॥ (भा०)

एवमन्यसाम्भोगिकानां संभवे उक्तलक्षणो विधिर्द्रष्टव्यः । 'संभोइयाण ते चेव'त्ति अथ साम्भोगिकास्तत्र ग्रामे भवन्ति ततः 'ते चेव'त्ति त एव वास्तव्याः साधवो भैक्षमानयन्ति, अथ तत्र साम्भोगिकसमीपे प्राप्तमात्राणां कश्चिच्छ्रावक आयातः, स च प्राघूर्णकवत्सल एवं भवति यदुत मदीये गृहे भिक्षार्थं साधुः प्रहेतव्यः, तत्रोच्यते–वास्तव्या एव गमिष्यन्ति, अथैवमुक्तेऽपि 'निब्बन्धं' निर्बन्धं करोति आग्रहं करोत्यसौ श्रावकस्ततः 'वत्थव्वेणं' वास्तव्येन सहैकेन गन्तव्यं, यतः स एव वास्तव्यः प्राघूर्णकानां प्रमाणमल्पाधिकवस्तुग्रहणे । अथासौ साम्भोगिकवसतिः संकुला भवति ततः–

१ अज्ञातोञ्छं यत्र श्रावका न सन्ति तत्र हिण्डन्ते वास्तव्याः । यदि सहिष्णवः–समर्था इतरे–अप्राघूर्णका याप्यशरीराः श्रावककुलानि हिण्डन्ते, अथ वास्तव्या याप्यशरीराः प्राघूर्णकाश्च सहिष्णवस्ततोऽज्ञातोञ्छं हिण्डंते ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||९८||

दीप अनुक्रम [३२३]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ८६ ॥

असइ वसहीएँ वीसुं राइणिए वसहि भोयणागम्म। असहू अपरिणया वा ताहे वीसुं सहू वियरे ॥९८॥ (भा०)

'असति' अभावे विस्तीर्णाया वसतेः 'वीसुं'ति पृथग्--अन्यत्र वसतौ अवस्थानं कुर्वन्ति, तत्र च तेषां को भोजनविधिरित्यत आह--'राइणिए वसहि भोयणागम्म' रत्नाधिकस्य वसतौ भोजनमागम्य कर्त्तव्यं, स च रत्नाधिकः कदाचिद्वास्तव्यो भवति कदाचिदागन्तुक इति। 'असहू'त्ति अथान्यतरो रत्नाधिकः 'असहू' भिक्षावेलां प्रतिपालयितुमशक्तः तथाऽपरिणता वा साधवः सेहप्राया मा भूद् राटिं करिष्यन्ति ततः 'वीसुं' पृथग् वसतिर्भवति। तथा यदि च ते वास्तव्याः साधवः 'सहू' समर्थास्तदा 'वियरे'ति भिक्षामटित्वा प्राघूर्णकेभ्यः प्रयच्छन्ति ॥

तिण्हं एक्केण समं भत्तट्ठो अप्पणो अवड्ढं तु। पच्छा इयरेण समं आगमणविरेगु सो चेव ॥ ९९ ॥ (भा०)

अथ तत्र त्रय आचार्या भवन्ति, द्वावागन्तुकौ एको वास्तव्यः तदा 'एक्केण समं'ति एकेनागन्तुकाचार्यप्रव्रजितेन सह वास्तव्यः पर्यटति तावद्यावद् 'भत्तट्ठो'त्ति एकस्य प्राघूर्णकाचार्यस्य भक्तार्थो भवति--उदरपूरणमात्रमित्यर्थः अतः 'अप्पणो अवड्ढं तु'त्ति आत्माचार्यार्थे वाऽसौ वास्तव्यः 'अवड्ढं तु' अर्द्धध्रुवमात्रं श्रावककुलेभ्यो गृह्णाति। 'पच्छा इयरेण समं'त्ति पश्चादितरेण द्वितीयागन्तुकाचार्यप्रव्रजितेन समं पर्यटति तत्रापि भक्तार्थो यावद्भवति प्राघूर्णकस्य तावत्पर्यटति, आत्मनश्चार्द्धध्रुवमात्रं गृह्णाति, एवं पूर्णो ध्रुवो भवति वास्तव्याचार्यस्य, 'आगमणं'ति एवं ते पर्यटित्वाऽऽत्मीयायां वसतौ आगमनं कुर्वन्ति। 'विरेगु सो चेव'त्ति स एव 'विरेगो' विभजनं श्रावककुलेषु, यौऽसौ भिक्षाभटद्भिः कृतः, न तु पुनर्वसतिकायां आगतानां भवतीति। "असति वसहीए वीसुं राइणिए वसहि भोयणागम्म। असहू अपरिणया वा ताहे वीसुं

ग्रामे भिक्षाविधिः भा. ९६-९९

॥ ८६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सहू वियरे ॥ १ ॥"त्ति यो विधिरुक्तः, अयं च द्वितीयाद्याचार्येष्वप्यागत्तेषु द्रष्टव्य इति। एवं तावद्विहरितक्षेत्रे यत्र साधुषु तिष्ठत्सु यो विधिः स उक्तः, इदानीमविहरिते क्षेत्रे साधुरहिते च यो विधिस्तत्प्रतिपादयन्नाह—

चेइअवंदणनिमंतण गुरुहिं संदिट्ठ जो वऽसंदिट्ठो। निब्बंध जोगगहणं निवेय नयणं गुरुसगासे ॥१००॥ (भा०)

एवं विहरन्तः क्वचिद्ग्रामादौ प्राप्ताः, तत्र च यदि सञ्ज्ञी विद्यते ततश्चैत्यवन्दनार्थमाचार्यो व्रजति, ततश्च श्रावकौ गृहागतमाचार्यं निमन्त्रयति, यथा–प्रायोग्यं गृहाण, ततश्च यो गुरुसंदिष्टः स गृह्णाति। 'जो वऽसंदिट्ठो'त्ति यो वा 'असंदिष्टः' अनुक्तः स वा गृह्णाति श्रावकनिर्बन्धे सति, एतदुक्तं भवति–योऽसावाचार्येण संदिष्टः स यावन्नागच्छत्येव तावत्तेन श्रावकेणान्यः सङ्घाटको दृष्टः, स च निर्बन्धग्रहणे कृते सति योग्यग्रहणं–प्रायोग्यौपादानं करोति। ततश्च 'निवेयणं'ति अन्येभ्यः सङ्घाटकेभ्यो निवेदयति, यथा यदुत मया श्रावकगृहे प्रायोग्यं गृहीतं न तत्र भवद्भिः प्रवेष्टव्यम्। ततश्च 'नयणं गुरुसगासे'त्ति तत्प्रायोग्यं गृहीत्वा गुरुसमीपं नयति तत्क्षणादेव चैत्यानावुपभुञ्जत इति। इदानीं यदुक्तं प्राक् "अविहरिअविही इमो होति"त्ति, तद्व्याख्यानयन्नाह—

अविहरिअमसंदिट्ठो चेइय पाहुडिअमेत्त गेण्हंति। पाउग्गपउरलंभे णऽम्हे किं वा व भुंजंति ? ॥१०१ (भा०)

अविहरिते ग्रामादौ असंदिष्टा एव सर्वे भिक्षार्थं प्रविष्टाः, तत्र च भिक्षामटन्तः श्रावकगृहे प्रविष्टाः, तत्र च 'चेइए'त्ति चैत्यानि च वदन्ते, तत्र च 'पाहुडिअमेत्तं गिण्हन्ति' प्राभृतिकामात्रं यदि तत्र लभ्यते ततो गृह्णन्त्येव, अथाचार्यप्रायोग्यं लभ्यते प्रचुरं वा लभ्यते ततः 'पाउग्गपउरलंभे' सति इदमुच्यते 'णऽम्हे'त्ति न वयमाचार्यप्रायोग्यग्रहणे नियुक्ताः, किन्त्वन्ये,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एवमुक्ते श्रावकोऽप्याह–'किं वा न भुंजंति'त्ति किं भवद्भिर्नीतं न भुञ्जते आचार्याः ?, एवं निर्बन्धे सति त एव गृह्णन्ति । कियत्पुनर्गृह्णन्तीत्यत आह—

गच्छस्स परीमाणं नाउं घेत्तुं तओ निवेयंति । गुरुसंघाडग इयरे लद्धं नेयं गुरुसमीवं ॥ १०२ ॥ (भा०)

गच्छस्य परिमाणं ज्ञात्वा गृह्णन्ति, गृहीत्वा च ततो निवेदयन्ति, कस्मै ?, अत आह–गुरुसंघाटकाय, यदुताचार्यप्रायोग्यमन्येषां च गुडघृतादि लब्धं प्रचुरम्, 'इयरे व'त्ति इतरसङ्घाटकेभ्यो वा–शेषसङ्घाटकेभ्यो निवेदयति, 'मा वच्चह'त्ति मा व्रजत गृह्णीत गुरुयोग्यं, ततश्च लब्धमात्रमेव तद् गुरुसमीपं नेतव्यम् । तथा चाह— ●

एगागिसमुद्दिसगा भुत्ता उ पहेणएण दिट्ठंतो । हिंडणदव्वविणासो निद्धं महुरं च पुव्वं तु ॥ १०३ ॥ (भा०)

एगागिसमुद्दिसगा ये न मण्डल्युपजीविनः पृथग् भुञ्जन्ते व्याध्याद्याक्रान्ताश्च तेषां भुक्तानां सतां पश्चादानीतं नोपयुज्यते, अत्र च 'पहेणएण दिट्ठंतो' 'काले दिण्णस्स पहेणयस्स अग्घो न तीरए काउं । तस्सेव अथक्कपणामियस्स गेण्हंतया नत्थि ॥१॥ तथाऽनानयनेऽयमपरो दोषः–येन द्रव्येण घृतादिना गृहीतेन हिण्डतां द्रव्यविनाशो भवति, कथञ्चित्प्रमादात्पात्रकविनाशे सति क्षीरादि च विनश्यत्येव, तथा 'निद्धमहुराइं पुव्विं' यदुक्तमागमे तच्च कृतं न भवति । "सण्णि"त्ति दारं गयं । इदानीं साधर्मिकद्वारं प्रतिपादयन्नाह—

भत्तट्ठिअ आवस्सग सोहेउं तो अइंति अवरण्हे । अब्भुट्ठाणं दंडाइयाण गहणेक्कवयणेणं ॥ २११ ॥

इदानीं ते साधर्मिकसमीपे प्रविशन्तः 'भत्तट्ठिअ'त्ति भुक्त्वा तथा 'आवस्सग सोहेउं'ति आवश्यकं च–कायिकोच्चा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

● अत्र द्वे प्रक्षेप-गाथे वर्तते. मया संपादित "आगम सुत्ताणि" मूलं अथवा सटीकं पुस्तके तौ मुद्रिते वर्तेते

रादि 'शोधयित्वा' कृत्वेत्यर्थः, अतोऽपराह्णसमये आगच्छन्ति, येन वास्तव्यानां भिक्षाटनाद्याकुलत्वं न भवति, वास्तव्या अपि कुर्वन्ति, किमित्यत आह–'अब्भुट्ठाणं'ति तेषां प्रविशतामभ्युत्थानादि कुर्वन्ति 'दंडादिताण गहणं'ति दण्डकादीनां ग्रहणं कुर्वन्ति, कथं ?–'एगवयणेणं'ति एकेनैव वचनेन उक्ताः सन्तः पात्रकादीन् समर्पयन्ति, वास्तव्येनोक्ते मुञ्चस्वेति ततश्च मुञ्चन्ति, अथ न मुञ्चत्येकवचनेन ततो न गृह्यन्ते, मा भूत् प्रमाद इति ॥

खुड्डुलविगट्ठतेणा उण्हं अवरण्हि तेण उ पएवि । पक्खित्तं मोत्तूणं निक्खिवमुक्खित्तमोहेणं ॥ २१२ ॥

यदा तु पुनस्तैः साधुभिरभिप्रेतो ग्रामः स क्षुल्लको न तत्र भिक्षा भवति ततश्च प्रत्यूषस्येवागच्छन्ति, 'विगिट्ठ'त्ति विकृष्टमध्वानं यत्र साधर्मिकास्तिष्ठन्ति ततः प्रत्यूषस्येवागच्छन्ति 'तेण'त्ति अथ ततः अपराह्णे आगच्छतां स्तेनभयं भवेत्ततश्च प्रत्यूषस्येवागच्छन्तीति । उष्णं वा अपराह्णे आगच्छतां भवति यतोऽतः प्रत्यूषस्येवागच्छन्ति । एवं ते प्रत्यूषसि तस्माद् ग्रामात्प्रवृत्ताः साधुभोजनकाले प्राप्ताः साधर्मिकसमीपं निषेधिकां कृत्वा प्रविशन्ति । ततश्च तेषां प्रविशतां वास्तव्यसाधुभिः किं कर्त्तव्यमित्यत आह–'पक्खित्तं मोत्तूणं'ति प्रक्षिप्तं–आस्यगतं मुखे प्रक्षिप्तं कवलं मुक्त्वा 'निक्खिवमुक्खित्तं'ति यदुत्क्षिप्तं भाजनगतं तत् 'निक्षिपन्ति' मुञ्चन्ति नैषेधिकीश्रवणानन्तरमेव, ततस्ते प्राघूर्णकाः 'ओघेणं'ति सङ्क्षेपेण आलोचनां प्रयच्छन्ति । ततो भुञ्जते मण्डल्यां, सा चेयम्—

अप्पा मूलगुणेसुं विराहणा अप्प उत्तरगुणेसुं । अप्पा पासत्थाइसु दाणग्गहसंपओगोहा ॥ २१३ ॥

अल्पा मूलगुणेषु, एतदुक्तं भवति–मूलगुणविषया न काचिद्विराधना, अल्पा उत्तरगुणविषया विराधना, अल्पा पार्श्व-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

v

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२१३||

दीप अनुक्रम [३३३]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ८८ ॥

स्यादिषु दानग्रहणसेवाविराधना 'संपओगो'त्ति तैरेव पार्श्वस्थादिभिः संप्रयोगे–संपर्के, एतदुक्तं भवति–न पार्श्वस्थादिभिः सह संप्रयोग आसीत् । 'ओघ' त्ति गयं 'ओघतः' सङ्क्षेपत आलोचना दीयते, दत्त्वा चालोचनां यदि तु अभुक्तास्ततो भुञ्जते । अथ भुक्तास्ते साधवस्तत इदं भणन्ति—

भुंजह भुत्ता अम्हे जो वा इच्छे अभुत्त सह भोज्जं । सव्वं च तेसि दाउं अन्नं गेण्हंति वत्थव्वा ॥ २१४ ॥

भुञ्जीत यूयं भुक्ता वयं, 'यो वा इच्छे'त्ति यो वा साधुर्भोक्तुमिच्छति ततः 'अभुक्त सह भोज्यं'ति तेनाभुक्तेन सह भोज्यं कुर्वन्ति । एवं यदि तेषामात्मनश्च पूर्वानीतं भक्तं पर्याप्यते ततः साध्वेव अथ न पर्याप्यते ततः सर्वं 'तेभ्यः' प्राघूर्णकेभ्यो दत्त्वा भक्तमन्यद्गृह्णन्ति–पर्यटन्ति वास्तव्यभिक्षवः । एवमानीय कति दिनानि भक्तं प्राघूर्णकेभ्यो दीयते इत्यत आह—

तिण्णि दिणे पाहुन्नं सव्वेसिं असइ बालवुड्ढाणं । जे तरुणा सग्गामे वत्थव्वा बाहि हिंडंति ॥ २१५ ॥

त्रीणि दिनानि प्राघूर्णकं सर्वेषामसति बालवृद्धानां कर्त्तव्यं, ततश्च ये प्राघूर्णकास्तरुणास्ते स्वग्राम एव भिक्षामटन्ति, वास्तव्यास्तु बहिर्ग्रामे हिण्डन्ति । अथ ते प्राघूर्णकाः केवला हिण्डितुं न जानन्ति ततः किं कर्त्तव्यमित्यत आह—

संघाडगसंजोगो आगंतुगभद्दएयरे बाहिं । आगंतुगा य बाहिं वत्थव्वगभद्दए हिंडे ॥ २१६ ॥

सङ्घाटकसंयोगः क्रियते, एतदुक्तं भवति–एको वास्तव्य एकश्च प्राघूर्णकः, ततश्चैवं सङ्घाटकयोगं कृत्वा भिक्षामटन्ति । 'आगंतुगभद्दएयरे'त्ति अथासौ ग्राम आगन्तुकानामेव भद्रकस्ततः 'इयरे'त्ति वास्तव्या 'बाहिं'ति बहिर्ग्रामे हिण्डन्ति, आगन्तुका वा बहिर्ग्रामे हिण्डन्ति वास्तव्यभद्रके सति ग्रामे । उक्तं साधर्मिकद्वारम्, इदानीं पञ्चतिद्वारं प्रतिपादयन्नाह—

साधर्मिक-कृत्यं नि. २१२-२१६

॥ ८८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२१७|| दीप अनुक्रम [३३७]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

वित्थिण्णा खुड्डुलिआ पमाणजुत्ता य तिविह वसहीओ। पढमबिइयासु ठाणे तत्थ य दोसा इमे होंति ॥२१७॥

विस्तीर्णा क्षुल्लिका प्रमाणयुक्ता वा त्रिविधा वसतिः 'पढमबितियासु ठाणे'त्ति यदा प्रथमायां वसतौ स्थानं भवति विस्तीर्णायामित्यर्थः, द्वितीया क्षुल्लिका तस्यां वसतौ वा यदा भवति तदा तत्र तयोर्वसत्योः 'एते' वक्ष्यमाणका दोषा भवन्ति—

खरकम्मिअवाणियगा कप्पडिअसरक्खगा य वंठा य। संमीसावासेणं दोसा य हवंति णेगविहा ॥ २१८ ॥

तत्र विस्तीर्णायां वसतौ 'खरकम्मिअ'त्ति दण्डपासगा रात्रिं भ्रान्त्वा स्वपन्ति, वाणिज्यकाश्च वालुञ्चकप्राया आगत्य स्वपन्ति, तथा कार्पटिकाः स्वपन्ति, सरजस्काश्च–भौताः स्वपन्ति, वण्ठाश्च स्वपन्त्यागत्य 'अकयविवाहा भीतिजीविणो य वंठि"त्ति । एभिः सह यदा संमिश्र आवासो भवति तदा तेन संमिश्रावासेन दोषा वक्ष्यमाणका अनेकविधा भवन्ति ॥ ते चामी–

आवासगअहिकरणे तदुभय उच्चारकाइयनिरोहे । संजयआयविराहण संका तेणे नपुंसित्थी ॥ २१९ ॥

आवश्यके–प्रतिक्रमणे क्रियमाणे सागारिकाणामग्रतस्त एव उद्घट्टकान् कुर्वन्ति, ततश्च केचिदसहना रात्रिं कुर्वन्ति, ततश्चाधिकरणदोषः । 'तदुभए'त्ति सूत्रपौरुषीकरणे अर्थपौरुषीकरणे च दोष उद्घट्टकान् कुर्वन्ति । निरोधश्च उच्चारस्य कायिकायाश्च निरोधे दोषः । अथ करोति तथाऽपि दोषः संयमात्मविराधनाकृतोऽप्रत्युपेक्षितस्थण्डिले । 'संका तेणे'त्ति स्तेनकशङ्कादोषश्च–चौराशङ्कादोषश्च चौराशङ्का, नपुंसककृतदोषः संभवति ततश्च स्त्रीदोषश्च भवतीति द्वारगाथेयम् , इदानीं प्रतिपदं व्याख्यानयन्नाह—

आवासयं करिंते पवंचए झाणजोगवाघाओ । असहण अपरिणया वा भायणभेओ य छक्काया ॥ २२० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ८९ ॥

'आवश्यकं' प्रतिक्रमणं कुर्वताम् 'पवंचए'त्ति ते सागारिका उद्घट्टकान् कुर्वन्ति, तथा ध्यानयोगव्याघातश्च भवति–चलनमापद्यते चेतो यतः । दारं । अहिगरणं भण्णइ–'असहणे'ति कश्चिद् 'असहनः' कोपनो भवति 'अपरिणतो वा' सेह-प्रायः, एते रात्रिं सागारिकैः सह कुर्वन्ति, ततश्च भाजनानि पात्रकाणि तद्भेदो–विनाशो भवति, षट् कायाश्च विराध्यन्ते। दारं । 'तदुभयं'ति व्याख्यायते—

सुत्तत्थऽकरण नासो करणे उड्डुंचगाइ अहिगरणं । पासवणिअरनिरोहे गेलन्नं दिट्ठि उड्डाहो ॥ २२१ ॥

'सुत्तत्थअकरण'त्ति सूत्रार्थपौरुष्यकरणे नाशः–तयोरेव विस्मरणम् । अथ सूत्रार्थपौरुष्यौ क्रियेते ततश्च 'उड्डुंचकादि' उद्घट्टकादि कुर्वन्ति । ततश्चासहना रात्रिं कुर्वन्ति, ततोऽधिकरणदोष इति । दारं । "उच्चारकाइअनिरोहो"त्ति व्याख्यायते–'पासवणि'त्ति 'प्रश्रवणस्य' कायिकायाः 'इयर'त्ति पुरीषस्य च निरोहे 'गेलन्नं' ग्लानत्वं भवति । अथ व्युत्सृजन्ति ततो 'दिट्ठे उड्डाहो'त्ति सागारिकैर्दृष्टे सति 'उड्डाहः' उपघातः प्रवचनस्य भवति। "संजमआयविराहण"त्ति व्याख्यायते—

मा दिच्छिहिंति तो अप्पडिलिहिए (थंडिल्ले) दूर गंतु वोसिरति ।
संजमआयविराहणगहणं आरक्खितेणेहिं ॥ २२२ ॥

अथ सागारिका मां मा द्राक्षुरितिकृत्वाऽस्थण्डिल एव दूरे गत्वा व्युत्सृजति ततः संयमात्मनोर्विराधना भवति, ग्रहणं चारक्षिकाः कुर्वन्ति । 'तेण'त्ति स्तेनका वा ग्रहणं कुर्वन्ति । दारं । "संकातेण"त्ति व्याख्यायते—

ओणयपमज्जमाणं दट्ठुं तेणेत्ति आहणे कोई । सागारिअसंघट्टण अपुमेत्थी गेण्ह साहइ वा ॥ २२३ ॥

विस्तीर्णा-दिका त्रिधा वसतिःनि. २१७-२२३

॥ ८९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स हि रात्रौ कायिकाद्यर्थमुत्थितः सन्नवनतः प्रमार्जयन्निर्गच्छति ततस्तमवनतकायं दृष्ट्वा स्तेन इति मत्वा आहन्यात्कश्चित्। दारं । 'नपुंसित्थि'त्ति व्याख्यायते–'सागारिअसंघट्टण'त्ति सागारिकसंस्पर्शे सति, स हि रात्रौ हस्तेन परामृशन् गच्छति, यतस्ततः स्पर्शने सति कश्चित्सागारिको विबुद्ध एवं चिन्तयति–यदुतायं 'अपुम'त्ति नपुंसकं तेन कारणेन मां स्पृशति, ततः सागारिकस्तं साधुं नपुंसकबुद्ध्या गृह्णाति । अथ कदाचित्स्त्री स्पृष्टा ततः सा शङ्कते, यदुतायं मम समीपे आगच्छति, ततः 'साहेति' कथयति निजभर्तुः सौभाग्यं ख्यापयन्ती परमार्थेन वा ॥

ओरालसरीरं वा इत्थि नपुंसा बलावि गेण्हंति । सावाहाए ठाणे निंते आवडणपडणाई ॥ २२४ ॥

औदारिकशरीरं वा तं साधुं दृष्ट्वा दिवा ततो रात्रौ स्त्री नपुंसकं बलाद्गृह्णाति, औदारिकं–चङ्क्रिकम् । एते विस्तीर्णवसतिदोषा व्याख्याताः । इदानीं क्षुल्लिकावसतिदोषान् प्रतिपादयन्नाह–'सावाहाए'त्ति संकटायां वसतौ स्थाने–अवस्थाने सति 'णिंते आवडपडणादी'ति निर्गच्छन्नापतितश्च निर्गच्छन्नापतनपतनादयो दोषाः, तथा—

तेणोत्ति मण्णमाणो इमोवि तेणोत्ति आवडइ जुद्धं । संजमआयविराहणभायणभेयाइणो दोसा ॥ २२५ ॥

एवं साधोरुपरि प्रस्खलिते साधौ यस्योपरि प्रस्खलितः स तं स्तेनकमिति मन्यमानः अयं च सुप्तोत्थितः अमुं प्रस्खलितं स्तेनकं मन्यमानः सन् 'आपतति युद्धं' युद्धं भवति, ततश्च संयमात्मनोर्विराधना भाजनभेदादयश्च दोषाः, भाजनं पात्रकं भण्यते । उक्ता क्षुल्लिका वसतिः, यस्मात्क्षुल्लिकायामेते दोषास्तस्मात्प्रमाणयुक्ता वसतिर्ग्राह्या । एतदेवाह—

तम्हा पमाणजुत्ता एक्केक्कस्स उ तिहत्थसंथारो । भायणसंथारंतर जह वीसं अंगुला हुंति ॥ २२६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ९० ॥

तस्मात्प्रमाणयुक्ता वसतिर्ग्राह्या, तत्र चैकैकस्य साधोर्बाहुल्यतस्त्रिहस्तप्रमाणः संस्तारकः कर्त्तव्यः, तुशब्दो विशेषणार्थः, किं विशिनष्टि ?–संस्तारकोऽत्र भूमिरूप इति, तत्र तेषु त्रिषु हस्तेषु ऊर्णामयः संस्तारको हस्तं चत्तारि अ अंगुलाइं रुंभइ भायणाइं हत्थं रुंधंति । इदानीं संस्तारकभाजनयोर्यदन्तरालं तत्प्रमाणं प्रतिपादयन्नाह–'भायणसंथारंतर' भाजनसंस्तारान्तरे–अन्तराले यथा विंशतिरङ्गुलानि भवन्ति तथा कर्त्तव्यम् । एवं त्रिहस्तप्रमाणोऽपि संस्तारकः पूरितः, किं पुनः कारणमिह दूरे भाजनानि न स्थाप्यन्ते ?, उच्यते—

मज्जारमूसगाइ य वारे नवि अ जाणुघट्टणया। दो हत्था य अबाहा नियमा साहुस्स साहूओ ॥ २२७ ॥

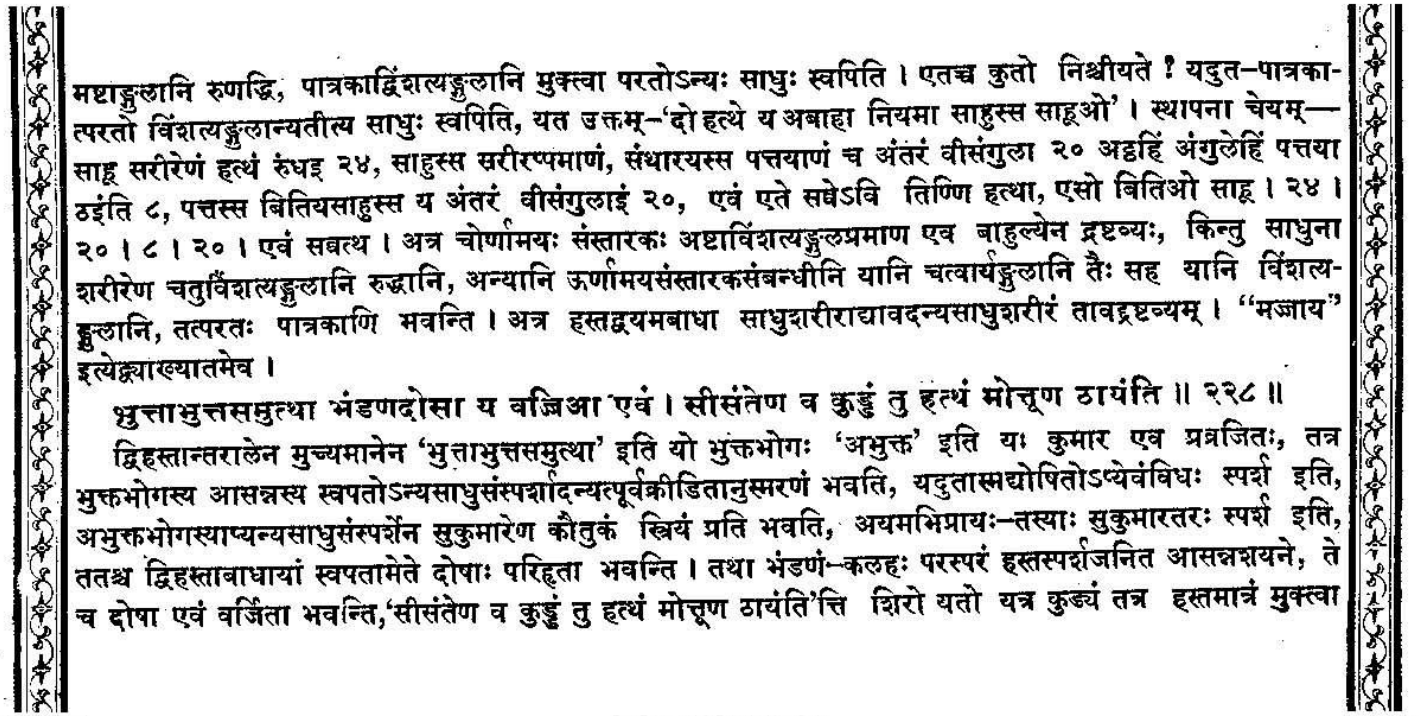
मार्जारमूषकादीन् पात्रकेषु लगतो वारयेत्। अथ कस्मादासन्नतराणि न क्रियन्ते? उच्यते–'नवि य जाणुघट्टणय'त्ति तावति प्रदेशे तिष्ठति पात्रकेषु जानुकृतोद्घट्टना-जानुकृतं चलनं न भवति। इदानीं प्रव्रजितस्य २ चान्तरालं प्रतिपादयन्नाह–द्वौ हस्तौ अबाधा–अन्तरालं नियमात्साधोः साधोश्च भवति, साधुश्चात्र त्रिहस्तसंस्तारकप्रमाणो ग्राह्यः । स्थापना चेयम्–उण्णामओ संथारओ २८ अट्ठावीसंगुलप्पमाणो, संथारभायणाणं अंतरं वीसंगुला २०, भायणाणि अ हत्थप्पमाणे पाउंछणे ठविज्जंति २४, एवं तिहिं घरएहिं सबेवि तिण्णि हत्था, साहुस्स य २ अंतरं दो हत्था २८।२८। २४ ह० ३–ह २। एवमेतद्गाथाद्वयं व्याख्यातम्। अत्र च द्विहस्तप्रमाणायामबाधायां महदन्तरालं साधोः साधोश्च भवति, ततश्च तदन्तरालं शून्यं महद् दृष्ट्वा-सागारिको बलात्स्वपिति, तस्मादन्यथा व्याख्यायते–तम्हा पमाणजुत्ता एक्केकस्स उ तिहत्थसंथारो। अत्र हस्तं साधू रुणद्धि, भाजनानि संस्तारकाद्विंशत्यङ्गुलानि भवन्ति। एतदेवाह–'भायणसंथारंतर जह वीसं अंगुलाइं होंति' । पात्रक-

विस्तीर्णा-दिका त्रिधा वसतिः नि. २२४-२२७

॥ ९० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ वसति मध्ये शयनविधिः वर्ण्यते



मष्टाङ्गुलानि रुणद्धि, पात्रकाद्विंशत्यङ्गुलानि मुक्त्वा परतोऽन्यः साधुः स्वपिति । एतच्च कुतो निश्चीयते ? यदुत–पात्रकात्परतो विंशत्यङ्गुलान्यतीत्य साधुः स्वपिति, यत उक्तम्–'दो हत्थे य अबाहा नियमा साहुस्स साहूओ' । स्थापना चेयम्— साहू सरीरेणं हत्थं रुंधइ २४, साहुस्स सरीरप्पमाणं, संथारयस्स पत्तयाणं च अंतरं वीसंगुला २० अट्ठहिं अंगुलेहिं पत्तया ठइंति ८, पत्तस्स बितियसाहुस्स य अंतरं वीसंगुलाइं २०, एवं एते सवेऽवि तिण्णि हत्था, एसो बितिओ साहू । २४ । २० । ८ । २० । एवं सवत्थ । अत्र चोर्णामयः संस्तारकः अष्टाविंशत्यङ्गुलप्रमाण एव बाहुल्येन द्रष्टव्यः, किन्तु साधुना शरीरेण चतुर्विंशत्यङ्गुलानि रुद्धानि, अन्यानि ऊर्णामयसंस्तारकसंबन्धीनि यानि चत्वार्यङ्गुलानि तैः सह यानि विंशत्यङ्गुलानि, तत्परतः पात्रकाणि भवन्ति । अत्र हस्तद्वयमबाधा साधुशरीराद्यावदन्यसाधुशरीरं तावद्द्रष्टव्यम् । "मज्जाय" इत्येद्ध्याख्यातमेव ।

भुत्ताभुत्तसमुत्था भंडणदोसा य वज्जिआ एवं । सीसंतेण व कुड्डं तु हत्थं मोत्तूण ठायंति ॥ २२८ ॥

द्विहस्तान्तरालेन मुच्यमानेन 'भुत्ताभुत्तसमुत्था' इति यो भुक्तभोगः 'अभुक्त' इति यः कुमार एव प्रव्रजितः, तत्र भुक्तभोगस्य आसन्नस्य स्वपतोऽन्यसाधुसंस्पर्शादन्यत्पूर्वक्रीडितानुस्मरणं भवति, यदुतास्माद्योषितोऽप्येवंविधः स्पर्श इति, अभुक्तभोगस्याप्यन्यसाधुसंस्पर्शेन सुकुमारेण कौतुकं स्त्रियं प्रति भवति, अयमभिप्रायः–तस्याः सुकुमारतरः स्पर्श इति, ततश्च द्विहस्ताबाधायां स्वपतामेते दोषाः परिहृता भवन्ति । तथा भंडणं–कलहः परस्परं हस्तस्पर्शजनित आसन्नशयने, ते च दोषा एवं वर्जिता भवन्ति,'सीसंतेण व कुड्डं तु हत्थं मोत्तूण ठायंति'त्ति शिरो यतो यत्र कुड्यं तत्र हस्तमात्रं मुक्त्वा

ओ० १६

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-नियुक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ९१ ॥

'ठायंति'त्ति स्वपन्ति, पादान्तेऽनुगमनमार्गं विमुच्य हस्तमात्रं स्वपन्ति । अथवाऽन्यथा पाठः–'सीसंतेण व कुड्डं तिहत्थं मोत्तूण ठायंति' तत्र प्रदीर्घायां वसतौ स्वापविधिरुक्तः, यदि पुनश्चतुरस्रा भवति तदा 'सीसंतेण व कुड्डं'ति शिरो यतो यंकुड्यं तस्मात्कुड्यात् हस्तत्रयं मुक्त्वा स्वपन्ति, तत्र कुड्यं हस्तमात्रेण प्रोज्झ्य ततो भाजनानि स्थाप्यन्ते, तानि च हस्तमात्रे पादपुञ्छने क्रियन्ते ततो हस्तमात्रं व्याप्नुवन्ति, भाजनसाध्वोश्चान्तरालं हस्तमात्रमेव मुच्यते, ततः साधुः स्वपिति । एवमनया भङ्ग्या स्वपतां तिर्यक् साधो साधोश्चान्तरालं हस्तद्वयं द्रष्टव्यम् ।

पुव्वुद्दिट्ठो उ विही इहवि वसंताण होइ सो चेव । आसज्ज तिन्नि वारे निसन्न आउंटए सेसा ॥ २२९ ॥

अत्र स्वापकाले पूर्वोद्दिष्ट एव विधिर्द्रष्टव्यः, कश्चासौ ?,"पोरिसिआपुच्छणया सामाइयउभयकायपडिलेहा । साहूणिय दुवे पट्टे पमज्ज पाए जओ भूमिं ॥ १ ॥ अणुजाणह संथारं" इत्येवमादिकः । इहापि वसतां स्वपतां भवति स एव विधिः, किं त्वयं विशेषः–'आसज्ज तिन्नि वारे निसन्नो'त्ति आसज्जं त्रयो वाराः करोति 'निसन्नो'त्ति तत्रैव संस्तारके उपविष्टः सन्, शेषाश्च साधवः किं कुर्वन्तीत्याह–'आउंटए सेसा' शेषाः साधवः पादान् आकुञ्चयन्ति । पुनश्चासौ कायिकार्थं व्रजन् किं करोतीत्यत आह—

आवस्सिअमासज्जं नीइ पमज्जंतु जाव उ च्छन्नं । सागारिय तेणुब्भामए य संका तउ परेणं ॥ २३० ॥

आवश्यिकीं आसज्जं च पुनः पुनः कुर्वन् प्रमार्जयन्निर्गच्छति, कियद्दूरं यावदित्यत आह–'जाव उच्छन्नं' यावच्छण्णं–यावद्वसतेरभ्यन्तरमित्यर्थः, बाह्यतश्च नैवं प्रमार्जनादि कर्त्तव्यं, यतः 'सागारिय तेणुब्भामए य संका तदु परेणं' सागा-

वसता शयनविधिः नि. २२९-२३०

॥ ९१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रिकानां स्तेनशङ्कोपजायते, यदुत किमयं चौरः ? 'उब्भामओ' पारदारिकस्ततस्तदाशङ्कोपजायते, अतस्तत्परेण–संछन्नाद्वाह्यतो नेदं–प्रमार्जनादि कर्त्तव्यमिति । एवं प्रमाणयुक्तायां वसतौ वसतां विधिरुक्तः । यदा तु पुनः—

नत्थि उ पमाणजुत्ता खुड्डुलिया चेव वसति जयणाए । पुरहत्थ पच्छ पाए पमज्ज जयणाए निग्गमणं ॥२३१॥

यदा प्रमाणयुक्ता वसतिर्नास्ति तदा क्षुल्लिकायामेव वसतौ वसन्ति यतनया, का चासौ यतना ?–'पुरहत्थ पच्छपाए' 'पुरतः' अग्रतो हस्तेन परामृशति पश्चात्पादौ प्रमृज्य न्यस्यति, ततश्चैवं यतनया बाह्यतो निर्गच्छन्ति । एवं तावत्कायिकार्थं गमनागमने विधिरुक्तः, इदानीं स्वपनविधिं प्रतिपादयन्नाह—

उस्सीसभायणाइं मज्झे विसमे अहाकडा उवरिं । ओवग्गहिओ दोरो तेण य वेहासिलंबणया ॥ २३२ ॥

उपशीर्षकाणां मध्ये भाजनानि–पात्रकाणि क्रियन्ते । स्थापना चेयम्—[०] । 'विसमे'त्ति विषमा भूः गर्त्तोपेता भवति, ततश्च तस्यां गर्त्तायां पात्रकाणि पुञ्जीक्रियन्ते । 'अहागडा उवरिं'ति प्राशुकानि–अल्पपरिकर्माणि च यानि तान्येतेषां पात्रकाणामुपरि पुञ्जीक्रियन्ते, माङ्गलिकत्वात्तेषाम् , अथातिसङ्कटत्वाद्वसतेर्भूमौ नास्ति स्थानं पात्रकाणां ततश्च 'उवग्गहितो दोरो' औपग्रहिको यो दवरको यवनिकार्थं गृहीतः उपग्गहितो–गच्छसाहारणो तेन 'विहायसि' आकाशे 'लंबणय'त्ति तेन दवरकेन लम्ब्यंते–कीलिकादौ क्रियन्ते ।

खुड्डुलियाए असई विच्छिन्नाए उ मालणा भूमी । विलधम्मोचारभडा साहरणेगंतकडपोत्ती ॥ २३३ ॥

क्षुल्लिकाया वसतेरभावे 'विच्छिन्नाए उ'त्ति विस्तीर्णायां वसतौ स्थातव्यं, तत्र च को विधिरित्यत अह–'मालणा भूमी'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विस्तीर्णवसतेर्भूमिर्माल्यते–व्याप्यते पुष्पप्रकरसदृशैः स्वपङ्क्तिः, 'बिलधम्मो चारभडे'त्ति अवलगकादय आगत्य इदं भणन्ति–यदुत बिलधर्मो यस्मिन् बिले यावतामवस्थानं भवन्ति तावन्त एव प्रविशन्ति, ततः साधवः किं कुर्वन्ति ?, 'साहरणे'त्ति संहृत्य उपकरणजातं विरलत्वं च 'एगंत'त्ति एकान्ते तिष्ठति। 'कडपोत्ती'ति यदि कटोऽस्ति ततस्तमन्तराले ददति, अथ स नास्ति ततः 'पोत्तिं' चिलिमिनीं ददति।

असई य चिलिमिलीए भए व पच्छन्न भूइए लक्खे। आहारा नीहारो निग्गमणपवेस वज्जेह ॥ २३४ ॥

'असति' अभावे चिलिमिलिन्याः 'भए व'त्ति चिलिमिनीहरणभये वा न ददति। किं वा कुर्वन्त्यत आह–'पच्छण्णे'त्ति ततः प्रच्छन्नतरे प्रदेशे तिष्ठन्ति। 'भूइए लक्खे'त्ति स च प्रदेशो भूत्वा 'लक्ष्यते' चिह्नयते अबोटोऽयं प्रदेश इति कथ्यते। इदं च तेऽभिधीयन्ते–आहाराद्यनीहारो भवत्यवश्यमतो निर्गमनप्रवेशौ वर्जनीयाविति। इदं च कर्त्तव्यं साधुभिः—

पिंडेण सुत्तकरणं आसज्ज निसीहियं च न करिंति। कासण न पमज्जणया न य हत्थो जयण वेरत्ति ॥२३५॥

'पिण्डेन' समुदायेन 'सूत्रकरणं' सूत्रपौरुषीकरणं कर्त्तव्यं, मा भूत् कश्चित्पदं वाक्यं वा कण्णाहिडिस्सतित्ति। तथा आसज्ज निसीहिअं च तत्र न कुर्वन्ति। किं वा कर्त्तव्यमित्यत आह–'कासणं'ति काशनं–खाट्करणं करोति, न च प्रमार्जनं करोति, 'ण य हत्थो'त्ति न च हस्तेन पुरस्तात्परामृश्य निर्गच्छति, यतनया च वेरत्तिअं कुर्वन्ति। वेरत्तिओ कालो घेप्पइ दोण्हं पहराणं उवरिं, ततो सज्झाओ कीरति, यदिवा ताए वेलाए सज्झाओ। उक्तं वसतिद्वारम्, इदानीं स्थानस्थितद्वारमुच्यते, तत्राह—

॥ ९२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२३६||

दीप अनुक्रम [३५६]

पत्ताण खेत्त जयणा काऊणावस्सयं ततो ठवणा। पडणीयपत्तमामग भद्दगसद्धे य अचियत्ते ॥ २३६ ॥

एवं तेषां विहरतां प्राप्तानामभिमतक्षेत्रे 'जयणे'ति यथा यतना कर्त्तव्या तथा च वक्ष्यति, 'काउं आवश्यकं' कृत्वा चावश्यकं–प्रतिक्रमणं 'ततो ठवण'त्ति ततः स्थापना क्रियते केषाञ्चित्कुलानां, कानि च तानीत्यत आह–'प्रत्यनीकः' शासनादेः 'प्रान्तः' अदानशीलः मामगो य एवं वक्ति–मा मम समणा घरमइंतु, भद्रकश्राद्धौ प्रसिद्धौ 'अचिअत्ति'त्ति यः साधुभिरागच्छद्भिर्दुःखेनास्ते, शोभनं भवति यद्येते नायान्ति गृहे। एतेषां कुलानां यो विभागः क्रियते प्रतिषेधाप्रतिषेधरूपः स स्थापनेत्युच्यते। इदानीं भाष्यकार एनां गाथां प्रतिपदं व्याख्यानयन्नाह—

बाहिरगामे वुच्छा उज्जाणे ठाणवसहिपडिलेहा। इहरा उ गहिअभंडा वसही वाघाय उड्डाहो ॥१०४॥ (भा०)

दारगाहा

एवं ते बाह्यग्रामे आसन्नग्रामे पर्युषिताः सन्तोऽभिमतं क्षेत्रं प्राप्य तावदवतिष्ठन्ते। 'उज्जाणे ठाणं'ति उद्याने तावत्स्थाने आस्थां कुर्वन्ति। 'वसहिपडिलेह'त्ति पुनर्वसति प्रत्युपेक्षकाः प्रेष्यन्ते। 'इहरा उ'त्ति यदि प्रत्युपेक्षका वसतेर्न प्रेष्यन्ते ततः 'गृहीतभाण्डाः' गृहीतोपकरणा वसतिव्याघाते सति निवर्त्तन्ते ततश्च उड्डाहो भवति–उपघात इत्यर्थः। तत्र च प्रविशतां शकुनापशकुननिरूपणायाह—

मइल कुचेले अब्भंगिएल्लए साण खुज्ज वडभे या। एए उ अप्पसत्था हवंति खित्ताउ निंताणं ॥१०५॥(भा०)

नारी पीवरगब्भा वड्ढकुमारी य कट्ठभारो य। कासायवत्थ कुचंधरा य कज्जं न साहेंति ॥ १०६॥ (भा०)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चक्कयरंमि भमाडो भुक्खा मारो य पंडुरंगंमि। तच्चन्निरुहिरपडणं बोडियमसिए धुवं मरणं॥ १०७॥(भा०)
जंबूअ चास मउरे भारद्दाए तहेव नउले अ। दंसणमेव पसत्थं पयाहिणे सव्वसंपत्ती ॥ १०८ ॥ (भा०)
नंदीतूरं पुण्णस्स दंसणं संख पडह सद्दो य। भिंगारछत्त चामर धयप्पडागा पसत्थाई ॥ १०९ ॥ (भा०)
समणं संजयं दंतं सुमणं मोयगा दहिं। मीणं घंटं पडागं च सिद्धमत्थं विआगरे ॥ ११० ॥ (भा०)
एता निगदसिद्धाः ॥
तम्हा पडिलेहिअ दीवियंमि पुव्वगय असइ सारविए। फड्डुयफड्डुपवेसो कहणा न य उट्ठ इयरेसिं॥१११॥(भा०)
यस्मात्पूर्वमप्रत्युपेक्षितायां वसतौ उड्डाहो भवति तस्मात्प्रत्युपेक्ष्य प्रवेष्टव्यम्। 'दीवियंमि'त्ति दीपिते–कथिते शय्यातराय, यदुताचार्या आगताः, 'पुव्वगय'त्ति पूर्वगतक्षेत्रप्रत्युपेक्षकैः प्रमार्जितः ततः साध्वेव, 'असति'त्ति पूर्वगतक्षेत्रप्रत्युपेक्षकाभावे, ततः क्षेत्रप्रत्युपेक्षकैः प्रविश्य 'सारविते' प्रमार्जितायां वसतौ, कथं प्रवेष्टव्यमित्यत आह–फड्डुकफड्डुकैः प्रवेशः कर्त्तव्यः। 'कहण'त्ति यो धर्मकथालब्धिसंपन्नः स पूर्वमेव गत्वा शय्यातराय वसतेर्बहिर्धर्मकथां करोति। 'न य उट्ठ'त्ति न चासौ धर्मकथां कुर्वन् 'उत्तिष्ठति' अभ्युत्थानं करोति 'इयरेसिं'ति ज्येष्ठार्याणाम्, आह–किमाचार्यागमने धर्मकथी अभ्युत्थानं करोति उत नेति ?, आचार्य आह–अवश्यमेवाभ्युत्थानमाचार्याय करोति, यतोऽकरणे एते दोषाः—
आयरियअणुट्ठाणे ओहावण बाहिरा यऽक्खिवणा। साहणयवंदणिज्जा अणालवंतेऽवि आलावो ॥११२॥(भा०)
आचार्यागमने सत्यनुत्थाने 'ओहावण'त्ति मलना भवति, 'बाहिर'त्ति लोकाचारस्य बाह्या एत इति, पञ्चानामप्यङ्गुली-

क्षेत्रग्राह्य-विधिः नि. २३६ प्रवेशे शकुना प्रवेशः धमकथाः भा. १०४ ११२

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नामेका महत्तरा भवति, 'अदक्खिण'त्ति दाक्षिण्यमप्येषामाचार्याणां नास्तीत्येवं शय्यातरश्चिन्तयति । 'साहणय'त्ति तेन धर्मकथिनाऽऽचार्याय कथनीयं यदुतायमस्मद्वसतिदाता । 'वंदणिज्ज'त्ति शय्यातरोऽपि धर्मकथिनेदं वक्तव्यो–वन्दनीया आचार्याः, एवमुक्ते यदि असौ वन्दनं करोति ततः साध्वेव, अथ न करोति ततः 'अणालवंतेऽवि' तस्मिन् शय्यातरेऽनालपत्यपि आचार्येणालापकः कर्त्तव्यः, यदुत कीदृशा यूयम् ?। अथाचार्य आलपनं न करोति तत एते दोषाः—

वुड्ढा निरोवयारा अग्गहणं लोगजत्त वोच्छेओ। तम्हा खलु आलवणं सयमेव उ तत्थ धम्मकहा॥११३॥(भा०)

तथाहि–एत आचार्यास्तथा निरुपकारा–उपकारमपि न बहु मन्यन्ते, 'अग्गहणं'ति अनादरोऽस्याचार्यस्य मां प्रति, 'अलोगजत्त'त्ति लोकयात्राबाह्याः, 'वोच्छेओ'त्ति व्यवच्छेदो वसतेरन्यद्रव्यस्य वा, तस्मात्स्वल्वालपना कर्त्तव्या, स्वयमेव च तत्र धर्मकथा कर्त्तव्याऽऽचार्येणेति ॥

वसहिफलं धम्मकहा कहणअलद्धी उ सीस वावारे। पच्छा अइंति वसहिं तत्थ य भुज्जो इमा जयणा॥११४॥(भा०)

धर्मकथां कुर्वन् वसतेः फलं कथयति, 'कहणअलद्धी उ' यदा तु पुनराचार्यस्य धर्मकथालब्धिर्न भवति तदा 'सीस वावारि'त्ति शिष्यं 'व्यापारयति' नियुङ्क्ते धर्मकथाकथने, शिष्यं च धर्मकथायां व्यापार्य पश्चादाचार्याः प्रविशन्ति वसतिं, तत्र च वसतौ 'भूयः' पुनः 'इयं' यतना वक्ष्यमाणलक्षणा कर्त्तव्या ॥

पडिलेहण संथारग आयरिए तिण्णि सेस उ कमेण। विंटिअउक्खेवणधा पविसइ ताहे य धम्मकही ॥११५॥(भा०)

तत्र च वसतौ प्रविष्टाः सन्तः पात्रकादेः प्रत्युपेक्षणां कुर्वन्ति, संस्तारकग्रहणं च क्रियते, तत आचार्यस्य त्रयः संस्तारका

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ९४ ॥

निरूप्यन्ते, शेषाणां क्रमेण यथारत्नाधिकतया, ते च साधव आत्मीयात्मीयोपधिवेष्टलिकानामुत्क्षेपणं कुर्वन्ति येन भूमि-भागो ज्ञायते, अस्मिन्नवसरे बाह्यतो धर्मकथी संस्तारकग्रहणार्थं प्रविशति ॥

उच्चारे पासवणे लाउय निल्लेवणे य अच्छणए। पुव्वट्ठिय तेसि कहेऽकहिए आयरण वोच्छेओ ॥ ११६ ॥ (भा०)

ते हि क्षेत्रप्रत्युपेक्षका उच्चाराय भुवं दर्शयन्ति ग्लानाद्यर्थं, 'पासवणे'त्ति कायिकाभूमिं दर्शयन्ति,'लाउए'त्ति तुम्बकत्रे-पणभुवं दर्शयन्ति, निर्लेपनस्थानं च दर्शयन्ति, 'अच्छणए'त्ति यत्र स्वाध्यायं कुर्वद्भिरास्यते 'पूर्वस्थिताः' क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः, एवं 'तेषां' आगन्तुकानां कथयन्ति । 'अकहिए'त्ति यदि न कथयन्ति ततः 'आयरण वोच्छेओ'त्ति अस्थाने कायिकादे-राचरणे सति व्यवच्छेदस्तद्द्रव्यान्यद्रव्ययोः, वसतेर्निर्द्धाटयतीति ॥

भत्तट्ठिआ व खवगा अमंगलं चोयए जिणाहरणं। जइ खमगा वंदंता दायंतियरे विहिं वोच्छं ॥ ११७ ॥ (भा०)

ते हि श्रमणाः क्षेत्रं प्रविशन्तः कदाचिद्भक्तार्थिनः कदाचित्क्षपका उपवासिका इत्यर्थः, तत्रोपवासिकानां प्रविशतां 'अमंगलं चोयए'त्ति चोदक इदं वक्ति, यदुत क्षेत्रे प्रविशतां अमङ्गलमिदं यदुपवासः क्रियते, तत्र 'जिनाहरण'मिति जिनोदाहरणं, यथा हि जिना निष्क्रमणकाले उपवासं कुर्वन्ति न च तेषां तदमङ्गलं, किन्तु प्रत्युत मङ्गलं तत्तेषामेव-मिदमपीति । इदानीं यदि क्षपकास्तस्मिन् दिवसे साधव उपवासिकास्तत्र च सन्निवेशे यदि श्रावकाः सन्ति ततस्तद्गृहेषु चैत्यानि वन्दन्तो दर्शयन्ति, कानि ?–स्थापनादीनि कुलानि आगन्तुकेभ्यः, 'इयरे'त्ति भक्तार्थिषु यो विधिस्तं वक्ष्ये । कश्चासौ विधिरित्यत आह—

धर्मकथाः भा. ११४-११५ वस-तिविभागः भा. ११६ कुलस्थाप-ना भा. ११७

॥ ९४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सव्वे दट्ठुं उग्गाहिएण ओयरिअ भयं समुप्पज्जे । तम्हा तिदु एगो वा उग्गाहिअ चेइए वंदे ॥ ११८ ॥ (भा०)

ते हि भक्तार्थिनः श्रावककुलेषु चैत्यवन्दनार्थं व्रजन्तः यदि सर्व एव पात्रकाण्युद्ग्राह्य प्रविशन्ति ततः को दोष इत्यत आह–'दट्ठुमुग्गाहिएहिं ओदरिअ'त्ति दृष्ट्वा तान् साधून् पात्रकैरुद्ग्राहितैः औदरिका एत इति–भट्टपुत्रा इति, एवं श्रावकश्चिन्तयति । 'भयं समुप्पज्जे'त्ति भयं च श्रावकस्योत्पद्यते, यदुत कस्याहमत्र ददामि ? कस्य वा न ददामीति?, कथं वा एतावतां दास्यामीति, यस्मादेवं तस्मात् 'तिदुएगो वा' त्रय उद्ग्राहितेन प्रविशन्ति आचार्येण सह द्वौ वा एको वा उद्ग्राहितेन प्रविशति चैत्यवन्दनार्थमिति ॥ अतः—

सद्धाभंगोऽणुग्गाहियंमि ठवणाइया य दोसा उ । घरचेइअ आयरिए कइवयगमणं च गहणं च॥ ११९॥(भा०)

अथानुद्ग्राहितपात्रका एव प्रविशन्ति, दातव्ये च मतिर्जाता श्राद्धस्य, ततश्च पात्रकाभावेऽग्रहणमग्रहणाच्च श्रद्धाभङ्गो भवति । अथैवं भणन्ति–पात्रकं गृहीत्वाऽऽगच्छामि ततश्च स्थापनादिका दोषा भवन्ति, आदिशब्दात्कदाचित्संस्कारमपि कुर्वन्ति, तस्माद्गृहचैत्यवन्दनार्थं आचार्येण कतिपयैः साधुभिः सह गमनं कार्यं, ग्रहणं घृतादेः कर्त्तव्यमिति । 'पत्ताण खेत्तजयण'त्ति व्याख्यायते—

खेत्तंमि अपुव्वंमी तिट्ठाणट्ठा कहिंति दाणाइं । असई अ चेइयाणं हिंडंता चेव दायंति ॥ १२० ॥ (भा०)

यदि तत्क्षेत्रमपूर्वं न तत्र मासकल्पः कृत आसीत् ततः 'तिट्ठाणत्थि'त्ति त्रिषु स्थानेषु श्रावकगृहचैत्यवन्दनवेलायां

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ 'स्थापनाकुल'स्य स्थापना विधिः वर्ण्यते

भिक्षामटन्तः प्रतिक्रमणावसाने वा कथयन्ति दानादीनि कुलानि । 'असई अ चेइयाणं' यदा पुनस्तत्र श्रावककुलेषु चैत्यानि न सन्ति ततोऽसति चैत्यानां भिक्षामेव हिण्डन्तः कथयन्ति । कानि पुनस्तानि कथयन्तीत्यत आह—

दाणे अभिगमसद्धे संमत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते । मामाए अचियत्ते कुलाइं दायंति गीयत्था ॥ १२१ ॥ (भा०)

दानश्राद्धकान् अभिगमश्राद्धः(द्धान्)अभिनवसम्यक्त्वसाधुः(श्राद्धान्)तथा मिथ्यादृष्टिकुलानि कथयन्ति । शेषं सुगमम् । इदानीं यदि तत्र चैत्यानि न सन्ति उपवासैर्न भिक्षा पर्यटिता तत आवश्यकान्ते क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः कथयन्त्याचार्याय, एतदेवाह—

कयउस्सग्गामंतण पुच्छणया अकहिएगयरदोसा । ठवणकुलाण य ठवणा पविसइ गीयत्थसंघाडो॥१२२॥(भा०)

आवश्यककायोत्सर्गस्यान्ते 'आमंतण'त्ति आचार्य आमन्त्र्य तान् प्रत्युपेक्षकान् 'पुच्छणय'त्ति पृच्छति, यदुत कान्यत्र स्थापनाकुलानि ? कानि चेतराणि ?, पुनश्च ते पृष्टाः कथयन्ति, 'अकहिएगतरदोस'त्ति क्षेत्रप्रत्युपेक्षकैरकथितेषु कुलेषु सत्सु एकतरः—अन्यतमो दोषः—संयमात्मविराधनाजनितः, कथिते च सति स्थापनादिकुलानां स्थापना क्रियते । पुनश्च स्थापनाकुलेषु गीतार्थसङ्घाटकः प्रविशति ॥

गच्छंमि एस कप्पो वासावासे तहेव उडुबद्धे । गामागरनिगमेसुं अइसेसी ठावए सड्ढी ॥ १२३ ॥ (भा०)

गच्छे 'एष कल्पः' एष विधिरित्यर्थः, यतः स्थापनाकुलानां स्थापना क्रियते, कदा ?—'वासावासे तहेव उडुबद्धे' वर्षाकाले शीतोष्णकालयोश्च । केषु पुनरयं नियमः कृतः ? इत्यत आह—'गामागरनिगमेसुं' ग्रामः—प्रसिद्धः आकरः—सुवर्णादे-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रुत्पत्तिस्थानं निगमो–वाणिजकप्रायः सन्निवेशः, एषु स्थापनाकुलानि स्थापयेत्। किंविशिष्टानीत्यत आह–'अतिसेसि'त्ति स्फीतानीत्यर्थः 'सड्ढि'त्ति श्रद्धावन्ति कुलानि स्थापयेदिति ॥

किं कारणं चमढणा दव्वखओ उग्गमोऽवि अ न सुज्झे। गच्छंमि नियमकज्जे आयरियगिलाणपाहुणए ॥ २३७ ॥

किं कारणं तानि कुलानि स्थाप्यन्ते ?, यतः 'चमढण'त्ति अन्यैरन्यैश्च साधुभिः प्रविशद्भिश्चमढ्यन्ते–कदर्थ्यन्त इत्यर्थः, ततः को दोष इत्यत आह–'दव्वखओ' आचार्यादियोग्यानां द्रव्याणां क्षयो भवति। 'उग्गमोऽवि अ न सुज्झे' उद्गमस्तत्र गृहे न शुद्ध्यति। 'गच्छे'त्ति नियतं कार्यं योग्येन, केषामित्यत आह–'आयरिअगिलाणपाहुणए' आचार्यग्लानप्राघूर्णकानामर्थाय नित्यमेव कार्यं भवति इति निर्युक्तिगोथयम्, इदानीं भाष्यकारो व्याख्यानयति, तत्र 'चमढण'त्ति व्याख्यानयन्नाह—[दारगाहा]

पुविंपि वीरसुणिआ छिक्का छिक्का पहाविए तुरिअं। सा चमढणाए सिन्ना संतंपि न इच्छए घेत्तुं ॥ १२४ ॥ (भा०)

जहा काचित् वीरसुणिआ केणइ आहिंडइल्लेणं तित्तिरमयूराईणं गहणे छिक्कारिआ तित्तिराईणि गिण्हेइ, एवं पुणो तित्तिराईहिं विणावि सो छिछिक्कारेइ, सा य पहाविआ जया न किंचि पेच्छइ तया विआरिआ संती कज्जेवि न धावति, एवं सड्ढयकुलाइं अण्णमण्णेहिं चमढिज्जंताइं पओयणे कारणे समुप्पण्णेऽवि संतंपि न देति। किं कारणं ?, जतो अकारणा एव निच्चोइयाणि तेण कारणे समुप्पण्णेवि न देंतित्ति। इदानीं गाथाऽक्षरार्थ उच्यते–पुनरपि वीरशुनी छीत्कृता छीत्कृता प्रधावति त्वरितं, पुनश्चासौ अलीकचमढणतया सिन्ना–विश्रान्ता सदपि मयूरादि नेच्छति ग्रहीतुम् ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-नियुक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ९६ ॥

एवं सहकुलाइं चमढिज्जंताइं ताइं अण्णेहिं । निच्छंति किंचि दाउं संतंपि तयं गिलाणस्स ॥ १२५ ॥ (भा०)

सुगमा ॥ "चमढण"त्ति गयं, "दवक्खय" त्ति व्याख्यायते—

दवक्खएण पंतो इत्थिं घाएज्ज कीस ते दिण्णं ? । भद्दो हट्ठपहट्ठो करेज्ज अन्नंपि समणट्ठा ॥ १२६ ॥ (भा०)

बहूनां साधूनां घृतादिद्रव्ये दीयमाने तद्द्रव्यक्षयः संजातस्ततस्तेन द्रव्यक्षयेण यदि प्रान्तो गृहपतिस्ततः स्त्रियं घातयेत्, एतच्च भणति–किमिति तेभ्यः प्रव्रजितेभ्यो दत्तम् ? । "दवक्खए"त्ति गयं, 'उग्गमोवि अ न सुज्झे'त्ति व्याख्यायते, तत्राह–'भद्दो हट्ठपहट्ठो करेज्ज अन्नंपि साहूणं' भद्रो यदि गृहपतिस्ततो दत्तमपि मोदकादि पुनरपि कारयेत् । "उग्गमोऽविय न सुज्झे"त्ति गयं । "गच्छंमि नियगकज्जं आयरिए"त्ति व्याख्यानयन्नाह—

आयरिअणुकंपाए गच्छो अणुकंपिओ महाभागो । गच्छाणुकंपयाए अव्वोच्छित्ती कया तित्थे ॥ १२७ ॥ (भा०)

सुगमा ॥ इदानीं "गिलाण"त्ति व्याख्यायते—

परिहीणं तं दव्वं चमढिज्जंतं तु अण्णमण्णेहिं । परिहीणं मि य दव्वे नत्थि गिलाणस्स णं जोग्गं ॥ १२८ ॥ (भा०)

सुगमा ॥ तथा चात्र दृष्टान्तो द्रष्टव्यः—

चत्ता होंति गिलाणा आयरियां बालवुड्ढसेहा य । खमगा पाहुणगाविय मज्झायमइक्कमंतेणं ॥ १२९ ॥(भा०)

सारक्खिया गिलाणा आयरिया बालवुड्ढसेहा य । खमगा पाहुणगाविय मज्झायं ठावयंतेणं ॥१३०॥ (भा०)

सुगमे ॥

स्थापनाकुलस्थापना-नि.२३७ भा. १२४-१३०

॥ ९६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१३१||

दीप अनुक्रम [३८६]

जड्डे महिसे चारी आसे गोणे अ तेसि जावसिआ। एएसिं पडिवक्खे चत्तारि उ संजया हुंति ॥ २३८ ॥

जहा एकं महाबीयं परिसूअं, तत्थ य चारीओ नाणाविहाओ अत्थि, तंजहा–जड्डुस्स–हत्थिस्स जा होइ सा होउ जा तत्थ अत्थि, महिसस्स सुकुमारा जोग्गा सावि तत्थ अत्थि, आसस्स महुरा जोग्गा सावि तत्थ अत्थि, गोणस्स सुयंधा जोग्गा सावि तत्थ अत्थि, तं च रायपुरिसेहिं रक्खिज्जइ ताणं चेव जड्डाईणं, जइ परं कारणे घसिआ आणेंति, अह पुण तं मोक्कलथं मुच्चइ ताहे पट्टणगोणेहिं गामगोणेहिं चमढिज्जइ, चमढिए अ तस्सिं महापरिसूए ताणं रायकेराणं जड्डाईणं अणुरूवा चारी ण लब्भइ, विध्वंसितत्वात् गोधनैस्तस्य, एवं सड्ढयकुलाणिवि जइ न रक्खिअंति ततो अन्नमन्नेहिं चमढिज्जंति, तेसु चमढिएसु जं जड्डाइसब्भावपाहुणयाणं पाउग्गं तं न देंति ॥ इदानीमक्षरार्थ उच्यते–जड्डो–हस्ती महिषः–प्रसिद्धस्तयोरनुरूपां चारीं यावसिका–घासवाहिका ददति, तथा अश्वस्य गोणो–बलीवर्दस्तस्य च चारीमानयन्ति यावसिकाः। 'एतेषां' जड्डादीनां प्रतिरूपः–अनुरूपः पक्षः प्रतिपक्षः तुल्यपक्ष इत्यर्थः तस्मिन् चत्वारः संयताः साधूर्णका भवन्ति। इदानीमेतेषामेव जड्डादीनां यथासङ्ख्येन भोजनं प्रतिपादयन्नाह—

जड्डा जं वा तं वा सुकुमारं महिसिओ महुरमासो। गोणो सुगंधदवं इच्छइ एमेव साहूवि ॥ १३१ ॥ (भा०)

सुगमा ॥ नवरं साधुरप्येवमेव द्रष्टव्यः—तत्थ पढमो पाहुणसाहू भणइ–जं मम दोसीणं अण्हगं वा कंजिअं वा लब्भइ तं चेव आणेहि, तेण एवं भणिते किं?–दोसीणं चेव आणिअव्वं, न विसेसेणं तस्स सोहणं तस्स आणेयव्वं। बितिओ पाहुणसाहू भणइ–वरं मे णेहरहियावि पूयलिआ सुकुमाला होउ। ततिओ भणति–महुरं नवरि मे होउ। चउत्थो भणति–

ओ० १७

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ९७ ॥

निष्पडिगंधं अंबपाणं वा होउ । एवं ताणं भणंताणं जं जोग्गं तं सड्ढयकुलेहिंतोवि सेसयं आणिज्जइ । एवमुक्ते सत्याह परः–यस्मादेवं तस्मान्न कदाचित्केनचित्प्रवेष्टव्यं प्राघूर्णकागमनमन्तरेण श्रावककुलेषु, यदैव प्राघूर्णका आगमिष्यन्ति तदैव तेषु प्रवेशो युक्तः, एवमुक्ते सत्याहाचार्यः—

एवं च पुणो ठविए अप्पविसंते भवे इमे दोसा । वीसरण संजयाणं विसुक्खगोणी अ आरामो ॥१३२॥ (भा०)

एवं च पुनः 'ठविते' स्थापिते स्थापनाकुले यदि सर्वथा न प्रवेशः क्रियते तदैते दोषाः । अप्रविशत्सु एते दोषाः–'वीसरण-संजयाणं' विस्मरणं संयतविषयं तेषां श्रावकाणां भवति, तत्र च विशुष्कगोण्या–गवा आरामेण च दृष्टान्तः, जहा एगस्स माहणस्स गोणी सा कुंडदोहणी ताहे सो चिंतेति–एसा गावी बहुअं खीरं देइ मज्झ य मासेण पगरणं होहिति तो अच्छउ ताहे चेव एकवारिआए दुज्जिहिति, एवं सो न दुहति, ताहे सा तेण कालेण विसुक्का तद्दिवसं बिंदुंपि न देइ । एवं संजया तेसिं सड्ढाणं अणल्लिअंता तेसिं सड्ढाणं पम्हुट्ठा ण चेव जाणंति किं संजया अत्थि न वा?, तेवि संजया जंमि दिवसे कज्जं जायं तद्दिवसे गया जाव नत्थि ताणि दव्वाणि, तम्हा दोण्ह वा तिण्ह वा दिवसाणं अवस्स गंतव्वं ॥ अथवा आरामदिट्ठंतो, एगो मालिओ चिंतेइ–अच्छंतु एयाणि पुप्फाणि अहं कोमुईए एक्कवारिआए उवेहामि जेण बहूणि हुंति, ताहे सो आरामो उफुल्लो कोमुईए न एक्कंपि फुल्लं जायं । एवं सावगकुलेसु एए चेव दोसा एक्कवारिआए पविसणे तम्हा पविसिअव्वं कहिंचि दिवसेत्ति ॥ इदानीं योऽसौ आचार्यादीनां वैयावृत्त्यकरः श्राद्धकुलेषु प्रविशति स एभिर्दोषैर्विरहितो नियोक्तव्यः—

स्थापनाकुल-स्थापनं नि. २३८ भां. १३१-१३२

॥ ९७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अलसं घसिरं सुविरं खमगं कोहमाणमायलोहिल्लं । कोऊहलपडिबद्धं वेयावच्चं न कारिज्जा ॥ १३३ ॥(भा०)

अलसो आलसितो सो वेयावच्चं न कारेयव्वो, जदि कारवे असमाचारी, सो आलस्सेण ताव अच्छइ जाव फिडिओ देसकालो, ताहे पच्छा सड्ढयाणि जं किंचि देंति तेण आयरिआईणं विराहणा, अहवा सो अइप्पए वच्चइ कम्मं निव्वाहिअं होउत्ति, ताहे तत्थ अकाले वच्चंतस्स तस्स तं चेव दोसा, अथवा ताणि धम्मसड्ढियआ ओसक्कणदोसे उस्सक्कणदोसे वा करेज्जा ठवियगदोसा वा, अहवा आयरियाणं निमित्तं पए वा उस्सूरे उवक्खडेज्जा, एते एवमाइया अलसे दोसा । घसिरो बहुभक्खगो, सोवि ण पट्ठवेयव्वो, सो पढमं चेव अप्पणो अट्ठाए हिंडइ पज्जत्तं, जाव सो अप्पणो पज्जत्तं हिंडइ ताव फिडिआ वेला, अहवा तत्थेव पढमं वच्चइ पच्छा तत्थ य ण चेव वेला होइ, ते चेवोस्सक्काणादिआ दोसा, अहवा तत्थ सड्ढकुले पभूयं गेण्हइ ताहे उग्गमदोसा न सुज्झंति । सुविरो ताव सुवइ जाव फिडिआ भिक्खावेला, अहवा पढमं तत्थ गंतुं अवेलाए पच्छा सुयइ ते चेव दोसा । खमओ जइ अप्पणो हिंडइ ताहे आयरिआ परितावणादि पावंति, अह खमओ आयरिआणं गेण्हइ ततो अप्पणो परितावणादि पावइ । कोहिल्लो पुवलाभाओ फिडितो सकोहिओ संतो भणइ–अम्हे अण्णतो लभामः, तंपि तुज्झपच्चएण न गेण्हामो, अहवा थेवं लब्भइ तत्थ भंडइ, अहवा ऊणं पाणेण वा तेमणेण वा तत्थवि रूसति । माणिओ जइ न अब्भुट्ठिज्जति तो पुणो न एइ, को विसेसो सावगाणंति ? । माइल्लो भद्दगं भद्दगं अप्पसागरिअं भोच्चा पंतं आणेति । लोभिल्लो जत्तिअं लभति तं सव्वं गेण्हति, एसणं वा लोभेणं पेल्लेज्जा कोऊहल्लिलो जत्थ नडादि पेच्छइ तत्थ पेच्छंतो अच्छइ । पडिबद्धो जो सुत्तत्थेसु अल्लिओ तो सो ताव अच्छइ जाव कालवेला जाया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ९८ ॥

एए दोसा तम्हा एरिसं साहुं वेयावच्चं न कारेज्जा । कीदृशं पुनः कारयेद्वैयावृत्त्यम् ? इत्यत आह—

एयदोसविमुक्कं कडजोगिं नायसीलमायारं । गुरुभत्तिसंविणीयं वेयावच्चं तु कारेज्जा ॥ १३४ ॥ (भा०)

एभिरुक्तदोषैर्विमुक्तं, किंविशिष्टम् ? इत्याह—'कडजोगि'त्ति कृतो योगो–घटना ज्ञानदर्शनचारित्रैः सह येन स कृतयोगी–गीतार्थः तं, पुनरसावेव विशिष्यते–ज्ञाते शीलमाचारश्च यस्य तं वैयावृत्त्यं कारयेत् । गुरौ भक्तिः–भावप्रतिबन्धः संविनीतो–बाह्योपचारेण ॥

साहंति अ पिअधम्मा एसणदोसे अभिग्गहविसेसे । एवं तु विहिग्गहणे दव्वं बहुंति गीयत्था ॥ १३५ ॥(भा०)

ते चैव वैयावृत्त्यकराः श्राद्धकुलेषु प्रविष्टाः सन्तः कथयन्ति 'एषणादोषान्' शङ्कितादीन् अभिग्रहविशेषांश्च साधुसंबन्धिनः, कीदृशास्ते वैयावृत्त्यकराः ?–प्रियः–इष्टो धर्मो येषां ते प्रियधर्माणः 'एवं' उक्तेन प्रकारेण विधिग्रहणं द्रष्टव्यं, घृतादिवृद्धिं नयन्ति अव्यवच्छित्तिलाभेन, के ?–गीतार्थाः । तैश्च गीतार्थैर्भिक्षां गृह्णद्भिः श्राद्धकुले इदं ज्ञातव्यम्—

दव्वप्पमाणगणणा खारिअफोडिअ तहेव अद्धा य । संविग्ग एगठाणे अणेगसाहूसु पत्तरस ॥ १३६ ॥(भा०)

द्रव्यं–गोधूमादि तद्विज्ञेयं कियत्सूपकारशालायां प्रविशति दिने दिने ततश्च तदनुरूपं गृह्णाति, 'गणण'त्ति एतावन्मात्राणि घृतगुडादीनि प्रविशन्त्यस्मिन् इत्येतावन्मात्रं ग्राह्यम् । 'खारिअ'त्ति सलवणानि कानि ?–व्यञ्जनानि–सलवणकरीरादीनि कियन्ति सन्ति ? इति, ततश्च ज्ञात्वा यथाऽनुरूपाणि गृह्णाति । 'फोडिअ'त्ति बाहुंगणाणि मत्थाफोडिआणि कत्तिआणि घरे सिज्झिजंति नाऊण जहारूवाणि घेप्पंति । तथा 'अद्धा य' त्ति काल उच्यते, किमत्र प्रहरे वेला आहोश्चित्प्रहरद्वये

स्थापनाकुलस्थापनं नि. २३८-भाः १३३-१३६

॥ ९८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

● अत्र षड् प्रक्षेप-गाथाः वर्तते. मया संपादित "आगम सुत्ताणि" मूलं अथवा सटीकं पुस्तके सा मुद्रितं सन्ति

इति विज्ञेयं, 'संविग्ग एगठाणे'त्ति संविग्नो–मोक्षाभिलाषी 'एगट्ठाणे'त्ति एकः सङ्घाटकः प्रविशति, 'अणेगसाहूसु'त्ति अनेकेषु साधुषु प्रविशत्सु 'पण्णरस'त्ति पञ्चदश दोषा नियमाद्भवन्ति "आहाकम्मुद्देसिअ" इत्येवमादयः । अज्झोयरओ मीसजायं च एक्को भेओ, यस्मादनेकेषु साधुषु दोषास्तस्मात्

संघाडेगो ठवणाकुलेसु सेसेसु बालवुड्ढाई । तरुणा बाहिरगामे पुच्छा दिट्ठंतऽगारीए ॥ १३७ ॥ (भा०)

सङ्घाटकः एकः स्थापनाकुलेषु प्रविशति, शेषेषु कुलेषु बाला वृद्धाश्च प्रविशन्ति, आदिशब्दात्क्षपकाश्च । तरुणाः–शक्तिमन्तो बहिर्ग्रामे हिण्डन्ति । अत्र चोदकः पृच्छति–पूर्वमेव क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितं यत्र सबालवृद्धस्य गच्छस्यान्नपानं पर्याप्या भवति तत्रैव स्थीयते ततः कस्मात्तरुणा बहिर्ग्रामे हिण्डन्ति ?, आचार्य आह–'दिट्ठंतगारीए' एकस्या अगार्या दृष्टान्तो दातव्यः, तं च तृतीयगाथायां भाष्यकारो वक्ष्यति । तथा इयमपरा द्वारगाथा—

पुच्छा गिहिणो चिंता दिट्ठंतो तत्थ खज्जबोरीए । आपुच्छिऊण गमणं दोसा य इमे अणापुच्छे ॥ २३९ ॥

'पुच्छ'त्ति चोदकः पृच्छति, ननु च तस्या अगार्या घृतादिसङ्ग्रहः कर्तुं युक्तो भर्तृप्रदत्ततर्पणिमध्यात् येन प्राघूर्णकादेः सुखेनैवोपचारः क्रियते, साधूनां पुनः स्थापनाकुलसंरक्षणे न किञ्चित्प्रयोजनं यतस्तत्र यावन्मात्रस्याहारस्य पाकः क्रियते तत्सर्वं प्रतिदिवसमुपयुज्यते, न तु तानि कुलानि संचयित्वा साधुप्राघूर्णकागमने सर्वमेकमुखेनैव प्रयच्छंति, एवं चोदकेनोक्ते आचार्य आह–'गिहिणो चिंता' गृहिणश्चिन्ता भवति, यदुत–एते साधवः प्राघूर्णकाद्यागमने आगच्छन्ति ततश्च एतेभ्यो यत्नेन देयमिति, एवंविधामादरपूर्विकां चिन्तां करोति । यच्चोक्तं तरुणा बहिर्ग्रामे किमिति हिण्डन्ति ?,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥ ९९ ॥

'दिट्ठंतो तत्थ खुज्जबोरीए' स च दृष्टान्तो वक्ष्यमाणः । 'आपुच्छिऊण गमणं'ति तत्र च बहिर्ग्रामादौ आचार्यमापृच्छ्य गन्तव्यं, यतः 'दोसा य इमे अणापुच्छ'त्ति दोषा अनापृच्छायामेते च वक्ष्यमाणलक्षणा दोषाः । इदानीं भाष्यकारः प्रतिपदमेतानि द्वाराणि व्याख्यानयति, तत्र च यदुक्तं दृष्टान्तोऽगार्याः, स उच्यते–एगो वाणिओ परिमिअं भत्तं अप्पणो महिलाए देइ, सा य ततो दिणे दिणे थोवं थोवं अवणेइ, किं निमित्तं ?, जदा एयस्स अवेलाए मित्तो वा सही वा एइस्सइ तदा किं सक्का आवणाउ आणेउं ?, एवं सवतो संगहं करोति, अण्णया तस्स अवेलाए पाहुणगो आगतो, ताहे सो भणइ–किं कीरउ ? रयणी वट्टइ णीसंचाराओ रत्थाओ, ताहे ताए भणिअं–मा आतुरो होहि, ताहे तस्स पाहुणगस्स उवक्खडिअं, गतो तग्गुणसहस्सेहिं वट्टंतो भत्तारोऽवि से परितुट्ठो। एवं आयरिआवि ठवणकुलाइं ठवेंति जेण अवेलागयस्स पाहुणयस्स तेहिंतो आणेउं दिज्जइ, तेण तरुणा संतेसुवि कुलेसु बाहिरगामे हिंडंतित्ति। इदाणिं एसिं चेव विवरीओ भण्णइ, अण्णो अण्णाए गारीए परिमिअं देइ, सा य तओ मज्झाओ थोवं थोवं न गेण्हइ, तओ पाहुणए आगए विसूरेति, अमुमेवार्थं गाथाद्वयेनोपसंहन्नाह—

परिमिअभत्तगदाणे नेहादवहरइ थोव थोवं तु । पाहुण वियाल आगम विसन्न आसासणादाणं॥१३८॥(भा०)

परिमितभक्तप्रदाने सति साऽगारी स्नेहादि-घृतादि स्तोकं स्तोकमपहरति । पुनश्च प्राघूर्णकस्य विकालागमने विषण्णः स्त्रिया आश्वासितः 'दाणं'ति तया स्त्रिया भक्तदानं दत्तं प्राघूर्णकायेति ॥

एवं पीइविवुड्ढी विवरीयण्णेण होइ दिट्ठंतो । लोउत्तरे विसेसो असंचया जेण समणा उ ॥ १३९ ॥ (भा०)

स्थापनाकुल-स्थापनं भा. १३७-१३९ नि. २३९

॥ ९९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एवं तयोर्दम्पत्योः प्रीतिवृद्धिः संजाता, विपरीतश्चान्येन प्रकारेण भवति दृष्टान्तः । एवं तावद्यदि गृहस्था अपि सञ्चयपरा भवन्ति–अनागतमेव चिन्तयन्ति, साधुना पुनः कुक्षिशम्बलेन सुतरामनागतमेव चिन्तनीयं, यदि परं लोकोत्तरेऽयं विशेषः, यदुत निःसञ्चयाः सुतरां चिन्तामाचार्या वहन्तीति । "पुच्छा दिट्ठंतगारी"त्ति भणिअं, इदानीं "पुच्छा गिहिणो चिंत"त्ति गाथायाः प्रथमावयवं व्याख्यानयन्नाह—

जणलावो परगामे हिंडिन्ताऽऽणेंति वसइ इह गामे । दिज्जह बालाईणं कारणजाए य सुलभं तु ॥१४०॥(भा०)

यच्चोदकेन पृष्टमासीत्तत्रेदमुत्तरं–जनानामालापो जनालापो–लोक एवं ब्रवीति, यदुत परग्रामे हिण्डयित्वाऽऽनयन्ति–अत्र भुञ्जते । 'वसहि इह गामे'त्ति वसतिः केवलमत्र एतेषां साधूनां, ततश्च 'देज्जइ' बालादीनां ददध्वम्, आदिशब्दात्प्राघूर्णकादयो गृह्यन्ते, एवंविधां चिन्तां गृहस्थः करोति । ततश्च 'कारणजाते य सुलभं तु' त्ति एवंविधायां चिन्तायां प्राघूर्णकादिकारणे उत्पन्ने घृतादि सुलभं भवतीति । आह-किं पुनः कारणं प्राघूर्णकानां दीयते ?, तथा चायमपरो गुणः—

पाहुणविसेसदाणे निज्जर कित्ती अ इहर विवरीयं । पुव्वं चमढणसिग्गा न देंति संतंपि कज्जेसु ॥१४१॥ (भा०)

प्राघूर्णकाय विशेषदाने सति निर्जरा कर्मक्षयो भवति, इहलोके च कीर्त्तिश्च भवति । 'इहर विवरीय'त्ति यदि प्राघूर्णकविशेषदानं न क्रियते ततश्च निर्जराकीर्त्ती न भवतः, एवं प्राघूर्णकविशेषदानं न भवति, यस्मात्पूर्वं चमढणसिग्गा ततश्च न देंति संतंपि कज्जेसु गिहिणो । चिंतत्ति वक्खाणिअं, इदानीं कुज्जबदरीदृष्टान्तं व्याख्यानयन्नाह—

गामब्भासे बयरी नीसंदकडुप्फला य खुज्जा य । पक्कामलसडिंभा घायंति घरे घया दूरं ॥ १४२ ॥ (भा०)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१४२||

दीप अनुक्रम [४०४]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१००॥

एगो गामो तत्थ खुज्जबोरी सा य नाम णिज्जासेण कडुया तत्थ चेडरूवाणि भणंति व्रजामो बोराणि खामो तत्थ खुज्जबोरी-विलग्गाइं ताइं डिंभरूवाणि तूवराईणिवि खायंति, न य पज्जत्तीए होइ, अण्णाणि भणंति, किं एएहिं, ताहे अडविंगतया तत्थ बोराणि धरणीए खाइऊण बहूणि पोट्टलगा बंधिऊण आगया सिग्घतरं जाव इमे झाडेंता चेव अच्छंति न तत्तीया जाया, ताहे ते तेसिं अन्नेसिं च देंति। एवं चेव इमं खेत्तं चमढिअं, एत्थ अंबिलकूरो घेत्तूणं चेव आगच्छंति दिवसं च हिंडेयव्वं एवं किलेसो अप्पगं च भत्तं होति, जहा ते अणालसचेडा (तहा जे तरुणा) आयपरहिआवहा ते बाहिरगाम-भिक्खारिअं जंति ताहे ते अचमढिअगामाओ खीरं दहिमाइयाइं घेत्तूण लहुं आगया उग्गमदोसाई य जढा होंति, बाल-वुड्ढा य अणुकंपया होंति, वीरियायारो य अणुचिन्नो होइ, तम्हा गंतव्वं बाहिरगामे हिंडएहिं तरुणएहिं। इदानीममुमेवार्थं गाथाभिरुपसंहरन्नाह—

गामब्भासे बयरी नीसंदकडुप्फला य खुज्जा य। पक्कामालसडिंभा खायंतियरे गया दूरं ॥ १४३ ॥ (भा०)
सिग्घयरं आगमणं तेसिण्णेसिं च देंति सयमेव। खायंती एमेव उ आयपरिहिआवहा तरुणा ॥ १४४॥ (भा०)
खीरदहिमाइयाणं लंभो सिग्घतरगं च आगमणं। पहरिछ उग्गमाई विजढा अणुकंपिआ इयरे ॥१४५॥ (भा०)

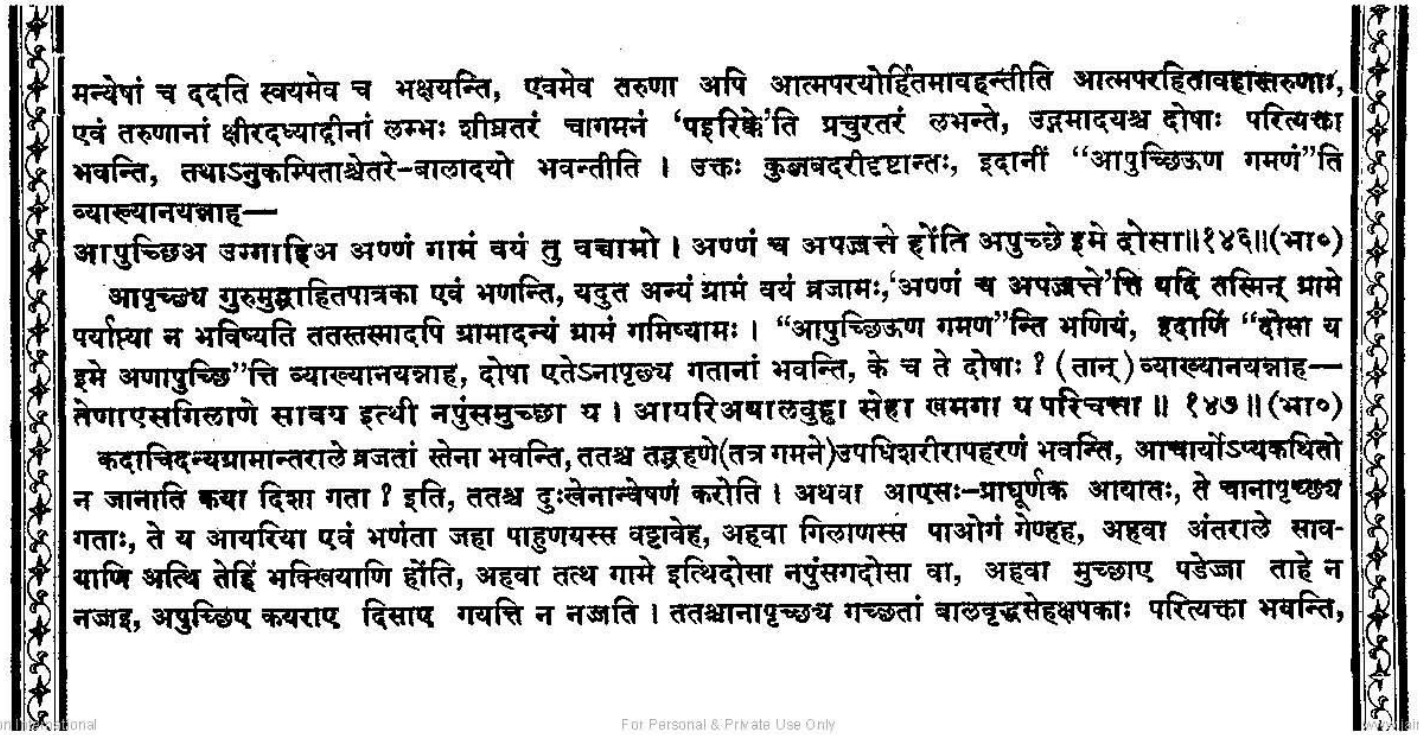
गामब्भासे बदरी सा च निस्स्वन्दकटुकफला कुब्जा च, सा च फलिता, तत्र च फलानि 'पक्काम'त्ति तानि च फलानि पक्कानि आमानि च पक्कामानि–अर्द्धपक्कानीत्यर्थः, ये अलसा डिम्भास्ते भक्षयन्ति। 'इयर'त्ति अनलसाः–उत्साहवन्तो डिम्भरू-पास्ते दूरं गताः। तेषां च शीघ्रतरमागमनं संजातं ततश्च बाह्यत आगत्य 'तेसिं अण्णेसिं च दिंति' तेषामलसशिशूना-

स्थापनाकुलस्थापनं भा. १४०-१४५

॥१००॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१४५|| दीप अनुक्रम [४०९]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः



मन्येषां च ददति स्वयमेव च भक्षयन्ति, एवमेव तरुणा अपि आत्मपरयोर्हितमावहन्तीति आत्मपरहितावहास्तरुणाः, एवं तरुणानां क्षीरदध्यादीनां लम्भः शीघ्रतरं चागमनं 'पइरिक्के'ति प्रचुरतरं लभन्ते, उन्मादयश्च दोषाः परित्यक्ता भवन्ति, तथाऽनुकम्पिताश्चेतरे-बालादयो भवन्तीति । उक्तः कुब्जबदरीदृष्टान्तः, इदानीं "आपुच्छिऊण गमणं"ति व्याख्यानयन्नाह—

आपुच्छिअ उग्गाहिअ अण्णं गामं वयं तु वच्चामो । अण्णं च अपज्जत्ते होंति अपुच्छे इमे दोसा॥१४६॥(भा०)

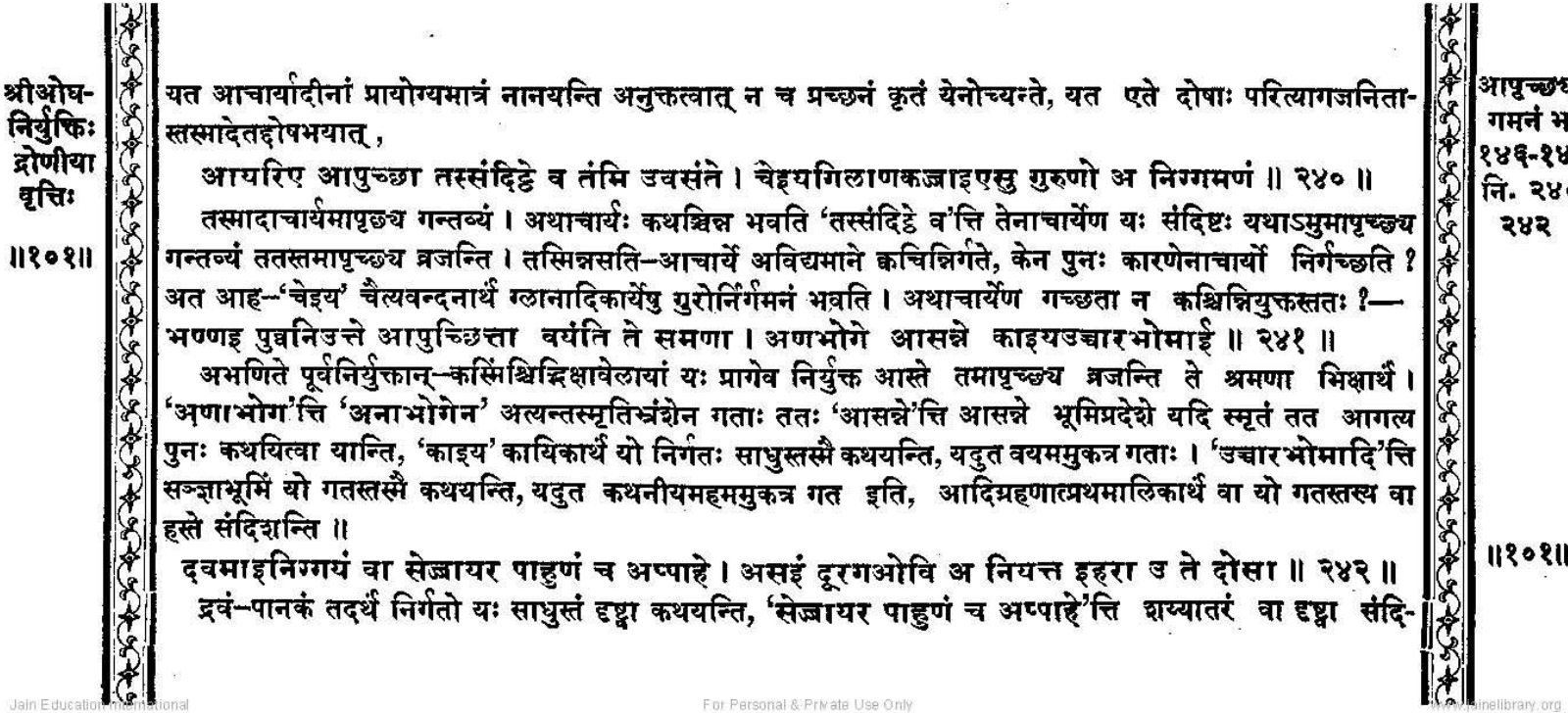
आपृच्छ्य गुरुमुद्ग्राहितपात्रका एवं भणन्ति, यदुत अन्यं ग्रामं वयं व्रजामः,'अण्णं च अपज्जत्ते'त्ति यदि तस्मिन् ग्रामे पर्याप्या न भविष्यति ततस्तस्मादपि ग्रामादन्यं ग्रामं गमिष्यामः । "आपुच्छिऊण गमण"न्ति भणियं, इदाणिं "दोसा य इमे अणापुच्छि"त्ति व्याख्यानयन्नाह, दोषा एतेऽनापृच्छ्य गतानां भवन्ति, के च ते दोषाः ? (तान्) व्याख्यानयन्नाह—

तेणाएसगिलाणे सावय इत्थी नपुंसमुच्छा य । आयरिअबालवुड्ढा सेहा खमगा य परिचत्ता ॥ १४७ ॥(भा०)

कदाचिदन्यग्रामान्तराले व्रजतां स्तेना भवन्ति, ततश्च तद्ग्रहणे(तत्र गमने)उपधिशरीरापहरणं भवन्ति, आचार्योऽप्यकथितो न जानाति कया दिशा गता ? इति, ततश्च दुःखेनान्वेषणं करोति । अथवा आएसः–प्राघूर्णक आयातः, ते चानापृच्छ्य गताः, ते य आयरिया एवं भणंता जहा पाहुणयस्स वट्टावेह, अहवा गिलाणस्स पाओग्गं गेण्हह, अहवा अंतराले सावयाणि अत्थि तेहिं भक्खियाणि होंति, अहवा तत्थ गामे इत्थिदोसा नपुंसगदोसा वा, अहवा मुच्छाए पडेज्जा ताहे न नज्जइ, अपुच्छिए कयराए दिसाए गयत्ति न नज्जति । ततश्चानापृच्छ्य गच्छतां बालवृद्धसेहक्षपकाः परित्यक्ता भवन्ति,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	आपृच्छनं एवं गमनं विधिः



श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१०१॥

यत आचार्यादीनां प्रायोग्यमात्रं नानयन्ति अनुक्तत्वात् न च प्रच्छनं कृतं येनोच्यन्ते, यत एते दोषाः परित्यागजनितास्तस्मादेतद्दोषभयात्,

आयरिए आपुच्छा तस्संदिट्ठे व तंमि उवसंते। चेइयगिलाणकज्जाइएसु गुरुणो अ निग्गमणं ॥ २४० ॥

तस्मादाचार्यमापृच्छ्य गन्तव्यं। अथाचार्यः कथञ्चिन्न भवति 'तस्संदिट्ठे व'त्ति तेनाचार्येण यः संदिष्टः यथाऽमुमापृच्छ्य गन्तव्यं ततस्तमापृच्छ्य व्रजन्ति। तस्मिन्नसति–आचार्ये अविद्यमाने क्वचिन्निर्गते, केन पुनः कारणेनाचार्यो निर्गच्छति? अत आह–'चेइय' चैत्यवन्दनार्थं ग्लानादिकार्येषु गुरोर्निर्गमनं भवति। अथाचार्येण गच्छता न कश्चिन्नियुक्तस्ततः?—

भण्णइ पुव्वनिउत्ते आपुच्छित्ता वयंति ते समणा। अणभोगे आसन्ने काइयउच्चारभोमाई ॥ २४१ ॥

अभणिते पूर्वनिर्युक्तान्–कस्मिंश्चिद्भिक्षावेलायां यः प्रागेव निर्युक्त आस्ते तमापृच्छ्य व्रजन्ति ते श्रमणा भिक्षार्थं। 'अणाभोग'त्ति 'अनाभोगेन' अत्यन्तस्मृतिभ्रंशेन गताः ततः 'आसन्ने'त्ति आसन्ने भूमिप्रदेशे यदि स्मृतं तत आगत्य पुनः कथयित्वा यान्ति, 'काइय' कायिकार्थं यो निर्गतः साधुस्तस्मै कथयन्ति, यदुत वयममुकत्र गताः। 'उच्चारभोमादि'त्ति सञ्ज्ञाभूमिं यो गतस्तस्मै कथयन्ति, यदुत कथनीयमहममुकत्र गत इति, आदिग्रहणात्प्रथमालिकार्थं वा यो गतस्तस्य वा हस्ते संदिशन्ति ॥

दवमाइनिग्गयं वा सेज्जायर पाहुणं च अप्पाहे। असइं दूरगओवि अ नियत्त इहरा उ ते दोसा ॥ २४२ ॥

द्रवं–पानकं तदर्थं निर्गतो यः साधुस्तं दृष्ट्वा कथयन्ति, 'सेज्जायर पाहुणं च अप्पाहे'त्ति शय्यातरं वा दृष्ट्वा संदि-

आपृच्छ्य-गमनं भा. १४६-१४७ नि. २४०-२४२

॥१०१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शन्ति प्राघूर्णकं वा–साध्वादि दृष्ट्वा संदिशन्ति, यतः कथनीयं मम विस्मृतमिति । यदा त्वेतान् गच्छन्न पश्यति तदा दूरगतः 'विणियत्ति'त्ति दूरगतः सन्निवर्त्तते, 'इहरा उ'त्ति यदि न निवर्त्तते ततः 'ते दोस'त्ति 'ते पूर्वोक्ताः स्तेनादयो दोषाः भवन्तीति ॥

अण्णं गामं च वए इमाइं कज्जाइं तत्थ नाऊणं । तत्थवि अप्पाहणया नियत्तई वा सई काले ॥ २४३ ॥

अथासौ साधुस्तस्माद्ग्रामादन्यं ग्रामं व्रजेत्, एतानि कार्याणि–वक्ष्यमाणलक्षणानि कानि?–"दूरट्ठिअखुड्डुलए" इत्येवमादीनि 'तत्रे'ति तस्मिन् ग्रामे योऽसावभिप्रेतो 'ज्ञात्वा' विज्ञाय, ततश्च किं कर्त्तव्यमित्यत आह–'तत्रापि' अन्यस्मिन् ग्रामे व्रजता 'अप्पाहणया' संदेशकस्तथैव दातव्यः, अथ कश्चिन्नास्ति यस्य हस्ते संदिश्यते ततो निवर्त्तनं वा क्रियते, कदा ?, अत आह–'सति काले' विद्यमाने पहुप्पंति काले तत्तदनुष्ठीयते यदुक्तं, एतानि कार्याणि तत्र ज्ञात्वाऽन्यत्र ग्रामे व्रजन्ति, तानि दर्शयन्नाह—

दूरट्ठिअखुड्डुलए नव भड अगणी य पंत पडिणीए । पाओग्गकालइक्कम एक्कगलंभो अपज्जत्तं ॥ २४४ ॥

प्रथमं गाथार्द्धं सुगमं, एतानि दूरस्थितादीनि कारणानि अर्द्धपथ एव ज्ञातानि, कदाचिद्गतः सन् तत्र 'पाउग्ग'त्ति तत्र ग्रामे प्रायोग्यमाचार्यादीनां न लब्धं ततोऽन्यत्र व्रजति, 'कालातिक्रम' भिक्षाकालस्य वाऽतिक्रमो जाव एकस्य वा साधोस्तत्र भोजनलाभो जातस्ततोऽन्यग्रामे व्रजन्ति । 'अपज्जत्तं'ति न वा पर्याप्या तत्र भक्तजातं लब्धं पानकं वा न लब्धं, एभिरनन्तरोक्तैः कारणैरन्यग्रामं व्रजन्तीति ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२४५||

दीप अनुक्रम [४१५]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१०२॥

पाउग्गाईणमसई संविग्गं सण्णिमाइ अप्पाहे । जइ य चिरं तो इयरे ठवित्तु साहारणं भुंजे ॥ २४५ ॥

एवमसौ प्रायोग्यादीनां असति अन्यग्रामं व्रजति, व्रजंश्च संविग्नं साधुं यदि पश्यति ततस्तस्य हस्ते संदिशति, सञ्ज्ञी–श्रावकस्तस्य हस्ते संदिशत्यन्यस्य वा आदिग्रहणात् पूर्ववच्छेषम् । एवं तावद्भिक्षामटतां विधिरुक्तः, ये पुनर्वसतौ तिष्ठन्ति साधवस्तैः किं कर्त्तव्यमित्यत आह–'जइ य चिरं' यदि च चिरं तेषां ग्रामं गतानां तत इतरे–वसतिनिवासिनः साधवः 'ठवेत्तु साहारणं' यद्गच्छसाहारणं विशिष्टं किञ्चित्तत्स्थापयित्वा शेषमपरं प्रान्तप्रायं भुञ्जते । अथ तथाऽपि चिरयंति–

जाए दिसाए उ गया भत्तं घेत्तुं तओ पडियरंति । अणपुच्छनिग्गयाणं चउद्दिसं होइ पडिलेहा ॥ २४६ ॥

'जाए दिसाए उ गया' यया दिशा भिक्षाटनार्थं गतास्तया दिशा गृहीतभक्तपानकाः साधवः 'पडियरंति'त्ति प्रति-जागरणां–निरूपणां कुर्वन्ति, अथ तु ते भिक्षाटका अनाभोगेनाकथयित्वैव गतास्ततः किं कर्त्तव्यमित्यत आह–अनापृच्छय निर्गतानां भिक्षाहिण्डकानां चतसृष्वपि दिक्षु 'प्रतिजागरणं' निरूपणं कर्त्तव्यं साधुभिः । प्रतिजागरणगमनविधिः कः ?,

पंथेणेगो दो उप्पहेण सद्दं करेंति वचंता । अक्खरपडिसाडणया पडियरणिअरेसि मग्गेणं ॥ २४७ ॥

'पथा' मार्गेण प्रसिद्धेन एकः साधुः प्रयाति, द्वौ साधू 'उत्पथेन' उन्मार्गेण व्रजतः, वर्त्तन्या एक एकया दिशाऽन्यश्चा-न्यया, ते च त्रयोऽपि व्रजन्तः शब्दं कुर्वन्ति, ते च व्रजन्तः स्तेनादिना नीयमानाः साधवः किं कुर्वन्तीत्यत आह–'अक्खर'त्ति वर्त्तिन्यामक्षराणि लिखन्तः पादादिना व्रजन्ति,'परिसाडणय'त्ति परिशातनं वस्त्रादेः कुर्वन्तो व्रजन्ति येन कश्चित्तेन मार्गे-णान्वेषयति । 'पडिअरणियरेसि'ति इतरेषामन्वेषणार्थं निर्गतानां साधूनां मार्गेण तत्कृते चिह्नेन प्रतिजागरणं कर्त्तव्यं ।

आपृच्छ्य-गतौ विधिः नि. २४३-२४७

॥१०२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२४८||

दीप अनुक्रम [४१८]

गामे गंतुं पुच्छे घरपरिवाडीएँ जत्थ उ न दिट्ठा । तत्थेव बोलकरणं पिंडियजणसाहणं चेव ॥ २४८ ॥

यदा तु पुनस्तेषां स्तेननीतानां चिह्नं न किञ्चित्पश्यति तदाऽपि ग्राममेव गत्वा पृच्छति, कथं ?, गृहपरिपाट्या, 'जत्थ उ ण दिट्ठ'त्ति यत्र न दृष्टास्तस्मिन् ग्रामे, न च तद्ग्रामनिर्गतानां वार्त्ता तत्रैव 'बोलकरणं' रोलं कुर्वन्ति, पश्चाच्च 'पिंडितजणसाहणं' पिण्डितो–मिलितो यो जनस्तस्य कथयन्ति यदुअस्मिन् ग्रामे प्रव्रजिता भिक्षार्थं प्रविष्टाः न च तेषां पुनरस्मात् ग्रामाद्वार्त्ता श्रुतेति । एवं तैस्तरुणैरेतदेव च कृतं भवति अन्यग्रामेऽटद्भिः—

एवं उग्गमदोसा विजढा पइरिक्कया अणोमाणं । मोहतिगिच्छा अ कया विरियायारो य अणुचिण्णो ॥२४९॥

'एवं' अन्यग्रामे भिक्षाटनेन 'उद्गमदोषाः' आधाकर्मादयः 'विजढा' परित्यक्ता भवन्ति, 'पइरिक्कय'त्ति प्रचुरस्य भक्तादेर्लाभो भवति 'अणोमाणं'ति न वा 'अपमानं' अनादरकृतं भवति लोके, तथा मोहचिकित्सा च कृता भवति, श्रमातपवैयावृत्त्यादिभिर्मोहस्य निग्रहः कृतो भवति–अवकाशो दत्तो न भवतीति, 'विरियायारो य' वीर्याचारश्च 'अनुचीर्णः' अनुष्ठितो भवति ।

अणुकंपायरियाई दोसा पइरिक्कजयणसंसट्ठं । पुरिसे काले खमणे पढमालिय तीसु ठाणेसु ॥ २५० ॥

एवमुक्ते सति चोदक आह–सत्यमाचार्यादयोऽनुकम्पिता भवन्ति, किन्तु त एव वृषभाः परित्यक्ता भवन्ति, आचार्योऽप्यनेनैव वाक्येन प्रत्युत्तरं ददाति काक्वा–'अणुकंपायरिआई'त्ति एवमाचार्यादीनामनुकम्पा, यत एव परलोके निर्जरा इहलोके प्रशंसा, पुनरप्याह परः–'दोसा' इति भवतु नाम परलोका(आचार्या)नुकम्पा किन्तु क्षुत्पीडा पिपासापीडा च तदवस्थैव, आ-

ओ० १८

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चार्योऽप्याह–क्रियत एव प्रथमालिका, किन्तु?, त्रिषु स्थानेषु, कानि च तानि?, अत आह 'पुरिसे'त्ति 'पुरुषः' असहिष्णुः पुरुषो यद्यसहिष्णुस्ततः करोति, काले–उष्णकालादौ, यद्युष्णकालस्ततः करोति, 'खवण'त्ति कदाचित्क्षपको भवति अक्षपको वा, यदि क्षपकस्ततः करोति, एवमेतेषु त्रिषु स्थानकेषु प्रथमालिकां करोति, क्व करोति ?, आचार्योऽप्यनेनैव वाक्येनोत्तरं ददाति, कथं वा करोति?, अत आह–'पतिरिक्के जयण'त्ति प्रतिरिक्ते–एकान्ते यतनया करोति, पुनरप्याह परः–आचार्यादीनां तेन तद्भक्तं संसृष्टं कृतं भवति, आचार्योऽप्यनेनैव वाक्येनोत्तरं ददाति–'पतिरिक्कजयणसंसट्ठं' एकान्ते यतनयाऽसंसृष्टं च यथा भवति तथा प्रथमालिकेति–मात्रके प्रथममाकृष्य भुङ्क्ते हस्तेन वा द्वितीयहस्ते कृत्वा, अकारप्रश्लेष आचार्यवाक्ये द्रष्टव्यः। इदानीमेतामेव गाथां भाष्यकारः प्रतिपदं व्याख्यानयन्नाह, तत्र प्रथमावयवव्याचिख्यासुराह—

चोयगवयणं अप्पाणुकंपिओ ते अ भे परिचत्ता। आयरियणुकंपाए परलोए इह पसंसणया ॥ १४८॥ (भा०)

चोदकस्य वचनं, किं तद् ?, आत्मैवैवमनुकम्पित आचार्येण, ते च भवता परित्यक्ता भवन्ति। आचार्योऽप्याह–आचार्यानुकम्पया परलोको भवति, इहलोके च प्रशंसा भवति। 'अणुकंपा आयरियाई' वक्खाणिअं, इदानीं "दोस"त्ति व्याख्यानयन्नाह—

एवंपि अपरिचत्ता काले खवणे अ असहुपुरिसे य। कालो गिम्हो उ भवे खमगो वा पढमबिइएहिं॥१४९॥(भा०)

चोदकः पुनरप्याह–एवमपि ते परित्यक्ता एव, यतः क्षुधादिना बाध्यन्ते, आचार्योऽप्याह–'काले'त्ति काले–उष्णकाले करोति 'खवण'त्ति क्षपको यदि भवति ततः स करोति प्रथमालिकामसहिष्णुश्च पुरुषो यदि भवति ततः स करोति

तरुणानां परग्रामेभिक्षा नि. २४८-२५० भा. १४८

॥१०३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१५०||

दीप अनुक्रम [४२३]

प्रथमालिकां, तत्र कालो–ग्रीष्मो यदि भवेत्पुरुषः क्षपको यदि भवति, 'पढमबिइएहिं'ति अत्र पुरुषः केन कारणेनासहिष्णुर्भवति ?–'पढमे'त्ति प्रथमपरीषहेण बाध्यमानः, क्षुधित इत्यर्थः, द्वितीयपरीषहेण–तृषा बाध्यमानः, पिपासया पीड्यमानोऽसहिष्णुर्भवति । अत्राह परः—

जइ एवं संसट्ठं अप्पत्ते दोसिणाइणं गहणं । लंबणभिक्खा दुविहा जहण्णमुक्कोस तिअपणए ॥ १५० ॥ (भा०)

यद्येवमसौ बाह्यत एव प्रथमालिकां करोति ततो भक्तं संसृष्टं कृतं भवति, आचार्योऽप्याह–'अप्पत्ते दोसिणादिणं गहणं' अप्राप्तायामेव भिक्षावेलायां पर्युषितान्नग्रहणं कृत्वा प्रथमालयति, कियत्प्रमाणां पुनः प्रथमालिकां करोत्यसौ?, द्विविधा प्रथमालिका भवति–'लंबणभिक्खा दुविहा' लम्बनैः–कवलैर्भिक्षाभिश्च द्विविधा प्रथमालिका भवति, इदानीं जघन्योत्कृष्टतः प्रमाणप्रतिपादनायाह–'जहन्नमुक्कोस तिअपणए' यथासङ्ख्येन जघन्यतस्त्रयः कवलास्तिस्रो वा भिक्षाः, उत्कृष्टतः पञ्च कवलाः पञ्च वा भिक्षाः । इदानीं तेन सङ्घाटकेन किं वस्तु केषु पात्रकेषु गृह्यते ? का वा प्रथमालिकाकरणे यतना क्रियते ?, एतत्प्रतिपादयन्नाह—

एगत्थ होइ भत्तं बिइअंमि पडिग्गहे दवं होइ । पाउग्गायरियाई मत्ते बिइए उ संसत्तं ॥ २५१ ॥

एकस्मिन् पात्रके भक्तं गृह्णाति द्वितीये च पतद्ग्रहे द्रवं भवति । तथा 'पाउग्गायरियाई मत्ते'त्ति प्रायोग्यमाचार्यादीनामेकस्मिन् मात्रके भक्तं गृह्यते 'बितिए उ संसत्तं'द्वितीये तु मात्रके संसृष्टं किञ्चित्पानकं गृह्यते ॥

जइ रित्तो तो दवमत्तगंमि पढमालियाए करणं तु । संसत्तगहण दवदुल्लहे य तत्थेव जं पत्तं ॥ २५२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२५२||

दीप अनुक्रम [४२५]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१०४॥

यदि रिक्तः संसक्तद्रवमात्रकस्ततस्तस्मिन् प्रथमालिकायाः करणं,'संसत्तगहणं'ति अथ तस्मिन् द्रवमात्रके संसक्तद्रवग्रहणं कृतं ततस्तत्रैव पात्रके यत्प्रान्तं तद्भुङ्क्ते । 'दवदुल्लभे य'त्ति अथ दुर्लभं पानकं तत्र क्षेत्रे ततश्च तत्रापि संसक्तमात्रके पानकाक्षणिके सति 'तत्थेव'त्ति तस्मिन्नेव भक्तपतद्ग्रहे यत्प्रान्तं तद्ग्रस्तेनाकृष्यान्यस्मिन् हस्ते कृत्वा समुद्दिशति । एवं चासौ सङ्घाटकः प्रथमालिकां करोति—

अंतरपल्लीगहिअं पढमागहियं व सव्व भुंजेज्जा । धुवलंभसंखडीयं व जं गहिअं दोसिणं वावि ॥ २५३ ॥

अन्तरपल्ली–तस्माद्ग्रामात्परतो योऽन्य आसन्नग्रामस्तत्र यद्गृहीतं तद्भुङ्क्ते, पुनस्तत्तत्र क्षेत्रातिक्रान्तत्वादभोज्यं भवति, 'पढमागहिअं व'त्ति प्रथमायां वा पौरुष्यां यद्गृहीतं तत्सर्वं भुङ्क्ते, तृतीयपौरुष्यामकल्प्यं यतस्तद्भवति । 'धुवलंभो संखडीयं व' अथवा ध्रुवो वा–अवश्यभावी–अत्र सङ्घट्ट्यां लाभो भविष्यतीति मत्वा, ततश्च यद्गृहीतं 'दोसिणं वावि' पर्युषितमन्नं तत्सर्वं भुञ्जते ॥

दूरहिंडिए व भाणं भरिअं भोचा पुणोवि हिंडिज्जा । कालो वाऽइक्कमई भुंजेज्जा अंतरं सव्वं ॥ २५४ ॥

अर्द्धहिण्डिते वा यत्पात्रकं गृहीतं तद्भृतं, ततश्च तद्भुक्त्वा पुनरपि हिण्डेत । 'कालो वाऽतिक्कमति'त्ति भोजनकालो वा प्रव्रजितानामतिक्रामति यावदसौ तद्भक्तं गृहीत्वा व्रजति ततश्चान्तराल एव सर्वं भुक्त्वा प्रविशति।

एसो उ विही भणिओ तंमि वसंताण होइ खेत्तंमि । पडिलेहणंपि इत्तो वोच्छं अप्पक्खरमहत्थं ॥ २५५ ॥

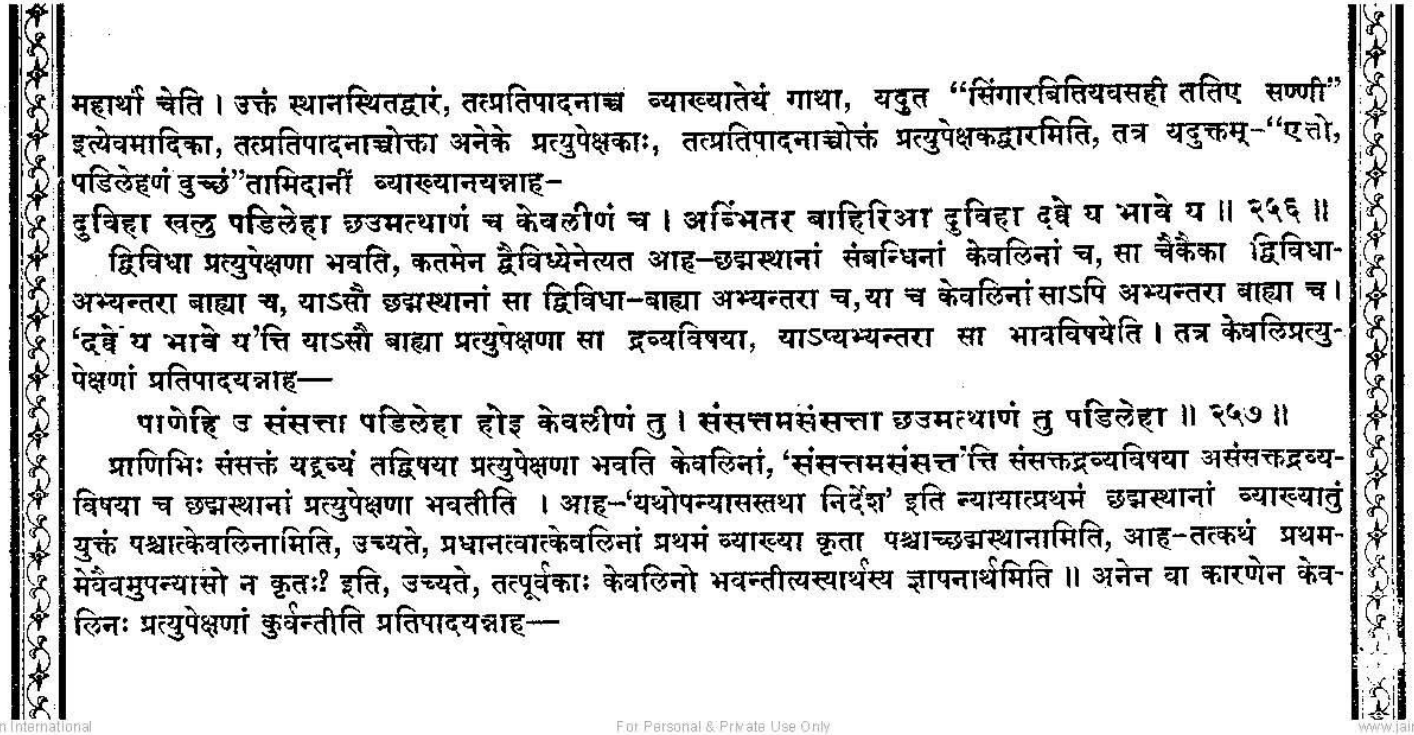
एष विधिः 'भणितः' उक्तस्तस्मिन् क्षेत्रे वसतां भवति, प्रतिलेखनामपीत ऊर्ध्वं वक्ष्ये, किंविशिष्टाम् ?–अल्पाक्षरां

॥१०४॥

मागप्रथमालिकाविधिः भा. १४९-१५० नि. २५१ २५५

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२५५|| दीप अनुक्रम [४२८]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः



महार्थां चेति । उक्तं स्थानस्थितद्वारं, तत्प्रतिपादनाच्च व्याख्यातेयं गाथा, यदुत "सिंगारबितियवसही ततिए सण्णी" इत्येवमादिका, तत्प्रतिपादनाच्चोक्ता अनेके प्रत्युपेक्षकाः, तत्प्रतिपादनाच्चोक्तं प्रत्युपेक्षकद्वारमिति, तत्र यदुक्तम्–"एत्तो, पडिलेहणं वुच्छं"तामिदानीं व्याख्यानयन्नाह–

दुविहा खलु पडिलेहा छउमत्थाणं च केवलीणं च । अब्भिंतर बाहिरिआ दुविहा दव्वे य भावे य ॥ २५६ ॥

द्विविधा प्रत्युपेक्षणा भवति, कतमेन द्वैविध्येनेत्यत आह–छद्मस्थानां संबन्धिनां केवलिनां च, सा चैकैका द्विविधा-अभ्यन्तरा बाह्या च, याऽसौ छद्मस्थानां सा द्विविधा–बाह्या अभ्यन्तरा च, या च केवलिनां साऽपि अभ्यन्तरा बाह्या च। 'दव्वे य भावे य'त्ति याऽसौ बाह्या प्रत्युपेक्षणा सा द्रव्यविषया, याऽप्यभ्यन्तरा सा भावविषयेति । तत्र केवलिप्रत्युपेक्षणां प्रतिपादयन्नाह—

पाणेहि उ संसत्ता पडिलेहा होइ केवलीणं तु । संसत्तमसंसत्ता छउमत्थाणं तु पडिलेहा ॥ २५७ ॥

प्राणिभिः संसक्तं यद्द्रव्यं तद्विषया प्रत्युपेक्षणा भवति केवलिनां, 'संसत्तमसंसत्ते'त्ति संसक्तद्रव्यविषया असंसक्तद्रव्यविषया च छद्मस्थानां प्रत्युपेक्षणा भवतीति । आह–'यथोपन्यासस्तथा निर्देश' इति न्यायात्प्रथमं छद्मस्थानां व्याख्यातुं युक्तं पश्चात्केवलिनामिति, उच्यते, प्रधानत्वात्केवलिनां प्रथमं व्याख्या कृता पश्चाच्छद्मस्थानामिति, आह–तत्कथं प्रथममेवैवमुपन्यासो न कृतः? इति, उच्यते, तत्पूर्वकाः केवलिनो भवन्तीत्यस्यार्थस्य ज्ञापनार्थमिति ॥ अनेन वा कारणेन केवलिनः प्रत्युपेक्षणां कुर्वन्तीति प्रतिपादयन्नाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	प्रत्युप्रेक्षणा संबंधी विधानानि

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२५८||

दीप अनुक्रम [४३१]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१०५॥

संसज्जइ धुवमेअं अपेहिअं तेण पुव्व पडिलेहे । पडिलेहिअंपि संसज्जइत्ति संसत्तमेव जिणा ॥ २५८ ॥

'संसज्यते' प्राणिभिः सह संसर्गमुपयाति 'ध्रुवं' अवश्यं 'एतत्' वस्त्रादि अप्रत्युपेक्षितं सत् तेन पूर्वमेव केवलिनः प्रत्युपेक्षणां कुर्वन्ति, यदा तु पुनरेवं संविद्रते–इदमिदानीं वस्त्रादि प्रत्युपेक्षितमपि उपभोगकाले संसज्यते तदा 'संसक्तमेव जिण'त्ति संसक्तमेव 'जिनाः' केवलिनः प्रत्युपेक्षन्ते न त्वनागतमेव, पलिमन्थदोषात् । उक्ता केवलिद्रव्यप्रत्युपेक्षणा, इदानीं केवलिन एव भावप्रत्युपेक्षणां प्रतिपादयन्नाह—

नाऊण वेयणिज्जं अइबहुअं आउअं च थोवागं । कम्मं पडिलेहेउं वच्चंति जिणा समुग्घायं ॥ २५९ ॥

ज्ञात्वा 'वेदनीयं' कर्म अतिप्रभूतं तथाऽऽयुष्कं च स्तोकं कर्म 'प्रत्युपेक्ष्य' ज्ञात्वेत्यर्थः, किमित्यत आह–'वच्चंति जिणा समुग्घायं' 'जिनाः' केवलिनः समुद्घातं व्रजन्ति, अत्र च भावः–कर्मण उदयः औदयिको भाव इत्यर्थः। उक्ता केवलिभावप्रत्युपेक्षणा, इदानीं छद्मस्थद्रव्यप्रत्युपेक्षणामाह—

संसत्तमसंसत्ता छउमत्थाणं तु होइ पडिलेहा । चोयग जह आरक्खी हिंडिताहिंडिया चेव ॥ २६० ॥

'संसत्त'त्ति संसक्तद्रव्यविषया असंसक्तद्रव्यविषया च छद्मस्थानां भवति प्रत्युपेक्षणा, अत्र चोदक आह–युक्तं तावत् संसक्तस्य वस्त्रादेः प्रत्युपेक्षणाकरणं, असंसक्तस्य तु कस्मात् प्रत्युपेक्षणा क्रियते ?, आचार्य आह–यथा आरक्षकयोर्हिण्डिताहिण्डितयोर्यथासङ्क्लेन प्रसादविनाशौ संजातौ तथाऽत्रापि द्रष्टव्यं, तथाहि–किंचिन्नगरं, तत्थ राया, तेन चोरनिग्गहणत्थं आरक्खिओ ठविओ, सो एगं दिवसं हिंडइ बीए तइए हिंडंतो चोरं न किंचि पासति ताहे ठितो निविण्णो, चोरेहिं आग-

प्रतिलेखन विधिः नि २५६-२६९

॥१०५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२६०||

दीप अनुक्रम [४३३]

मिअं जहा वीसत्थो जाओ आरक्खिओ, ताहे एकदिवसेण सव्वं नगरं मुट्ठं, ताहे नागरगा उट्ठिआ मुट्ठा, तो राया भणइ-वाहरह आरक्खिअं, वाहित्ता पुच्छितो–किं तुमए अज्जाहिंडिअं [न] नगरे?, सो भणति–न हिंडिअं, ताहे रुट्ठो राया भणइ-जइ नाम एत्तिए दिवसे चोरेहिं न मुट्ठं सो ताण चेव गुणो, तए पुण पमायं करितेणं मुसाविअं, ततो सो निग्गहिओ राइणा, अण्णो पट्ठविओ, सो पुण जइ न दिक्खति चोरे तहवि रत्तिं सयलं हिंडति, अह तत्थ एगदिवसे अण्णरत्थाए गयं नाऊण चोरेहिं खत्तं खणिअं, सो य नागरओ रायउले उवट्ठिओ, राइणा पुच्छिओ आरक्खिओ–जहा तुमं हिंडसि ?, सो भणइ–आमं हिंडामि, ताहे राइणा लोगो पुच्छिओ भणइ–आमं हिंडइत्ति, ताहे सो निद्दोसो कीरति । एवं चेव रायत्थाणीया तित्थयरा आरक्खिअत्थाणीआ साहू उवगरणं नगरत्थाणीअं कुंथुकीडीयत्थाणीया चोरा णाणदंसणचरित्ताणि हिरण्णत्थाणीयानि संसारो दंडो । एवं केणवि आयरिएण भणितो सीसो दिवसे दिवसे पडिलेहइ, जाहे न पेच्छइ ताहे न पडिलेहेइ, एवं तस्स अपडिलेहंतस्स सो संसत्तो उवही ण सक्को सोहेउं, ततो तेणं तित्थयराणा भग्गा, तं च दव्वं अपरिभोगं जायं, एवं अण्णो भणितो, तेण य सव्वं कयं तित्थयराणा य कया, एवं परिभोगं जायं ॥ अमुमेवार्थं गाथायामुपसंहरन्नाह–

तित्थयरा रायाणो साहू आरक्खि भंडगं च पुरं । तेणसरिसा य पागा तिगं च रयणा भवो दंडो ॥ २६१ ॥

उक्ता छद्मस्थविषया द्रव्यप्रत्युपेक्षणा, इदानीं भावप्रत्युपेक्षणां प्रतिपादयन्नाह—

किं कय किं वा सेसं किं करणिज्जं तवं च न करेमि । पुव्वावरत्तकाले जागरओ भावपडिलेहा ॥ २६२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२६३||

दीप अनुक्रम [४३६]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१०६॥

सुगमा ॥ नवरं 'पुव्वावरत्तकाले'त्ति पूर्वरात्रकाले रात्रिप्रहरद्वयस्याद्यस्यान्तः–उपरिष्टादपररात्रकालस्तस्मिन् जाग्रतः–चिन्तयतः । एवमुक्ता छद्मस्थविषया भावप्रत्युपेक्षणा, तद्भणनाच्च भणिता प्रत्युपेक्षणा, इदानीं प्रत्युपेक्षणीयमुच्यते, तत्प्रतिपादयन्नाह—

ठाणे उवगरणे या थंडिलउवथंभमग्गपडिलेहा । किंमाई पडिलेहा पुव्वण्हे चेव अवरण्हे ॥ २६३ ॥

'स्थानं' कायोत्सर्गादि त्रिविधं वक्ष्यति, तथा 'उपकरणं' पात्रकादि 'स्थण्डिलं' यत्र कायिकादि क्रियते,'अवष्टम्भनं' अवष्टम्भस्तत्प्रत्युपेक्षणा 'मार्गः' पन्था, यदेतत्पञ्चकमुपन्यस्तम्, एतद्विषया प्रत्युपेक्षणा भवति। 'किंमाई पडिलेहा पुव्वण्हे' किमादिका प्रत्युपेक्षणा पूर्वाह्णे ?, मुखवस्त्रिकादिकेति, अपराह्णे किमादिका ?, तत्रापि मुखवस्त्रिकादिका । द्वारगाथेयं, भाष्यकारः प्रतिपदं व्याख्यानयति, तत्र सामान्येन तावत्सर्वाण्येव द्वाराणि व्याख्यानयन्नाह—

ठाणनिसीयतुयट्टणउवगरणाईण गहणनिक्खेवे । पुव्वं पडिलेहे चक्खुणा उ पच्छा पमज्जेज्जा ॥ १५१ ॥ (भा०)

स्थानं–कायोत्सर्गस्तं कुर्वन् प्रथमं चक्षुषा प्रत्युपेक्षते पश्चात्प्रमार्जयति, तथा निषीदनम्–उपविशनं त्वग्वर्त्तनं–स्वपनं तथोपकरणादीनां ग्रहणे निक्षेपे च, आदिग्रहणात्स्थण्डिलमवष्टम्भश्च गृह्यते, एतानि सर्वाण्येव पूर्वं चक्षुषा प्रत्युपेक्ष्यन्ते पश्चाद्रजोहरणेन प्रमृज्यन्ते । इदानीमेतामेव द्वारगाथां विशेषेण व्याख्यानयन्नाह—

उड्ढनिसीयतुयट्टण ठाणं तिविहं तु होइ नायव्वं । उड्ढं उच्चाराई गुरुमूलपडिक्कमागम्म ॥ १५२ ॥ (भा०)

तत्र स्थानं त्रिविधं ज्ञातव्यं–ऊर्ध्वस्थानं निषीदनस्थानं त्वग्वर्त्तनास्थानं च, तत्राद्यमूर्ध्वस्थानं व्याख्यानयन्नाह–'उड्ढं

प्रत्युपेक्षणीयं नि.२६१-२६२ भा. १५१-१५२

॥१०६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उच्चाराई' ऊर्द्ध्वस्थानकं कायोत्सर्गः, स चोच्चारादीन् कृत्वा, आदिग्रहणात्प्रश्रवणं कृत्वा, ततश्च गुरुमूले आगत्य प्रतिक्रामतः, काम् ?–ईर्यापथिकां प्रतिक्रामतो भवति ऊर्द्ध्वस्थानम् ॥

पक्खे उस्सासाई पुरतो अविणीय मग्गओ वाऊ । निक्खमपवेसवज्जण भावासण्णे गिलाणाई ॥१५३॥ (भा०)

कायोत्सर्गं च कुर्वता आचार्यपक्षके–पक्षप्रदेशे न स्थातव्यं, यतो गुरुरुच्छ्वासेनाभिहन्यते, नापि पुरतः स्थातव्यं, यतः पुरतोऽविनीतत्वमुपजायते गुरुमाच्छाद्य तिष्ठतो, नापि मार्गतो–गुरोः पृष्ठतो यतो गुरोर्वायुनिरोधेन ग्लानता भवति, वायुरपानेन निर्गच्छति, कथं पुनः स्थातव्यं ?, तत्र निष्क्रमप्रवेशस्थानं वर्जयित्वा कायोत्सर्गं करोति, 'भावासन्ने'त्ति य उच्चारादिना पीडितः स च निर्गमे रुद्धे सञ्ज्ञानिरोधं करोति, ततश्च ग्लानता भवति, अथ निर्गच्छति ततः कायोत्सर्गभङ्गः ॥

भारे वेयणखमगुण्हमुच्छपरियावच्छिंदणे कलहो । अद्धाबाहे ठाणे सागारपमज्जणा जयणा ॥ १५४ ॥ (भा०)

तथा च मार्गे कायोत्सर्गकरणे एते दोषाः, भिक्षामटित्वा कश्चिदायातः साधुः, स भारे सति यदि प्रतिपालयति ततो वेदना भवति, तथा क्षपकः कश्चिद्भक्तं गृहीत्वाऽऽयातस्तथाऽन्य उष्णसंतप्त आयातः, अनयोर्द्वयोरपि प्रतिपालयतोः सतोर्यथासङ्ख्यं मूर्च्छापरितापौ भवतः, क्षपकस्य मूर्च्छा उष्णतप्तस्य परितापः, अथैते कायोत्सर्गं छित्त्वा प्रविशन्ति ततः परस्परं कलहो भवति, तस्मादव्याबाधे स्थाने कायोत्सर्गः कर्त्तव्यः एतद्दोषभयात् । 'सागारपमज्जणा जयण'त्ति, यदा तु पुनः सागारिको भवति कायोत्सर्गं कुर्वतस्तदाऽप्रमार्जनमेव करोति, यतनया वा प्रमार्जयति, कथं ?, रजोहरणबाह्यनिषद्यया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः ॥१०७॥

प्रमृज्य कायोत्सर्गस्थानं ततस्तां निषद्यां सागारिकपुरत एकान्ते मुञ्चति, गते च तत्र गृह्णाति । उक्तमूर्ध्वस्थानं, इदानीं निषीदनास्थानं प्रतिपादयन्नाह—

संडास पमज्जित्ता पुणोवि भूमिं पमज्जिआ निसिए। राओ य पुव्वभणिअं तुयट्टणं कप्पई न दिवा ॥१५५॥ (भा०)

सण्डासं–जङ्घोर्वोरन्तरालं प्रमृज्य उत्कुटुकः स्थित्वा पुनर्भुवं प्रमृज्य निषीदेत् । उक्तं निषीदनास्थानं, इदानीं त्वग्वर्त्तनास्थानमुच्यते, रात्रौ पूर्वोक्तमेव त्वग्वर्त्तनं, दिवा तु पुनस्त्वग्वर्त्तनं न कल्पते, नोक्तं भगवद्भिः, किं सर्वथैव न कल्पते ? इति, न इत्याह—

अद्धाणपरिस्संतो गिलाणवुड्ढा अणुण्णवेत्ताणं । संथारुत्तरपट्टो अत्थरण निवज्जणाऽऽलोगं ॥ १५६ ॥ (भा०)

अद्धानपरिश्रान्तस्तथा ग्लानो वृद्धश्च, एते त्रयोऽप्यनुज्ञाप्याचार्यास्ततश्च संस्तारकोत्तरपट्टौ आस्तीर्य 'निवज्जण'त्ति स्वपन्ति 'आलोक'न्ति सावकाशं मुक्त्वाऽभ्यन्तरे स्वपन्ति,मा भूत् सागारिकस्य शङ्का स्यात् , यदुत–नूनं रात्रौ सुरतप्रसङ्गे स्थितोऽयमासीत् , कुतोऽन्यथाऽस्य निद्रेति ?। त्वग्वर्त्तनास्थानमुक्तं, तत्प्रतिपादनाच्च स्थानद्वारमुक्तम्। इदानीमुपकरणप्रतिपादनायाह–

उवगरणाईयाणं गहणे निक्खेवणे य संकमणे । ठाण निरिक्खपमज्जण काउं पडिलेहए उवहिं ॥१५७॥ (भा०)

उपकरणादीनां 'ग्रहणे' आदाने यत्स्थानं तन्निरीक्ष्य–निरूप्य प्रमृज्य च उपधिः प्रत्युपेक्षणीय इत्यत्र संबन्धः, तथा उपकरणादीनां च निक्षेपणे च यत्स्थानं तन्निरीक्ष्य प्रमृज्य चोपधिः प्रत्युपेक्षणीयः, तथा उपकरणादीनामेव यत्संक्रमणं–स्थानात्स्थानान्तरसंक्रमणं तस्मिन् यत्स्थानं तन्निरीक्ष्य प्रमार्जनं कृत्वा उपधिं प्रत्युपेक्षेत, योऽयमादिशब्दः अयमुपधिप्रकार-

स्थानप्रतिलेखना भा. १५३-१५७

॥१०७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिपादनार्थः । उपकरणादेर्ग्रहणनिक्षेपणसंक्रमणेषु यत्स्थानं तस्य निरीक्षणप्रमार्जनमुक्तं, इदानीमुपकरणप्रत्युपेक्षणा-प्रतिपादनायाह—

उवगरण वत्थपाए वत्थे पडिलेहणं तु वोच्छामि। पुव्वण्हे अवरण्हे मुहणंतगमाइ पडिलेहा ॥ १५८ ॥ (भा०)

उपकरणप्रत्युपेक्षणा द्विविधा–'वत्थे पाए'त्ति वस्त्रविषया पात्रविषया चेति, तत्र तावद्वस्त्रविषया प्रत्युपेक्षणा उच्यते, यतः प्रव्रजतः प्रथमं वस्त्रोपकरणमेव दीयते न पात्रोपकरणं, सा च वस्त्रप्रत्युपेक्षणा कस्मिन् काले भवतीत्यत आह— 'पुव्वण्हे अवरण्हे' पूर्वाह्णे वस्त्रप्रत्युपेक्षणा भवत्यपराह्णे च, किमादिका पुनः प्रत्युपेक्षणा भवतीत्यत आह–'मुहपोत्तीयमादि पडिलेह'त्ति मुखवस्त्रिका आदौ यस्याः प्रत्युपेक्षणायाः सा मुखवस्त्रिकादिका प्रत्युपेक्षणा, कदा ?, पूर्वाह्णेऽपराह्णे चेति, तत्र मुखवस्त्रिकाऽऽदिवस्त्रप्रत्युपेक्षणायामयं विधिः—

उड्ढं थिरं अतुरिअं सव्वं ता वत्थ पुव्व पडिलेहे। तो बिइअं पप्फोडे तइयं च पुणो पमज्जेज्जा ॥ २६४ ॥

तत्र वस्त्रोर्ध्वं कायोर्ध्वं च आचार्यमतेन भविष्यति, चोदकमतेन वक्ष्यमाणं, तत्र वस्त्रोर्ध्वं कायोर्ध्वं च यथा भवति तथा प्रत्युपेक्षेत, 'थिरं'ति यथास्थितं सुगृहीतं कृत्वा प्रत्युपेक्षेत, 'अतुरियं'ति अत्वरितं स्तिमितं प्रत्युपेक्षेत–निरीक्षेत, 'सव्वं'ति सर्वं–कृत्स्नं वस्त्रं तावत्पूर्वं–प्रथमं प्रत्युपेक्षेत–चक्षुषा निरीक्षेत, एवं तावदर्वाग्भागः, परभागोऽपि परावृत्त्य एवमेव चक्षुषा निरीक्षेत, 'तो बिइयं पप्फोडे'त्ति ततो द्वितीयायां वारायां प्रस्फोटयेद्वस्त्रं षट् पुरिमाः कर्त्तव्या इत्यर्थः, 'तइयं च पुणो पमज्जेज्ज'त्ति तृतीयायां वारायां हस्तगतान् प्राणिनः प्रमार्जयति। इदानीमेनामेव गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-नियुक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१०८॥

वत्थे काउड्ढंमि अ परवयणठिओ गहाय दंसियंते। तं न भवति उक्कुडुओ तिरिअं पेहे जह विलित्तो॥१५९॥(भा०)

तत्रोर्ध्वं द्विधा–वस्त्रोर्ध्वं कायोर्ध्वं चेति, अस्मिन्नुक्ते 'परवयणं'ति परः–चोदकस्तस्य वचनं परवचनं, किं तद् ? इत्याह, 'ठिओ गहाय दंसिअंते'त्ति स्थितस्य–ऊर्ध्वस्य गृहीत्वा दशान्ते वस्त्रं प्रस्फोटयतः कायोर्ध्वं च वस्त्रोर्ध्वं च यथा भवति, एवमुक्ते सत्याचार्य आह–'तन्न भवति' तदेतन्न भवति यच्चोदकेनाभिहितं, कुतः ?, यस्मात् 'उक्कुडुओ तिरिअं पेहे' उत्कुटुकस्थितस्तिर्यक् प्रसार्य वस्त्रं प्रत्युपेक्षेत, एतदेव च नः कायोर्ध्वं वस्त्रोर्ध्वं च, नान्यत्, यथा चन्दनादिना विलिप्ताङ्गः परस्परमङ्गानि न लगयति एवं सोऽपि प्रत्युपेक्षते, ततश्चैवमुत्कुटुकस्य कायोर्ध्वं भवति, तिर्यक्प्रसारितवस्त्रस्य च वस्त्रोर्ध्वं भवति। 'उड्ढं'ति भणिअं, इदानीं स्थिरादीनि पदानि भाष्यकार एव व्याख्यानयन्नाह—

घेत्तुं थिरं अतुरिअं तिभागवुड्ढीय चक्खुणा पेहे। तो बिइयं पप्फोडे तइयं च पुणो पमज्जेज्जा ॥१६०॥ (भा०)

गृहीत्वा 'स्थिरं' निविडं–दृढं वस्त्रं ततः प्रत्युपेक्षेत 'अत्वरितं' स्तिमितं प्रत्युपेक्षेत, 'तिभागवुड्ढिए'त्ति भागत्रय-बुद्ध्या इत्यर्थः, चक्षुषा प्रत्युपेक्षेत, ततो द्वितीयवारायां प्रस्फोटयेत् तृतीयवारायां प्रमार्जयेदिति पूर्ववत् । इदानीं प्रत्युपे-क्षणां कुर्वता इदं कर्त्तव्यम्—

अणच्चावि अं अवलिअं अणाणुबंधिं अमोसलिं चेव। छप्पुरिमा नव खोडा पाणी पाणपमज्जणं ॥ २६५ ॥

तत्र प्रत्युपेक्षणां कुर्वता वस्त्रमात्मा वा न नर्त्तयितव्यः, तथा अवलितं च वस्त्रं शरीरं च कर्त्तव्यं, 'अणाणुबंधि'न्ति न अनुबन्धः अननुबन्धः सोऽस्मिन्नस्तीति अननुबन्धि प्रत्युपेक्षणं नानवरतमाखोटकादि कर्त्तव्यं सान्तरं–सविच्छेदमित्यर्थः,

उपकरण-प्रतिलेखना भा. १५८-१६० नि. २६४-२६५

॥१०८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२६५||

दीप अनुक्रम [४४७]

'अमोसलि'न्ति न मोसली क्रिया यस्मिन् प्रत्युपेक्षणे तदमोसलि प्रत्युपेक्षणं, यथा मुशलं झटिति ऊर्द्धं लगति अधस्तिर्यक् च, न एवं प्रत्युपेक्षणा कर्त्तव्या, किन्तु यथा प्रत्युपेक्षमाणस्य ऊर्द्धं पीढिषु न लगति न च तिर्यकुड्ये न च भूमौ तथा कर्त्तव्यं । 'छप्पुरिमा' तत्र वस्त्रं चक्षुषा निरूप्य–अर्वाग्भागं निरूप्य त्रयः पुरिमाः कर्त्तव्याः, तथा परावर्त्य-परभागं निरूप्य पुनरपरेऽपि त्रयः पुरिमाः कर्तव्याः, एवं एतेषु पुरिमाः, षड्वाराः प्रस्फोटनानीत्यर्थः, 'नव खोड'त्ति नव वाराः खोटकाः कर्त्तव्याः पाणेरुपरि 'पाणी पाणपमज्जणं'ति प्राणिनां–कुन्थ्वादीनां पाणौ–हस्ते प्रमार्जनं नवैव वाराः कर्त्तव्याः । इयं द्वारगाथा, इदानीं भाष्यकारः पूर्वार्द्धं व्याख्यानयन्नाह—

वत्थे अप्पाणंमि अ चउहा अणचाविअं अवलिअं च। अणुबंधि निरंतरया तिरिउड्ढह य घट्टणा मुसली॥१६१॥भा०

वस्त्रे आत्मनि चेत्यनेन पदद्वयेन भङ्गकचतुष्टयं सूचितं भवति, ततश्चानेन प्रकारेण अनर्त्तायितं चतुर्द्धा भवति, कथं ?, वत्थं अणच्चाविअं अप्पाणं च अणच्चाविअं एगो भंगो १, तथा वत्थं अणच्चाविअं अप्पाणं च णच्चाविअं २, तहा वत्थं णच्चाविअं अप्पाणं अणच्चाविअं ३, तथा वत्थंपि नच्चाविअं अप्पाणंपि नच्चाविअं ४, एस चउत्थो, एत्थ पढमो भंगो सुद्धो । एवं अवलिअंपि-अवलितेऽपि चत्वारो भङ्गाः, यथा वत्थं अवलिअं अप्पाणं च अवलिअं एगो १, तहा वत्थं अवलिअं अप्पाणं च वलिअं २, तहा अप्पाणं अवलिअं वत्थं वलिअं ३, अप्पाणंपि वलिअं वत्थंपि वलिअं ४, एत्थवि पढमो भंगो सुद्धो । 'अणुबंधि निरंतरय'त्ति अनुबन्धो निरन्तरतोच्यते, ततश्च न च अनुबन्धेन–नैरन्तर्येण प्रत्युपेक्षणा कर्त्तव्या । इदानीममोसलिं व्याख्यानयन्नाह–'तिरिउड्ढह य घट्टणा मुसलि'त्ति त्रिविधा मुसली–तिर्यग्घट्टना १ ऊर्द्धघट्टना २ अधो-

ओ० १९

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

घट्टना ३ चेति, तत्र प्रत्युपेक्षणां कुर्वन् वस्त्रेण तिर्यक् कुड्यादि घट्टयति ऊर्ध्वं कुट्टिकादिपटलानि घट्टयति अधो भुवं घट्टयति, एवं न मुशली–न किञ्चित्प्रत्युपेक्षणां कुर्वन् वस्त्रेण घट्टयति । इदं तावत्पूर्वोक्तमनर्त्तायितादि कर्त्तव्यं, इदं तु वक्ष्यमाणं न कर्त्तव्यं, किं तद् ?, इत्याह—

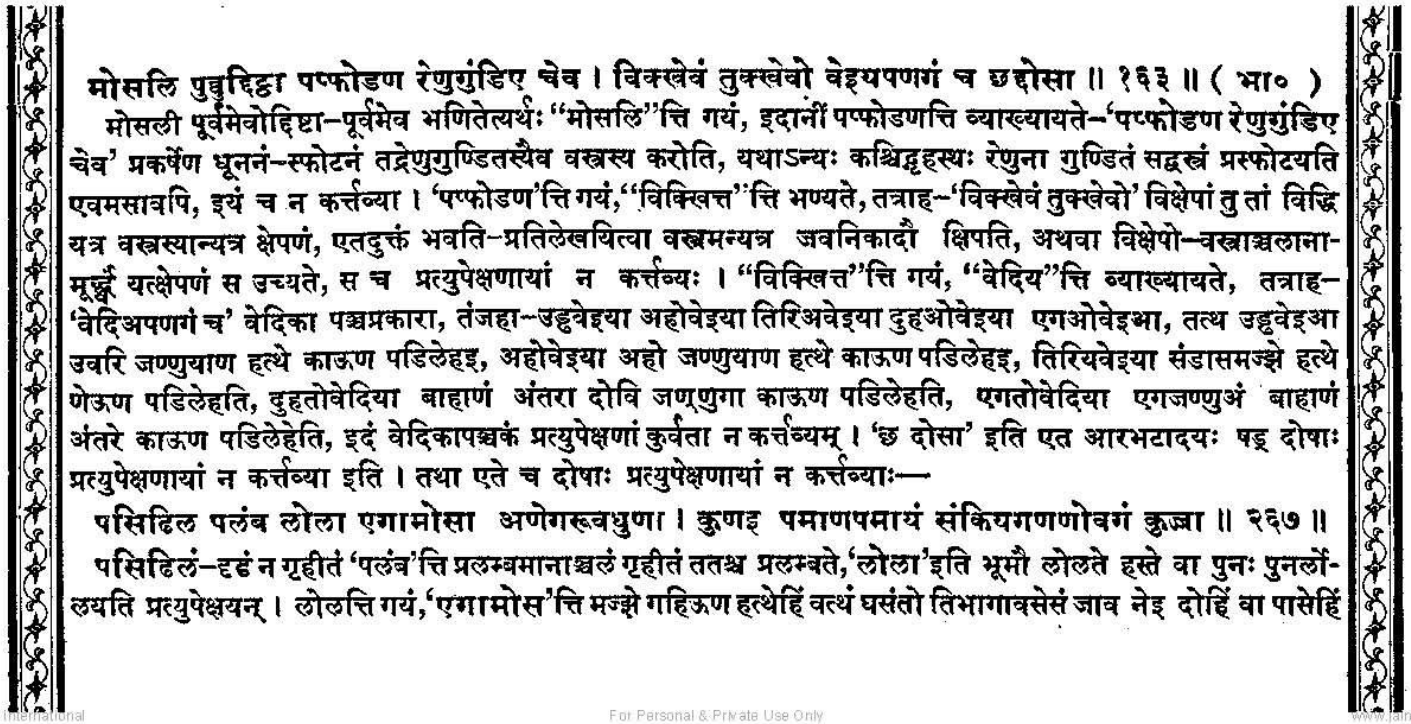
आरभडा सम्मद्दा वज्जेयव्वा य मोसली तइया । पप्फोडणा चउत्थी विक्खित्ता वेइया छट्ठा ॥ २६६ ॥

'आरभड'त्ति आरभटा प्रत्युपेक्षणा न कार्या, 'सम्मद्द'त्ति संमर्दा न कार्या, वर्जनीया च मोसली तृतीया, प्रस्फोटना चतुर्थी, विक्षिप्ता पञ्चमी वर्जनीया, वेदिका षष्ठी वर्जनीयेति द्वारगाथेयं । इदानीं प्रतिपदं भाष्यकारो व्याख्यानयति, तत्राद्यावयवव्याचिख्यासयाऽऽह—

वितहकरणे च तुरिअं अण्णं अण्णं व गेण्हणाऽऽरभडा। अंतो व होज्ज कोणा निसियण तत्थेव संमद्दा॥१६२॥(भा०)

वितथं–विपरीतं यत्करणं तदारभडाशब्देनोच्यते, सा चारभटा प्रत्युपेक्षणा न कार्या, विपरीता प्रत्युपेक्षणा न कार्येत्यर्थः, वा–विकल्पे, इयं वाऽऽरभटोच्यते यदुत त्वरितः–आकुलं यदन्यान्यवस्त्रग्रहणं तदारभटाशब्देनोच्यते, सा च प्रत्युपेक्षणा न कार्या, त्वरितमन्यान्यवस्त्रग्रहणं न कर्त्तव्यमित्यर्थः । "आरभडे"ति भणिअं, इदानीं संमर्दा व्याख्यायते, तत्राह–'अंतो व होज्ज कोणा निसियण तत्थेव संमद्दा' अन्तः–मध्यप्रदेशे वस्त्रस्य संवलिताः कोणा यत्र भवन्ति सा संमर्दोच्यते, सा प्रत्युपेक्षणा तादृशी न कार्या, 'णिसीयण तत्थेव'त्ति तत्रैव–उपधिकायां उपविश्य यत्प्रत्युपेक्षणाकरणं सा वा संमर्दोच्यते, सा च न कर्त्तव्येति । "संमद्दे"ति भणिअं, इदानीं मोसलीवर्जनप्रतिपादनायाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



मोसलि पुवुद्दिट्ठा पप्फोडण रेणुगुंडिए चेव । विक्खेवं तुक्खेवो वेइयपणगं च छद्दोसा ॥ १६३ ॥ (भा०)

मोसली पूर्वमेवोद्दिष्टा–पूर्वमेव भणितेत्यर्थः "मोसलि"त्ति गयं, इदानीं पप्फोडणत्ति व्याख्यायते–'पप्फोडण रेणुगुंडिए चेव' प्रकर्षेण धूननं–स्फोटनं तद्रेणुगुण्डितस्यैव वस्त्रस्य करोति, यथाऽन्यः कश्चिद्गृहस्थः रेणुना गुण्डितं सद्वस्त्रं प्रस्फोटयति एवमसावपि, इयं च न कर्त्तव्या । 'पप्फोडण'त्ति गयं,"विक्खित्त"त्ति भण्यते, तत्राह–'विक्खेवं तुक्खेवो' विक्षेपां तु तां विद्धि यत्र वस्त्रस्यान्यत्र क्षेपणं, एतदुक्तं भवति–प्रतिलेखयित्वा वस्त्रमन्यत्र जवनिकादौ क्षिपति, अथवा विक्षेपो–वस्त्राञ्चलानामूर्ध्वं यत्क्षेपणं स उच्यते, स च प्रत्युपेक्षणायां न कर्त्तव्यः । "विक्खित्त"त्ति गयं, "वेदिय"त्ति व्याख्यायते, तत्राह–'वेदिअपणगं च' वेदिका पञ्चप्रकारा, तंजहा–उद्धवेइया अहोवेइया तिरिअवेइया दुहओवेइया एगओवेइआ, तत्थ उद्धवेइआ उवरि जण्णुयाण हत्थे काऊण पडिलेहइ, अहोवेइया अहो जण्णुयाण हत्थे काऊण पडिलेहइ, तिरियवेइया संडासमज्झे हत्थे णेऊण पडिलेहति, दुहतोवेदिया बाहाणं अंतरा दोवि जण्णुगा काऊण पडिलेहति, एगतोवेदिया एगजण्णुअं बाहाणं अंतरे काऊण पडिलेहेति, इदं वेदिकापञ्चकं प्रत्युपेक्षणां कुर्वता न कर्त्तव्यम् । 'छ दोसा' इति एत आरभटादयः षड् दोषाः प्रत्युपेक्षणायां न कर्त्तव्या इति । तथा एते च दोषाः प्रत्युपेक्षणायां न कर्त्तव्याः—

पसिढिल पलंब लोला एगामोसा अणेगरूवधुणा । कुणइ पमाणपमायं संकियगणणोवगं कुज्जा ॥ २६७ ॥

पसिढिलं–दृढं न गृहीतं 'पलंब'त्ति प्रलम्बमानाञ्चलं गृहीतं ततश्च प्रलम्बते,'लोला'इति भूमौ लोलते हस्ते वा पुनः पुनर्लोलयति प्रत्युपेक्षयन् । लोलत्ति गयं,'एगामोस'त्ति मज्झे गहिऊण हत्थेहिं वत्थं घसंतो तिभागावसेसं जाव नेइ दोहिं वा पासेहिं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥११०॥

जाव गेण्हणा इत्यर्थः, अहवा तिहिं अंगुलीहिं घेत्तव्वं तं एक्काए चेव गेण्हइ, अहवा 'णेगामोसा' इति केचित्पठन्ति, तत्र न एके आमर्शाः अनेकामर्शाः, अनेकस्पर्शा इत्यर्थः। 'अणेगरूवधुणण'त्ति अणेगपगारं कंपेइ, अथवा अणेगाणि वत्थाणि एगओ काऊण धुणइ। तथा 'कुणइ पमाणपमायं'ति पुरिमेषु खोटकेषु वा यत्प्रमाणमुक्तं तत्र प्रमादं करोति, एतदुक्तं भवति–तान् पुरिमादीन् ऊनानधिकान् वा करोति,'संकिअगणणोवगं कुज्ज'त्ति शङ्किता चासौ गणना च शङ्कितगणना तां शङ्कितगणनामुपगच्छति या प्रत्युपेक्षणा सा शङ्कितगणनोपगा तामेवंगुणविशिष्टां न कुर्यात् , एतदुक्तं भवति–पुरिमादयः शङ्किता–न जानाति कियन्तो गता इति ततो गणनां करोति, अथवाऽनाभोगात् शङ्किते सति गणनोपगां–गणनामुपगच्छतीति गणनोपगा तां गणनोपगां-गणनायुक्तां प्रत्युपेक्षणां करोति पुरिमादीन् गणयन्नित्यर्थः । द्वारगाथेयम् , इदानीं भाष्यकारः प्रतिपदं व्याख्यानयन्नाह—

पसिढिलमघणं अतिराइयं च विसमगहणं व कोणं वा। भूमीकरलोलणया कहुणगहणेक्कआमोसा ॥ १६४ ॥ (भा०)

प्रशिथिलं–अघनं अदृढं गृह्णाति 'अतिराधितं वा' अताडितं वा प्रशिथिलमुच्यते। 'पसिढिले'त्ति गयं, पलंबत्ति भण्यते–'विसमगहणं व कोणंव'त्ति विषमग्रहणे सति लम्बकोणं भवति वस्त्रं। 'पलंब'त्ति गयं, लोला भण्यते, तत्राह–'भूमीकरलोलणया' भूमौ लोलयति करे–हस्ते वा लोलयति प्रत्युपेक्षमाणः। 'लोले'त्ति गयं, एगामोसत्ति भण्यते, तत्राह–'कहुणगहणेगआमोसा' मध्ये वस्त्रं गृहीत्वा तावदाकर्षणं करोति यावत्रिभागशेषजातग्रहणं जातं, इयं 'एगामोसा' एकाघर्षणमित्यर्थः, अथवाऽऽकर्षणे ग्रहणे चानेके आमोसा अनेकानि स्पर्शनानि, एतदुक्तं भवति–तद्वस्त्रमनेकधा स्पृशति ॥ एगामोसत्ति गयं 'अणेगरूवधुणण'त्ति भण्यते—

प्रतिलेखना विधिः भा. १६३-१६४ नि. २६७

॥११०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धुणणा तिण्ह परेणं बहूणि वा घेत्तु एक्कई धुणइ। खोडणपमज्जणासु य संकियगणणं करि पमाई ॥१६५॥ (भा०)

'धुनना' कम्पना 'त्रयाणां' पुरिमाणां परत इति यदुक्तं तदेकवस्त्रापेक्षया, बहूनि वा गृहीत्वा वस्त्राणि 'एकीकृत्य' यौगपद्येन 'धुनाति' प्रस्फोटयति। 'अणेगधुणण'त्ति भणिअं, "कुणइ पमाणे पमायं"ति भण्णइ, तत्राह–'खोडणपमज्जणासु य' खोटकेषु नवसु प्रमार्जनासु च नवसु प्रमादं करोति। "कुणइ पमाणे पमायं"ति गयं, "संकिए गणणोवगै"त्ति भण्णइ, तत्राह–'संकियगहणं करि पमाई' शङ्किते सति गणनां करोति यः प्रमादी भवति, एवमियमित्थंभूता प्रत्युपेक्षणा न कर्त्तव्येति स्थितं। किंविशिष्टा पुनः कर्त्तव्या इति?, अत आह—

अणूणाहरित्तपडिलेहा, अविवच्चासा तहेव य। पढमं पयं पसत्थं, सेसाणि अ अप्पसत्थाणि ॥ २६८ ॥

अन्यूनातिरिक्ता अविपर्यासेन प्रत्युपेक्षणा कर्त्तव्या, एभिश्च त्रिभिः पदैरष्टौ भङ्गाः सूचिताः तेषां चैषा स्थापना—

SSS	एतेषां प्रथमं पदं प्रशस्तं शेषाणि तु 'अप्रशस्तानि' अनादेयानि। इदानीं भाष्यकारः शुद्धाशुद्धप्रदर्शनायाह—
।SS	नवि ऊणा नवि रित्ता अविवच्चासा उ पढमओ सुद्धो। सेसा होइ असुद्धा उवरिल्ला सत्त जे भंगा १६६(भा०)
S।S	नापि न्यूना नाप्यतिरिक्ता अविपर्यासेण च, अयं प्रथमो भङ्गः शुद्धः, शेषं सुगमं। इदानीं ये तेऽशुद्धाः सप्त
।।S	भङ्गका प्रदर्शितास्त एवं भवन्ति—
SS।	खोडपमज्जणवेलाउ चेव ऊणाहिआ सुणेयव्वा। अरुणावासग १ पुव्वं २ परोप्परं ३ पाणिपडिलेहा ४ ॥२६९॥
।S।	खोटका यदि ऊना अधिका वा क्रियन्ते ततोऽशुद्धता भवति, प्रमार्जना च नवसङ्ख्याया न्यूना अधिका वा
S।।	
।।।	

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रियते ततोऽशुद्धता भवति, वेलायां च न्यूनाद्यामधिकायां वा प्रत्युपेक्षणायां क्रियमाणायामशुद्धा भङ्गका भवन्ति । एवं ते न्यूनाधिका भवन्ति विज्ञेयाः । आह–वेलायां न्यूनाधिकायां प्रत्युपेक्षणायां क्रियमाणायां दोष उक्तस्तत्कस्यां पुनर्वेलायां प्रत्युपेक्षणा कर्त्तव्या ?, तत्र केचनाहुः–'अरुणावासग पुव्वं' अरुणादावश्यकं पूर्वमेव कृत्वा ततः अरुणोद्गमनसमये–प्रभास्फाटनवेलायां प्रत्युपेक्षणा क्रियते१,अपरे त्वाहुः -अरुणोद्गमे सति–प्रभायां स्फाटितायां सत्यामावश्यकं 'पूर्वं' प्रथमं कृत्वा ततः प्रत्युपेक्षणा क्रियते.२, अन्ये त्वाहुः–'परोप्परं'ति परस्परं यदा मुखानि विभाव्यन्ते तदा प्रत्युपेक्षणा क्रियते ३, अन्ये त्वाहुः–'पाणिपडिलेहा' यस्यां वेलायां पाणिरेखा दृश्यन्ते तस्यां वेलायां प्रत्युपेक्षणा क्रियते ४। सिद्धान्तवाद्याह—

एते उ अणाएसा अंधारे उग्गएविहु न दीसे । मुहरयनिसिज्जचोले कप्पतिगदुपट्टथुई सूरो ॥ २७० ॥

ते सर्व एव 'अनादेशाः' असत्पक्षाः, यतः 'अंधारे उग्गएविहु न दीसे' अन्धकारे प्रतिश्रये उद्गतेऽपि सूर्ये रेखा न दृश्यन्ते तस्मादसत्पक्षोऽयं, शेषं पक्षत्रयं सान्धकारत्वादेव दूषितं द्रष्टव्यं, तत्कस्यां पुनर्वेलायां प्रत्युपेक्षणा कार्या ? इत्यत आह–'मुहरयनिसज्जचोले कप्पतिगदुपट्टथुति सूरो' 'मुख' इति मुखवस्त्रिका 'रय' इति रजोहरणं 'निसेज्जा' रयहरणस्योपरितनाः 'चोले'त्ति चोलपट्टकः 'कप्पतिग'त्ति एक और्णिको द्वौ सौत्रिकौ, 'दुपट्ट'त्ति संस्तारकपट्ट उत्तरपट्टकश्च 'थुइ'त्ति प्रतिक्रमणप्रतिसमाप्तौ ज्ञानदर्शनचारित्रार्थं स्तुतित्रये दत्ते सति एतेषां मुखवस्त्रिकादीनां प्रत्युपेक्षणासमाप्त्यनन्तरं यथा सूर्य उद्गच्छति एष प्रत्युपेक्षणाकालविभाग इति। यदुक्तं प्रागुपधेर्विपर्यासः प्रत्युपेक्षणायां न कर्त्तव्य इत्युत्सर्गतोऽभिहितं, तस्यापवादमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुरिसुवहिविवच्चासो सागरिए करेज्ज उवहिवच्चासं । आपुच्छित्ताण गुरुं पहुवमाणेयरे वितहं ॥ २७१ ॥

तत्र विपर्यासो द्विविधः–पुरुषविपर्यास उपधिविपर्यासश्च, तत्रोपधिविपर्यासप्रतिपादनायाह–'सागरिए करेज्ज उवहिवच्चासं' 'सागारिके' स्तेनादिके सत्यागत इति विपर्यासः क्रियते प्रत्युपेक्षणायाः, प्रथमं पात्रकाणि प्रत्युपेक्ष्यन्ते पश्चाद्वस्त्राणि । एवमयं प्रत्युषसि विपर्यासः प्रत्युपेक्षणायाः, एवं विकालेऽपि सागारिकानागन्तुकान् ज्ञात्वा । इदानीं पुरुषविपर्यास उच्यते, तत्राह–'आपुच्छित्ताण गुरुं पहुवमाणे' आपृच्छ्य गुरुमात्मीयोपधिं ग्लानसत्कां वा प्रत्युपेक्षते, कदा ? अत आह–'पहुवमाणे' यदा आभिग्रहिका उपधिप्रत्युपेक्षकाः 'पहुवंति' पर्याप्यन्ते तदैवं करोति 'इतरे वितहं'ति इतरेऽभिग्रहिका यदा न सन्ति तदा प्रथममात्मीयामुपधिं प्रत्युपेक्षमाणस्य 'वितथं' अनाचारो भवतीत्यर्थः, तत्र न केवलं प्रत्युपेक्षणाकाले उपधिविपर्यासं कुर्वतो वितथं–अनाचारो भवति । एवं च वितथं भवति—

पडिलेहणं करेंतो मिहो कहं कुणइ जणवयकहं वा । देइ व पच्चक्खाणं वाएइ सयं पडिच्छइ वा ॥ २७२ ॥

प्रत्युपेक्षणां कुर्वन्मिथः कथां मैथुनसंबद्धां करोति जनपदकथां वा, प्रत्याख्यानं वा श्रावकादेर्ददाति, 'वाचयति' कञ्चित्साधुं पाठयतीत्यर्थः, 'सयं पडिच्छति वा' स्वयं वा प्रतीच्छति–आत्मना वाऽऽलापं दीयमानं प्रतीच्छति–गृह्णाति । एतच्च कुर्वन् षण्णामपि कायानां विराधको भवति, अत आह—

पुढवी आऊक्काए तेऊवाऊवणस्सइतसाणं । पडिलेहणापमत्तो छण्हंपि विराहओ होइ ॥ २७३ ॥

सुगमा ॥ कथं पुनः कायानां षण्णामपि विराधकः ?, अत आह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२७३||

दीप अनुक्रम [४६२]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥११२॥

घडगाइपलोट्टणया मट्टिअ अगणी य बीय कुंथाई । उदगगया व तसेयर ओसुय संघट्ट झावणया ॥ २७४ ॥

स हि साधुः कुम्भकारशालादौ वसतौ प्रत्युपेक्षणां कुर्वन्नुपयुक्तस्तोयघटादि प्रलोठयेत्, स च तोयभृतो घटो मृत्तिकाग्निबीजकुन्थ्वादीनामुपरि प्रलुठितस्तत्रैतान् व्यापादयेत्, यत्राग्निस्तत्र वायुरप्यवश्यंभावी, अथवाऽनया भङ्ग्या षण्णां कायानां व्यापादकः 'उदगगता व तसेतर'त्ति योऽसौ उदकघटः प्रलोठितस्तद्गता एव त्रसा भवन्ति पूतरकादयः 'इतर'त्ति वनस्पतिकायश्च, तथा वस्त्रान्तेन चोल्मुकं 'सङ्घट्टयेत्' चालयेत् ततश्च 'झावणय'त्ति तेनोल्मुकेन चालितेन सता प्रदीपनकं संजातं ततश्च संयमात्मनोर्विराधना जातेति । अथोपयुक्तः प्रत्युपेक्षणां करोति तत एतेषां जीवनिकायानामाराधको भवति, एतदेवाह—

पुढवी आउक्काए तेऊवाऊवणस्सइतसाणं । पडिलेहणमाउत्तो छण्हंऽपाराहओ होइ ॥ २७५ ॥

सुगमा ॥ नवरम् 'आराधकः' अविराधको भवति । न केवलं प्रत्युपेक्षणा, अन्योऽपि यः कश्चिद् व्यापारो भगवन्मते सम्यक् प्रयुज्यते स एव दुःखक्षयायालं भवति, एतदेवाह— ●

जोगो जोगो जिणसासणंमि दुक्खक्खया पउंजंते । अण्णोण्णमबाहाए असवत्तो होइ कायव्वो ॥ २७६ ॥

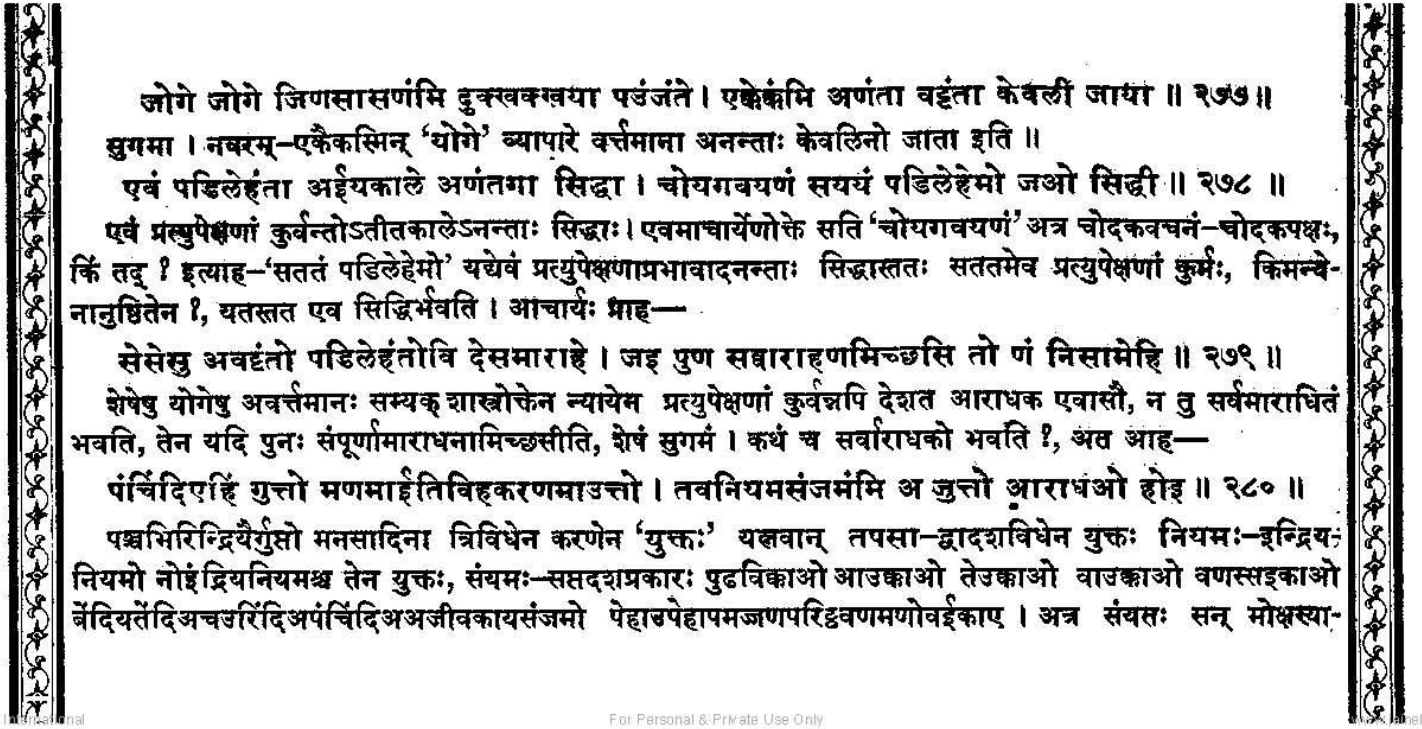
योगो योग इति वीप्सा, ततश्च व्यापारो जिनशासने प्रयुज्यमानो दुःखक्षयाय 'प्रयुज्यमानः' क्रियमाणः, कथम् ? 'अन्योऽन्याबाधया' परस्परापीडया, एतदुक्तं भवति–यथा क्रिया क्रियमाणाऽन्येन क्रियान्तरेण न बाध्यते एवमन्योऽन्याबाधया प्रयुज्यमानः 'असवत्तो' असपत्नः अविरुद्धो भवति कर्त्तव्यः । इदानीं फलं प्रदर्शयन्नाह—

प्रतिलेखना विधिः नि. २७१-२७६

॥११२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

● अत्र एका प्रक्षेप-गाथा वर्तते. मया संपादित "आगम सुत्ताणि" मूलं अथवा सटीकं पुस्तके सा मुद्रिता अस्ति



जोगे जोगे जिणसासणंमि दुक्खक्खया पउंजंते। एक्केक्कंमि अणंता वट्टंता केवली जाया ॥ २७७ ॥

सुगमा। नवरम्–एकैकस्मिन् 'योगे' व्यापारे वर्त्तमाना अनन्ताः केवलिनो जाता इति ॥

एवं पडिलेहंता अईयकाले अणंतगा सिद्धा। चोयगवयणं सययं पडिलेहेमो जओ सिद्धी ॥ २७८ ॥

एवं प्रत्युपेक्षणां कुर्वन्तोऽतीतकालेऽनन्ताः सिद्धाः। एवमाचार्येणोक्ते सति 'चोयगवयणं' अत्र चोदकवचनं–चोदकपक्षः, किं तद् ? इत्याह–'सततं पडिलेहेमो' यद्येवं प्रत्युपेक्षणाप्रभावादनन्ताः सिद्धास्ततः सततमेव प्रत्युपेक्षणां कुर्मः, किमन्येनानुष्ठितेन ?, यतस्तत एव सिद्धिर्भवति। आचार्यः प्राह—

सेसेसु अवट्टंतो पडिलेहंतोवि देसमाराहे। जइ पुण सव्वाराहणमिच्छसि तो णं निसामेहि ॥ २७९ ॥

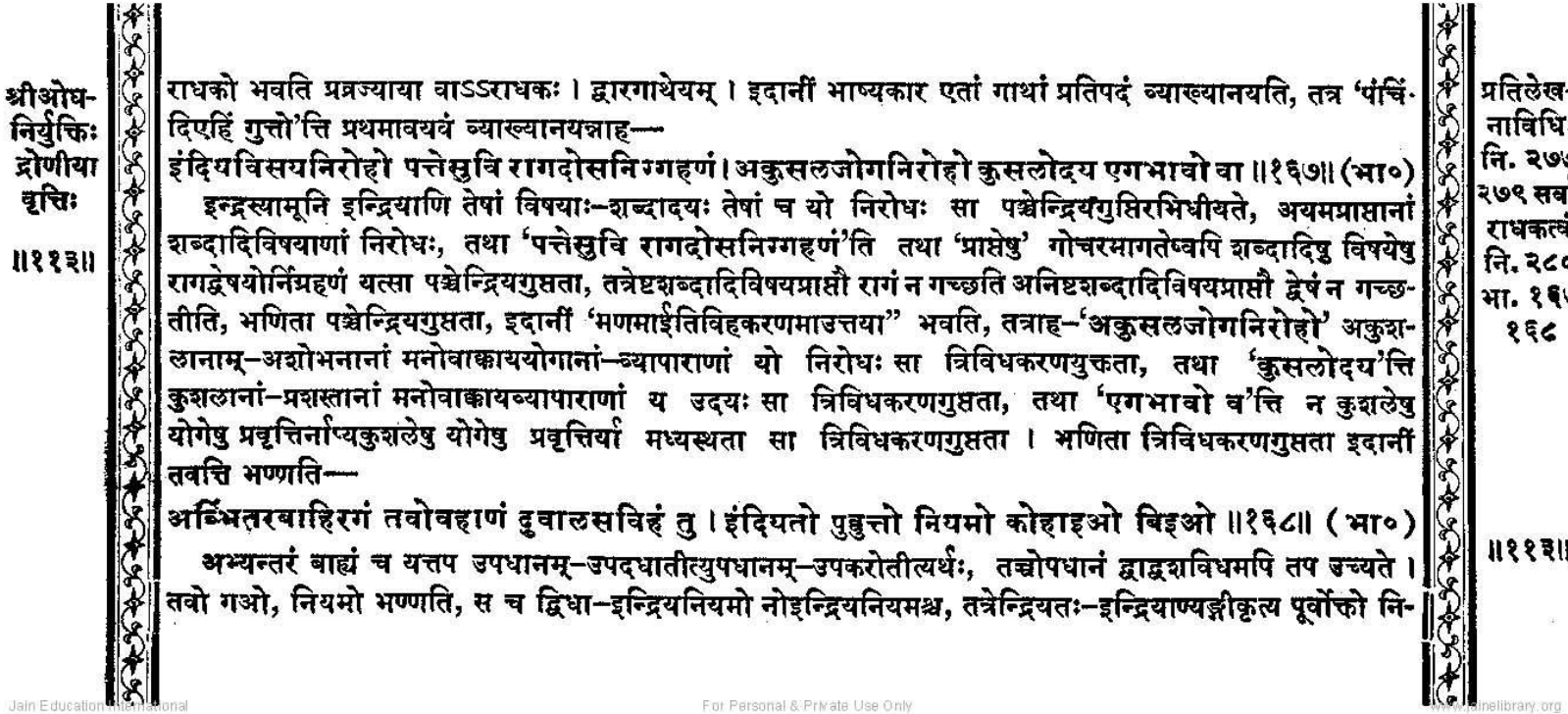
शेषेषु योगेषु अवर्त्तमानः सम्यक् शास्त्रोक्तेन न्यायेन प्रत्युपेक्षणां कुर्वन्नपि देशत आराधक एवासौ, न तु सर्वमाराधितं भवति, तेन यदि पुनः संपूर्णामाराधनामिच्छसीति, शेषं सुगमं। कथं च सर्वाराधको भवति ?, अत आह—

पंचिंदिएहिं गुत्तो मणमाईतिविहकरणमाउत्तो। तवनियमसंजमंमि अ जुत्तो आराधओ होइ ॥ २८० ॥

पञ्चभिरिन्द्रियैर्गुप्तो मनसादिना त्रिविधेन करणेन 'युक्तः' यत्नवान् तपसा–द्वादशविधेन युक्तः नियमः–इन्द्रियनियमो नोइंद्रियनियमश्च तेन युक्तः, संयमः–सप्तदशप्रकारः पुढविकाओ आउक्काओ तेउक्काओ वाउक्काओ वणस्सइकाओ बेंदियतेंदिअचउरिंदिअपंचिंदिअअजीवकायसंजमो पेहाउपेहापमज्जणपरिट्ठवणमणोवईकाए। अत्र संयतः सन् मोक्षस्था-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः



राधको भवति प्रव्रज्याया वाऽऽराधकः । द्वारगाथेयम् । इदानीं भाष्यकार एतां गाथां प्रतिपदं व्याख्यानयति, तत्र 'पंचिंदिएहिं गुत्तो'त्ति प्रथमावयवं व्याख्यानयन्नाह—

इंदियविसयनिरोहो पत्तेसुवि रागदोसनिग्गहणं। अकुसलजोगनिरोहो कुसलोदय एगभावो वा ॥१६७॥ (भा०)

इन्द्रस्यामूनि इन्द्रियाणि तेषां विषयाः–शब्दादयः तेषां च यो निरोधः सा पञ्चेन्द्रियगुप्तिरभिधीयते, अयमप्राप्तानां शब्दादिविषयाणां निरोधः, तथा 'पत्तेसुवि रागदोसनिग्गहणं'ति तथा 'प्राप्तेषु' गोचरमागतेष्वपि शब्दादिषु विषयेषु रागद्वेषयोर्निग्रहणं यत्सा पञ्चेन्द्रियगुप्तता, तत्रेष्टशब्दादिविषयप्राप्तौ रागं न गच्छति अनिष्टशब्दादिविषयप्राप्तौ द्वेषं न गच्छतीति, भणिता पञ्चेन्द्रियगुप्तता, इदानीं 'मणमाईतिविहकरणमाउत्तया" भवति, तत्राह–'अकुसलजोगनिरोहो' अकुशलानाम्–अशोभनानां मनोवाक्काययोगानां–व्यापाराणां यो निरोधः सा त्रिविधकरणयुक्तता, तथा 'कुसलोदय'त्ति कुशलानां–प्रशस्तानां मनोवाक्कायव्यापाराणां य उदयः सा त्रिविधकरणगुप्तता, तथा 'एगभावो व'त्ति न कुशलेषु योगेषु प्रवृत्तिर्नाप्यकुशलेषु योगेषु प्रवृत्तिर्या मध्यस्थता सा त्रिविधकरणगुप्तता । भणिता त्रिविधकरणगुप्तता इदानीं तवत्ति भण्णति—

अब्भितरबाहिरगं तवोवहाणं दुवालसविहं तु । इंदियतो पुब्बुत्तो नियमो कोहाइओ बिइओ ॥१६८॥ (भा०)

अभ्यन्तरं बाह्यं च यत्तप उपधानम्–उपदधातीत्युपधानम्–उपकरोतीत्यर्थः, तच्चोपधानं द्वाद्वशविधमपि तप उच्यते । तवो गओ, नियमो भण्णति, स च द्विधा–इन्द्रियनियमो नोइन्द्रियनियमश्च, तत्रेन्द्रियतः–इन्द्रियाण्यङ्गीकृत्य पूर्वोक्तो नि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यमः,'कोहाइओ विइओ'त्ति द्वितीयो नोइन्द्रियनियमः क्रोधादिकः, आदिग्रहणान्मानमायालोभा गृह्यन्ते, एतेषां नियमो-निरोधः । नियमोत्ति गयं, इदानीं संजमो भण्णइ, स च सप्तदशप्रकारस्तत्राह—

पुढविदगअगणिमारुअवणस्सईबितिचउक्कपंचिंदी । अज्जीव पोत्थगाइसु गहिएसु असंजमो जेणं ॥१६९॥(भा०)

पुढविदगअगणिमारुअवणस्सईवेइंदिअतेइंदिअचउरिंदिअपंचिंदिआ । तथा 'अजीव'त्ति 'अजीवेषु' पनकसंसक्त-पुस्तकादिषु गृहीतेषु असंयमो भवति येन तन्न ग्राह्यं, आदिशब्दात् दूसपणगं तणपणगं च, एतेषु अपरिगृहीतेषु संयमः परिगृहीतेषु त्वसंयमः । तहा—

पेहेत्ता संजमो वुत्तो, उपेहित्तावि संजमो । पमज्जेत्ता संजमो वुत्तो, परिट्ठावेत्तावि संजमो ॥१७०॥ (भा०)

प्रेक्षासंयमः—चक्षुषा यन्निरूपणं, ततश्चैवं पूर्वं चक्षुषा निरूपयतः प्रेक्षासंयम उक्तः । 'उवेहेत्तावि संजमो'त्ति उपेक्षा द्विप्रकारा तां कुर्वतः संयम उक्तस्तां च वक्ष्यति । 'पमज्जित्ता संजमो वुत्तो'त्ति प्रमार्जयतः संयम उक्तः । 'परिट्ठवेत्तावि संजमो'त्ति 'परिष्ठापयतः' परित्यजतोऽपि पानकादि अतिरिक्तं संयम उक्तः । एवमेते चतुर्दश, मनोवाक्कायसंयमश्च त्रिविध उक्त एव द्रष्टव्यः । इदानीं भाष्यकृद्व्याख्यानयति—प्रथमगाथार्थः एकाकिकारणिकगमनयतनायामुक्तः, अजीवपुस्तकादि-संयमोऽपि अचित्तवनस्पतिगमनयतनायां व्याख्यात एव द्रष्टव्यः, इदानीं यदुपन्यस्तं 'उपेहित्तावि संयमो'त्ति तन्न क्वचि-द्व्याख्यातमिति व्याख्यानयन्नाह—

ठाणाइ जत्थ चेए पुवं पडिलेहिऊण चेएज्जा । संजयगिहिचोयणऽचोयणे य वावारओवेहा ॥ १७१ ॥ (भा०)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥११४॥

स्थानं–ऊर्ध्वस्थानं कायोत्सर्गादि, आदिग्रहणान्निषीदनस्थानं त्वग्वर्त्तनास्थानं च गृह्यते, तत्स्थानादि यत्र चेतयते' 'चिती संज्ञाने' जानाति चेष्टते करोति अभिलषतीत्यर्थः, तत्र पूर्वं–प्रथमं प्रत्युपेक्ष्य–चक्षुषा निरीक्ष्य ततश्चेतयते स्थानं–कायोत्सर्गादि, आदिग्रहणान्निषीदनस्थानं त्वग्वर्त्तनास्थानं च, उक्तः प्रेक्षासंयमः, इदानीं उपेक्षासंयम उच्यते, सा चोपेक्षा द्विविधा, कथं ?–संयतव्यापारोपेक्षा, गृहस्थव्यापारोपेक्षा च, तत्र यथासङ्ख्यं संयतस्य चोदनविषया व्यापारोपेक्षा, गृहस्थस्य चाचोदनविषया व्यापारोपेक्षा, एतदुक्तं भवति—साधुं विषीदन्तं दृष्ट्वा संयमव्यापारेषु चोदयतः संयतव्यापारोपेक्षा, उपेक्षाशब्द श्चात्र 'ईक्ष दर्शने' उप-सामीप्येनेक्षा उपेक्षा, तथा गृहस्थस्य व्यापारोपेक्षा, गृहस्थमधिकरणव्यापारेषु प्रवृत्तं दृष्ट्वाऽचोदयतो गृहस्थव्यापारोपेक्षा उच्यते, उपेक्षाशब्दश्चात्रावधीरणायां वर्त्तत इति। इदानीं 'परिट्ठावेत्ताविं संजमो'त्ति व्याख्यायते, तत्राह–

उवगरणं अइरेगं पाणाई वाऽवहट्टु संजमणं। सागारिएऽपमज्जण संजम सेसे पमज्जणया ॥ १७२ ॥ (भा०)

'उपकरणं' वस्त्रादि यदतिरिक्तं गृहीतं तथा 'पाणाई वा' तथा पानकादि वा यदतिरिक्तं गृहीतं तद् 'अवहट्टु'त्ति परित्यज्य, किं ?–'संजमणा' संयमो भवतीति, आदिग्रहणाद्यत्किं वाऽतिरिक्तं परित्यज्य संयमः। अथेदानीं "पमज्जित्ताविं संजमो" व्याख्यायते–'सागारिएऽपमज्जण संजमो' सागारिकानामग्रतो यत्पादाप्रमार्जनमसावेव संयमः, 'सेसे पमज्जणय'त्ति 'शेषे' सागारिकाद्यभावे प्रमार्जनेनैव संयमः। इदानीं योगत्रयसंयमप्रतिपादनायाह—

जोगतिगं पुव्वमणिअं समत्तपडिलेहणाए सज्झाओ। चरिमाए पोरिसीए पडिलेह तआ उ पायदुगं ॥१७३॥ (भा०)

योगत्रयं पूर्वमेव व्याख्यातं, "मणमाईतिविहकरणमाउत्तो"इत्यस्मिन् ग्रन्थे, अत्रापि तथैव द्रष्टव्यं। उक्तः सप्तदश-

प्रेक्षादिसंय-मः भा. १६९-१७३

॥११४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२८१||

दीप अनुक्रम [४७८]

प्रकारः संयमः, तत्प्रतिपादनाच्चोक्ता चरमप्रत्युपेक्षणा, तत्समाप्तौ च किं कर्तव्यमित्यत आह—'समत्तपडिलेहणाए सज्झाओ' समाप्तायां प्रत्युपेक्षणायां स्वाध्यायः कर्त्तव्यः सूत्रपौरुषीत्यर्थः पादोनप्रहरं यावत्। इदानीं पात्रप्रत्युपेक्षणामाह—'चरिमाए' चरमायां पादोनपौरुष्यां प्रत्युपेक्षेत 'ताहे'त्ति 'तदा' तस्मिन् काले स्वाध्यायानन्तरं पात्रकद्वितयं प्रत्युपेक्षते। इदानीं यदुक्तं 'चरमपौरुष्यां पात्रकद्वितयं प्रत्युपेक्षणीयं' तत्र पौरुष्येव न ज्ञायते किंप्रमाणा ? अतस्तत्प्रतिपादनायाह—

पोरिसि पमाणकालो निच्छयववहारिओ जिणक्खाओ। निच्छयओ करणजुओ ववहारमतो परं वोच्छं ॥२८१॥

पौरुष्याः प्रमाणकालो द्विविधः निश्चयतो व्यवहारतश्च ज्ञातव्यः, तत्र 'निश्चयतो' निश्चयनयाभिप्रायेण करणयुक्तो-गणितन्यायात्, अतः परं 'व्यावहारिको' व्यवहारनयमतेन वक्ष्ये। तत्र निश्चयपौरुषीप्रमाणकालप्रतिपादनायाह—

अयणाईयदिणगणे अट्ठगुणेगट्ठिभाइए लद्धं। उत्तरदाहिणमाई पोरिसि पयसुज्झपक्खेवा ॥ २८२ ॥

दक्खिणायने उत्तरायणदिनानि उत्तरायणे दक्खिणायनदिनानि मीलयित्वा गण्यन्ते, स राशिरष्टभिर्गुण्यते, एकषष्ट्या

१ अयनं–उत्तरायणं दक्षिणायनं च तस्य अतीतदिवानि–अतीतदिवसाः तेषां गणः सर्वोत्कृष्टतः व्यशीतिशतं तच्चाष्टगुणं जातं चतुर्दशशतानि चतुःषष्ट्यधिकानि, तत्र चैकषष्ट्या भागे हृते लब्धानि चतुर्विंशत्यङ्कानि, तत्रापि द्वादशभिरङ्कैः पादमिति द्वे पादे जाते, एतयोश्चोत्तरायणादौ दक्षिणायनादौ च 'पथ'त्ति पदोः शुद्धिः प्रक्षेपश्च, तत्र उत्तरायणप्रथमदिने चत्वारि पदानि आसन् ततस्तन्मध्यात् पदद्वयोत्सारणे कर्कसंक्रान्तिदिने पदद्वयं संजातं, दक्षि-णायने द्वे पदे अभूतां सम्मध्ये च द्वयोः प्रक्षिप्तयोर्मकरसंक्रान्तौ जातानि चत्वारि पदानि, इदमुत्कृष्टदिनयोः पौरुषीमानं, मध्यमदिनेष्वपि स्वधिया भावनीयं। इदानीं व्यवहारतः पौरुषीप्रमाणकालप्रतिपादनायाह– (प्रत्यन्तरे सुगमो यथावबोधको ग्रन्थोऽयमिति)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ 'पौरुषी' संबंधी प्ररुपणा क्रियते

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२८३||

दीप अनुक्रम [४८१]

भागो ह्रियते, लब्धेऽङ्गुलानि, द्वादशाङ्गुलैः पादः, यावता भवति उत्तरत्ति मकरदिने ४ पादाः । (दाहिणत्ति–कर्कदिने २ पादौ, शेषेषु पदशुद्धिप्रक्षेपौ) व्यवहारतोऽधुना पौरुषीप्रमाणकालप्रतिपादनायाह—

आसाढे मासे दो पया, पोसे मासे चउप्पया । चित्तासोएसु मासेसु, तिपया हवइ पोरिसी ॥ २८३ ॥

आषाढे मासे पौर्णमास्यां द्विपदा पौरुषी भवति,पदं च द्वादशाङ्गुलं ग्राह्यं, पौषे मासे पौर्णमास्यां चतुष्पदा पौरुषी भवति, तथा चैत्राश्वयुजपौर्णमास्यां त्रिपदा पौरुषी भवति॥ अधुना कियती वृद्धिः कियत्सु दिनेषु? कियती वा हानिरित्येतत्प्रतिपादयन्नाह—

अंगुलं सत्तरत्तेणं, पक्खेणं तु दुअंगुलं । वड्ढए हायए वावि, मासेणं चउरंगुलं ॥ २८४ ॥

आषाढपौर्णमास्या आरभ्याङ्गुलं सप्तरात्रेण वर्द्धते, पक्षेण तु अङ्गुलद्वयं वर्धते, तथा मासेनाङ्गुलचतुष्टयं वर्द्धते, इयं च वृद्धिरुत्तरोत्तरं तावन्नेया यावत्पौषमासपौर्णमास्यां पदचतुष्टयेन पौरुषी जायते, हानिरपि पौर्णमास्याः परत एवमेव च द्रष्टव्या, यदुताङ्गुलं सप्तरात्रेणापह्रियते, पक्षेणाङ्गुलद्वयं,मासेनाङ्गुलचतुष्टयं, एवमियं हानिरुत्तरोत्तरं तावन्नेया यावदाषाढ-पौर्णमास्यां द्विपदा पौरुषी जायेत । स्थापना चेयम्–आसाढपुण्णिमाए पद २ पौरुषी, सावणपुण्णिमाए पद २ अंगुल ४, भद्दवयपुण्णिमाए पद २ अंगुल ८, आसोयपुण्णिमाए पद ३, कत्तियपुन्निमाए पद ३ अंगुल ४, मग्गसिरपुण्णिमाए पद ३ अंगुल ८, पोसपुण्णिमाए पद ४, एत्तिअं जाव वुड्ढी होइ । माहपुण्णिमाए पद ३ अंगुल ८ फग्गुणपुण्णिमाए पद ३ अंगुल ४, चेत्तपुण्णिमाए पद ३, वइसाहपुन्निमाए पद २ अंगुल ८, ज्येष्ठपुन्निमाए पद २ अंगुल ४, आसाढपुन्निमाए पद २, इत्तियं जाव हाणी । भावत्थो इमो–सावणस्स पढमदिवसाओ आरब्भ वुड्ढी जदा भवति तदा दिवसे दिवसे अंगुलस्स

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

● अत्र एका प्रक्षेप-गाथा वर्तते. मया संपादित "आगम सुत्ताणि" मूलं अथवा सटीकं पुस्तके सा मुद्रिता अस्ति

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२८४||

दीप अनुक्रम [४८२]

सत्तमो भागो किंचिप्पूणो वड्ढइ, इमं भणिअं होइ–सावणस्स पढमदिवसे दोहिं पएहिं पोरिसी होइ अंगुलस्स सत्तमेण भागेण किंचिप्पूणेण अहिया, एवं बितियदिवसे दो पयाइं दो अ सत्तमभागा अंगुलस्स किंचिप्पूणा, एवं एयाए वुड्ढिए ताव जाव सावणपुण्णिमाए दो पयाइं चत्तारि य अंगुलाइं वुड्ढी जाया, एवं इमाइ कमवुड्ढीए ताव नेयव्वं जाव पोसमासपुण्णिमा, तत्थ चउप्पया पोरिसी, ततो परं माहपढमदिवसाउ आरब्भ हाणी एतेण चेव कमेण नायव्वा जाव आसाढपुण्णिमा। आह–इदमुक्तं सप्तभिर्दिवसैरङ्गुलं वर्द्धते, तथा पक्षेणाङ्गुलद्वयं वर्द्धते इत्युक्तं, तदयं विरोधः,कुतो?, यदा पक्षेणाङ्गुलद्वयं वर्द्धते तदाऽङ्गुलं सप्तभिः सार्द्धैर्दिवसैर्वर्द्धते?, आचार्यस्त्वाह, सत्यमेतत्, किन्त्वनेनैव तत्प्रख्याप्यते–वरं किञ्चिद्वृद्धायां पौरुष्यां पारितं मा भूश्यूनायां, प्रत्याख्यानभङ्गभयात्, न्यूनता च पौरुष्यामेवं भवति, यदि याऽसौ मातुमारब्धा छाया तस्यां यदि प्रदीर्घायां भुङ्क्ते तदा न्यूना पौरुषी, अधिका च तदा भवति यदा सा छाया स्वल्पा भवतीति। अधुना येषु मासेष्वहोरात्राणि पतन्ति तान् मासान् प्रतिपादयन्नाह–

आसाढबहुलपक्खे भद्दवए कत्तिए य पोसे य। फग्गुणवइसाहेसु य बोद्धव्वा ओमरत्ताओ ॥ २८५ ॥

आषाढस्य मासस्य बहुलपक्षे–कृष्णपक्षेऽहोरात्रं पतति, तथा भाद्रपदबहुलपक्षे कार्तिकबहुलपक्षे पौषबहुलपक्षे फाल्गुनबहुलपक्षे वैशाखबहुलपक्षे चाहोरात्राणि पतन्ति। 'ओमरत्तं' अहोरात्रं, न च तैरहोरात्रैः पतद्भिरपि पौरुष्या न्यूनता वेदितव्या, अस्यार्थस्य ज्ञापनार्थमिदमुक्तं। एवं तावत्पौरुष्याः प्रमाणमुपगतं, या तु पुनश्चरमपौरुषी सा कियत्प्रमाणा भवतीत्यतस्तत्स्वरूपप्रतिपादनायाह–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जेट्ठामूले आसाढसावणे छहिं अंगुलेहिं पडिलेहा । अट्ठहिं बीअतियंमि अ तइए दस अट्ठहि चउत्थे ॥२८६॥

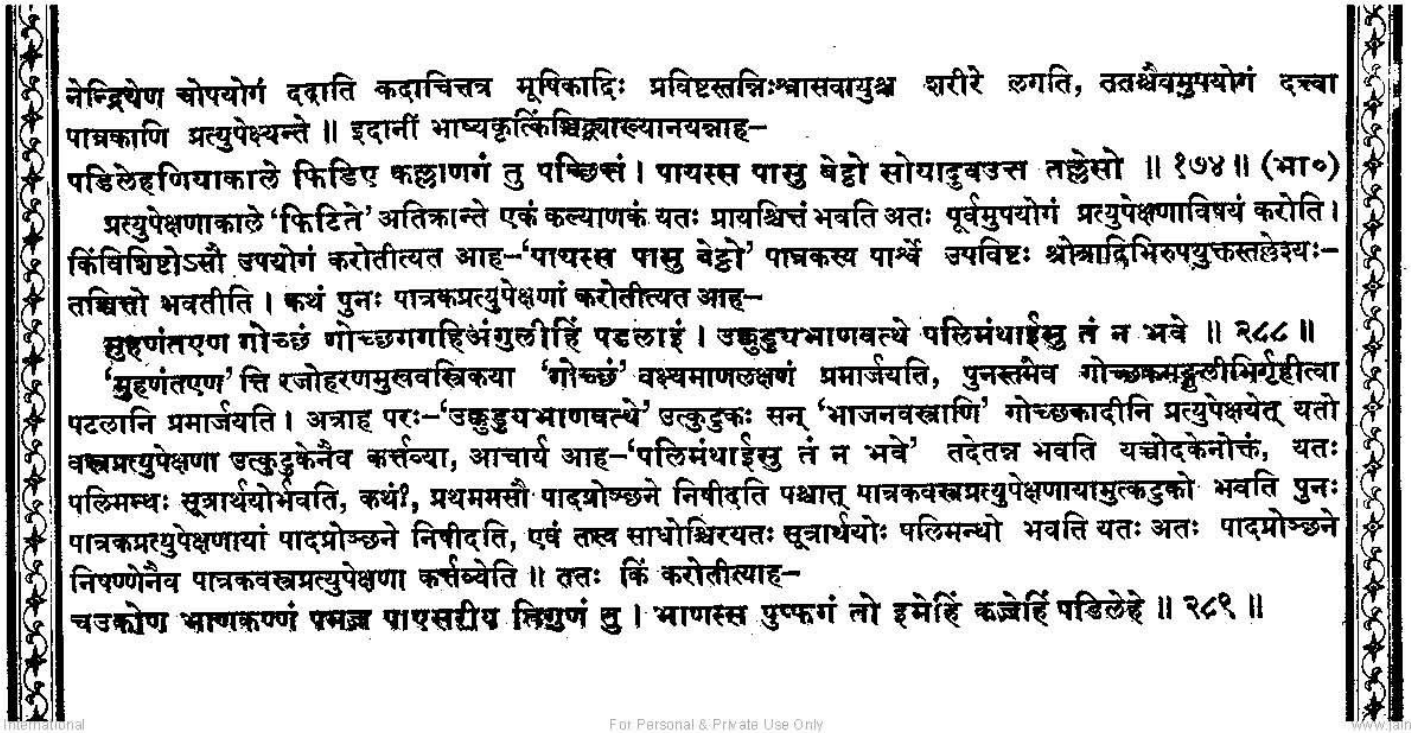
ज्येष्ठामूले मासे तथाऽऽषाढश्रावणे षड्भिरङ्गुलैर्यावदद्यापि पौरुषी न पूर्यते तावच्चरमपौरुषी भवति । 'अट्ठहिं बितिअतियंमि' त्ति भाद्रपदे आश्वयुजि कार्तिके चास्मिन् द्वितीयत्रिकेऽष्टभिरङ्गुलैर्यावदद्यापि पौरुषी न पूर्यते तावच्चरमपौरुषी भवति। 'ततिए दस' त्ति मार्गशिरे पौषे माघे च एतस्मिन् तृतीये त्रिके दशभिरङ्गुलैर्यावदद्यापि पौरुषी न पूर्यते तावच्चरमपौरुषी भवति । 'अट्ठहिं चउत्थे' त्ति फाल्गुने चैत्रे वैशाखे च अस्मिंश्चतुर्थे त्रिकेऽष्टभिरङ्गुलैर्यावन्न पूर्यते पौरुषी तावच्चरमपौरुषी भवति, एतस्यां चरमपौरुष्यां पात्रकाणि प्रतिलेख्यन्ते । स च पात्रकप्रत्युपेक्षणासमये पूर्वं कं व्यापारं करोतीत्याह–

उवउज्जिऊण पुव्वं तल्लेसो जइ करेइ उवओगं । सोएण चक्खुणा घाणओ य जीहाएँ फासेणं ॥ २८७ ॥

'उपयुज्य' उपयोगं दत्त्वा पूर्वमेव, यदुत मयाऽस्यां वेलायां पात्रकाणि प्रत्युपेक्षणीयानीत्येवमुपयुज्य पुनः 'तल्लेश्य एव' प्रत्युपेक्षणाभिमुख एव 'जति' त्ति 'यतिः' प्रव्रजितः पात्रकसमीपे उपविश्य 'उपयोगं करोति' मतिं व्यापारयति, कथं?–'श्रोत्रेण' श्रोत्रेन्द्रियेण पात्रके उपयोगं करोति, कदाचित्तत्र भ्रमरादिं गुञ्जन्तं शृणोति, पुनस्तं यतनयाऽपनीय तत्पात्रकं प्रत्युपेक्षते, तथा चक्षुषा उपयोगं ददाति कदाचित्तत्र मूषिकोत्केरादिरजो भवति, ततस्तत्प्रतनयाऽपनयति, घ्राणेन्द्रियेण चोपयोगं करोति कदाचित्तत्र सुरभकादिर्मर्दितो भवति पुनश्च घ्राणेन्द्रियेण ज्ञात्वा यतनयाऽपनयति, जिह्वया च रसं ज्ञात्वा यत्र गन्धस्तत्र रसोऽपि गन्धपुद्गलैरोष्ठो यदा व्याप्तो भवति, तदा जिह्वया रसं जानातीति, स्पर्श-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२८७|| दीप अनुक्रम [४८६]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः



नेन्द्रियेण चोपयोगं ददाति कदाचित्तत्र मूषिकादिः प्रविष्टस्तन्निःश्वासवायुश्च शरीरे लगति, ततश्चैवमुपयोगं दत्त्वा पात्रकाणि प्रत्युपेक्ष्यन्ते ॥ इदानीं भाष्यकृत्किंचिद्व्याख्यानयन्नाह–

पडिलेहणियाकाले फिडिए कल्लाणगं तु पच्छित्तं । पायस्स पासु बेट्ठो सोयादुवउत्त तल्लेसो ॥ १७४ ॥ (भा०)

प्रत्युपेक्षणाकाले 'फिटिते' अतिक्रान्ते एकं कल्याणकं यतः प्रायश्चित्तं भवति अतः पूर्वमुपयोगं प्रत्युपेक्षणाविषयं करोति। किंविशिष्टोऽसौ उपयोगं करोतीत्यत आह–'पायस्स पासु बेट्ठो' पात्रकस्य पार्श्वे उपविष्टः श्रोत्रादिभिरुपयुक्तस्तल्लेश्यः– तच्चित्तो भवतीति । कथं पुनः पात्रकप्रत्युपेक्षणां करोतीत्यत आह–

मुहणंतएण गोच्छं गोच्छगगहिअंगुलीहिं पडलाइं । उक्कुडुयभाणवत्थे पलिमंथाईसु तं न भवे ॥ २८८ ॥

'मुहणंतएण' त्ति रजोहरणमुखवस्त्रिकया 'गोच्छं' वक्ष्यमाणलक्षणं प्रमार्जयति, पुनस्तमेव गोच्छकमङ्गुलीभिर्गृहीत्वा पटलानि प्रमार्जयति । अत्राह परः–'उक्कुडुयभाणवत्थे' उत्कुटुकः सन् 'भाजनवस्त्राणि' गोच्छकादीनि प्रत्युपेक्षयेत् यतो वस्त्रप्रत्युपेक्षणा उत्कुटुकेनैव कर्त्तव्या, आचार्य आह–'पलिमंथाईसु तं न भवे' तदेतन्न भवति यच्चोदकेनोक्तं, यतः पलिमन्थः सूत्रार्थयोर्भवति, कथं?, प्रथममसौ पादप्रोञ्छने निषीदति पश्चात् पात्रकवस्त्रप्रत्युपेक्षणायामुत्कटुको भवति पुनः पात्रकप्रत्युपेक्षणायां पादप्रोञ्छने निषीदति, एवं तस्य साधोश्चिरयतः सूत्रार्थयोः पलिमन्थो भवति यतः अतः पादप्रोञ्छने निषण्णेनैव पात्रकवस्त्रप्रत्युपेक्षणा कर्त्तव्येति ॥ ततः किं करोतीत्याह–

चउकोण भाणकण्णं पमज्ज पायसरीय तिगुणं तु । भाणस्स पुप्फगं तो इमेहिं कज्जेहिं पडिलेहे ॥ २८९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	वस्त्र, पात्र एवं स्थण्डिल आदि संबंधी प्रत्युप्रेक्षणा वर्णयते

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२८९||

दीप अनुक्रम [४८८]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः ॥११७॥

पटलानि प्रत्युपेक्ष्य पुनर्गोच्छकं वामहस्तानामिकाङ्गुल्या गृह्णाति, ततः पात्रकेसरिकां–पात्रकमुखवस्त्रिकां पात्रकस्थामेव गृह्णाति, 'चउक्कोण' त्ति चतुरः पात्रबन्धकोणान् संवर्त्त्योपरिस्थापितान् प्रमार्जयति, पुनर्भाजनस्य कर्णं प्रमार्जयति, पुनश्च पात्रककेसरिकयैव 'तिगुणं' तिस्रो वारा बाह्यतोऽभ्यन्तरतस्तिस्र एव वाराः प्रमार्जयति, ततः 'भागस्स' पात्रकस्य 'पुप्फगं' बुध्नं ततः एतानि वक्ष्यमाणलक्षणानि कार्याणि यदि न भवन्ति ततः प्रथमं बुध्नं पात्रकस्य प्रत्युपेक्ष्यते । कानि पुनस्तानि कार्याणि ?, अत आह–

मूसगरयउक्केरे, घणसंताणए इय । उदए मट्टिआ चेव, एमेया पडिवत्तिओ ॥ २९० ॥

कदाचित्तत्र मूषिकोत्केररजो लग्नं भवति ततस्तद्यतनयाऽपनीयते, तथा घनः सन्तानको वा–कदाचित् तत्थ कोलिअतंतुयं लग्गं होइ तद्यतनयाऽपनीयते । तथा 'उदए' त्ति कदाचिदुदकं लग्नं भवति, सार्द्रायां भूमेरुन्मज्ज्य लगति, तत्र यतनां वक्ष्यति, 'मट्टिआ चेव' कदाचित् मृत्तिका कोत्थलकारिकायाः संबन्धिनी लगति तत्र यतनां वक्ष्यति, एवमेताः प्रतिपत्तयः–प्रकारा–भेदा यदि न भवन्ति ततो बुध्नं प्रत्युपेक्ष्यते । कुतः पुनरुत्केरादिसम्भवः ? इत्यत आह–

नवगनिवेसे दूराउ उक्केरो मूसएहिं उक्किण्णो । निद्धमहि हरतणू वा ठाणं भेत्तूण पविसेज्जा ॥ २९१ ॥

'नवगणिवेसे' यत्र ग्रामादौ ते साधव आवासिताः स नवः–अभिनवो निवेशः कदाचिद्भवति, तत्र च पात्रकसमीपे मूषिकैरुत्केर उत्कीर्णस्तेन रजसा पात्रकं गुण्ड्यते । मूसगरउक्केरेत्ति भणियं, 'निद्धमहिहरतणू वा' तथा स्निग्धायां–सार्द्रायां भुवि 'हरतणू व' त्ति सलिलबिन्दव उन्मज्ज्य लगन्ति ततो भुव उन्मज्ज्य पात्रकस्थापनकं भित्त्वा प्रविशेत् स लग्नो

प्रात्रकप्रत्यु. भा. १७४ नि. २८८-२९१

॥११७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भवेत् तद्यतनां वक्ष्यति । उदएत्ति गयं, इह कस्मादुदकस्थानमेवमुक्तम् ?, उच्यते, पृथिवीकायस्य घनसन्तानस्य च तुल्ययतनाप्रतिपादनार्थम् । तथा—

कोत्थलगारिअघरगं घणसंताणाइया व लग्गेज्जा । उक्केरं सट्ठाणे हरतणु संचिट्ठ जा सुक्को ॥ २९२ ॥

'कोत्थलकारिका' गृहकारिका गृहकं मृन्मयं करोति तत्र यतनां वक्ष्यति । मट्टिएत्ति भणिअं, घनसन्तानिका वा कदाचिल्लगति घणसंतानिया लग्गा, आदिशब्दात्तदण्डकादिः । अधुना सर्वेषामेवैतेषां यतनां प्रतिपादयन्नाह-'उक्केरं सट्ठाणे' मूषिकोत्केरः स्वस्थाने मुच्यते-यतनया मूषिकोत्करमध्य एव स्थाप्यते प्रमृज्य, 'हरतणु' अथ हरतणुः अधस्तात्सलिलबिन्दव उन्मज्ज्य लग्नास्ततस्तावत्प्रतिपालयति यावदेते शोषमुपगच्छन्ति, ततः पश्चात्पात्रं प्रत्युपेक्ष्यते । उदएत्ति गयं ॥

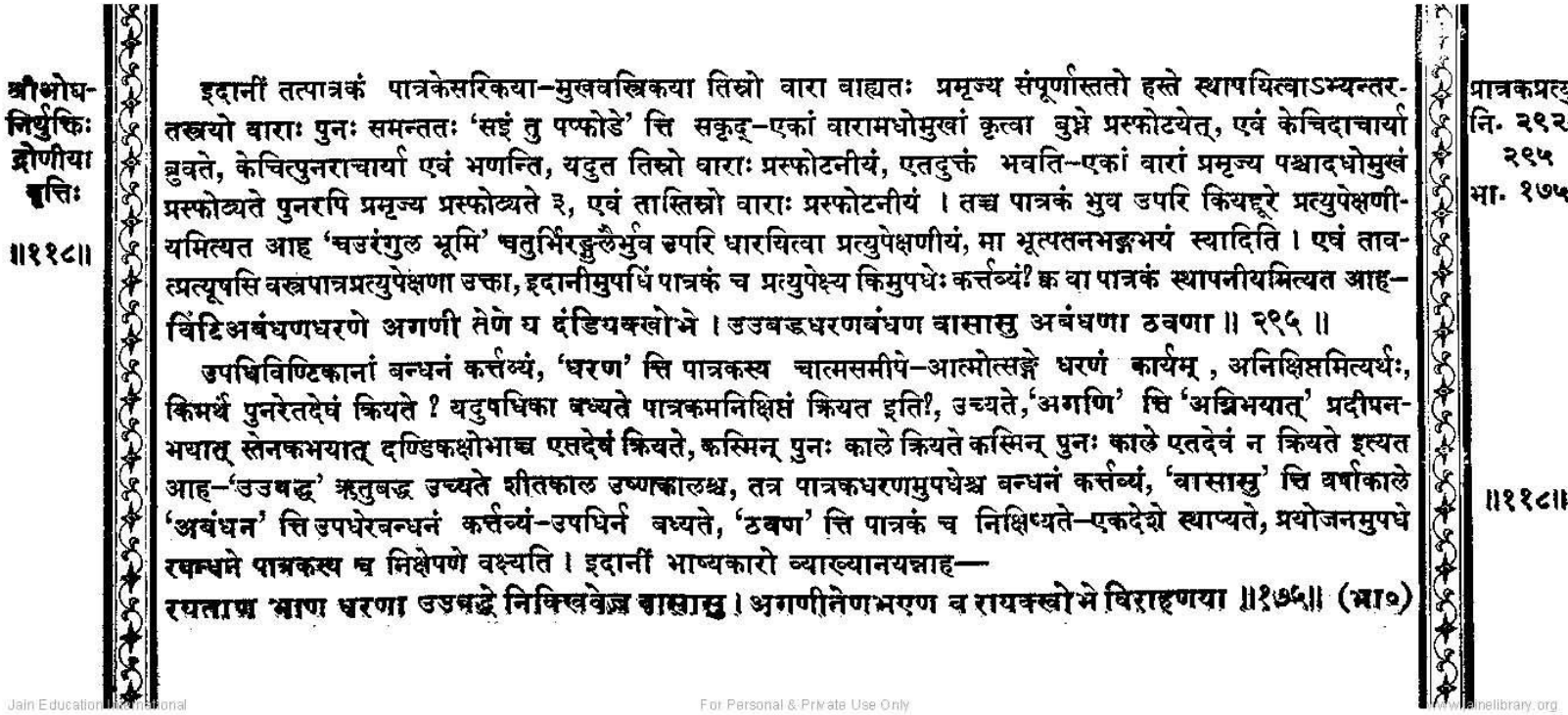
इयरेसु पोरिसितिगं संचिक्खावेत्तु तत्तिअं छिंदे । सव्वं वावि विगिंचइ पोराणं मट्टिअं ताहे ॥ २९३ ॥

'इयरेसुं' ति कोत्थलकारिआघणसंताणयादियाण 'पोरिसितिगं संचिक्खावेउ'त्ति प्रहरत्रयं यावत्तत्पात्रकं संचिक्खावेत्तु प्रतिपालयंति, यदि तावत्याऽपि वेलया नापयाति ततः पात्रकस्थापनादेस्तावन्मात्रं छित्त्वा[1] परित्यज्यते । 'सव्वं वावि विगिंचति' अन्येषां वा पात्रकस्थापनादीनां सद्भावे सर्वमेव तत्पात्रस्थापनादि परित्यजति । 'पोराणं मट्टिअं ताहे' त्ति अथ तत्कोत्थलकागृहकं न सचेतनया मृत्तिकया कृतं किन्तु पुराणमृत्तिकया ततस्तां पुराणमृत्तिकां 'ताहे' त्ति तस्मिन्नेव प्रतिलेखनाकालेऽपनयति यदि तत्र कृमिकास्तया न प्रवेशिता इति ।

पत्तं पमज्जिऊणं अंतो बाहिं सइं तु पप्फोडे । केइ पुण तिण्णि वारा चउरंगुल भूमि पडणभया ॥ २९४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगम (४१/१)	[भाग-३२] "ओघनिर्युक्ति"– मूलसूत्र-२/१ (मूलं+निर्युक्तिः+वृत्तिः) मूलं [४९३] ●➔ "निर्युक्तिः [२९४] + भाष्यं [१७४...] + प्रक्षेपं [२४...]" ←●
प्रत गाथांक नि/भा/प्र ॥२९४॥ दीप अनुक्रम [४९३]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः



श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः ॥११८॥

इदानीं तत्पात्रकं पात्रकेसरिकया–मुखवस्त्रिकया तिस्रो वारा बाह्यतः प्रमृज्य संपूर्णास्ततो हस्ते स्थापयित्वाऽभ्यन्तर-तस्रयो वाराः पुनः समन्ततः 'सइं तु पप्फोडे' त्ति सकृद्–एकां वारामधोमुखां कृत्वा बुध्ने प्रस्फोटयेत्, एवं केचिदाचार्या ब्रुवते, केचित्पुनराचार्या एवं भणन्ति, यदुत तिस्रो वाराः प्रस्फोटनीयं, एतदुक्तं भवति–एकां वारां प्रमृज्य पश्चादधोमुखं प्रस्फोट्यते पुनरपि प्रमृज्य प्रस्फोट्यते ३, एवं तास्तिस्रो वाराः प्रस्फोटनीयं । तच्च पात्रकं भुव उपरि कियद्दूरे प्रत्युपेक्षणी-यमित्यत आह 'चउरंगुल भूमि' चतुर्भिरङ्गुलैर्भुव उपरि धारयित्वा प्रत्युपेक्षणीयं, मा भूत्पतनभङ्गभयं स्यादिति । एवं तावत्प्रत्यूषसि वस्त्रपात्रप्रत्युपेक्षणा उक्ता, इदानीमुपधिं पात्रकं च प्रत्युपेक्ष्य किमुपधेः कर्त्तव्यं? क्व वा पात्रकं स्थापनीयमित्यत आह–विंटिअबंधणधरणे अगणी तेणे य दंडियक्खोभे । उउबद्धधरणबंधण वासासु अबंधणा ठवणा ॥ २९५ ॥

उपधिविण्टिकानां बन्धनं कर्त्तव्यं, 'धरण' त्ति पात्रकस्य चात्मसमीपे–आत्मोत्सङ्गे धरणं कार्यम् , अनिक्षिप्तमित्यर्थः, किमर्थं पुनरेतदेवं क्रियते ? यदुपधिका बध्यते पात्रकमनिक्षिप्तं क्रियत इति?, उच्यते,'अगणि' त्ति 'अग्निभयात्' प्रदीपन-भयात् स्तेनकभयात् दण्डिकक्षोभाच्च एतदेवं क्रियते, कस्मिन् पुनः काले क्रियते कस्मिन् पुनः काले एतदेवं न क्रियते इत्यत आह–'उउबद्ध' ऋतुबद्ध उच्यते शीतकाल उष्णकालश्च, तत्र पात्रकधरणमुपधेश्च बन्धनं कर्त्तव्यं, 'वासासु' त्ति वर्षाकाले 'अबंधन' त्ति उपधेरबन्धनं कर्त्तव्यं–उपधिर्न बध्यते, 'ठवण' त्ति पात्रकं च निक्षिप्यते–एकदेशे स्थाप्यते, प्रयोजनमुपधे रबन्धने पात्रकस्य च निक्षेपणे वक्ष्यति । इदानीं भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह—

रयताण भाण धरणा उउबद्धे निक्खिवेज्ज वासासु । अगणीतेणभएण व रायक्खोभे विराहणया ॥१७५॥ (भा०)

प्रात्रकप्रत्यु. नि. २९२-२९५ भा. १७५.

॥११८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रजस्त्राणस्य भाजनस्य च धरणम्–अनिक्षेपणं कर्त्तव्यं, कदा?–'ऋतुबद्धे' शीतोष्णकालयोः, वर्षासु पुनर्भाजनं निक्षिपेदेकान्ते, किमर्थं पुनर्भाजनस्य उत्सङ्गे धरणं क्रियते ? अत आह–'अगणी' अग्निभयेन–प्रदीपनकभयेन स्तेनभयेन वा राजक्षोभेन वा, मा भूदाकुलस्य गृह्णतः पलिमन्थेनात्मविराधना संयमविराधना वा स्यात् ॥

परिगलमाणा हीरेज्ज डहणा भेया तहेव छक्काया । गुत्तो व सयं डज्झे हीरेज्ज व जं च तेण विणा ॥१७६॥(भा०)

अग्न्यादिक्षोभे निर्गच्छत आकुलस्य अपरिबद्धा परिगलति ततश्च परिगलमाना केनचिदपहियते 'डहण' त्ति दह्येत वा अबद्धा सती उपधिर्यावद् गृह्यते, 'भेया' इति आकुलस्य निर्गच्छतोऽनासन्नं पात्रकं गृह्णतो 'भेदो वा' विनाशो वा भवेत्, ततश्च षट्कायस्यापि विराधना संभवति । 'गुत्तो व सयं डज्झे' संमूढो वा उपधिपात्रग्रहणे स्वयं दह्येत, स्तेनकसंक्षोभे च सति उपधिपात्रकग्रहणव्याक्षेपेण स्तेनकैः–म्लेच्छैरपहियते, 'जं च तेण विण' त्ति यच्च 'तेन विना' उपधिपात्रकादिना विना भवति आत्मविराधना संयमविराधना च तत्तदवस्थमेवेति । आह–पुनः किं कारणं वर्षासु उपधिर्न बध्यते पात्रकाणि वा निक्षिप्यन्ते ?, उच्यते—

वासासु नत्थि अगणी नेव य तेणा उ दंडिया सत्था । तेण अबंधण ठवणा एवं पडिलेहणा पाए ॥१७७॥(भा०)

वर्षासु नास्ति अग्निभयं नापि च स्तेनभयं, स्तेनाश्चात्र पल्लीपतिकादयो द्रष्टव्याः, यतस्त एव वर्षासु प्रतिबन्धेन नागच्छन्तीति, दण्डिका–अन्यराजानो वर्षासु स्वस्थास्तिष्ठन्ति, विग्रहस्य तस्मिन् कालेऽभावात् , अतस्तेन कारणेन 'अबंधन' त्ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२९६||

दीप अनुक्रम [४९८]

अबन्धनमुपधेः 'ठवण' त्ति पात्रकं च पार्श्वे निक्षिप्तं न क्रियते अपि तु स्थाप्यते–मुच्यते । एवं प्रत्युपेक्षणा पात्रविषया प्रतिपादिता, तत्प्रतिपादनाच्चोक्तमुपकरणप्रत्युपेक्षणाद्वारम्, इदानीं स्थण्डिलद्वारस्वरूपप्रतिपादनायाह—

अणावायमसंलोए अणवाए चेव होइ संलोए । आवायमसंलोए आवाए चेव संलोए ॥ २९६ ॥

'अणावायमसंलोए' त्ति न आपातः–अभ्यागमः स्वपक्षपरपक्षयोर्यत्र स्थण्डिले तदनापातं, 'लोकृ दर्शने' न संलोको-न दर्शनं छन्नत्वाद्यत्र स्थंडिले तदनालोकम्, अनापातं च तदसँल्लोकं च अनापातासँल्लोकं एको भेदः स्थण्डिलस्य, तथा 'अणवाए चेव होइ संलोए' नापातः कस्यचिद्यत्र तदनापातं अनापातं च तत्संलोकं च–अच्छन्नं च, एतदुक्तं भवति–यत्र स पुरीषं व्युत्सृजति तत्र न कस्यचिदापातः किन्तु दूरस्थिताः पश्यन्ति आकाशत्वादिति अयं द्वितीयो भेदः, तथाऽन्यदापातमसंलोकम्, आपातः यत्र कश्चिदागच्छति असंलोकं–छन्नम् आपातं च तदसंलोकं च आपातासंलोकम्, एतदुक्तं भवति–आपातोऽस्ति सागारिकाणामासन्ना एव तिष्ठन्ति न च वनादिवृत्त्यादितिरोहितत्वाद्व्युत्सृजन्तं साधुं पश्यन्ति, एष तृतीयो भेदः, तथाऽन्यत्–'आवाए चेव होइ संलोए' त्ति 'आपातः' अभ्यागमः कस्यचिद्यत्र 'संलोकः' संदर्शनं यत्र, तत्र आपातं च तत्संलोकं च आपातसंलोकं सागारिकागमो भवति दूरस्थिताश्च सागारिकाः पश्यन्ति साधुं व्युत्सृजन्तं, अयं चतुर्थः । इदानीं चतुर्थमेव तावद्भेदं व्याख्यानयति, यतस्तद्व्याख्यानेऽन्ये विधिप्रतिषेधरूपाः सुज्ञाना भवन्तीति ॥

तत्थावायं दुविहं सपक्खपरपक्खओ य णायव्वं । दुविहं होइ सपक्खे संजय तह संजईणं च ॥ २९७ ॥

पात्रकप्रत्यु. भा. १७६-१७७ स्थण्डिलप्र-त्यु नि. २९६-२९७

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्रापातं स्थण्डिलं 'द्विविधं' द्विप्रकारं वर्त्तते, कथं द्वैविध्यं भवतीत्यत आह–'सपक्खपरक्खओ य नायव्वं' तत्र स्वपक्षः–संयतवर्गः परपक्षः–गृहस्थादिः, तत्र स्वपक्षपातं द्विविधं संयतस्वपक्षापातं संयतीस्वपक्षापातं च ।

संविग्गमसंविग्गा संविग्गमणुण्णएयरा चेव । असंविग्गावि दुविहा तप्पक्खियएअरा चेव ॥ २९८ ॥

तत्र ये ते संयतास्ते संविग्नाश्च असंविग्नाश्च, ये ते संविग्नास्ते मनोज्ञा इतरे–अमनोज्ञाश्च, असंविग्ना अपि द्विविधाः–'तत्पाक्षिकाः' संविग्नपाक्षिकाः इतरे-असंविग्नपाक्षिकाः निर्द्धर्मा नैव श्लाघन्ते तपस्विनस्तु ये निन्दन्ति । उक्तः स्वपक्षः, इदानीं परपक्ष उच्यते—

परपक्खेवि अ दुविहं माणुस तेरिच्छिअं च नायव्वं । एक्केक्कंपि अ तिविहं पुरिसित्थिनपुंसगे चेव ॥ २९९ ॥

परपक्षेऽपि च दुविहं स्थण्डिलं मानुषापातं तिर्यगापातं च ज्ञातव्यं, यत्तन्मानुषापातं तत्त्रिविधं–पुरुषापातं स्त्र्यापातं नपुंसकापातं च, तिर्यगापातमपि त्रिविधं–तिर्यक्पुरुषस्तिर्यक्स्त्री तिर्यग्नपुंसकम् ।

पुरिसावायं तिविहं दंडिअ कोडुंबिए य पागइए । ते सोयऽसोयवाई एमेवित्थी नपुंसा य ॥ ३०० ॥

तत्र पुरुषापातं त्रिविधं–'दण्डिकः' राजा 'कौटुम्बिकः' श्रेष्ठ्यादिः 'प्राकृतिकः' प्रकृतिनां मध्ये यः, अयं त्रिविधः पुरुषः, तेषामेकैकस्त्रयाणामपि पुरुषाणां शौचवादी अशौचवादी चेति । 'एमेवित्थी नपुंसा य' त्ति एवमेव दण्डिककौटुम्बिकप्राकृतिकरूपाः शौचाशौचवादिनः स्त्रीनपुंसका ज्ञातव्या एभिर्भेदैर्भिन्नाः । इदानीं मनुष्याणां मध्ये द्वितीयं परपक्षभेदं प्रतिपादयन्नाह–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१२०॥

एए चेव विभागा परतित्थीणंपि होइ मणुयाणं। तिरिआणंपि विभागा अओ परं कित्तइस्सामि ॥ ३०१ ॥

एत एव 'विभागा' भेदा दण्डिककौटुम्बिकप्राकृतिकशौचवाद्यशौचवादिरूपाः परतीर्थिकानामपि भवन्ति मनुष्याणां, इदानीं तिरश्चामपि 'विभागान्' भेदानतः परं 'कीर्त्तयिष्यामि' प्रतिपादयामीत्यर्थः।

दित्तादित्ता तिरिआ जहण्णमुक्कोसमज्झिमा तिविहा। एमेवित्थिनपुंसा दुगुंछिअदुगुंछिआ नेया॥ ३०२ ॥

द्विविधास्तिर्यञ्चो–दृप्ताश्चादृप्ताश्च–मारकाश्चामारकाश्चेति, पुनरेकैकास्त्रिविधा दीप्ता अदीप्ताश्च य उक्तास्ते जघन्या उत्कृष्टा मध्यमाश्च, तत्र जघन्या मूल्यमङ्गीकृत्य मेण्ढकादयः, उत्कृष्टा हस्त्यश्वादयः मध्यमा गवादयः। 'एमेवित्थि नपुंसा' ये ते दीप्ता अदीप्ताश्च ते सर्व एव प्राग्वत् स्त्रियः पुरुषा नपुंसकाश्चेति, ते च पुनः सर्व एव 'जुगुप्सिताः' निन्दिताः 'अजुगुप्सिताः' अनिन्दिता ज्ञेयाः॥ तत्रैतेषां भेदानां मध्ये केषामापाते सति गमनं कर्त्तव्यमित्यत आह—

गमण मणुण्णे इयरे वितहायरणंमि होइ अहिगरणं। पउरदवकरण दट्ठुं कुसील सेहऽण्णहाभावो ॥ ३०३ ॥

मनोज्ञानामापातो यत्र स्थण्डिले तत्र गमनं कर्त्तव्यं, 'इयरे' त्ति अमनोज्ञास्तेषामापाते गमनं न कर्त्तव्यं, यतः 'वितहायरणंमि होति अहिगरणं'ति वितथाचरणम्–अन्यसामाचार्या आचरणं तस्मिन् सति शिक्षकाणां परस्परं स्वसामाचारीपक्षपातेन राटिर्भवति ततश्चाधिकरणं भवति। तथा कुशीलापातेऽपि न गन्तव्यं. यतः 'पउरदवकरण दट्ठुं' प्रचुरेण द्रवेण शौचकरणक्रियामुच्छोलनया दृष्ट्वा कुशीलानाम्–असंविग्नानां संबन्धिनीं पुनश्च सेहादीनामन्यथा भावोभवेत्, यदुतैते शुच-

स्थण्डिलप्रत्युपेक्षा नि. २९८-३०३

॥१२०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यो न त्वस्मत्साधवः तस्मादेत एव शोभनाः पूज्याश्चेति तन्मध्ये यान्ति, संयतापातेऽयं दोषः, संयतीनां त्वापातमेकान्तेनैव वर्जनीयं । अधुना परपक्षमानुषापातदोषान् दर्शयन्नाह—

जत्थऽम्हे वच्चामो जत्थ य आयरइ नाहवग्गो णे । परिभव कामेमाणा संकेयगदिन्नया वावि ॥ ३०४ ॥

तत्पुरुषा एवमाहुः यदुत–ययैव दिशा पुरीषव्युत्सर्जनार्थं वयं व्रजामः यत्र चाचरति–सञ्ज्ञाव्युत्सृजनं करोति नः–अस्मदीयो ज्ञातिवर्गः–स्वजनयोषिद्वर्गः तयैव दिशा एतेऽपि व्रजन्ति, ततश्चैते परिभवमस्माकं कुर्वन्ति, 'कामेमाण' त्ति नूनमेते 'कामयन्ति' अभिलषन्ति स्त्रियं तेन तत्र प्रयान्ति,'संकेतगदिन्नआ वावि' दत्तसङ्केता वा तेन रुयापाते व्रजन्ति । एते च दोषाः—

दव अप्प कलुस असई अवण्णपडिसेहविप्परीणामो । संकाईया दोसा पंडित्थि गहे य जं चऽण्णं ॥ ३०५ ॥

कदाचिद्द्रवमल्पं भवति तत उड्डाहादि 'कलुसं'ति कलुषं वा उदकं भवति,'असई'ति अभावो वा द्रवस्य भवति, ततश्चैते दोषाः–अवर्णः–अश्लाघा प्रवचने भवति, प्रधानो वा कश्चिद्दृष्ट्वा प्रतिषेधं भिक्षादेः करोति,'विपरिणामो वा' कस्यचिदभिनवश्राद्धस्य, शङ्कादयश्च दोषाः पण्डकस्त्रीविषया भवन्ति, 'गहिए जं चऽण्णं'ति पण्डकस्त्रीभ्यां बलाद्गृहीतस्य यच्चान्यदाकर्षणोड्डाहादि भवति स च दोषः । अधुना तिर्यगापातदोषं दर्शयन्नाह—

आहणणाई दित्ते गरहिअतिरिएसु संकमाईया । एमेव य संलोए तिरिए वज्जेतु मणुयाणं ॥ ३०६ ॥

दृप्ततिर्यगापाते–मारणकतिर्यगापाते आहननादिदोषाः, आदिग्रहणान्नक्षणदोषश्च मर्कटादिकृतः, गर्हितेषु–गर्दभ्यादिषु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

तिर्यक्षु मैथुनाशङ्काद्याः, आदिग्रहणान्निःशङ्कमेव वा भवति। एवं तावदेते आपातदोषा उक्ताः, 'एमेव य संलोए' एवमेव संलोकेऽपि 'मनुष्याणां' मनुष्यसंबन्धिनि दोषा द्रष्टव्याः, किन्तु 'तिरिए वज्जेत्तु'त्ति तिरश्चो मुक्त्वा, एतदुक्तं भवति–तिर्यक्संलोके न कश्चिद्दोषो भवतीति। इदानीं संलोके दोषानेव दर्शयन्नाह—

कलुसदवे असई य व पुरिसालोए हवंति दोसा उ। पंडित्थीसुवि एए खद्धे वेउवि मुच्छा य ॥ ३०७ ॥

कलुषे द्रवे सति 'असति' अभावे वा द्रवस्य पुरुषालोके पुरुषो यत्र स्थितः पश्यति, पण्डकस्त्रीजनिताश्च शङ्कादोषाः पूर्वोक्ताः तथा 'खद्धे' बृहत्प्रमाणे सेफे 'विउवि'त्ति विक्रियामापन्ने शेफे दृष्ट्वा सति पण्डकस्य स्त्रिया वा मूर्च्छा अनुरागो भवति। उक्तं चतुर्थस्थण्डिलमापातसंलोकरूपम्, इदानीं तृतीयमापातासंलोकरूपमुच्यते, तत्राह—

आवायदोस तइए बिइए संलोयओ भवे दोसा। ते दोवि नत्थि पढमे तहिँ गमणं तत्थिमा मेरा ॥ ३०८ ॥

तृतीयं स्थण्डिलं यद्यप्यसंलोकं तथाऽप्यापातदोषेण दुष्टं वर्त्तते। उक्तं तृतीयम्, इदानीं द्वितीयमनापातसंलोकरूपमुच्यते, तत्राह–'बिइए संलोयओ भवे दोसा' द्वितीये यद्यप्यापातदोषो नास्ति तथापि संलोकतो भवति दोषः, उक्तं द्वितीयं स्थण्डिलं, इदानीं प्रथममनापातमसंलोकमुच्यते, तत्राह–'ते दोवि नत्थि पढमे' ते दोषा आपातजनिताः संलोकजनिताश्च न सन्ति प्रथमे स्थण्डिलेऽतस्तत्रैव गमनं कर्त्तव्यं, तत्र चेयं 'मेरा' मर्यादा–वक्ष्यमाणा इयं नीतिरिति॥ तत्र यदुक्तं प्रथमस्थण्डिले गच्छतामियं मेरा साऽभिधीयते—

कालमकाले सण्णा कालो तइयाइ सेसयमकालो। पढमा पोरिसि आपुच्छ पाणगमपुप्फियऽण्णदिसिं॥३०९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्रैका काले सञ्ज्ञा भवति अन्याऽकाले सञ्ज्ञा भवति,'कालो तितियाए'त्ति 'कालः' सञ्ज्ञाकालः तृतीयायां पौरुष्यां भवति 'सेसयमकालो'त्ति शेषकाले या सञ्ज्ञा भवति साऽकालसञ्ज्ञेत्युच्यते,'पढमपोरिसि'त्ति तत्राकालसञ्ज्ञा प्रथम-पौरुष्यां यदि भवति ततः 'आपुच्छ पाणग'त्ति आपृच्छ्य साधून्, एतदुक्तं भवति–साधूनेवमसावापृच्छति यदुत–भवतां किं कश्चिच्चङ्क्रमणभूमिं यास्यति न वा ? इति, पुनः 'पाणग'त्ति तदनुरूपं पानकमानयति, किंविशिष्टम् ?–'अपुप्पितं' तरिकारहितं येन स्वच्छतया उदकभ्रान्तिर्भवति, 'अण्णदिसं'ति अन्यया पत्तनस्य दिशा उदकं गृह्यते अन्यया च दिशा चङ्क्रमणभूमिं प्रयाति येन सागारिकाशङ्का न भवति यदुतैते काङ्क्षिकेन शौचं कुर्वन्ति ॥

अइरेगगहण उग्गाहिएण आलोअ पुच्छिउं गच्छे । एसा उ अकालंमी अणहिंडिअ हिंडिआ कालो ॥ ३१० ॥

अतिरिक्तं च तत्पानकं गृह्यते कदाचिदन्यसाधोः कार्यं भवेत् सागारिकपुरस्ताद्वा उच्छोलनादि क्रियते । 'उग्गाहिएणं'-ति उद्ग्राहितेन–पात्रबन्धबद्धेन पात्रकेण समानीय मुक्तं सत् 'आलोए'त्ति आनीयाचार्यस्य तदालोच्यते,'पुच्छिउं गच्छे'-त्ति पुनस्तमेवाचार्यं पृष्ट्वा चङ्क्रमणिकया गच्छति, इयमकाले सञ्ज्ञा अकालसञ्ज्ञेत्यर्थः अहिण्डितानां सतां भवति, काल-सञ्ज्ञा पुनरहिंण्डितानां–भिक्षाटनकालस्योत्तरकालं भुक्त्वा या भवति सा कालसञ्ज्ञा भवति । अन्ये त्वाहुः–'अणहिं-डिय हिंडियाकालो'त्ति अहिण्डितानामर्थपौरुषीकरणोत्तरकाले यका भवति सा कालसञ्ज्ञैव, तथा हिण्डितानां भिक्षा-भ्रमणभोजनोत्तरकालं या भवति साऽपि कालसञ्ज्ञोच्यते । भुक्त्वोत्तरकालं या सञ्ज्ञा भवति तत्र किं कृत्वा कथं वा गम्यते ? इत्यत आह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कप्पेऊणं पाए एक्केक्कस्स उ दुवे पडिग्गहए । दाउं दो दो गच्छे तिण्हऽट्ठ दवं तु घेत्तूणं ॥ ३११ ॥

पात्रकाणि कल्पयित्वा पत्ताई तेप्पिऊण इत्यर्थः पुनरेकैकस्य साधोः पतद्ग्रहद्वयं दत्त्वा, एतदुक्तं भवति-योऽसौ तिष्ठति साधुस्तस्य आत्मीय एव एकः पतद्ग्रहो द्वितीयं तु पतद्ग्रहं योऽसौ साधुश्चङ्क्रमणभूमिं प्रयाति स समर्पयित्वा व्रजति अत एकैकस्य द्वौ द्वौ पतद्ग्रहौ भवतः । 'दो दो गच्छे'त्ति द्वौ द्वौ गच्छतः नैकैको गच्छति, तत्र च 'तिण्हट्ठ दवं च घेत्तूणं' त्रयाणां साधूनामर्थे यावदुदकं भवति तावन्मात्रं तौ गृहीत्वा व्रजतः । ते च कथं गच्छन्ति ? अत आह—

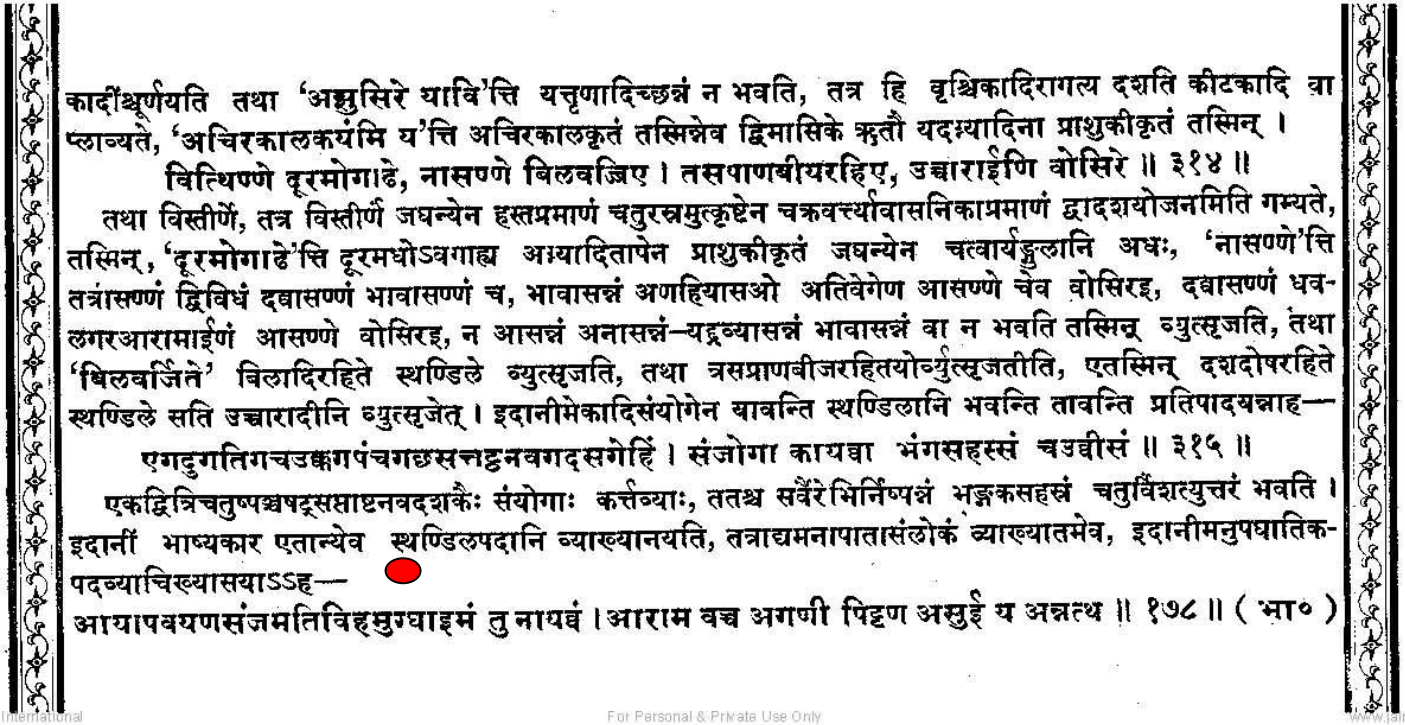
अजुगलिआ अतुरंता विकहारहिआ वयंति पढमं तु । निसिइत्तु डगलगहणं आवडणं वच्चमासज्ज ॥ ३१२ ॥

न युगलिताः–समश्रेणिस्था व्रजन्ति किन्तु अयुगलिताः अत्वरमाणा विकथारहिताश्च व्रजन्ति, ततश्चङ्क्रमणभुवं प्राप्य प्रथमं 'निषीदयित्वा'उपविश्य डगलकानां–अधिष्ठानप्रोञ्छनार्थमिष्टकाखण्डकानां लघुपाषाणकानां वा ग्रहणं करोति, 'आवडणं'ति प्रस्फोटनं तेषां डगलकानां करोति, कदाचित्तत्र पिपीलिकादि स्यात्, तेषां च ग्रहणे किं प्रमाणमत आह–'वच्चमासज्ज' पुरीषमङ्गीकृत्य, श्लथं कठिनं वा विज्ञाय पुरीषं ततस्तदनुरूपाणि डगलकानि गृह्णाति, ततो डगलकानि गृहीत्वा सच्छायस्थण्डिले उपविशति । कीदृशे इत्यत आह—

अणावायमसंलोए, परस्सणुवघाइए । समे अज्झुसिरे यावि, अचिरकालकयंमि अ ॥ ३१३ ॥

अनापातः असंलोकश्च परस्य यस्मिन् तदनापातासंलोकं स्थण्डिलं लोकस्य, तथा 'अणुवघाइए'त्ति उपघातश्च यत्र न भवति उद्भाहादि तस्मिन्ननुपघातिके, तथा समं यत्र लुठनं न भवति, लुठने स्थण्डिले आत्मपतनभयं पुरीषं च मुक्तं कीटि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



कादींश्चूर्णयति तथा 'अझुसिरे यावि'त्ति यत्तृणादिच्छन्नं न भवति, तत्र हि वृश्चिकादिरागत्य दशति कीटकादि वा प्लाव्यते, 'अचिरकालकयंमि य'त्ति अचिरकालकृतं तस्मिन्नेव द्विमासिके ऋतौ यदभ्रादिना प्राशुकीकृतं तस्मिन् ।

विच्छिण्णे दूरमोगाढे, नासण्णे बिलवज्जिए । तसपाणबीयरहिए, उच्चाराईणि वोसिरे ॥ ३१४ ॥

तथा विस्तीर्णे, तत्र विस्तीर्णं जघन्येन हस्तप्रमाणं चतुरस्रमुत्कृष्टेन चक्रवर्त्त्यावासनिकाप्रमाणं द्वादशयोजनमिति गम्यते, तस्मिन्, 'दूरमोगाढे'त्ति दूरमधोऽवगाह्य अभ्रादितापेन प्राशुकीकृतं जघन्येन चत्वार्यङ्गुलानि अधः, 'नासण्णे'त्ति तत्रासण्णं द्विविधं दव्वासण्णं भावासण्णं च, भावासन्नं अणहियासओ अतिवेगेण आसण्णे चेव वोसिरइ, दव्वासण्णं धवलगरआरामाईणं आसण्णे वोसिरइ, न आसन्नं अनासन्नं–यद्द्रव्यासन्नं भावासन्नं वा न भवति तस्मिन् व्युत्सृजति, तथा 'बिलवर्जिते' बिलादिरहिते स्थण्डिले व्युत्सृजति, तथा त्रसप्राणबीजरहितयोर्व्युत्सृजतीति, एतस्मिन् दशदोषरहिते स्थण्डिले सति उच्चारादीनि व्युत्सृजेत् । इदानीमेकादिसंयोगेन यावन्ति स्थण्डिलानि भवन्ति तावन्ति प्रतिपादयन्नाह—

एगदुगतिगचउक्कगपंचगछसत्तट्ठनवगदसगेहिं । संजोगा कायव्वा भंगसहस्सं चउवीसं ॥ ३१५ ॥

एकद्वित्रिचतुष्पञ्चषट्सप्ताष्टनवदशकैः संयोगाः कर्त्तव्याः, ततश्च सर्वैरेभिर्निष्पन्नं भङ्गकसहस्रं चतुर्विंशत्युत्तरं भवति । इदानीं भाष्यकार एतान्येव स्थण्डिलपदानि व्याख्यानयति, तत्राद्यमनापातासंलोकं व्याख्यातमेव, इदानीमनुपघातिकपदव्याचिख्यासयाऽऽह—

आयापवयणसंजमतिविहमुग्घाइमं तु नायव्वं । आराम वच्च अगणी पिट्ठण असुई य अन्नत्थ ॥ १७८ ॥ (भा०)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

● अत्र एका प्रक्षेप-गाथा वर्तते. मया संपादित "आगम सुत्ताणि" मूलं अथवा सटीकं पुस्तके सा मुद्रिता अस्ति

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||३१५||

दीप अनुक्रम [५१९]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१२३॥

औपघातिकं त्रिविधं ज्ञातव्यं–आत्मौपघातिकं प्रवचनौपघातिकं संयमौपघातिकं च, तत्रात्मौपघातिकं क्व भवतीत्यत आह–आरामे–आरामादौ व्युत्सृजतः, प्रवचनौपघातिकं च क्व भवतीत्यत आह–'वच्च' वर्चो–गूथं तत्करीषे व्युत्सृजतः, संयमौपघातिकं च क्व भवतीत्यत आह–'अगणी' अग्निः स यत्र प्रज्वाल्यते, एतच्च यथासङ्क्षेन योजनीयं । कथमात्मोपघातादि भवतीत्यत आह–यथासङ्क्षेन 'पिट्टण असुई य अन्नत्थ' आरामे व्युत्सृजतः पिट्टणं–ताडनं भवति, वर्चः करीषे व्युत्सृजतोऽशुचिरयमिति लोक एवं संभावयति, अङ्गारदहनभूमौ व्युत्सृजतः सोऽङ्गारदाहकः 'अण्णत्थ'त्ति अन्यत्राङ्गारार्थं प्रज्वालयति ततश्च संयमोपघात इति, यतश्चैते दोषा भवन्ति अतोऽनुपघातिके स्थण्डिले व्युत्सृजनीयमिति । अनुपघातिकं गतम् , इदानीं 'समे'त्ति व्याख्यानयन्नाह—

विसम पलोट्टण आया इयरस्स पलोट्टणंमि छक्काया। झुसिरंमि विच्छुगाई उभयक्कमणे तसाईया॥१७९॥(भा०)

विषमे स्थण्डिले व्युत्सृजतः प्रलुठनं साधोरेव भवति ततश्चात्मविराधना, 'उभय'त्ति मूत्रपुरीषं तदाक्रमणेन त्रसादयो विराध्यन्ते ततश्च संयमोपघातो भवति, 'इतरस्स'त्ति इतरयोः कायिकापुरीषयोः प्रलुठने सति षट् काया विराध्यन्ते, ततः समे व्युत्सृजनीयम् । समेत्ति गयं, 'अज्झुसिरि'त्ति व्याख्यायते, तत्राह–'झुसिरंमि विच्छुगाई' झुसिरं पलालादिच्छन्नं तत्र व्युत्सृजतो वृश्चिकादिभक्षणं संभवति ततश्चात्मविराधना, 'उभय'त्ति मूत्रपुरीषं तदाक्रमणेन त्रसादयो विराध्यन्ते ततश्च संयमोपघातो भवति ततोऽशुषिरे व्युत्सृजनीयं, द्वारम् । इदानीं 'अचिरकालकयंमि य'त्ति व्याख्यायते—

जे जंमि उउंमि य कया पयावणाईहि थंडिला ते उ। होंतियरंमि चिरकया वासा वुच्छेय बारसगं ॥१८०॥ (भा०)

स्थण्डिलप्रत्युपे नि. ३१४-३१५ भा. १७९-१८०

॥१२३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यानि यस्मिन् ऋतौ–शीतकालादौ प्रतापनादिभिः–अग्निप्रज्वालनादिभिः स्थण्डिलानि कृतानि तस्मिन्नेव च ऋतौ स्थण्डिलान्यचित्तानि भवन्ति, तानि स्थण्डिलानि इतरस्मिन्–अनन्तरऋतौ चिरकृतानि मिश्रीभूतानि चायोग्यानि भवन्ति । 'वासा वुच्छेय बारसगं'ति यस्मिन् प्रदेशे एकं वर्षाकालं ग्राम उषितः, स च प्रदेशो 'द्वादश' द्वादश वर्षाणि यावत्स्थण्डिलं भवति, यत्र तु पुनर्वर्षामात्रमुषितो ग्रामस्तत्र भवत्येव स्थण्डिलं द्वादश वर्षाणीति । इदानीं 'विच्छिण्णं' ति व्याख्यानयन्नाह—

हत्थायामं चउरस्स जहण्णं जोयणे बिछक्कियरं । चउरंगुलप्पमाणं जहण्णयं दूरमोगाढं ॥ १८१ ॥ (भा०)

विस्तीर्णं द्विधा–जघन्यमुत्कृष्टं च, तत्र जघन्यं हस्तायामं चतुरस्रं च जघन्यतो विस्तीर्णं स्थण्डिलं, 'जोयणे बिछक्क इयरं'ति इतरद्–उत्कृष्टं विस्तीर्णं योजनानां द्विषट्का, द्वादशयोजनविस्तीर्णमित्यर्थः । वित्थिण्णेत्ति गयं, इदानीं 'दूरमोगाढे'त्ति व्याख्यायते, तत्राह–'चतुरंगुलप्पमाणं' चत्वार्यङ्गुलानि भुवोऽधो यदवगाढं तज्जघन्यतो दूरमोगाढमुच्यते, मध्यममुत्कृष्टं च चतुर्णामङ्गुलानामधस्ताद्विज्ञेयमिति । द्वारम् । आसन्नं व्याख्यायते, तत्राह—

दव्वासण्णं भवणाइयाण तद्दियं तु संजमायाए । आयापवयणसंजमदोसा पुण भावआसण्णे ॥ १८२ ॥ (भा०)

आसन्नं द्विविधं–द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यासन्नं भवनादीनामासन्ने व्युत्सृजतो द्रव्यासन्नं भवति, तत्र संयमात्मोपघातो भवति, तत्र च संयमोपघात एवं भवति–स गृहपतिस्तत्पुरीषं साधुव्युत्सृष्टं केनचित्कर्मकरेणान्यत्र त्याजयति ततश्च तत्प्रदेशविलेपने हस्तप्रक्षालने च संयमोपघातो भवति, आत्मोपघातश्च स गृहपती रुष्टः सन् कदाचित्ताडयति ततश्चात्मो-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

पघात इति, तस्माद्व्यासन्ने न व्युत्सृजनीयं। इदानीं भावासन्नं प्रतिपादयन्नाह–'आयापवयण'त्ति आत्मप्रवचनसंयमोपघातदोषा भावासन्ने भवन्ति, कथं ?, स हि साधुरन्ययोगव्यावृत्तस्तावदास्ते यावदतीव भावासन्नः संजातः, ततश्च त्वरितं प्रयाति, पुनश्च केनचिद्भूर्त्तेनोपलक्ष्य भावासन्नतां धर्मप्रच्छनव्याजेनार्द्धपथ एव धृतः ततश्च तस्य पुरीषवेगं धारयत आत्मोपघातो भवति, अथार्द्धपथ एव व्युत्सृजति ततश्च प्रवचनोपघातो भवति, संयमोपघातोऽपि तत्रैवाप्रत्युपेक्षितस्थण्डिले व्युत्सृजतो भवति, तस्मादनागतमेव गमने प्रवर्त्तते। इदानीं बिलवर्जितं व्याख्यायते, तत्राह—

होंति बिले दो दोसा तसेसु बीएसु वावि ते चेव। संजोगओ अ दोसा मूलगमा होंति सविसेसा॥१८३॥ (भा०)

बिलप्रदेशे व्युत्सृजतो दोषद्वयं भवति–आत्मविराधना संयमविराधना च, दारं। इदानीं "तसपाणबीयरहियं"ति व्याख्यायते, तत्राह–'तसेसु बीएसु वावि ते चेव' त्रसेषु व्युत्सृजतः संयमविराधनाऽऽत्मविराधना च भवति, बीजेषु च व्युत्सृजतस्त एव दोषा भवन्ति–आत्मविराधना संयमविराधना च, तत्रात्मविराधना गोक्षुरकप्रभृतीनामुपरि व्युत्सृजतो भवति, संयमविराधना तथैवेति, दारं। एवं तावदेकैकदोषदुष्टं स्थण्डिलमुक्तम्, इदानीं द्वितीयादिसंयोगेन दोषदुष्टतां प्रतिपादयन्नाह–'संजोगओ य' संयोगतो–द्व्यादिदोषसंबन्धेन 'मूलगमात्' मूलदोषभेदात्सकाशात् 'सविशेषाः' द्विगुणतरादयो दोषा भवन्ति, मूलभेदे तावदापातसंलोकदोषदुष्टता तथाऽन्यस्तत्रैव यद्युपघातदोषो भवति ततो द्विदोषसंयोगतः सविशेषा दोषा भवन्ति। एवं दोषत्रयादिसंयोगतः सविशेषा अधिका एकैकस्मिन् स्थण्डिले ज्ञेया इति। इदानीं तस्मिन् दोषरहिते स्थण्डिले प्राप्तस्य यो विधिः स उच्यते—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||१८३||

दीप अनुक्रम [५२४]

दिसिपवणगामसूरियछायाएँ पमज्जिऊण तिक्खुत्तो। जस्सोग्गहोत्ति काऊण वोसिरे आयमेज्जा वा ॥ ३१६ ॥

तत्र तेन साधुना सञ्ज्ञाव्युत्सृजता 'दिस'त्ति उत्तरायां दिशि पूर्वायां च न पृष्ठं दातव्यं, लोकविरोधात्, तथा पवन-ग्रामसूर्याणां च पृष्ठं दत्त्वा न व्युत्सृजनीयं, लोकविरोधादेव, तथा छायायां प्रमार्जयित्वा 'तिक्खुत्तो'त्ति तिस्रो वाराः प्रमार्जयित्वा तत्र व्युत्सृजनीयं,'जस्सोग्गहो'त्ति यस्यायमवग्रहस्तेनानुज्ञातव्य इत्येवं कृत्वा व्युत्सृजनीयं 'आयमेज्जा वा' निर्लेपनं चापाने एवमेव कुर्यात्, यदुत स्थण्डिलेऽनुज्ञापयित्वा चेति। इदानीमेतामेव गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह—

उत्तरपुव्वा पुज्जा जम्माएँ निसियरा अहिवडंति। घाणाऽरिसा य पवणे सूरियगामे अवण्णो उ ॥१८४॥ (भा०)

उत्तरा दिक् पूर्वा च किल लोके द्वे अपि पूज्ये, ततश्च तयोः पृष्ठं न दातव्यं, 'जम्माए निसियरा अभिवडंति' याम्या–दक्षिणा दिक् तस्यां च रात्रौ पृष्ठं न दातव्यं, किमित्येतदेवम् ?, उच्यते, रात्रौ निशाचराः–पिशाचादयः 'अभि-पतंति'त्ति अभिमुखा आगच्छन्ति, एतदुक्तं भवति–रात्रौ दक्षिणाया दिश उत्तरायां दिशि देवाः प्रयान्ति (इति) लोके श्रुतिः, ततश्च तत्र पृष्ठं न दातव्यं, प्रयच्छतो लोकविरोधो भवति,'घाणारिसा य पवणे'त्ति पवनस्य च पृष्ठं यदि दीयते ततो घ्राणार्शांसि भवन्ति, सूर्यग्रामयोश्च पृष्ठप्रदाने अवर्णः–अयशो भवति, । इदानीं 'छायाए'त्ति व्याख्यानयन्नाह—

संसत्तग्गहणी पुण छायाए निग्गयाण वोसिरइ। छायासइ उण्हंमिवि वोसिरिअ मुहुत्तयं चिट्ठे ॥१८५॥ (भा०)

'संसक्तग्रहणिः' कृमिसंसक्तोदर इत्यर्थः यद्यसौ साधुर्भवेत् ततो वृक्षच्छायायां निर्गतायां व्युत्सृजति, अथ छाया न भवति ततश्च व्युत्सृज्य मुहूर्त्तमात्रं तिष्ठेद् येन ते कृमयः स्वयमेव परिणमन्ति । किं चासौ करोतीत्यत आह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उवगरणं वामे ऊरुगंमि मत्तं च दाहिणे हत्थे । तत्थऽन्नत्थ व पुंछे तिहि आयमणं अदूरंमि ॥ ३१७ ॥

'उपकरणं' रजोहरणदण्डकादि वामे ऊरौ स्थापयति, मात्रकं च दक्षिणे हस्ते करोति, प्रोञ्छनं च अपानस्य तत्रान्यत्र वा करोति, यदि कठिनं पुरीषं ततस्तत्रैव प्रोञ्छयति, अथ श्लथं ततोऽन्यत्र,'तिहि आयमणं'ति त्रिभिश्चुलुकैर्निर्लेपनं करोति, 'अदूरंमि'त्ति स्थण्डिलस्यासन्नप्रदेशे निर्लेपनीयमिति । इदानीं स्थण्डिलयतनोच्यते, तत्राह—

पढमासइ अमणुन्नेयराण गिहियाण वावि आलोए । पत्तेयमत्त कुरुकुय दवं च पउरं गिहत्थेसु ॥ ३१८ ॥

प्रथमस्य–अनापातासंलोकरूपस्य 'असति' अभावे अथवा प्रथमस्य–संविग्नसमनोज्ञापातस्थण्डिलस्यासति क्व गन्तव्यमत आह–'अमणुण्ण'त्ति अमनोज्ञानामापाते स्थण्डिले गम्यते, 'इतराण'त्ति कुशीलानां संविग्नपाक्षिकाणामसंविग्नपाक्षिकाणां चापातस्थण्डिले गन्तव्यं, एतेषां चानन्तरोदितानां सर्वेषामेवमर्थमालोको नोपात्तो यतस्ते दूरस्थिता नाभोगयन्त्येव । 'गिहियाण वावि आलोए'त्ति तदभावे गृहस्थालोके स्थण्डिले गम्यते। 'पत्तेयमत्त'त्ति प्रत्येकं प्रत्येकं यानि मात्रकाणि गृहीतानि तैः प्रत्येकमात्रकैः 'कुरुकुचां' पादप्रक्षालनाचमनरूपां प्रचुरद्रवेण कुर्वन्ति,'गिहत्थेसु'त्ति गृहस्थविषये आलोके सति इदं पूर्वोक्तं कुरुकुचादि कुर्वन्तीति ॥

तेण परं पुरिसाणं असोयवाईण वच्च आवायं । इत्थिनपुंसालोए परंमुहो कुरुकुया सा उ ॥ ३१९ ॥

ततः परं यदि गृहस्थालोकं नास्ति स्थण्डिलं ततः पुरुषाणामापाते तत्राप्यशौचवादिनां व्रज आपातस्थण्डिलं । अथाशौ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चवादिपुरुषापातस्थण्डिलं नास्ति ततः 'इत्थिनपुंसालोए' स्त्रीनपुंसकालोके स्थण्डिले पराङ्मुखो व्युत्सृजति कुरुकुचा च सैव कर्त्तव्या ।

तेण परं आवायं पुरिसेअरइत्थियाण तिरियाणं । तत्थवि अ परिहरेज्जा दुगुंछिए दित्तचित्ते य ॥ ३२० ॥

ततः परं तदभावे सति पूर्वोक्तस्थण्डिलस्य तिरश्चां संबन्धिनो ये पुरुषा इतरे च नपुंसकाः स्त्रियः एतेषामापातस्थण्डिले व्युत्सृजनीयं, 'तत्थवि य'त्ति तत्रापि–तिरश्चां मध्ये जुगुप्सिता दृप्तचित्ताश्च परिहरणीयाः, यतस्तत्रात्मसंयमोपघातो भवति ॥

तत्तो इत्थिनपुंसा तिविहा तत्थवि असोयवाईसु । तहिअं तु सद्दकरणं आउलगमणं कुरुकुया य ॥ ३२१ ॥

ततस्तदभावे स्त्रीनपुंसकापातस्थण्डिले गन्तव्यं, तत्र स्त्री त्रिविधा–दण्डिककौटुम्बिकप्राकृतभेदभिन्ना, नपुंसकमपि त्रिविधं–दण्डिककौटुम्बिकप्राकृतभेदभिन्नं, तत्राप्यशौचवादिनामापाते व्युत्सृजनीयं, आह–स्त्राद्याशङ्कादयस्तत्र तदवस्था एव दोषाः ?, उच्यते, 'तहियं तु सद्दकरणं' तत्र स्थण्डिले व्रजन् अन्येषामाशङ्काविनिवृत्त्यर्थमुच्चैः काशितादिरूपं शब्दं करोति परस्परं वा जल्पन्तो व्रजन्ति ततस्ते गृहस्था नाशङ्कां–स्त्र्याद्यभिलषणरूपां कुर्वते यतस्ते प्रसभं प्रयान्तीति, अनाकुल-गमनं वा करोति, एकत्र मिलिता गच्छन्तीत्यर्थः, कुरुकुचा च पूर्ववत्कार्या । उक्तं स्थण्डिलद्वारम्, इदानीमवष्टम्भद्वारं प्रतिपादयन्नाह—

अव्वोच्छिन्ना तसा पाणा, पडिलेहा न सुज्झई । तम्हा हट्ठपहट्ठस्स, अवट्टंभो न कप्पई ॥ ३२२ ॥

अवष्टम्भः स्तम्भादौ न कर्त्तव्यः, यतः प्रत्युपेक्षितेऽपि तत्र पश्चादपि 'अव्यवच्छिन्नाः' अनवरतं त्रसाः प्राणा भवन्ति,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ततश्च तत्र प्रत्युपेक्षणा न शुद्ध्यति, 'तम्हा हट्ठपहट्ठस्स' हृष्टो–नीरोगः प्रहृष्टः–समर्थस्तरुणस्तस्य एवंविधस्य साधोरवष्टम्भो 'न कल्पते' नोक्तः । इदानीं के ते त्रसाः प्राणिन इत्येतत्प्रदर्शनायाह—

संचर कुंथुदेहिअलूयावेहे तहेव दाली अ । घरकोइलिआ सप्पे विस्संभरउंदुरे सरडे ॥ ३२३ ॥

तत्रावष्टम्भे–स्तम्भादौ संचरन्ति–प्रसर्पन्ति, के ते ?–कुन्थवः–सत्त्वा उदेहिकाश्च लूता–कोलिकः तत्कृतो वेधो–भक्षणं भवति, तथा च दाली–राजिर्भवति तस्यां च वृश्चिकादेराश्रयो भवति, तथा 'गृहकोकिलिका' घरोलिका उपरिष्टान्मूत्रयति, तन्मूत्रेण चोपघातो भवति चक्षुषः, सर्पो वा तत्राश्रितो भवेत् , विश्वम्भरो जीवविशेष उंदुरो वा भवेत्, 'सरटः' कृकलाशः, स च दशनादि करोति । इदानीं भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह—

संचारगा चउद्दिसिं पुव्विं पडिलेहिएवि अन्नंति । उद्देहि मूल पडणे विराहणा तदुभए भेओ ॥१८६॥ (भा०)

'सञ्चारकाः' कुन्थ्वादयः पूर्वोक्ताश्चतसृषु दिक्षु तस्मिन्नवष्टम्भे परिभ्रमन्ति, पूर्वं प्रत्युपेक्षितेऽपि तत्र स्तम्भादाववष्टम्भेऽनुयन्ति आगच्छन्ति । दारं । 'उद्देहि'त्ति कदाचिदसौ स्तम्भादिरवष्टम्भो मूल उद्देहिकादिभक्षितः ततश्चावष्टम्भं कुर्वतः पतति, पुनश्च विराधना 'तदुभए' भवति आत्मनि संयमे च भेदश्च पात्रकादेर्भवति । दारं ।

लूयाइचमद्दणा संजमंमि आयाए विच्छुगाइया । एवं घरकोइलिआ अहिउंदुरसरडमाईसु ॥ १८७॥ (भा०)

लूतादिचमर्दने–मर्दने संयमे–संयमविषया विराधना भवति, आत्मविराधना च वृश्चिकादिभिः क्रियते । एवं गृहकोलिका (अहि) उन्दरसरडादिविषया संयमविराधना आत्मविराधना च भवति । उक्त उत्सर्गः, इदानीमपवाद उच्यते—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अतरंतस्स उ पासा गाढं दुक्खंति तेणऽवट्टंभे । संजयपट्टी थंभे सेल कुहाकुड्डविट्टीए ॥ ३२४ ॥

'अतरंतस्स' अशक्नुवतो ग्लानादेः पार्श्वानि गाढं–अत्यर्थं दुःखंति तेन कारणेनावष्टम्भं कुर्वन्ति, अत आह–संयतपृष्ठे स्तम्भे वा 'सेल'त्ति पाषाणमये स्तम्भे सुधामार्ष्टे कुड्ये वाऽवष्टम्भं कुर्वीत, उपधिकां विष्टिकां वा कुड्यादौ कृत्वा ततोऽवष्टम्भं करोति । उक्तमवष्टम्भद्वारम्, इदानीं मार्गद्वारं प्रतिपादयन्नाह—

पंथं तु वच्चमाणा जुगंतरं चक्खुणा व पडिलेहा । अइदूरचक्खुपाए सुहुमतिरिच्छगय न पेहे ॥ ३२५ ॥

पथि व्रजन् 'युगान्तरं' युगं–चतुर्हस्तप्रमाणं तन्मात्रान्तरं चक्षुषा प्रत्युपेक्षेत, किं कारणं ?, यतोऽतिदूरचक्षुःपाते सति सूक्ष्मांस्तिर्यग्मतान् प्राणिनः 'न पेहे' न पश्यति, दूरे दूरे प्रहितत्वाच्चक्षुषः ।

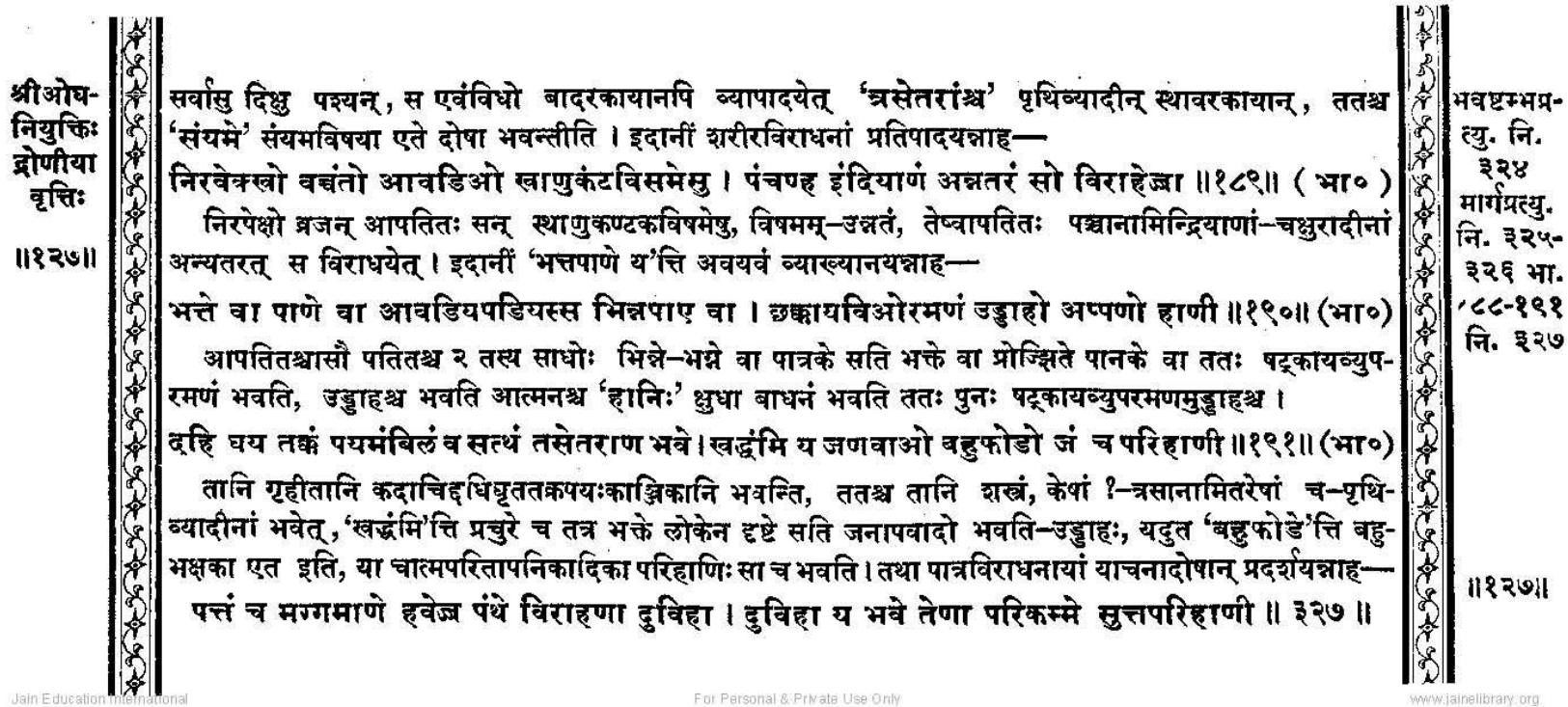
अचासन्ननिरोहे दुक्खं दट्ठुंपि पायसंहरणं । छक्कायविओरमणं सरीर तह भत्तपाणे य ॥ ३२६ ॥

अत्यासन्ने निरोधं करोति चक्षुषस्ततो दृष्ट्वाऽपि प्राणिनां दुःखेन पादसंहरणं, पादं प्राणिनि निपतन्तं धारयतीत्यर्थः, अतिसन्निकृष्टत्वाच्चक्षुषः । 'छक्कायविओरमणं'ति षट्कायानां विराधनं भवति, शरीरविराधनां तथा भक्तपानविराधनां करोतीति । इदानीमस्या एव गाथायाः पश्चार्द्धं व्याख्यानयन्नाह—

उड्ढमुहो कहरतो अवयक्खंतो वियक्खमाणो य । वातरकाए वहए तसेतरे संजमे दोसा ॥ १८८ ॥ (भा०)

ऊर्द्धमुखो व्रजन् कथासु च रक्तः–सक्तः 'अवयक्खंतो'त्ति पृष्ठतोऽभिमुखं निरूपयन् 'वियक्खमाणो'त्ति विविधं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



श्रीओघ-नियुक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१२७॥

सर्वासु दिक्षु पश्यन्, स एवंविधो बादरकायानपि व्यापादयेत् 'त्रसेतरांश्च' पृथिव्यादीन् स्थावरकायान्, ततश्च 'संयमे' संयमविषया एते दोषा भवन्तीति । इदानीं शरीरविराधनां प्रतिपादयन्नाह—

निरवेक्खो वच्चंतो आवडिओ खाणुकंटविसमेसु । पंचण्ह इंदियाणं अन्नतरं सो विराहेज्जा ॥१८९॥ (भा०)

निरपेक्षो व्रजन् आपतितः सन् स्थाणुकण्टकविषमेषु, विषमम्–उन्नतं, तेष्वापतितः पञ्चानामिन्द्रियाणां–चक्षुरादीनां अन्यतरत् स विराधयेत् । इदानीं 'भत्तपाणे य'त्ति अवयवं व्याख्यानयन्नाह—

भत्ते वा पाणे वा आवडियपडियस्स भिन्नपाए वा । छक्कायविओरमणं उड्डाहो अप्पणो हाणी ॥१९०॥ (भा०)

आपतितश्चासौ पतितश्च २ तस्य साधोः भिन्ने–भग्ने वा पात्रके सति भक्ते वा प्रोज्झिते पानके वा ततः षट्कायव्युपरमणं भवति, उड्डाहश्च भवति आत्मनश्च 'हानिः' क्षुधा बाधनं भवति ततः पुनः षट्कायव्युपरमणमुड्डाहश्च ।

दहि घय तक्कं पयमंबिलं व सत्थं तसेतराण भवे । खद्धंमि य जणवाओ बहुफोडो जं च परिहाणी ॥१९१॥ (भा०)

तानि गृहीतानि कदाचिद्दधिघृततक्रपयःकाञ्जिकानि भवन्ति, ततश्च तानि शस्त्रं, केषां ?–त्रसानामितरेषां च–पृथिव्यादीनां भवेत्, 'खद्धंमि'त्ति प्रचुरे च तत्र भक्ते लोकेन दृष्टे सति जनापवादो भवति–उड्डाहः, यदुत 'बहुफोडे'त्ति बहुभक्षका एत इति, या चात्मपरितापनिकादिका परिहाणिः सा च भवति । तथा पात्रविराधनायां याचनादोषान् प्रदर्शयन्नाह—

पत्तं च मग्गमाणे हवेज्ज पंथे विराहणा दुविहा । दुविहा य भवे तेणा परिकम्मे सुत्तपरिहाणी ॥ ३२७ ॥

भवष्टम्भप्रत्यु. नि. ३२४ मार्गप्रत्यु. नि. ३२५-३२६ भा. १८८-१९१ नि. ३२७

॥१२७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पात्रं चान्विषति सति ग्रामादौ भवेत् पथि विराधना द्विविधा–आत्मविराधना संयमविराधना च, पथि स्तेनाश्च द्विप्रकारा भवन्ति–उपधिस्तेनाः शरीरस्तेनाश्च, लब्धेऽपि कृच्छ्रात्पात्रके तत् परिकर्मयतः–तद्व्यापारे लग्नस्य सूत्रार्थपरिहानिः ॥

एसा पडिलेहणविही कहिआ भे धीरपुरिसपन्नत्ता । संजमगुणहगाणं निग्गंथाणं महरिसीणं ॥ ३२८ ॥

अयं च प्रत्युपेक्षणाविधिः कथितो 'भे' भवतां, किंविशिष्टः?–'धीरपुरुषैः प्रज्ञप्तः' गणधरैः प्ररूपितः, संयमगुणैराढ्यानां निर्ग्रन्थानां 'महर्षीणां' सत्यवादिनां कथित इति ॥ तथा—

एयं पडिलेहणविहिं जुंजंता चरणकरणमाउत्ता । साहू खवंति कम्मं अणेगभवसंचिअमणंतं ॥ ३२९ ॥

एतं प्रत्युपेक्षणाविधिं 'युञ्जन्तः' कुर्वाणाः चरणकरणयोगयुक्ताः सन्तः साधवः क्षपयन्ति कर्म, किंविशिष्टम् ?–'अनेकभवसञ्चितम्' अनेकभवोपात्तम् 'अनन्तम्' अनन्तकर्मपुद्गलनिर्वृत्तत्वात्तदनन्तमिति, अनन्तानां वा भवानां हेतुर्यत्तदनन्तं क्षपयन्तीति । उक्तं मार्गप्रत्युपेक्षणाद्वारं, तत्प्रतिपादनाच्चोक्तं प्रत्युपेक्षणाद्वारमिति प्रतिलेखनाद्वारं समाप्तं ॥

इदानीं पिण्डद्वारप्रतिपादनायाह—

पिंडं व एसणं वा एत्तो वोच्छं गुरूवएसेणं । गवेसणगहणघासेसणाएँ तिविहाए विसुद्धं ॥ ३३० ॥

पिण्डं वक्ष्ये एषणां च, एषणा–गवेषणा तां च अतः परं वक्ष्ये, गुरूपदेशेन न स्वमनीषिकया, सा चैषणा त्रिविधा भवति–गवेषणैषणा ग्रहणैषणा ग्रासैषणा चेति, अनया त्रिविधयाऽप्येषणया विशुद्धः–शुचिर्यः पिण्डस्तं वक्ष्य इति योगः । 'यथोद्देशं निर्देश' इतिन्यायात्प्रथमं पिण्डमेव व्याख्यानयन्नाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र पिण्डद्वारस्य प्ररुपणा क्रियते

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||३३१||

दीप अनुक्रम [५४८]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्ति:

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१२८॥

पिंडस्स उ निक्खेवो चउक्कओ छक्कओ य कायवो। निक्खेवं काऊणं परूवणा तस्स कायवा ॥ ३३१ ॥

तत्र पिण्डनं–पिण्डः, 'पिण्ड सङ्घाते', पिण्ड इत्यस्य पदस्य निक्षेपः कर्त्तव्यः, स च निक्षेपकश्चतुष्कक: क्रियते षट्को वा, एवं निक्षेपं कृत्वा प्ररूपणा–व्याख्या तस्यैव पिण्डस्य कर्त्तव्या ॥ तत्र चतुष्ककनिक्षेपं प्रतिपादयन्नाह—

नामं ठवणापिंडो दव्वपिंडो य भावपिंडो य। एसो खलु पिंडस्स उ निक्खेवो चउव्विहो होइ ॥ ३३२ ॥

नामपिण्डः स्थापनापिण्डो द्रव्यपिण्डो भावपिण्डश्चेत्येष तावच्चतुष्कको निक्षेपः, यदा पुनः क्षेत्रपिण्डः कालपिण्डश्च निक्षिप्यते तदाऽयमेव षट्को वा भवति, तत्र नामपिण्डः–पिण्ड इति नाम यस्य स नामपिण्डः। तच्च—

गोण्णं समयकयं वा जं वावि हवेज्ज तदुभएण कयं। तं बिंति नामपिण्डं ठवणापिंडं अओ वोच्छं ॥ ३३३ ॥

तच्च नाम गोण्णं भवति यथा गुडपिण्ड इति, तथाऽन्यत्समयकृतं भवति, समयः–सिद्धान्तस्तेन कृतं, यथा "से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविट्ठे समाणे जं जाणेज्जा अंबपाणगं वा" इत्यादि, यद्यप्यसौ पानकस्य द्रवस्वभावस्य (कृते) प्रविष्टस्तथाऽप्यसौ पिण्डार्थं प्रविष्ट इत्युच्यते, एष समयसिद्धः पिण्डः, यद्वा नाम भवेत्तदुभयेन कृतं–लोकलोकोत्तरकृतं वा यन्नाम भवेत्, यथा 'गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविट्ठेण पिंडो चेव सत्तुगाणं केरओ लद्धओ गुडपिंडो वा" तत्र लोके गुडपिण्डकः गुडपिण्डक एवोच्यते, समयेऽप्येवमेव पिण्डक उच्यते, एवमेवंगुणविशिष्टं सर्वमेव नामपिण्डं ब्रुवते, अत ऊर्ध्वं स्थापनापिण्डं वक्ष्य इति।

अक्खे वराडए वा कट्ठे पोत्थे व चित्तकम्मे वा। सब्भावमसब्भावा ठवणापिंडं वियाणाहि ॥ ३३४ ॥

प्रतिलेखना समाप्तिःनि. ३२८-३२९ पिण्डनिक्षेपः नि. ३३०-३३४

॥१२८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ पिण्ड विषयक निक्षेप-आदि: वर्णनं क्रियते

स्थापना द्विविधा–सद्भावस्थापना असद्भावस्थापना चेति, तत्राक्षविषया सद्भावस्थापना असद्भावस्थापना च भवति, कथं ?, यदा एक एवाक्षः पिण्डकल्पनया बुद्ध्या कल्प्यते तदाऽसद्भावस्थापना, यत्र पुनस्त एवाक्षाखिप्रभृतय एकत्र स्थाप्यन्ते तदा सद्भावस्थापना, एवं 'वराटकेषु' कपर्दकेषु, तथा काष्ठकर्मणि वेति, यदैकमेव काष्ठं पिण्ड एष इत्येवं कल्प्यते तदाऽसद्भावस्थापना, यदा तु एकत्र बहूनि मिलितानि पिण्डत्वेन कल्प्यन्ते तदा सद्भावस्थापना, एवं 'पुस्ते' धीउलिकादौ पुत्तलिकादिष्वपि एवं चित्रकर्मण्यपि, यदैकचित्रकर्मणि पुत्तलपिण्ड इति स्थाप्यते तदाऽसद्भावपिण्डस्थापना यदा त्रिप्रभृति पिण्डबुद्ध्या कल्प्यते तदा सद्भावस्थापना, एवं सद्भावपिण्डमसद्भावपिण्डं च जानीहि । इदानीं द्रव्यपिण्डस्य ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तस्य प्रतिपादनायाह—

तिविहो य दव्वपिंडो सचित्तो मीसओ य अचित्तो । अचित्तो य दसविहो सचित्तो मीसओ नवहा ॥ ३३५ ॥

त्रिविधो द्रव्यपिण्डः–सचित्तोऽचित्तो मिश्रश्चेति, तत्र योऽसावचित्तः स दशविधः सचित्तो नवप्रकारः मिश्रश्च नवधा ॥ तत्राचित्तपिण्डप्रतिपादनायाह—

पुढवी आउक्काए तेउवाऊवणस्सई चेव । बिअतिअचउरो पंचिंदिया य लेवो य दसमो उ ॥ ३३६ ॥

पृथिवीकायपिण्डः अप्कायपिण्डस्तेजस्कायपिण्डः वायुकायपिण्डः वनस्पतिकायपिण्डः द्वीन्द्रियपिण्डः त्रीन्द्रियपिण्डः चतुरिन्द्रियपिण्डः पञ्चेन्द्रियपिण्डः पात्रकार्थं लेपपिण्डश्चेति दशमः । एवमयं दशप्रकारोऽचित्तपिण्डः, इदानीं योऽसौ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अचित्तः पृथिवीकायादिपिण्डः स सचित्तपूर्वको भवतीतिकृत्वा[ऽतः]स एव प्रथमं सचित्तः प्रतिपाद्यते, तथोपन्यासोऽपि सचित्तस्यैव प्रथमं कृतः, तथा योऽसौ सचित्तो मिश्रश्च एकैको नवप्रकार उक्तः सोऽप्यनेनैव क्रमेण व्याख्यातो भवतीतिकृत्वा पूर्वं सचित्तं व्याख्यानयन्नाह—

पुढविक्काओ तिविहो सचित्तो मीसओ य अचित्तो। सचित्तो पुण दुविहो निच्छयववहारिओ चेव ॥ ३३७ ॥

पृथिवीकायस्त्रिविधः सचित्तो मिश्रोऽचित्तश्च, तत्र सचित्तो द्विविधः–निश्चयसचित्तो व्यवहारसचित्तश्च।

निच्छयओ सचित्तो पुढविमहापव्वयाण बहुमज्झे। अचित्तमीसवज्जो सेसो ववहारसचित्तो ॥ ३३८ ॥

निश्चयतः सचित्तः पृथिवीनां-रत्नशर्कराप्रभृतीनां संबन्धी यः 'महापर्वतानां' हिमवदादीनां च 'बहुमध्ये' मध्यदेशभागे। इदानीं व्यवहारसचित्तप्रतिपादनायाह–अचित्तवर्जःमिश्रवर्जश्च, एतदुक्तं भवति–योऽचित्तो न भवति न च मिश्रः स व्यवहारतः सचेतन इति, स चारण्यादौ भवति यत्र वा गोमयादि नास्ति। उक्तः सचित्तः पृथिवीकायः, इदानीं मिश्रपृथिवीकायं प्रतिपादयन्नाह—

खीरदुमहेट्ठ पंथे कट्ठोल्ला इंधणे य मीसो य। पोरिसि एगदुगतिगं बहुइंधणमज्झथोवे अ ॥ ३३९ ॥

क्षीरद्रुमाः–उदुम्बरादयस्तेषामधो यः पृथिवीकायः स मिश्रः, ते हि क्षीरद्रुमा मधुरस्वभावा भवन्ति, पथि च मिश्रपृथिवीकायः, 'कट्ठोल्लो'त्ति हलकृष्टो यः पृथिवीकायस्तत्क्षणादेव आर्द्रश्च शुष्कश्च क्वचिन्मिश्रपृथिवीकायः 'इंधणे'त्ति इन्धनं–गोमयो भण्यते, तत्थ कुम्भकारेण सद्दवो आणिओ तेण मिलितो संतो पृथिवीकायो मिश्रो भवति, कियत्कालं यावद् ?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत आह–'पोरिसीएगदुगतिगं' यथासङ्ख्येन च 'बहुइंधणमडिझधणथोविंधग' यदि बहु इन्धनं स्वल्पः पृथिवीकायस्ततः पौरुषीमात्रं यावत् मिश्रो भवति, मध्ये तु इन्धने अर्द्धमिन्धनस्य अर्द्धं पृथिवीकायस्य यत्र स पौरुषीद्वितयं यावन्मिश्रः स्वल्पेन्धनस्तु पृथिवीकायः पौरुषीत्रयं यावन्मिश्रो भवति । उक्तो मिश्रः, इदानीमचित्त उच्यते, स चैवं भवति—

सीउण्हखारखत्ते अग्गीलोणूसअंबिले नेहे । वक्कंतजोणिएणं पओयणं तेणिमं होंति ॥ ३४० ॥

शीतशस्त्राभिहतः उष्णशस्त्राभिहितः क्षारः–तिलक्षारादिस्तेनाभिहतो यः क्षत्रशस्त्रेणाभिहतः, क्षत्रं–करीषविशेषः, अग्निशस्त्राभिहतः लवणशस्त्राभिहतः (अवश्यायशस्त्राभिहितः) काञ्जिकशस्त्राभिहतः, स्नेहेन–घृतादिना शस्त्रेणाभिहतः सन् यो·व्युत्क्रान्तयोनिकः, अथवा 'विक्कंतजोणिएवि य' केचित्पठन्ति, तत्रायमर्थः–व्युत्क्रान्ता–अपगता योनिः स्वयमेव यस्य पृथिवीकायस्य तेन च 'इदं' वक्ष्यमाणं प्रयोजनं भवति । किं तत्प्रयोजनमित्यत आह—

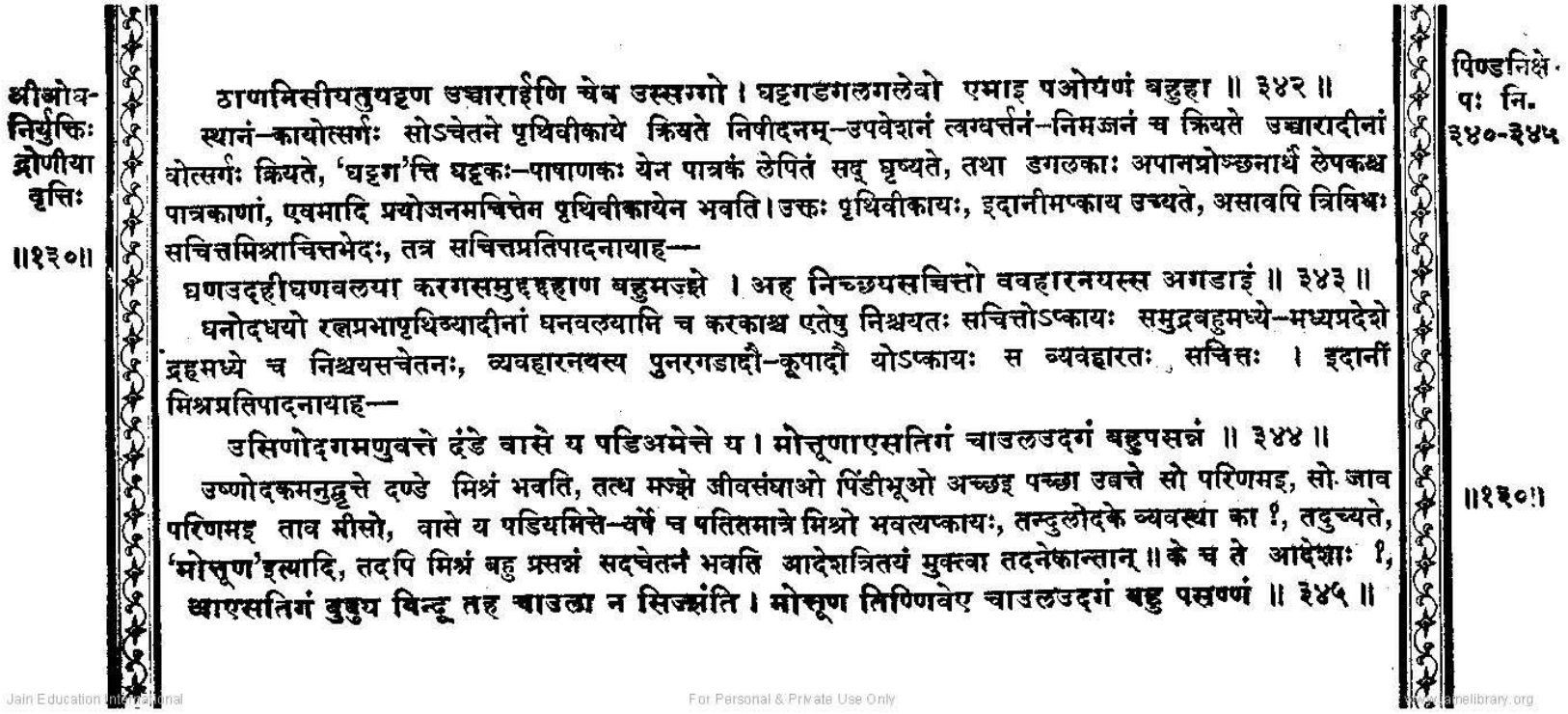
अवरद्धिग विसबंधे लवणेण व सुरभिउवलएणं च । अचित्तस्स उ गहणं पओयणं होइ जं चऽन्नं ॥ ३४१ ॥

अवरद्धिगा–लूता फोडिआ तस्यां लूतास्फोटिकायामुत्थितायां दाहोपशमार्थमचेतनेन पृथिवीकायेन परिषेकः क्रियते, यदिवा अवरद्धिगा–सर्पदंशस्तस्मिन् परिषेकादि क्रियते, दंशे विषे वा पतिते सति तयाऽचेतनया मृत्तिकया बन्धो दीयते, लवणेन वा प्रयोजनमचित्तेन भवति, 'सुरहितोवलएणं व'त्ति गन्धारोहकेणापि किञ्चित्प्रयोजनं भवत्यामादौ, एभिः प्रयोजनैरचेतनस्य पृथिवीकायस्य ग्रहणं भवति–प्रयोजनं भवति । इदं च वक्ष्यमाणलक्षणमन्यत्—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||३४२||

दीप अनुक्रम [५५९]



श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१३०॥

ठाणमिसीयतुयट्टण उच्चाराईणि चेव उस्सग्गो । घट्टगडगलगलेवो एमाइ पओयणं बहुहा ॥ ३४२ ॥

स्थानं–कायोत्सर्गः सोऽचेतने पृथिवीकाये क्रियते निषीदनम्–उपवेशनं त्वग्वर्त्तनं–निमज्जनं च क्रियते उच्चारादीनां वोत्सर्गः क्रियते, 'घट्टग'त्ति घट्टकः–पाषाणकः येन पात्रकं लेपितं सद् घृष्यते, तथा डगलकाः अपानप्रोञ्छनार्थं लेपकश्च पात्रकाणां, एवमादि प्रयोजनमचित्तेन पृथिवीकायेन भवति। उक्तः पृथिवीकायः, इदानीमप्काय उच्यते, असावपि त्रिविधः सचित्तमिश्राचित्तभेदः, तत्र सचित्तप्रतिपादनायाह—

घणउदहीघणवलया करगसमुद्दद्दहाण बहुमज्झे । अह निच्छयसचित्तो ववहारनयस्स अगडाइं ॥ ३४३ ॥

घनोदधयो रत्नप्रभापृथिव्यादीनां घनवलयानि च करकाश्च एतेषु निश्चयतः सचित्तोऽप्कायः समुद्रबहुमध्ये–मध्यप्रदेशे द्रहमध्ये च निश्चयसचेतनः, व्यवहारनयस्य पुनरगडादौ–कूपादौ योऽप्कायः स व्यवहारतः सचित्तः । इदानीं मिश्रप्रतिपादनायाह—

उसिणोदगमणुवत्ते दंडे वासे य पडिअमेत्ते य । मोत्तूणाएसतिगं चाउलउदगं बहुपसन्नं ॥ ३४४ ॥

उष्णोदकमनुद्वृत्ते दण्डे मिश्रं भवति, तत्थ मज्झे जीवसंघाओ पिंडीभूओ अच्छइ पच्छा उव्वत्ते सो परिणमइ, सो जाव परिणमइ ताव मीसो, वासे य पडियमित्ते–वर्षे च पतितमात्रे मिश्रो भवत्यप्कायः, तन्दुलोदके व्यवस्था का ?, तदुच्यते, 'मोत्तूण'इत्यादि, तदपि मिश्रं बहु प्रसन्नं सदचेतनं भवति आदेशत्रितयं मुक्त्वा तदनेकान्तान् ॥ के च ते आदेशाः ?,

आएसतिगं वुच्चय विन्दू तह चाउला न सिज्झंति । मोत्तूण तिण्णिवेए चाउलउदगं बहु पसण्णं ॥ ३४५ ॥

पिण्डनिर्युक्तेः पः नि. ३४०-३४५

॥१३०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

केई भणंति–जाव बुब्बुया ण फिट्टंति ताव तं मीसं, अण्णे भणंति–भंडवलग्गा बिंदुणो ण सुक्कंति जाव ताव मीसं, अण्णे भणंति–जाव चाउलो ण सिज्झंति ताव मीसं, एसे अणाएसा, जम्हा एयाणि तिण्णि वत्थूणि कयाइ चिरेण होंति कयाइं सिग्घतरं चेव आधारवशात् , तम्हा चाउलोदगं जदा बहु पसन्नं होइ तदा तं अचित्तं भवति, अथवा मुक्त्वा तन्दुलोदकं बहुप्रसन्नं यदन्यदादेशत्रितयं प्रतिपादितं तच्च मिश्रं द्रष्टव्यमिति । उक्तो मिश्रोऽप्कायः, इदानीमचित्तप्रतिपादनायाह—

सीउण्हखारखत्ते अग्गीलोणूसअंबिले नेहे । वक्कंतजोणिएणं पओयणं तेणिमं होंति ॥ ३४६ ॥

पूर्ववत् । तेन चाचित्ताप्कायेन इदं प्रयोजनं क्रियते—

परिसेयपियणहत्थाइधोवणा चीरधोवणा चेव । आयमण भाणधुवणे एमाइ पओयणं बहुहा ॥ ३४७ ॥

परिषेकः–सेचनं कुष्ठाद्युत्थिते सति क्रियते, तथा पानं हस्तादिधावनं चीरधावनं च क्रियते, तथा आचमनं भाजनप्रक्षालनं च क्रियते, एवमादीनि प्रयोजनानि बहुधा भवन्ति । इदानीं चीरप्रक्षालनं क्रियत इत्युक्तं तच्च ऋतुबद्धे न कर्त्तव्यं अथ क्रियते तत एते दोषा भवन्ति—

उउबद्धधुवण वाउस बंभविणासो अठाणठवणं च । संपाइमवाउवहो पलवण आतोपघातो य ॥ ३४८ ॥

ऋतुबद्धः–शीतोष्णकालौ मिलितावपि चैव भण्यते, तत्र यदि चीवराणां धावनं क्रियते ततो बाकुशिको भवति विभूषणशील इत्यर्थः, यदा च विभूषणशीलस्तदा ब्रह्मविनाशो भवति, तथा अस्थानस्थापनं च भवति, यदुत नूनमयं कामी तेनात्मानं मण्डयति ततश्चास्थानस्थापनम्–अयोग्यतास्थापनं भवतीति, तथा संपातिमसत्त्वानां वायोश्च वधो भवति,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||३४८||

दीप अनुक्रम [५६५]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्ति:

तथा प्लवनेन च सत्त्ववधो भवति, तथाऽऽत्मोपघातश्च भवति हस्ते कण्डकपतनादिति । आह–यद्येवं न धावितव्यान्येव चीवराणि, उच्यते, वर्षाकाले प्रक्षालयितव्यानि, अथ न प्रक्षाल्यन्ते तत एते दोषा भवन्ति—

अइभारचुडणपणए सीयलपावरण अजीरगेलन्ने । ओभावणकायवहो वासासु अधोवणे दोसा ॥ ३४९ ॥

मलेनातिगुरूणि भवन्ति, तथा 'चुडण'त्ति जीर्यन्ते पनकश्च तत्र लगति पनकः–फुल्ली, शीतलप्रावरणे चाजीर्णं भवति, ततश्च ग्लानता भवति, तथा 'उवहावणा' परिभवो भवति कायवधश्च भवति, तानि हि आर्द्राणि श्योतन्ति सन्ति अप्कायादि विनाशयन्ति, एते वर्षास्वधावने दोषाः । कदा प्रक्षालनं कार्यमित्याह—

अप्पत्ते चिय वासे सव्वं उवहिं धुवंति जयणाए । असइए व दवस्स उ जहन्नओ पायनिज्जोगो ॥ ३५० ॥

वर्षाकाले अप्राप्ते एव अर्द्धमासमात्रेण सर्वमुपधिं प्रक्षालयन्ति यतनया । अथोदकं प्राशुकं प्रचुरं नास्ति ततो जघन्येन 'पात्रनिर्योगं'पात्रकोपकरणं प्रक्षालनीयं येन गृहस्था भिक्षां प्रयच्छन्तो न जुगुप्सन्ते इति । आह–सर्वेषां वर्षपर्यन्त एवोपधिः प्रक्षाल्यते ?, न इत्याह—

आयरियगिलाणाणं मइला मइला पुणोवि धोवंति।मा हु गुरूण अवन्नो लोगंमि अजीरणं इयरे ॥ ३५१ ॥

सुगमा ॥ नवरं 'अजीरणं इयरे'त्ति इतरेषां ग्लानानां चीवराणि प्रक्षालनीयानि यदि न प्रक्षाल्यन्ते ततोऽजीर्णं भवति । इदानीमुपधिप्रक्षालनकाले कानि न विश्रामणीयानि ? इत्याह—

पायस्स पडोयारं दुनिसज्जे तिपट्टपोत्तिरयहरणं । एते ण उ विस्सामे जयणा संकामणा धुवणा ॥ ३५२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ वस्त्र-प्रक्षालन विधि: वर्ण्यते

पात्रस्य 'पडोयारं' परिकरणं पात्रबन्धादिकं न विश्रामयेत्, तथा 'दुन्नि निसज्जे'त्ति रजोहरणनिषद्याद्वयं एका और्णिकी बाह्यनिषद्या द्वितीया मध्यवर्त्तिनी क्षोमनिषद्या इदं द्वयं न विश्रामणीयं 'तिपट्ट'त्ति एकः संस्तारकपट्टको द्वितीय उत्तरपट्टकः तृतीयश्चोलपट्टकः 'पोत्ति'त्ति मुखवस्त्रिका रजोहरणं–प्रतीतमेव एतानि न विश्रामयेत्, यतो नान्यान्यनुपभोग्यानि सन्ति । तत्र च षट्पदसङ्क्रमणं कथमित्याह–'जयणा संकमणा' यतना वस्त्रान्तरितेन हस्तेनान्यस्मिन् वस्त्रे षट्पदीः सङ्क्रामयति ततो धावनं करोति । इदानीं शेषमुपधिं विश्रामयतो विधिमाह—

अब्भिंतरपरिभोगं उवरिं पाउणइ णातिदूरे य। तिन्नि य तिन्नि य न एक्कं निसिं उं काउं पडिच्छेज्जा ॥ ३५३ ॥

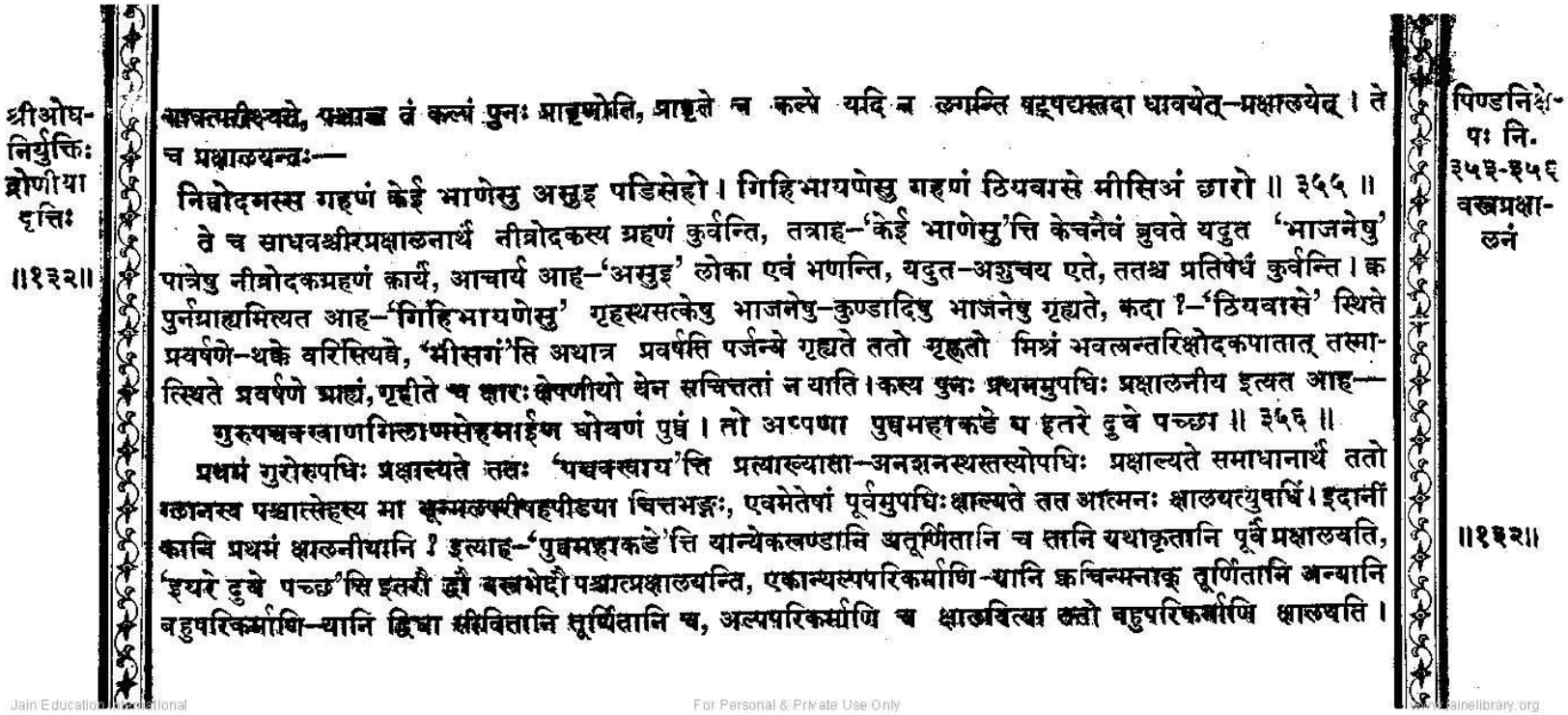
'अब्भिंतरपरिभोगं' क्षोमकल्पं शेषकल्पयोरुपरि प्रावृणोति, कतराः?, त्रयस्तिस्र इति वक्ष्यति, तथा नातिदूरे नात्यासन्ने तमेव कल्पं रात्रित्रयमेव स्थापयति, 'तिन्नि य तिन्नि य'त्ति पदद्वयं योजितमेव द्रष्टव्यं,'एक्कं निसिउं काउं'ति एकां रात्रिमात्मोपरि कीलकादौ स एव कल्पः स्थाप्यते । 'पडिच्छेज्ज'त्ति एवं सप्त दिनानि परीक्षा कार्या । अथवा 'परिक्खेज्ज'त्ति एवं सप्तवाराः कृत्वा पुनश्च शरीरे वस्त्रं प्रावृत्य परीक्षणीयं, यदि षट्पद्यो न लगन्ति ततः प्रक्षालनीयमिति ॥

केई एक्केक्कनिसिं संवासेउं तिहा पडिच्छंति । पाउणियजयणलग्गंति छप्पया ताहे धोवेज्जा ॥ ३५४ ॥

केचनाचार्या एवमाहुः–'एक्केक्कनिसिं संवासेउं'ति अयमत्रार्थः–तमभ्यन्तरं कल्पं क्षोममितरकल्पयोरुपरि एकां रात्रिं प्रावृणोति, पुनरपरस्यां रात्रावात्मासन्ने स्थापयति, पुनरपरस्यां रात्रौ आत्मोपरि कीलकादौ लम्बमानं करोति, एवं त्रिरात्रं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगम (४१/१)	[भाग-३२] "ओघनिर्युक्ति"– मूलसूत्र-२/१ (मूलं+निर्युक्तिः+वृत्तिः) मूलं [५७१] ●➔ "निर्युक्तिः [३५४] + भाष्यं [१८८...] + प्रक्षेपं [२५...]" ←●
प्रत गाथांक नि/भा/प्र ॥३५४॥ दीप अनुक्रम [५७१]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः



श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः ॥१३२॥

यावत्परिष्ठापयति, पश्चाच्च तं कल्पं पुनः प्रारभते, प्रारब्धे च कल्पे यदि न लगन्ति बहूपधिस्तदा धावयेत्–प्रक्षालयेत् । ते च प्रक्षालयन्तः—

निव्वोदगस्स गहणं केई भाणेसु असुइ पडिसेहो । गिहिभायणेसु गहणं ठियवासे मीसिअं छारो ॥ ३५५ ॥

ते च साधवश्चीरप्रक्षालनार्थं नीव्रोदकस्य ग्रहणं कुर्वन्ति, तत्राह–'केई भाणेसु'त्ति केचनैवं ब्रुवते यदुत 'भाजनेषु' पात्रेषु नीव्रोदकग्रहणं कार्यं, आचार्य आह–'असुइ' लोका एवं भणन्ति, यदुत–अशुचय एते, ततश्च प्रतिषेधं कुर्वन्ति । क्व पुर्नग्राह्यमित्यत आह–'गिहिभायणेसु' गृहस्थसत्केषु भाजनेषु–कुण्डादिषु भाजनेषु गृह्यते, कदा ?–'ठियवासे' स्थिते प्रवर्षणे–थके वरिसिथवे, 'मीसगं'ति अथात्र प्रवर्षति पर्जन्ये गृह्यते ततो गृह्णतो मिश्रं भवत्यन्तरिक्षोदकपातात् तस्मा-स्थिते प्रवर्षणे ग्राह्यं, गृहीते च क्षारः क्षेपणीयो येन सचित्ततां न याति । कस्य पुनः प्रथममुपधिः प्रक्षालनीय इत्यत आह—

गुरुपच्चक्खाणगिलाणसेहमाईण धोवणं पुव्वं । तो अप्पणा पुव्वमहाकडे य इतरे दुवे पच्छा ॥ ३५६ ॥

प्रथमं गुरोरुपधिः प्रक्षाल्यते ततः 'पच्चक्खाय'त्ति प्रत्याख्यातो–अनशनस्थस्तस्योपधिः प्रक्षाल्यते समाधानार्थं ततो ग्लानस्य पश्चात्तस्य मा भून्मलपरीषहपीडया चित्तभङ्गः, एवमेतेषां पूर्वमुपधिः क्षाल्यते तत आत्मनः क्षालयत्युपधिं । इदानीं कानि प्रथमं क्षालनीयानि ? इत्याह–'पुव्वमहाकडे'त्ति यान्येकखण्डानि अतूर्णितानि च तानि यथाकृतानि पूर्वं प्रक्षालयति, 'इयरे दुवे पच्छ'त्ति इतरौ द्वौ वस्त्रभेदौ पश्चात्प्रक्षालयन्ति, एकान्यल्पपरिकर्माणि–यानि क्वचिन्मनाक् तूर्णितानि अन्यानि बहुपरिकर्माणि–यानि द्विधा सीवितानि तूर्णितानि च, अल्पपरिकर्माणि च क्षालयित्वा ततो बहुपरिकर्माणि क्षालयति ।

पिण्डनिर्युक्तिः नि. ३५३-३५६ वस्त्रप्रक्षालनं

॥१३२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||३५७||

दीप अनुक्रम [५७४]

अच्छोडपिट्टणासु त ण धुवे धावे पतावणं न करे। परिभोगमपरिभोगे छायातव पेह कल्लाणं ॥ ३५७ ॥

इदानीं स साधुः प्रक्षालयन् कर्पटानि नाच्छोटयति रजकवत्, नापि च पिट्टयति काष्ठपिट्टनेन स्त्रीवत्, किन्तु हस्तेन मनाग् यतनया धावनं करोति, धौतानि च वस्त्राणि नातपे प्रतापयति, मा भूत्तत्र काचित् षट्पदी, स्यात् कानि पुनरातपे कार्याणि कानिवा न ? इत्याह–'परिभोगमपरिभोगे'त्ति तानि कर्पटानि द्विविधानि भवन्ति–परिभोग्यानि अपरिभोग्यानि च, तत्र यथासङ्क्लेन छायातपयोः कार्याणि, परिभोग्यानि छायायां शोष्यन्ते, मा भूत्तत्र षट्पदी स्यात्, अपरिभोग्यान्यातपे, 'पेहे'त्ति तानि च कर्पटानि शुष्यन्ति सन्ति निरूपयत्यपहरणभयात्। 'कल्लाणगं'ति पश्चात्तस्य प्रक्षालनप्रत्ययमेककल्याणकं प्रायश्चित्तं दीयते। उक्तोऽप्कायः, साम्प्रतमग्निकाय उच्यते—

इट्टगपागाईणं बहुमज्झे विज्जुयाइ निच्छइओ। इंगालाई इयरो मुम्मुरमाई य मिस्सो उ॥ ३५८ ॥

असावपि त्रिविधः, तत्र सचित्त इष्टकापाकादीनां बहुमध्ये विद्युदादिको नैश्चयिको भवति, अङ्गारादिश्चेतरो व्यावहारिकः मुर्मुरादिकः–उल्मुकादिर्मिश्रो भवति। इदानीमचित्ताग्निकायस्योपयोगमचित्ताग्निशरीरोपयोगं च दर्शयन्नाह—

ओदणवंजणपाणगआयामुसिणोदगं च कुम्मासा। डगलगसरक्खसूई पिप्पलमाई य परिभोगो ॥ ३५९ ॥

ओदनं–कूरादि व्यञ्जनं–तिम्मणं पानकं–आचाम्लं आयामं–अवश्रावणं उष्णोदकं कुल्माषाश्च, एतानि अग्नेर्निर्वर्त्त्यानि कार्याणि, ततश्चैभिरुपयोगः क्रियते। इदानीमग्निनिर्वर्त्तितशरीरोपभोगं दर्शयन्नाह–डगलका–इष्टकाखण्डा अतीव पक्काः सरक्खो–भस्म सूच्यः पिप्पलकः–क्षुरकः, एवमादिभिरचित्तैरग्निशरीरैरुपयोगः क्रियते, अग्निशरीराणि च द्विविधानि भव-

ओ० २३

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||३५९||

दीप अनुक्रम [५७६]

न्ति–बद्धेलयाणि मुक्केलयाणि च, तत्रात्र मुक्केलयाणि द्रष्टव्यानि । इदानीं वायुकाय उच्यते, असावपि त्रिविधः सचित्तादिरूपः, तत्र नैश्चयिकसचित्तप्रतिपादनायाह—

सवलयघणतणुवाया अतिहिमअतिदुद्दिणे य निच्छइओ । ववहार पायमाई अक्कंतादी य अचित्तो ॥ ३६० ॥

सह वलयैर्वर्त्तन्त इति सवलयाः घनवाताश्च तनुवाताश्च सवलयाश्च ते घनतनुवाताश्च २ ते निश्चयतः सचित्ताः । तथाऽतिहिमपाते यो वायुरतिदुर्दिने च यो वायुः स नैश्चयिकः सचित्तः, व्यवहारतः पुनः प्राच्यादि–पूर्वस्यां यो दिशि, आदिग्रहणादुत्तरादिग्रहणं, एतदुक्तं भवति–अतिहिमअतिदुर्दिनरहितो यः प्राच्यादिवायुः स व्यवहारतः सचित्तः । इदानीमचित्तः 'अक्कंताई य अचित्तो'त्ति यः कर्दमादावाक्रान्ते सति भवति सोऽचित्तः, स च पञ्चधा-अक्कंते धंते पीलिए सरीराणुगए संमुच्छिमे, तत्थ अक्कंतो चिक्खिल्लाइसु, धंतो दतियाइसु, पीलिओ पोत्तचम्माईसु, सरीराणुगओ ऊसासनीसासवाऊ उदरत्थाणीओ, संमुच्छिमो तालियंटाईहिं जणिओ । इदानीं मिश्र उच्यते, आह- किं पुनः कारणं मिश्रः पश्चाद्व्याख्यायते ?, उच्यते, अचित्तेनैव साधुर्व्यवहारं करोति, स च गृहीतः सन्नेव मिश्रीभवति, अस्यार्थस्य प्रदर्शनार्थं पश्चान्मिश्र उच्यते ।

हत्थसयमेग गंता दइउ अचित्तो बिइय संमीसो । तइयंमि उ सचित्तो वत्थी पुण पोरिसिदिणेहिं ॥ ३६१ ॥

अचित्तवायुभृतो दृतिस्तरणार्थं गृह्यते, स च क्षेत्रतो हस्तशतमेकं यावद्गत्वाऽपि अचित्त एव, तोयं नीत्वाऽपि ततो हस्तशतादूर्ध्वं द्वितीयहस्तशतप्रारम्भेऽपि मिश्रो भवति, तृतीयहस्तशतप्रारम्भे सचित्तो भवति, क्षेत्रमङ्गीकृत्य यावता कालेन

पिण्डवर्णने वस्त्रधावने नि. ३५७ अग्निवायुपिण्डौ नि. ३५८-३६०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मिश्रो भवति तथोक्तं, इदानीं कालमङ्गीकृत्य यावता कालेनाचित्तः सन् मिश्रः सचित्तो भवति तत्प्रदर्शनायाह—'वत्थी पुण पोरिसिदिणेहिं'ति तत्र बस्तिः–चर्ममयी खल्लोच्यते, सा चाचित्तवायोरापूरिता अतिस्निग्धकाले पौरुषीमात्रं कालं यावत्तत्र स्थितो वायुरचित्त एवास्ते; अयमत्र भावार्थः–कालो हि द्विविधः–निद्धो लुक्खो य, तत्थ निद्धो कालो सपाणितो इयरो लुक्खो, तत्थ निद्धो तिविहो–उक्कोसो मज्झिमो जहण्णो य, तत्थ उक्कोसनिद्धे काले पौरुषीमात्रं कालं यावत् वत्थी वायुणाऽऽपूरितो अचित्तो होइ तदुवरिं सो चेव तइए पहरे सचित्तो होइ, मज्झिमनिद्धे काले वत्थी वाउणाऽऽपूरिओ दो पोरसीओ जाव अचित्तो होइ तदुवरिं सो चेव चउत्थे पहरे सचित्तो होइ, जहण्णे निद्धे काले वत्थी वाउणाऽऽपूरिओ तिण्णि पहरे जाव अचित्तो होइ, तदुवरिं सो चेव चउत्थे पहरे मिस्सो होइ, तदुवरिं पंचमे पहरे सो चेव सचित्तो होइ । एवं निद्धकाले माणं भणिअं, इदाणिं रुक्खकाले दिणेहिं परूवणा किज्जइ, तत्थ लुक्खकालोऽवि तिविहो जहन्नलुक्खो मज्झिमलुक्खो उक्कोसलुक्खो य, तत्थ जहन्नलुक्खे काले वत्थी वाउणाऽऽपूरिओ एगदिवसं जाव अचित्तो होइ, तदुवरिं सो चेव बिइयदिवसे मिस्सो होइ, सो चेव ततिए दिवसे सचित्तो होइ, मज्झिमलुक्खे काले वत्थी वाउणाऽऽपूरिओ दो दिणा जाव अचित्तो अच्छइ, तदुवरिं सो चेव तइए दिवसे मिस्सो होइ, तदुवरिं चउत्थे दिवसे सचित्तो होइ, सो चेव वाऊ उक्कोसलुक्खे काले दिवसतिगं जाव अचित्तो होइ, तदुवरिं सो चेव चउत्थे दिवसे मीसो होइ, तदुवरिं सो चेव पंचमे दिवसे सचित्तो होइ । एवं एगदुगतिगसंखा पोरिसिदिणेसुं अणुवट्टावणीआ । इदानीमचित्तेन वायुना यत्प्रयोजनं भवति तत्प्रतिपादयन्नाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दइएण वत्थिणा वा पओयणं होज्ज वाउणा मुणिणो । गेलन्नंमि व होज्जा सचित्तमीसे परिहरेज्जा ॥ ३६२ ॥

सुगमा ॥ नवरं दतिएणं तरणं कीरति, गेलन्ने वत्थिणा कज्जं होइ । उक्तो वायुः, इदानीं वनस्पतिकाय उच्यते, असावपि सचित्तादिभेदेन त्रिधा, तत्र निश्चयसचित्तप्रतिपादनायाह—

सव्वो वऽणंतकाओ सचित्तो होइ निच्छयनयस्स । ववहाराउ अ सेसो मीसो पवायरोट्टाई ॥ ३६३ ॥

सर्व एवानन्तवनस्पतिकायो निश्चयनयेन सचित्तः, शेषः परित्तवनस्पतिर्व्यवहारनयमतेन सचित्तः, 'मीसो पवायरोट्टाइ'त्ति मिश्रस्तु प्रम्लानानि फलानि यानि कुसुमानि पर्णानि च रोट्टो–लोट्टो तन्दुलाः कुट्टिताः, तत्थ तंदुलमुहाइं अच्छंति तेण कारणेन सो मिस्सो भवति । इदानीमचित्तवनस्पतिकायं तदुपयोगं च दर्शयन्नाह—

संथारपायदंडगखोमिअकप्पाइ पीढफलगाई । ओसहभेसज्जाणि य एमाइ पओयणं तरुसु ॥ ३६४ ॥

तत्र संस्तारकः अशुषिरतृणैः क्रियते, कल्पद्वयं च कार्पासिकं भवति, औषधमन्तरुपयुज्यते, भेषजं बहिः । उक्तो वनस्पतिकायः, इदानीं द्वीन्द्रियादिप्रतिपादनायाह—

बियतियचउरो पंचिंदिया य तिप्पभिइं जत्थ उ समेंति । सट्ठाणे सट्ठाणे सो पिंडो तेण कज्जमिणं ॥ ३६५ ॥

द्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रिया एकैके त्रिप्रभृतयो यत्र समवायं गच्छन्ति स द्वीन्द्रियादिपिण्डः, ते चैवं समवायं गच्छन्ति स्वस्थाने स्वस्थाने, एतदुक्तं भवति–द्वीन्द्रिया द्वीन्द्रियैरेव मिलितैर्द्वींन्द्रियपिण्डः, तथा त्रीन्द्रियास्त्रीन्द्रियैरेव त्रिप्रभृति-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भिर्मिलितैस्त्रीन्द्रियपिण्ड उच्यते, एवं सजातीयैर्मिलितैः पिण्डो वक्तव्यो यावत्पञ्चेन्द्रिया इति स्वस्थाने स्वस्थाने स पिण्डः। अयं तावद् द्वीन्द्रियादिः पञ्चेन्द्रियपर्यन्तः सचित्तादिः पिण्डो भवति, यश्चाचित्तपिण्डो द्वीन्द्रियादिसत्कस्तेन चैतत्कार्यम्—

बेइंदियपरिभोगो अक्खाण ससंख सिप्पमाईणं। तेइंदियाण उदेहिगाइ जं वा वए विज्जो ॥ ३६६ ॥

द्वीन्द्रियाणां परिभोगः 'अक्षाणां' चन्दनकानां सशङ्खा याः शुक्तयः तदादीनां, शङ्खेषु शुक्तिषु च औषधानि क्रियन्ते। त्रीन्द्रियाणां मध्ये उदेहिकया, आदिशब्दादन्येन वा त्रीन्द्रियेण, यद्वा वैद्यो ब्रूयाद्, उदेहिकायाः सत्कया मृत्तिकया प्रयोजनं, स सर्वस्त्रीन्द्रियपरिभोगः। इदानीं चतुरिंद्रियपरिभोग उच्यते—

चउरिंदियाण मक्खियपरिहारो आसमक्खिया चेव। पंचिंदिअपिंडंमि उ अववहारी उ नेरइया ॥ ३६७ ॥

चतुरिन्द्रियाणां मध्ये 'मक्षिकापरिहारेण' मक्षिकापुरीषेण ऊर्ध्वविरेकः क्रियते शरीरपाटवार्थं, अश्वमक्षिकोपयोगश्च तयाऽक्ष्णोरक्षराः पतिता उद्धियन्ते। अयं चतुरिन्द्रियपिण्डः, पञ्चेन्द्रियपिण्डे यदि परं नारकैर्व्यवहारः—उपयोगो न कश्चित्क्रियते। शेषास्तु तिर्यञ्चो देवा मनुष्याश्चोपयुज्यन्ते, तत्र तिरश्चां पञ्चेन्द्रियाणां सत्कमुपयोगं दर्शयन्नाह—

चम्मट्ठिदंतनहरोमसिंगअमिलाइच्छगणगोमुत्ते। खीरदहिमाइयाणं पंचिंदिअतिरिअपरिभोगो ॥ ३६८ ॥

तत्र चर्मणा कुष्ठिनः कार्यं भवति, अस्थ्ना–गृध्रनलकेन प्रयोजनं भवति वाद्याद्यपहरणार्थं पादे बध्यते, दन्तेन सूकरादेः संबन्धिना प्रयोजनं नखेन वा, रोमभिः प्रयोजनमुरभ्रादीनां सत्कैस्तैः कम्बलिका भवति, शृङ्गेण किञ्चित् प्रयोजनं भवेत्, अमिला–उरभ्रा तत्पुरीषं पामादावुपयुज्यते, तेन गोमूत्रेण चोपयोगः। शेषं सुगमम्। इदानीं मनुष्योपयोगो दर्श्यते—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सचित्तो पवावण पंथुवदेसे य भिक्खु दाणाई । सीसट्ठियअचित्ते मीसट्ठि सरक्खपहपुच्छा ॥ ३६९ ॥

प्रथमार्द्धं सुगमं, सचित्तमनुष्यप्रयोजनमुक्तम्, इदानीमचित्तमनुष्यपिण्डदर्शनायाह–'सीसट्ठिग अचित्ते'त्ति अचित्तेन शिरःकपालेन प्रयोजनं भवति, पित्तारुए घसिऊण दिज्जइ, वेषपरावर्त्तादि क्रियते ।इदानीं मिश्रमनुष्यपिण्ड उच्यते–'मीसट्ठिसरक्खपहपुच्छा' मिश्रोऽस्थियुक्तो यः सरजस्कः–कापालिकस्तस्य मिश्रस्य पथि पृच्छयोपयोगः । इदानीं देवोपयोगप्रतिपादनायाह–

खमगाइकालकज्जातिएसु पुच्छेज्ज देवयं किंचि । पंथे सुभासुभे वा पुच्छेज्ज व दिव्वमुवओगो ॥ ३७० ॥

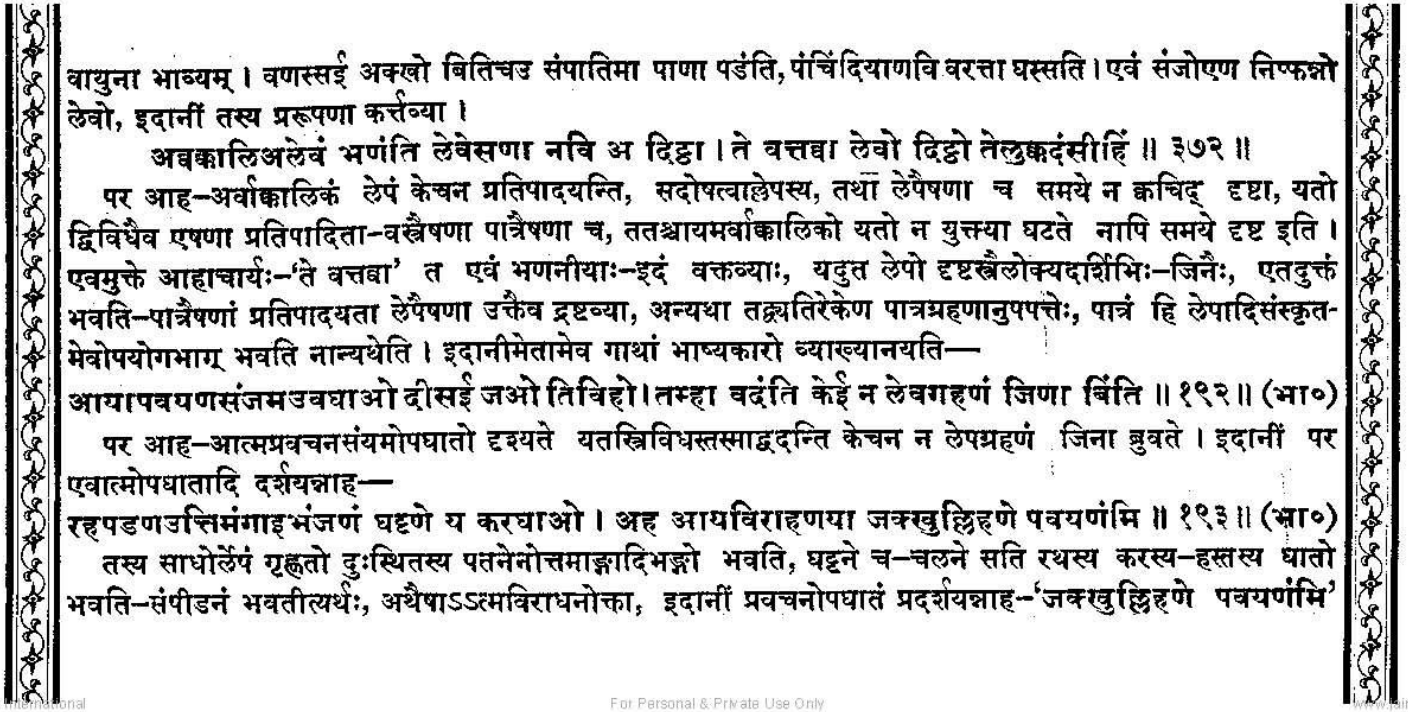
क्षपकादिः कश्चिद्, आदिशब्दादाचार्यादयः कालकार्यादौ स्वमृत्युप्रच्छनादौ–आदिग्रहणात्सङ्घादिकार्ये उत्पन्ने 'पृच्छेत्' अर्थयेत् काञ्चिद्देवतां, पथि वा गच्छन् शुभाशुभं पृच्छेत्, अथवा शुभाशुभं–दुर्भिक्षादि पृच्छेत्, ततश्चायं दिव्यपिण्डोपयोगः । एवं तावत्सचित्तो नवप्रकारः पिण्ड उक्तः, तदनन्तरं मिश्रोऽपि पिण्डो नवप्रकारः प्रतिपादितः, अचित्तोऽपि नवप्रकारः प्रतिपादित एव, इदानीं दशमो भेदोऽचित्तो लेपपिण्ड उच्यते, स चैतेषामेव पृथिव्यादीनां नवानां भेदानां संयोगेन भवति, एतदेव प्रदर्शयन्नाह—

अह होइ लेवपिंडो संजोगेणं नवण्ह पिंडाणं । नायव्वो निप्फन्नो परूवणा तस्स कायव्वा ॥ ३७१ ॥

अथ भवति लेपपिण्डः संयोगे नवानां पिण्डानां निष्पन्नो ज्ञातव्यः, कथं ?, दुचक्का गडिआ, तत्थ अक्खे मक्खिए पुढविकायस्स रजो लग्गति, आउक्काओ नदीए उत्तरओ लग्गइ, तेउक्काओ तत्थ लोहं घंसति, वायू तत्थेव, यत्राग्निस्तत्र

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||३७१|| दीप अनुक्रम [५८८]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः



वायुना भाव्यम् । वणस्सई अक्खो बितिचउ संपातिमा पाणा पडंति, पंचिंदियाणवि वरत्ता घस्सति । एवं संजोएण निप्फन्नो लेवो, इदानीं तस्य प्ररूपणा कर्त्तव्या ।

अवक्कालिअलेवं भणंति लेवेसणा नवि अ दिट्ठा । ते वत्तवा लेवो दिट्ठो तेलुक्कदंसीहिं ॥ ३७२ ॥

पर आह–अर्वाक्कालिकं लेपं केचन प्रतिपादयन्ति, सदोषत्वाल्लेपस्य, तथा लेपैषणा च समये न क्वचिद् दृष्टा, यतो द्विविधैव एषणा प्रतिपादिता–वस्त्रैषणा पात्रैषणा च, ततश्चायमर्वाक्कालिको यतो न युक्त्या घटते नापि समये दृष्ट इति । एवमुक्ते आहाचार्यः–'ते वत्तवा' त एवं भणनीयाः–इदं वक्तव्याः, यदुत लेपो दृष्टस्त्रैलोक्यदर्शिभिः–जिनैः, एतदुक्तं भवति–पात्रैषणां प्रतिपादयता लेपैषणा उक्तैव द्रष्टव्या, अन्यथा तद्व्यतिरेकेण पात्रग्रहणानुपपत्तेः, पात्रं हि लेपादिसंस्कृतमेवोपयोगभाग् भवति नान्यथेति । इदानीमेतामेव गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयति—

आयापवयणसंजमउवघाओ दीसई जओ तिविहो । तम्हा वदंति केई न लेवगहणं जिणा बिंति ॥ १९२ ॥ (भा०)

पर आह–आत्मप्रवचनसंयमोपघातो दृश्यते यतस्त्रिविधस्तस्माद्वदन्ति केचन न लेपग्रहणं जिना ब्रुवते । इदानीं पर एवात्मोपघातादि दर्शयन्नाह—

रहपडणउत्तिमंगाइभंजणं घट्टणे य करघाओ । अह आयविराहणया जक्खुल्लिहणे पवयणंमि ॥ १९३ ॥ (भा०)

तस्य साधोर्लेपं गृह्णतो दुःस्थितस्य पतनेनोत्तमाङ्गादिभङ्गो भवति, घट्टने च–चलने सति रथस्य करस्य–हस्तस्य घातो भवति–संपीडनं भवतीत्यर्थः, अथैषाऽऽत्मविराधनोक्ता, इदानीं प्रवचनोपघातं प्रदर्शयन्नाह–'जक्खुल्लिहणे पवयणंमि'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	अथ पात्र-लेपन पिण्डं वर्ण्यते

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१३६॥

यक्षः–श्वा स हि यक्षोऽक्षप्रदेशमुल्लिहति ततश्च तस्मिन् यक्षोल्लिहने सति 'प्रवचने' प्रवचनविषये उपघातो भवति । इदानीं संयमविराधनाप्रदर्शनायाह—

गमणागमणे गहणा तिट्ठाणे संयमे विराहणया । महिसरिउम्मुगहरिआ कुंथू वासं रओ व सिया ॥१९४॥ (भा०)

लेपार्थं गमने च आगमने च ग्रहणे च लेपस्य संयमविराधना भवति, कथं ?–'महिसरिउम्मुगहरिआकुंथु'त्ति तत्र गच्छतो मही सचित्ता भवति, तथा सरिदुत्तरणेऽप्कायविराधना भवति, तथा ग्रहणे चाग्निविराधना भवति, स हि गृह्णन् कदाचिदुल्मुकं चालयति ततश्चाग्निविराधना, यत्राग्निस्तत्र वायुना भाव्यं, तथा कदाचिदसौ गन्त्री हरितकुन्थुकादिमध्ये व्यवस्थिता भवति ततश्चासौ लेपं गृह्णन् तानि विराधयति, अथवाऽनया भङ्ग्या संयमविराधना भवति–'वासं रओ व सिआ' तत्र गतस्य कदाचिद्वर्षं भवति ततश्चाप्कायविराधना अथ रजःसंपातो भवति ततश्च पृथिवीकायविराधना भवति, एवमुक्ते सूरिराह—

दोसाणं परिहारो चोयग ! जयणाइ कीरई तेसिं । पाए उ अलिप्पंते ते दोसा हुंति णेगगुणा ॥१९५॥ (भा०)

दोषाणां परिहारस्तेषां चोदकोक्तानां क्रियत इति संबन्धः, कथं क्रियते ? इत्यत आह–हे चोदक ! यतनया लेपस्य ग्रहणं क्रियते, ततश्च यतनया ग्रहणे सत्यात्मोपघातादयो दोषा न भवन्ति, पात्रे चालिप्यमाने त एव दोषा यत्त्वयोदिता आत्मोपघातादयः अनैकगुणा–अनेकप्रकारा भवन्ति । अधुनाऽऽचार्य एवात्मोपघातादि दर्शयन्नाह—

उड्ढाई विरसंमी भुंजमाणस्स हुंति आयाए । दुग्गंधि भायणंमि य गरहइ लोगो पवयणंमि ॥ १९६ ॥ (भा०)

ऊर्ध्वादि–छर्दनादिदोषो भवति विरसे तत्र पात्रे भुञ्जतः ततश्चात्मविराधनैव भवति । तथा दुर्गंधि तत्र भाजने

पात्रलेपपिण्डः नि. ३७२ भा. १९२-१९६

॥१३६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भिक्षां गृह्णतो लोको गर्हां करोति ततश्च 'प्रवचने' प्रवचनविषये उपघातो भवति। यच्चोक्तं चोदकेन "जक्खुलिहणे पवयणंमि" तत्रेदमुच्यते—

पवयणघाया अन्नेवि होंति जयणा उ कीरई तेसिं। आयमणभोयणाई लेवे तव मच्छरो को णु ? ॥१९७॥ (भा०)

प्रवचनोपघातोऽन्योऽप्यस्ति किन्तु यतनया क्रियते तेषां, के च ते प्रवचनोपघाताः ? अत आह–'आचमनभोजनादयः' आचमनं–निर्लेपनादि भोजनं चैकमण्डल्या, एतानि प्रवचनोपघातानि कुर्वन्ति यदि प्रकटानि क्रियंते, किन्तु यतनया करणान्न प्रवचनोपघातो भवतीति, ततश्च लेपे तव को मत्सरः ? इति। अधुना पात्रस्यालेपे संयमविराधनां दर्शयन्नाह—

खंडंमि मग्गिअंमि अ लोणे दिन्नंमि अवयवविणासो। अणुकंपाई पाणंमि होइ उदगस्स उ विणासो ॥ ३७३ ॥

एगेण साहुणा गिलाणट्ठं खंडं मग्गिअं, तम्मि च विसए लोणंपि खंडं भण्णइ, ततो तेणं सावएणं लोणं मग्गियंतिकाउं भायणे लोणं दिन्नं, पच्छा पडिस्सए गएण दिट्ठं जाव तं लोणं, ततो तेण पुढविक्काउत्तिकाऊण परिट्ठविअं, ततो परिट्ठविअंमिवि तंमि लोणंमि तत्थ खरफरुसे भायणे लग्गाराईसु य पविट्ठा लोणावयवा, ततो जदि तत्थ अण्णपाणगाइ घेप्पइ ततो ताणं लोणवयवाणं विणासो होइ, अथ न गिण्हइ लोणखरडिए भायणे तत आत्मादिविराधना भवति, अहवा कंजिअपाणे मग्गिअंमि गिहत्थीए अणुकंपाए आउक्काओ दिण्णो, आदिग्रहणात्पडिणीयत्तणेण अणाभोएणं वा, तओ तंमि कडुयभायणंमि सो विणस्सइ–विराध्यते ततो संजमविराधना भवति। अथवा इमो दोसो होइ पायस्स अलेवणे—

पूयणिअलग्गअगणीपलीवणं माममाइणो होज्जा। रोट्टपणगा तरुंमी भिगुकुंथादी व छड्डंमि ॥ ३७४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||३७५||

दीप अनुक्रम [५९७]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१३७॥

एगेण साहुणा कणिकमंडलिआ लद्धा, तीए हेट्ठा सुहुमो अंगारो लग्गो दिण्णो, सो उ साहुणा न दिट्ठो, ततो भमंतस्स तं पत्तं पडलेहिं समं पलित्तपायं दट्ठूण घत्तियं, तंपि वाडीए पडिअं गामपलीवणं जायं, यत्राग्निस्तत्र वायुः । अहवा रोट्टो चाउललोट्टो लद्धो, सो अपरिणओ होइ, 'पणगा तरुमी'ति पणगो उल्लीराइसु होइ, ततो तविणासो–तरुविणासो, वणस्स-इविणासोत्ति जं भणिअं, भृगू–राजिर्भण्यते, तत्र कुंथाईया पाणिणो हवंति, एवं छट्ठो तसकाओ विणासिओ होइ, एवं अलेविए पाए छज्जीवणिकायविराधना अवस्सं होइ ॥ यच्चोक्तं 'त्रैलोक्यदर्शिभिः समये लेपैषणा नोक्ता' तत्रेदमुच्यते—

पायग्गहणंमि देसिअंमि लेवेसणावि खलु वुत्ता । तम्हा आणयना लिंपणा य पायस्स जयणाए ॥ ३७५ ॥

पात्रग्रहणे दर्शिते–अत्रोपदिष्टे सति लेपैषणाऽपि खलूक्तैव द्रष्टव्या, तस्मादानयनं लेपनं पात्रस्य यतनया कर्त्तव्यम् । अत्राह परः—

हत्थोवघाय गंतूण लिंपणा सोसणा य हत्थंमि । सागारिए पभुजिंघणा य छक्कायजयणा य ॥ ३७६ ॥

यदि नाम पात्रं लिप्यते लिप्यतां नाम, किन्तु तत्रैव शकटसमीपं गत्वा लिप्यतां यतो लेपानयने हस्तस्योपघातो–बाधा भवति, अथवा हस्तेन यदि लेप आनीयते ततः संपातिमसत्त्वानामुपघातो भवति, तस्माद्गत्वा पात्रकलेपनं कार्यं, एवमुक्ते आचार्या भणिष्यन्ति, यथा त्वदीयेऽपि पक्षे आत्मोपघातादि भवत्येव । तथा पुनरपि पर एवं भणति तत्पात्रकं लेपयित्वा पुनश्च शोषणा हस्तव्यवस्थितस्य पात्रकस्य कार्या, येन सार्द्रनिक्षेपदोषः परिहृतो भवति, आचार्योऽप्यत्र प्रत्युत्तरं ददाति, यदुत हस्ते ध्रियमाणेन पात्रकेण आत्मोपघातादयो दोषा भवन्ति तस्मात्पात्रकं हस्ते न शोषणीयं लेपश्च आनयनीयः, तत्र

पात्रलेपेपि-ण्डः भा. १९७ नि. ३७३-३७६

॥१३७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||३७६|| दीप अनुक्रम [५९७]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

च लेपार्थं गच्छन् स साधुः कदाचिदासन्न एव 'सागारिए'त्ति सागारिकः–शय्यातरस्तच्छकटानि यदि पश्यति ततस्तेष्वेव लेपं गृह्णाति, न तत्र गृह्णतः शय्यातरपिण्डदोषो भवति, 'पभु'त्ति तेन साधुना लेपं गृह्णता यस्तेषां शकटानां प्रभुः स पृच्छनीयः, अप्रच्छने दोषा भवन्ति । तथा लेपस्य जिघ्रणं कर्त्तव्यं, किमयं कटुरकटुर्वा ?, तथा षट्कायायतना च कार्या, इत्येतत्सर्वं वक्ष्यति । इदानीं एतामेव गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयति, तत्राद्यावयवव्याचिख्यासयाऽऽह—

चोदगवयणं गंतूण लिंपणा आणणे बहू दोसा । संपाइमाइघाओ अतिउव्वरिए य उस्सग्गो ॥ १९८ ॥ (भा०)

चोदकस्य वचनं, किं तद् ?, गत्वा लेपनं पात्रकस्य कर्त्तव्यं, यत आनयने लेपस्य बहवो दोषा भवन्ति, कथं ?, यदि तावद्धस्तेनानीयते लेपस्ततो हस्तस्य बाधोपजायते, तथा संपातिमसत्त्वघातो भवति, अत्युद्धरिते च तत्र लेपे 'उत्सर्गः' परिष्ठापनं भवति तत्र चासंयमस्तस्मात्तत्रैव गत्वा लिम्पतु । एवमुक्ते सत्याह गुरुः—

एवंपि भाणभेओ वियावडे अत्तणो य उवघाओ । नीसंकियं च पायंमि गिण्हणे इहरहा संका ॥ १९९ ॥ (भा०)

एवमपि गत्वा भाजनं लिम्पतो भाजनभेदो भवति, व्यापृतस्य च–आकुलस्य पात्रकलेपने गन्त्र्याश्चलने सत्यात्मोपघातो भवति, तथा प्रकटं तत्रैव पात्रे लेपग्रहणं कुर्वतो निःशङ्कं लोकस्य भवति यदुतैतेऽशुचयः येनाशुचिना लेपेन पात्रकलेपनं कुर्वन्ति । 'इहरहा संक'त्ति इतरथा यदि तत्पात्रं तत्र प्रकटं न लिप्यते ततो लोकस्य शङ्कैव केवला भवति, यदुत न विद्मः किमप्यनेन लेपेनैते करिष्यन्ति ?, ततः प्रतिश्रय एवागत्य लेपना कर्त्तव्या । ●

चोएइ पुणो लेवं आणेउं लिंपिऊण तो हत्थे । अच्छउ धारेमाणो सद्दवनिक्खेवपरिहारी ॥ २०० ॥ (भा०)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

● अत्र एका प्रक्षेप-गाथा वर्तते. मया संपादित "आगम सुत्ताणि" मूलं अथवा सटीकं पुस्तके सा मुद्रिता अस्ति

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१३८॥

अत्र परः पुनरपि चोदयति–एवं नामानीय लेपमाश्रये लिम्पतु पात्रकं, किंतु लेपयित्वा ततो हस्ते लिप्तं स धारयंस्तिष्ठतु यावत्तद्धस्तस्थितमेव शोषमुपयाति, किं कारणं?, यतो यूयं 'सद्रवनिक्षेपपरिहारिणः' सद्रवस्य निक्षेपः सद्रवनिक्षेपस्तं परिहर्तुं शीलं येषां भवतां ते सद्रवनिक्षेपपरिहारिणः, एतदुक्तं भवति–पात्रकं तोयार्द्रमपि न निक्षिपथ किं पुनर्लेपलिप्तमिति। एवमुक्ते सति परेणाचार्य आह—

एवं होउवघाओ आताए संजमे पवयणे य। मुच्छाईपवडंते तम्हा उ न सोसए हत्थे ॥ २०१ ॥ (भा०)

एवं पात्रकं लिप्तं सद्धस्तेन धारयतो भवत्युपघात आत्मनि संयमे प्रवचने च, तत्रात्मविषया संयमविषया च कथं?– 'मुच्छाई पवडंते'त्ति कदाचित्तस्य साधोर्निरोधे पात्रकं हस्तस्थं धारयतो मूर्च्छा भवेत्ततश्च प्रपतति, पतितस्य चात्मोपघातो भवति अङ्गविनाशलक्षणः, पात्रकभेदे च संयमविराधना भवति, तथा प्रवचनोपघातश्चैवं भवति, तं तथा पतितं साधुं दृष्ट्वा कश्चित्सागारिक एवं ब्रूयात्, यदुत–एतदीयसर्वज्ञेन हस्ते पात्रधारणमुपदिशता अयमप्यपायो भावी न दृष्ट इति, तस्मादेतद्दोषभयान्न हस्ते शोषयेत् पात्रमिति।

दुविहा य होंति पाया जुन्ना य नवा य जे उ लिप्पंति। जुन्ने दाएऊणं लिंपइ पुच्छा य इयरेसिं ॥ ३७७ ॥

तानि च लेपयितव्यानि पात्राणि द्विविधानि भवन्ति, 'जूर्णानि' पुराणानि 'नवानि' अधुनैव यान्यानीतानि तानि प्रथमं लिप्यन्ते, तत्र यानि जीर्णानि पात्रकाणि लिम्पनीयानि तानि गुरोः प्रदर्श्य लिम्पति, एवंविधान्येतानि पश्य किं

पात्रलेपपिण्डः भा. १९८-२०१ नि. ३७७

॥१३८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लिप्यन्ते उत न ?, इतरेषां–नवानां पात्रकाणां लेपने पृच्छा कर्त्तव्या, किं एतानि लिप्यन्ते उत तिष्ठन्तु ? इति । आह–कः पुनरनापृच्छ्य पात्रकाणि लिम्पति सति दोषः ?, उच्यते, यो मायावी भवति स चैवं ज्ञात्वा पात्रकाणि लिम्पति—

पाडिच्छगसेहाणं नाऊणं कोइ आगमणमाई । दढलेवेवि उ पाए लिंपइ मा एसु देज्जेज्जा ॥ ३७८ ॥

पाडिच्छगा–सूत्रार्थग्रहणार्थं ये आचार्यसमीपमागच्छन्ति सेहा–अभिनवप्रव्रजिताः एतेषामागमनं ज्ञात्वा कश्चिन्मायावी दृढलेपान्यपि तानि पुराणपात्रकाणि लिम्पति, मा भूदाचार्यस्तेभ्यः–प्रतीच्छकसेहेभ्यो दद्यात् ॥

अहवावि विभूसाए लिंपइ जा सेसगाण परिहाणी। अपडिच्छणे य दोसा सेहे काया अओ दाए ॥ २०२॥ (भा०)

अथवा दृढलेपमपि पात्रं विभूषया लिम्पति, तस्मिंश्च लिप्ते पात्रे या 'शेषकाणां' ग्लानादीनां परिहानिः सा सर्वा तेन कृता भवति । 'अपडिच्छणे य दोस'त्ति पात्रकाभावे आयरिओ तान् प्रतीच्छकान् न प्रतीच्छति, अपडिच्छणे 'दोषाः' निर्जराद्यभावलक्षणाः । 'सेह'त्ति यः प्रव्रजितमात्रस्तस्मै यदि पात्रकादि न दीयते ततोऽस्योपकरणरहितस्य चित्तमोहो भवति विपरिणामतश्च कायान् व्यापादयति, अतः–अस्मात्कारणाद्दर्शयित्वा पात्रं लिप्यते, कदाचिदसावाचार्यः प्रतीच्छकादीनागन्तुकान् श्रुत्वा निवारयेत्तं साधुं लिप्यन्तमिति । कदा पुनर्लेपग्रहणं दानं च कर्त्तव्यमित्यत आह—

पुव्वण्हलेवदाणं लेवग्गहणं सुसंवरं काउं । लेवस्स आणणालिंपणे य जयणाविही वोच्छं ॥ ३७९ ॥

पूर्वाह्णे लेपदानं पात्रकस्य कर्त्तव्यं लेपेन लेपनमित्यर्थः येन तत्प्रत्यूषसि लिप्तं दिवसेन शुष्यते, तथा 'लेवग्गहणं सुसंवरं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-नियुक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१३९॥

काउं'ति गृह्यतेऽस्मिन्निति ग्रहणं–शरावसंपुटं सुसंवरं–सुगुप्तं चीवरेण कृत्वा तं शरावसंपुटम्। इदानीं लेपस्यानयने लिम्पने च पात्रकस्य यो यतनाविधिस्तं वक्ष्ये। इदानीमेतामेव गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयति—

पुव्वण्हे लेवगहणं काहंति चउत्थगं करेज्जाहि। असहू वासिअभत्तं अकारऽलंभे य दिंतियरे॥ २०३ ॥(भा०)

पूर्वाह्णे लेपदानं करिष्यामीतिकृत्वा चतुर्थं–एकमुपवासं कुर्याद् येन निर्व्यापारः सुखेनैव करोति, अथासौ चतुर्थं कर्तुं न शक्नोति अत्यन्तमसहिष्णुस्ततो वासिकं भक्तं भक्षयित्वा पात्रकाणि लेपयति। 'अकारग'त्ति अथ तद्वासिकभक्तमकारकं–अपथ्यं तस्यालम्भो वा तया वेलया स न लभते भक्तं ततः 'दिंतितरे'त्ति 'इतरे' अन्ये साधव आनीय ददति लब्धिसंपन्ना ये। ततश्च लेपयित्वा कृतकृत्यो घट्टयन्नाह—

कयकितिकम्मो छंदेण छंदिओ भणइ लेवऽहं घेत्तुं। तुब्भंपि अत्थि अट्ठो? आमं तं कित्तिअं किं वा ? ॥ ३८० ॥

स हि लेपार्थं व्रजन् गुरोः कृतिकर्म–द्वादशावर्त्तवन्दनं ददाति, कृतकृतिकर्मा च छन्देनेति–द्वादशावर्त्तवन्दने गुरुवाक्यमेतत्, छन्दितः–अनुज्ञातः सन् भणति–लेपमहं ग्रहीष्यामि ततश्च तुभ्यं–भवतामपि अस्त्यर्थित्वं लेपेन ?, पुनरसौ गुरुर्भणति–आमम्–अस्ति कार्यं, पुनः साधुर्भणति–'कित्तिअं' तं लेपं कियन्तं ग्रहीष्यामि ? 'किं व'त्ति किं मल्लिकया प्रयोजनं तव उत लेपेन ?, आचार्यस्य च लेपेन प्रयोजनं भवति, तस्य गच्छसाधारणं नन्दीपात्रमस्ति तदर्थं तस्य वाऽऽचार्यश्चिन्तां करोति।

सेसेवि पुच्छिऊणं कयउस्सग्गो गुरुं पणमिऊणं। मल्लगरूवे गिण्हइ जइ तेसिं कप्पिओ होइ ॥ ३८१ ॥

लेपपिण्डे पात्रलेपना. नि. ३७८-३८१ भा. २०२-२०३

॥१३९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||३८१||

दीप अनुक्रम [६११]

न केवलं गुरुमेव पृच्छति शेषानपि साधून् पृष्ट्वा 'कृतोत्सर्गः' कृतोपयोगो गुरुं नमस्कृत्य, किं करोतीत्यत आह—
'मल्लकरूवे गिण्हइ' मल्लकं-शरावं यत्र लेपो गृह्यते रूतं च गृह्णाति तेनासौ लेपो छाइज्जइ, मल्लकरूतयोश्च कदा ग्रहणं करोति ?, यदा तयोः कल्पिको भवति, एतदुक्तं भवति–यद्यसौ वस्त्रैषणायां पात्रैषणायां च गीतार्थस्ततो मल्लकं रूतं च मार्गयित्वा गच्छतीति ।

गीयत्थपरिग्गाहिअ अयाणओ रूवमल्लए घेत्तुं । छारं च तत्थ वच्चइ गहिए तसपाणरक्खट्ठा ॥ ३८२ ॥

अथासौ मल्लकरूतयोर्मार्गणे न कल्पिकस्ततो गीतार्थपरिगृहीते–स्वीकृते मल्लकरूतौ गृहीत्वा क्षारं च–भूतिं गृहीत्वा तत्र मल्लके व्रजति, गृहीते लेपे सति चीरमुपरि दत्त्वा लेपस्य ततो रूतं तत उपरि भूतिं ददाति, किमर्थं ?, त्रसप्राणरक्षार्थमिति । इदानीं यदुक्तमासीच्चोदकेन यदुत सागारिकगच्यां लेपग्रहणं न कार्यं यतोऽसौ शय्यातरपिण्डो वर्त्तत इति, तत्प्रतिषेधनायाह–

वच्चंतेण य दिट्ठं सागारिदुचक्कगं तु अब्भासे । तत्थेव होइ गहणं न होइ सो सागरिअपिंडो ॥ ३८३ ॥

व्रजता साधुना लेपग्रहणार्थं यदि दृष्टं सागारिकसंबन्धि द्विचक्रं-गन्त्रिका अभ्यासे–समीपे ततस्तत्रैव ग्रहणं कर्त्तव्यं न भवत्यसौ सागारिकपिण्डः–शय्यातरपिण्डोऽसौ न भवति । इदानीमसौ गत्वा किं कृत्वा लेपं गृह्णातीत्यत आह—

गंतुं दुचक्कमूलं अणुन्नवेत्ता पहुंति साहीणं । एत्थ य पहुत्ति भणिए कोई गच्छे निवसमीवे ॥ ३८४ ॥

गत्वा 'द्विचक्रमूलं' गन्त्रीसमीपं, यदि तत्प्रभुः 'स्वाधीनः' सन्निहितो भवति ततस्तमनुज्ञाप्य गृह्यते, अथ तत्र गत्वा आसन्नः प्रभुर्नास्ति ततश्चासौ साधुः पृच्छति–कोऽत्र प्रभुः ? इति, पुनश्चैवं पृष्टे सति कश्चित्पुरुष एवं ब्रूयाद्, यदुत 'एत्थ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

य पभु'त्ति अत्र शकटे प्रभू राजा, ततश्चैवं भणिते सति कश्चिदगीतार्थो गन्त्रीणामनुज्ञापनार्थं नृपसमीपमेव गच्छेत्। एत्थ य अविधिअणुण्णवणाए दिट्ठंतो।

किं देमित्ति नरवई तुज्झं खरमक्खिआ दुचक्केत्ति। सा अपसत्थो लेवो एत्थ य भद्देतरे दोसा ॥ ३८५ ॥

एगो साहू लेवस्स कज्जे निग्गओ जाव पेच्छइ सगडाइं, साहुणा पुच्छिअं–कस्स एते सगडा ?, गिहत्थेण सिट्ठं–राउला, साहू अगीयत्थो चिंतेइ–पहू अणुण्णवेयव्वो, वच्चामि रायं पेच्छामि, तेण राया दिट्ठो, भणति राया–किं तुह देमि ?, साहू भणति–तुब्भं सगडे तिलमक्खिए अत्थि तत्थ लेवो पसत्थो हवति तं मे देहि, एत्थ य भद्देयरे दोसा भवंति, तत्थ जइ सो राया भद्दो ताहे सव्वहिं चेव उग्घोसणं करेइ जह नेह केणइ सगडा घएण मक्खियव्वा जो मक्खेइ सो दंडं पत्तो एवमाई भद्दओ पसंगं कुज्जा, अह सो पंतो राया ताहे सो भणेज्जा–अन्नं किंची न जाइयं इमीए परिसाए मज्झे तो लेवो जातिओ, अहो असुई समणा एए मा एएसिं कोई भिक्खं देउ। एते अविहिअणुण्णवणाए दोसा।

तम्हा दुचक्कवइणा तस्संदिट्ठेण वा अणुन्नाए। कडुगंधजाणणट्ठा जिंघे नासं तु अफुसंता ॥ ३८६ ॥

तम्हा विहीए अणुण्णवेयव्वो, सा य विही–ता सगडाणं पासे ठिओ अच्छइ जाव दुचक्कवई आगओ, तओ दुचक्कवइणा–गड्डिआवइणा अणुण्णाए सति लेवो गहेयव्वो, तेण दुचक्कवतिणा जो संदिट्ठो एत्थ पट्ठविओ जहा तुमे भलेयव्वं, तेण वा अणुण्णाओ संतो गेण्हइ, कडुगंधजाणणट्ठं जिंघियव्वो लेवो–किं सो कडुओ ?–कडुअतेलेण मक्खिओ नवत्ति, जइ कडुतेलेण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||३८६||

दीप अनुक्रम [६१६]

मक्खिओ ताहे न घेप्पइ, सो अथिरो होइ, जो मिट्ठतिलतेल्लमक्खिओ सो घेप्पइ । कथं पुनर्जिंघणं करोति ?, नासिकया अस्पृशन् । जिंघणा इति अवयवो भणिओ । इदानीं 'छक्कायजयण'त्ति व्याख्यानयन्नाह—

हरिए बीए चले जुत्ते, वच्छे साणे जलट्ठिए । पुढवी संपाइमा सामा, महवाते महियाऽमिए ॥ ३८७ ॥

हरिते बीजे वा तच्छकटं प्रतिष्ठितं भवति ततश्च तत्र न ग्राह्यो लेपः, तथा तत्कदाचिच्छकटं 'चलं' गमनाभिमुखं व्यवस्थितं भवति ततश्च न ग्राह्यः, तथा युक्तं वा वहति तदाऽपि न ग्राह्यः, कदाचित्तस्मिन् शकटे वत्सको बद्धो भवति तदासन्नो वा ततश्च न ग्राह्यः, श्वा वा तत्र बद्धः तथापि न ग्राह्यः, जलमध्ये तत् शकटं व्यवस्थितं भवति ततो न ग्राह्यः, कदाचिच्च सचित्तपृथिवीप्रतिष्ठितं भवति तथापि न ग्राह्यः, कदाचित्संपातिमसत्त्वैः स प्रदेशो व्याप्तस्ततश्च न ग्राह्यः, तथा श्यामा–रात्रिस्तस्यां च न ग्राह्यः, महावाते च वाते सति न गृह्यते, 'महिकायां' धूमिकायां निपतन्त्यां न गृह्यते, अमितश्चासौ लेपो न गृह्यते किन्तु प्रमाणयुक्तः । द्वारगाथेयम्, इदानींभाष्यकृद्व्याख्यानयति, तत्राद्यावयवव्याचिख्यासयाऽऽह—

हरिए बीएसु तहा अणंतरपरंपरेवि य चउक्का । आया दुपयं च पतिट्ठियंति एत्थंपि चउभंगो ॥ २०४ ॥ (भा०)

हरिते बीजे च द्वौ चतुष्कौ भवतः, कथम् ?, अनन्तरपरम्परकल्पनया, एतदुक्तं भवति–हरितबीजयोरनन्तरप्रतिष्ठितत्वमाश्रित्य भङ्गचतुष्टयं निष्पाद्यते, तथा तयोरेव हरितबीजयोः परम्परप्रतिष्ठितत्वमाश्रित्य द्वितीयभङ्गचतुष्टयं निष्पाद्यते। अत्र चेयं भावना—अणंतरं हरिते पतिट्ठिया गड्डी बीए अ अणंतरं पतिट्ठिआ, एगो भंगो १ । तहा अणंतरहरिए पतिट्ठिआ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१४१॥

ण बीए तेषामभावात्, बिइओ भंगो २। अण्णा हरिए अणंतरं न पतिट्ठिया तस्याभावात् बीए अणंतरं पइट्ठिआ तइओ ३। तहा अन्ना ण हरिए अणंतरं पइट्ठिआ ण बीए अणंतरं पइट्ठिआ तयोरभावात्, चउत्थो ४,एस सुद्धो भंगो। एवं हरितबीजपदद्वयेनानन्तरप्रतिष्ठितत्वकल्पनया भङ्गचतुष्टयं लब्धं। इदानीं हरितबीजयोरेव परम्परप्रतिष्ठितत्वकल्पनया यथा भङ्गचतुष्कं लभ्यते तथोच्यते, तच्चैवं–हरिते परंपरपइट्ठिआ गडुी बीए परंपरपइट्ठिआ एगो भंगो अण्णा हरिए परंपरइट्ठिआ ण बीए परंपरपइट्ठिआ बीजानामभावात्, बिइओ भंगो, तहा अण्णा हरिते ण परंपरपइट्ठिआ तेषामभावात् बीजे परंपरपइट्ठिआ तइओ अण्णा ण हरिए परंपरपइट्ठिआ ण बीए परंपरपइट्ठिआ चउत्थो भंगो तयोरभावात्, एस सुद्धो भंगो। 'आयादुपयं च पइट्ठिअंति एत्थंपि चउभंगो' तथा तेष्वेव हरितबीजेषु आत्मा–आत्मा प्रतिष्ठितः द्विपदं च प्रतिष्ठितमिति, एतस्मिन्नपि पदद्वये चतुर्भङ्गिका भवति, कथम्?, आया हरितबीएसु पइट्ठिओ दुपयं च हरितबीएसु पइट्ठिअं एगो भंगो १। तथा आया हरितबीएसु पइट्ठिओ न दुपयं हरियबीएसु पइट्ठिअं बितिओ २, तथा आया न हरितबीजेसु पइट्ठिओ दुपयं च हरितबीएसु पइट्ठिअं तइओ ३। तथा आया हरितबीएसु न पइट्ठिओ दुपयं च हरितबीएसु न पतिट्ठिअं चउत्थो भंगो ४, एसो सुद्धो। एवं अन्नेवि परित्तणंताईहिं भंगा सबुद्धीए ऊहेयवा। हरिते बीएत्ति गयं, चलत्ति व्याख्यानयन्नाह—

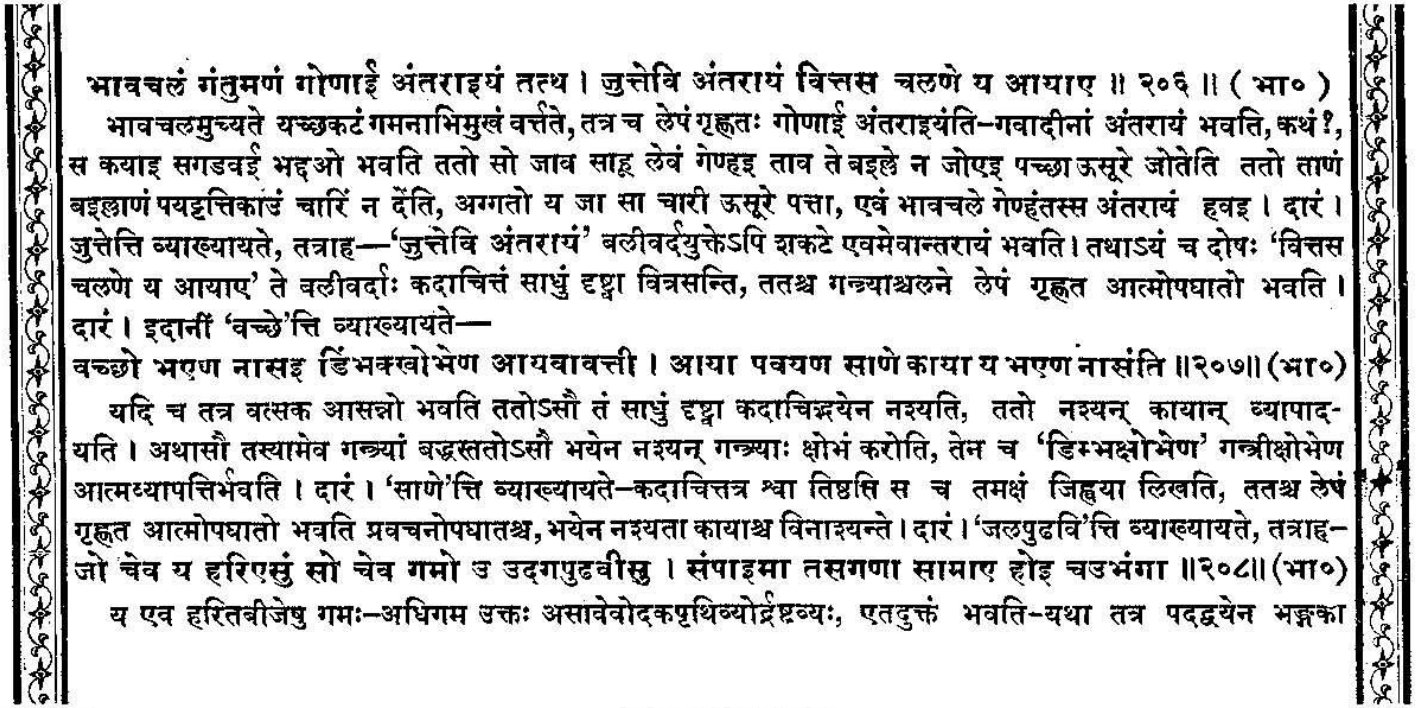
दवे भावे य चलं दव्वंमि दुपइट्ठिअं तु जं दुपयं। आया य संजमंमि अ दुविहा उ विराहणा तत्थ ॥ २०५-॥(भा०)

चलं द्विविधं–द्रव्यचलं भावचलं च, तत्र द्रव्यचलं 'दुपइट्ठिअं तु जं दुपयं' दुष्प्रतिष्ठितं यद्विपदं–शकटं तद्द्रव्यचलमुच्यते, तत्र च द्रव्यचले लेपं गृह्णत आत्मसंयमविराधना भवति द्विविधा। भावचलप्रतिपादनायाह—

लेपपिण्डे पात्रलेपना- नि. ३८७ भा. २०४-२०५

॥१४१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



भावचलं गंतुमणं गोणाई अंतराइयं तत्थ। जुत्तेवि अंतरायं वित्तस चलणे य आयाए ॥ २०६ ॥ (भा०)

भावचलमुच्यते यच्छकटं गमनाभिमुखं वर्त्तते, तत्र च लेपं गृह्णतः गोणाई अंतराइयंति–गवादीनां अंतरायं भवति, कथं?, स कयाइ सगडवई भद्दओ भवति ततो सो जाव साहू लेवं गेण्हइ ताव ते बइल्ले न जोएइ पच्छा ऊसूरे जोतेति ततो ताणं बइल्लाणं पयट्टत्तिकाउं चारिं न देंति, अग्गतो य जा सा चारी ऊसूरे पत्ता, एवं भावचले गेण्हंतस्स अंतरायं हवइ। दारं। जुत्तेत्ति व्याख्यायते, तत्राह—'जुत्तेवि अंतरायं' बलीवर्दयुक्तेऽपि शकटे एवमेवान्तरायं भवति। तथाऽयं च दोषः 'वित्तस चलणे य आयाए' ते वलीवर्दाः कदाचित्तं साधुं दृष्ट्वा वित्रसन्ति, ततश्च गच्छ्याश्चलने लेपं गृह्णत आत्मोपघातो भवति। दारं। इदानीं 'वच्छे'त्ति व्याख्यायते—

वच्छो भएण नासइ डिंभक्खोभेण आयवावत्ती। आया पवयण साणे काया य भएण नासंति ॥२०७॥ (भा०)

यदि च तत्र वत्सक आसन्नो भवति ततोऽसौ तं साधुं दृष्ट्वा कदाचिद्भयेन नश्यति, ततो नश्यन् कायान् व्यापादयति। अथासौ तस्यामेव गच्छ्यां बद्धस्ततोऽसौ भयेन नश्यन् गच्छ्याः क्षोभं करोति, तेन च 'डिम्भक्षोभेण' गच्छीक्षोभेण आत्मव्यापत्तिर्भवति। दारं। 'साणे'त्ति व्याख्यायते–कदाचित्तत्र श्वा तिष्ठति स च तमक्षं जिह्वया लिखति, ततश्च लेपं गृह्णत आत्मोपघातो भवति प्रवचनोपघातश्च, भयेन नश्यता कायाश्च विनाश्यन्ते। दारं। 'जलपुढवि'त्ति व्याख्यायते, तत्राह–

जो चेव य हरिएसुं सो चेव गमो उ उदगपुढवीसु। संपाइमा तसगणा सामाए होइ चउभंगा ॥२०८॥ (भा०)

य एव हरितबीजेषु गमः–अधिगम उक्तः असावेवोदकपृथिव्योर्द्रष्टव्यः, एतदुक्तं भवति–यथा तत्र पदद्वयेन भङ्गका

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१४२॥

उपलब्धाः एवमत्राप्युदकपृथिवीपदद्वयेन भङ्गकाः कर्त्तव्याः। दारं। इदानीं 'संपातिम'त्ति व्याख्यायते, तत्राह—'संपाइमा तसगणा' संपातिमशब्देन त्रसगणा उच्यन्ते, ते यदि भवन्ति ततो लेपो न ग्राह्यः, अत्र च भङ्गचतुष्कं भवति, तद्यथा–संपातिमेसु अप्पा पइट्ठिओ भंडी य पइट्ठिआ एगो १, तहा अप्पा संपातिमेसु पइट्ठिओ न भंडी पइट्ठिआ बीओ २, अप्पा न पइट्ठिओ भंडी पइट्ठिआ तइओ ३, अप्पा न पइट्ठिओ न भंडी पइट्ठिआ चउत्थो ४, एसो सुद्धो। दारं। 'सामाए'त्ति व्याख्यायते, तत्र च श्यामायां भङ्गचतुष्कं भवति, कथं ?, लेवो दिवा गहिओ अण्णंमि दिवसे लाइओ एगो भंगो १, दिवा गहिओ राईए लाइओ बिइओ २, राईए गहिओ दिवा लाइओ तइओ ३, राओ गहिओ राओ लाइओ चउत्थो भंगो ४, दारं। 'महावाए'त्ति व्याख्यायते—

वाउंमि वायमाणेसु संपयमाणेसु वा तसगणेसु। नाणुन्नायं गहणं अमियस्स य मा विगिंचणया ॥२०९॥ (भा०)

वायौ वाति संपतत्सु वा त्रसगणेषु नानुज्ञातं लेपस्य ग्रहणं। दारं। इदानीं महिका, सा च 'संपयमाणेसु वा तसगणेसु' इत्यनेन वाशब्देन व्याख्यातैव द्रष्टव्या, एतदुक्तं भवति–वाशब्दान्महिकायां च पतन्त्यां लेपो न ग्राह्यः। दारं। 'अमिय'त्ति व्याख्यायते—'अमितस्य च' प्रमाणाभ्यधिकस्य लेपस्य ग्रहणं न कार्यं, यतः 'मा विगिंचणिय'त्ति मा भूत् प्रभूतलेपस्य ग्रहणं विकिंचणं–त्यागस्तत्कृतो दोषो भविष्यतीति। दारं।

एयदोसविमुक्कं घेत्तुं छारेण अक्कमित्ताणं। चीरेण बंधिऊणं गुरुमूलपडिक्कमालोए ॥ ३८८ ॥

लेपपिण्डे पात्रलेपना- भा. २०६ २०९ नि. ३८८

॥१४२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एतद्दोषविमुक्तं लेपं गृहीत्वा वस्त्रेणाच्छाद्य छारेणाक्रम्य ततश्चीवरेण तं शरावसंपुटं बद्ध्वा गुरुमूलमागत्य ईर्यापथिकां प्रतिक्राम्य गुरवे आलोचयति।

दंसिअछंदिअगुरुसेसएसु (य) ओमत्थियस्स भाणस्स। काउं चीरं उवरिं रूयं च छुभेज्ज तो लेवं ॥ ३८९ ॥

पुनश्चासौ कायव्यापारेण दर्शयति, पुनश्च गुरुं छन्दयति–आमन्त्रयति, यदि भदन्तस्य प्रयोजनं लेपेन ततो गृह्यतामिति, एवं छन्दयति। 'सेसए य'त्ति शेषांश्च साधून् छन्दयति, यदुत यदि भवतामनेन लेपेन किञ्चित्प्रयोजनं ततो गृह्यतामिति। एवं यदा न कश्चिद् गृह्णाति तदा 'ओमंथियस्स भाणस्स'त्ति ओमस्थितस्य–अधोमुखीकृतस्य भाजनस्य उपरि कृत्वा चीरं, ततश्चीरस्योपरि रूतपटलं करोति, 'छुभेज्ज तो लेवं'ति ततो रूतस्योपरि लेपं प्रक्षिपेत्।

अंगुट्ठपएसिणिमज्झिमाए घेत्तुं घणं तओ चीरं। आलिंपिऊण भाणे एकं दो तिण्णि वा घट्टे ॥ ३९० ॥

पुनश्चासौ रूतस्योपरि क्षिप्त्वा लेपं पुनरङ्गुष्ठप्रदेशिनीमध्यमाभिरङ्गुलीभिर्गृह्णाति, गृहीत्वा च 'घनम्' अत्यर्थं चीरं पुनः पोट्टलिकाविनिर्गलितेन लेपरसेन पात्रमालिम्पति, तच्च पात्रकं कदाचिदेकं भवति कदाचिद्वौ कदाचित्रीणि, ततश्च तान्यालिप्य पुनः घट्टयति–अङ्गुल्या मसृणानि करोतीत्यर्थः। तानि च पात्रकाणि एवं लिम्पति—

अन्नोऽन्नं अंकंमि उ अन्नं घट्टेइ वारवारेणं। आणेइ तमेव दिणं दवं रएउं अभत्तट्ठी ॥ ३९१ ॥

अन्यद् अन्यद् अङ्के–उत्सङ्गे स्थापयति, स्थापयित्वा चान्यद् 'घट्टयति' अङ्गुल्या मसृणयति, एवं वारया वारया एकं द्वे वाऽङ्के स्थापयेत् अन्यच्चैकं मसृणयति एवं तावद्यावन्मसृणानि संजातानि भवंति। यदा पुनरेकमेव लिप्तमुत्कृष्टलेपेन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१४३॥

भवति तदा रूढे सति 'आणेइ तमेव दिणं'ति तस्मिन्नेव दिवसे द्रवं–पानकमानयति 'रएउं' रङ्गयित्वा पात्रकं तदेव 'अभत्तट्ठि'त्ति उपोषित एवं करोति । अथासौ ग्लानादीनां वैयावृत्त्यकरः स्यात्ततः–

अभत्तट्ठियाण दाउं अन्नेसिं वा अहिंडमाणाणं । हिंडेज्ज असंथरणं असहू घेत्तुं अरइयं तु ॥ ३९२ ॥

अथ तत् पात्रकं न रूढं ग्लानादयश्च सीदन्ति सोऽपि वैयावृत्त्यकरस्ततो ये अभक्तार्थिकाः–उपवासिकाः साधवस्तेभ्यो 'दत्त्वा' समर्प्य भिक्षार्थं व्रजति । 'अन्नेसिं वा अहिंडमाणाणं' अन्ये वा ये भिक्षां नाटन्ति तेषामहिण्डमानानां भोक्तृणां समर्प्य हिण्डते । 'असंथरणे'त्ति ग्लानादीनामसंस्तरणे–असंतरणए होंतए एवमसौ करोति । 'असहु'त्ति अथासौ स्वयमेवासहिष्णुरुपवासं कर्तुं ततः 'घेत्तुं अरइयं तु'त्ति गृहीत्वाऽन्यसाधुसत्कं पात्रं 'अरइयं तु'त्ति अरञ्जितं तस्मिन् दिवसे पूर्वलिप्तमित्यर्थः, तद्गृहीत्वा हिण्डेत । यदा पुनरेवंविधः साधुर्नास्ति कश्चिद्यस्य तन्नवलेपं पात्रकं समर्प्य भिक्षामटति, आत्मना च त्रीणि पञ्चकाणि संवाहयितुं न शक्नोति, कानि त्रीणि ?, एकं नवलेपं पात्रकं अन्यो भक्तपतद्ग्रहस्तृतीयमशुद्धार्थं मात्रकं, तदा को विधिरित्यत आह—

न तरेज्जा जइ तिन्नी हिंडावेउं तओ अ छारेणं । उच्चुण्णेउं हिंडइ अन्ने य दवं सि गेण्हंति ॥ ३९३ ॥

'न तरेत्' न शक्नुयात् यदि त्रीणि पात्रकाणि हिण्डयितुं ततो नवलेपं पात्रकं छारेण–भूतिना अवचूर्ण्य–गुण्डयित्वा एकत्र प्रदेशे स्थापयित्वा हिण्डते । 'अन्ने य दवं सि गि ण्हंति'त्ति अन्ये साधवस्तदर्थं द्रवपानकं गृह्णन्ति । तथा च—

लेत्थारियाणि जाणि उ घट्टगमाईणि तत्थ लेवेणं । संजमफाइनिमित्तं ताई भूमीइ गुंडेज्जा ॥ ३९४ ॥

लेपपिण्डे पात्रलेपना. नि. ३८९-३९४

॥१४३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||३९४||

दीप अनुक्रम [६३०]

'लेत्थारियाणि' लिप्तानि, केन ?, लेपेनेति संबन्धः, यानि घट्टकादीनि, तत्र घट्टको-येन पाषाणकेन पात्रं नवलेपं मसृणं क्रियते, आदिग्रहणाच्छरावं चीरं च लेपलिप्तं, एतानि लेपेन सर्वाण्येव लिप्तानि तत्र पात्रकं लिम्पतः, ततश्च तानि घट्टकादीनि भूत्वा गुण्डयति, येन तत्र प्रतिष्ठापितानां सतां कीटिकाद्युपघातो न भवेत्। किमर्थं पुनरेवं क्रियते ?, अत आह—'संजमफातिनिमित्त'मिति संयमवृद्ध्यर्थमिति ।

एवं लेवग्गहणं आणयणं लिंपणा य जयणा य। भणियाणि अतो वोच्छं परिकम्मविहिं तु लेवस्स ॥ ३९५ ॥

'एवम्' उक्तेन न्यायेन लेपग्रहणं तथा तस्यैवानयनं लिम्पना च पात्रकस्य यतना च ग्रहणे लेपस्यैतानि भणितानि, अतः परं वक्ष्ये परिकर्मविधिं लिप्तस्य पात्रकस्य। स चायं परिकर्मविधिः—

लित्ते छगणिअछारो घणेण चीरेणऽबंधिउं उण्हे। अंछण परियत्तण घट्टणे य धोवे पुणो लेवो ॥ ३९६ ॥

लिप्ते तत्र पात्रके सति 'छगणियछारो'त्ति गोमयछारेण तत्पात्रकं गुण्ड्यते, पश्चाच्च घनेन 'चीरेण' पात्रकबन्धेन वेष्टयित्वा रजस्त्राणेन च परिवेष्ट्य 'अंबधिउं'ति पात्रकबन्धग्रन्थिमदत्त्वा तत एवंविधं कृत्वा 'उण्हे'त्ति उष्णे स्थापयति, 'अंछण'त्ति ततोऽङ्गुल्या लिप्तस्य रङ्गितस्य पात्रकस्याकर्षणं-समारणं करोति, आतपे कृत्वा पुनः परिवर्त्तयति—आतपाभिमुखं करोति, एवं शोषणा तस्य नवलेपस्य पात्रकस्य, धौते च छारगुण्डिते तत्र पात्रके पुनर्लेपो दीयत इति। इदानीं भाष्यकार एतामेव गाथां व्याख्यानयति, तत्र 'लित्ते छगणियछारो'त्ति इदं व्याख्यातमेव द्रष्टव्यं, शेषं व्याख्यानयन्नाह—

दाउं सरयत्ताणं पत्ताबंधं अबंधणं कुज्जा। साणाइरक्खणट्ठा पमज्ज छाउण्हसंकमणा ॥ २१० ॥ (भा०)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||३९६||

दीप अनुक्रम [६३३]

दत्त्वा तत्र पात्रके सरजस्त्राणं पात्राबन्धं पुनश्चाबन्धगं कुर्ज्जेति–तत्र ग्रन्थिं न ददाति, किमर्थम् ?, अत आह—'साणादिरक्खणट्ठा' श्वानादिरक्षणार्थं ग्रन्थिं न ददाति, इदमुक्तं भवति–ग्रन्थिना दत्तेन सता कर्पटैकदेशे गृहीतः सन् शुना मार्जारेण वा नीयते, पुनश्च तत्पात्रकं प्रमृज्य भुवं छायात उष्णे सङ्क्रामयति, एतदुक्तं भवति–अपराह्णच्छायाक्रान्तं सन् पुनरुष्णे स्थापयति ।

तद्दिवसं पडिलेहा कुंभमुहाईण होइ कायव्वा । छन्ने य निसं कुज्जा कयकज्जाणं विउस्सग्गो ॥२११॥(भा०)

यस्मिन् दिवसे पात्रकं लेपयति तस्मिन् दिवसे 'कुम्भमुखादीनां' घटग्रीवादीनां प्रत्युपेक्षणं कृत्वा ततश्च गृह्णाति, येन लिप्तं पात्रकं बहिस्तस्यां ग्रीवायां तस्मिन् दिवसे क्रियते, निशायां तु छन्ने तत्पात्रकं कुर्याद्, आत्मसमीपे, कृते च कार्ये व्युत्सर्गः कर्त्तव्यस्तेषां घटग्रीवादीनां तस्मिन्नेव दिवसे येन परिग्रहकृतो दोषो न भवेत्, अन्यस्मिन् दिवसेऽन्यानि भविष्यन्ति । अथ लेपशेषः कश्चिदास्ते ततस्तस्य को विधिरित्यत आह—

अट्ठगहेउं लेवाहियं तु सेसं सरूवगं पीसे । अहवावि नत्थि कज्जं सरूवमुज्झे तओ विहिणा ॥ ३९७ ॥

कदाचित्तत्रान्यत्र वा पात्रकेऽष्टको दातव्यो भवति, ततस्तदर्थं–अष्टकनिमित्तं करेण तं लेपाधिकं शेषं सरूतं पेष्यते, अथ तेन लेपशेषेण न किञ्चित्कार्यमस्ति ततः सरूतमेव विधिना परित्यजेत् छारेण गुण्डयित्वेत्यर्थः । इदानीं तत्पात्रकं कस्यां पौरुष्यां बाह्यतः स्थापनीयं ? कस्यां चाभ्यन्तरे प्रवेशयितव्यमित्येतत्प्रदर्शयन्नाह—

पढमचरिमा सिसिरे गिम्हे अद्धं तु तासि वज्जेज्जा । पायं ठवे सिणेहातिरक्खणट्ठा पवेसो वा ॥ ३९८ ॥

लेपपिण्डे पात्रलेपना- नि. ३९५-३९८ भा. २१०-२११

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'शिशिरे' शीतकाले प्रथमपौरुषीं वर्जयित्वा तत्पात्रकं बहिरातपे स्थाप्यते, चरमायां–चतुर्थप्रहरे शिशिरपौरुष्यां तत्पात्रकमभ्यन्तरे प्रवेशयेत्, 'गिम्हे अद्धं तु तासि वज्जेज्ज'त्ति ग्रीष्मकाले तयोः–प्रथमचरमपौरुष्योरर्द्धं वर्जयेत्, ततः पात्रकं स्थापयेत् प्रवेशयेद्वा, एतदुक्तं भवति–ग्रीष्मे अर्द्धपौरुष्यां गतायां सत्यां पात्रकं बहिः स्थापयेत्, तथा चरमप्रहरार्द्धे गते सति तत्पात्रकं प्रवेशयेत्, किमर्थं ?—'सिणेहाइरक्खणट्ठा' एतदुक्तं भवति–शिशिरे प्रथमप्रहरः चरमप्रहरश्च स्निग्धः कालस्तस्मिंश्च पात्रकं न क्रियते, लेपविनाशभयात्, तथोष्णकाले च प्रथमप्रहरार्द्धे चतुर्थप्रहरार्द्धे च न स्थाप्यते, सोऽपि स्निध एव कालः, अतीवोष्णे स्थापनीयं येन रुह्यत इति ।

उवओगं च अभिक्खं करेइ वासाइरक्खणट्ठाए । वावारेइ व अन्ने गिलाणमाईसु कज्जेसु ॥ ३९९ ॥

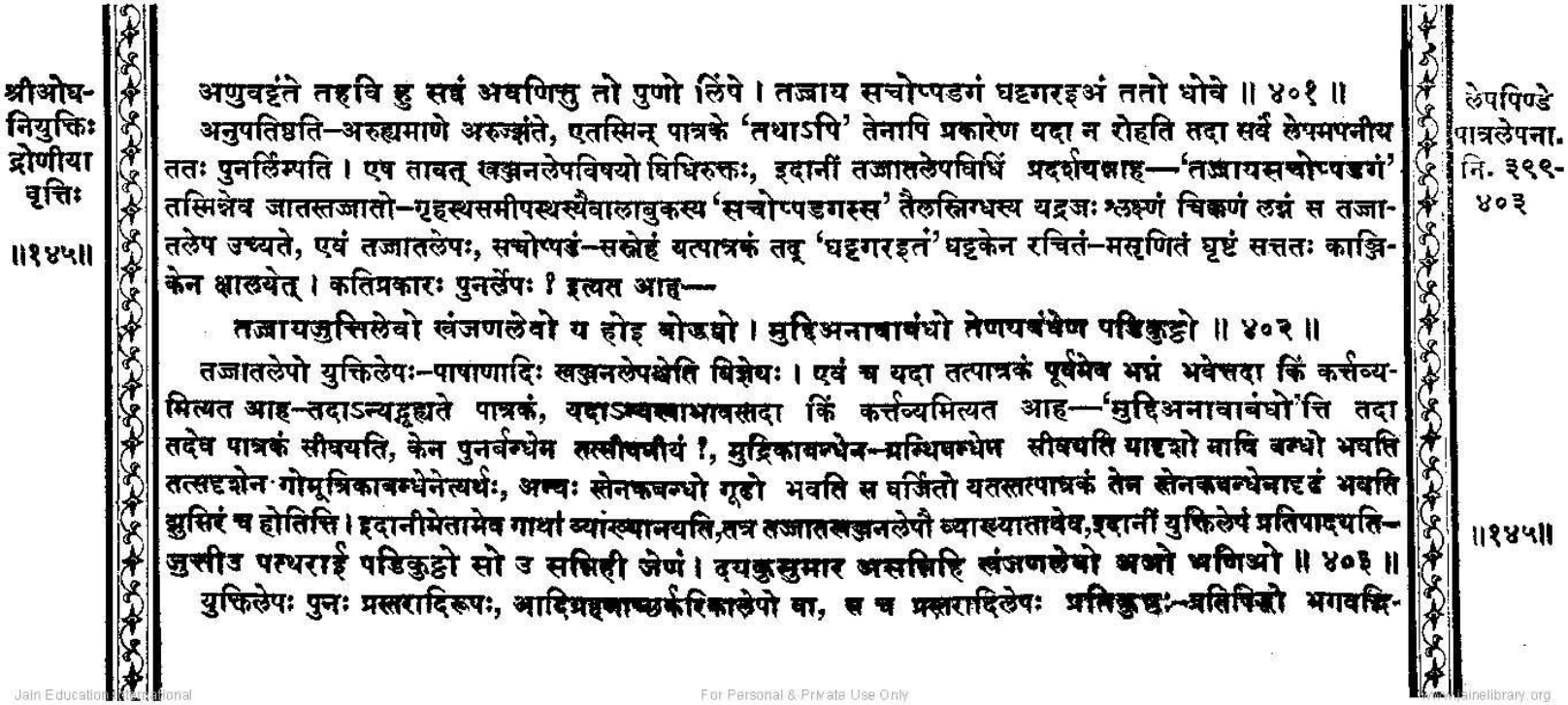
तस्मिँश्चातपस्थापिते 'उपयोगं' निरूपणं 'अभीक्ष्णं' पुनः पुनः करोति, किमर्थमित्यत आह—'वासाइरक्खणट्ठा' वर्षादिरक्षणार्थं, आदिग्रहणात् श्वादिरक्षणार्थं च, अन्यान् वा साधून् व्यापारयति पात्ररक्षणार्थं यद्यात्मना ग्लानादिकार्येषु क्षणिकः । कियन्तः पुनर्लेपा दीयन्ते इत्यस्य प्रदर्शनायाह—

एक्को व जहन्नेणं दुगतिगचत्तारि पंच उक्कोसा । संजमहेउं लेवो वज्जित्ता गारवविभूसा ॥ ४०० ॥

एको जघन्येन प्रलेपो दीयते मध्यमेन न्यायेन द्वौ त्रयश्चत्वारो वा उत्कृष्टतः पञ्च लेपा दीयन्ते, स च संयमार्थं दीयते, वर्जयित्वा गौरवविभूषे, तत्र गौरवं येन मां कश्चिद्भणति यथैतदीयमेतच्छोभनं पात्रमिति, विभूषा सुगमा । इदानीं "धोवे पुणो लेवो"त्ति, अमुमवयवं व्याख्यानयन्नाह—

ओ० २८

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



श्रीओघ-नियुक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१४५॥

अणुवट्टंते तहवि हु सव्वं अवणिंतु तो पुणो लिंपे । तज्जाय सचोप्पडगं घट्टगरइअं ततो धोवे ॥ ४०१ ॥

अनुपतिष्ठति–अरुह्यमाणे अरुज्झंते, एतस्मिन् पात्रके 'तथाऽपि' तेनापि प्रकारेण यदा न रोहति तदा सर्वं लेपमपनीय ततः पुनर्लिम्पति । एष तावत् खञ्जनलेपविषयो विधिरुक्तः, इदानीं तज्जातलेपविधिं प्रदर्शयन्नाह—'तज्जायसचोप्पडगं' तस्मिन्नेव जातस्तज्जातो–गृहस्थसमीपस्थस्यैवालाबुकस्य 'सचोप्पडगस्स' तैलस्निग्धस्य यद्वजः श्लक्ष्णं चिक्कणं लग्नं स तज्जातलेप उच्यते, एवं तज्जातलेपः, सचोप्पडं–सस्नेहं यत्पात्रकं तद् 'घट्टगरइतं' घट्टकेन रचितं–मसृणितं घृष्टं सत्ततः काञ्जिकेन क्षालयेत् । कतिप्रकारः पुनर्लेपः ? इत्यत आह—

तज्जायजुत्तिलेवो खंजणलेवो य होइ बोद्धव्वो । मुद्दिअनावाबंधो तेणयबंधेण पडिकुट्ठो ॥ ४०२ ॥

तज्जातलेपो युक्तिलेपः–पाषाणादिः खञ्जनलेपश्चेति विज्ञेयः । एवं च यदा तत्पात्रकं पूर्वमेव भग्नं भवेत्तदा किं कर्त्तव्यमित्यत आह–तदाऽन्यद्गृह्यते पात्रकं, यदाऽन्यस्याभावस्तदा किं कर्त्तव्यमित्यत आह—'मुद्दिअनावाबंधो'त्ति तदा तदेव पात्रकं सीव्यति, केन पुनर्बन्धेन तत्सीव्यतीयं ?, मुद्रिकाबन्धेन–ग्रन्थिबन्धेन सीव्यति यादृशो नावि बन्धो भवति तत्सदृशेन गोमूत्रिकाबन्धेनेत्यर्थः, अन्यः स्तेनकबन्धो गूढो भवति स वर्जितो यतस्तत्पात्रकं तेन स्तेनकबन्धेनादृढं भवति शुषिरं च होतित्ति । इदानीमेतामेव गाथां व्याख्यानयति,तत्र तज्जातखञ्जनलेपौ व्याख्यातावेव,इदानीं युक्तिलेपं प्रतिपादयति–

जुत्तीउ पत्थराई पडिकुट्ठो सो उ सन्निही जेणं । दयकुसुमार असन्निहि खंजणलेवो अओ भणिओ ॥ ४०३ ॥

युक्तिलेपः पुनः प्रस्तरादिरूपः, आदिग्रहणाच्छर्करिकालेपो वा, स च प्रस्तरादिलेपः प्रतिकुष्टः–प्रतिषिद्धो भगवद्भि-

लेपपिण्डे पात्रलेपना. नि. ३९९-४०३

॥१४५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||४०३||

दीप अनुक्रम [६४१]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

यतः स सन्निधिमन्तरेण न भवति, यतश्चैवमतो जीवदयार्थं सुकुमारत्वादसन्निधिरिति च कृत्वा खञ्जनलेप एषिः कारणै-रुक्तो–भणितः। आह—एवं हि सुकुमारं लेपमिच्छतस्तस्य विभूषा भवति ?, उच्यते, नैतदस्ति, यतः—

संजमहेउं लेवो न विभूसाए वदंति तित्थयरा। सइ असइ य दिट्ठंतो सइसाहम्मे उवणओ उ ॥ ४०४ ॥

'संयमहेतुं' संयमनिमित्तं लेप उक्तो न विभूषार्थं वदन्ति तीर्थकराः। अत्र च सदृष्टान्तः असदृष्टान्तश्च। एकस्मिं संनिवेसे दो इत्थियाओ, ताणं एक्का सई अण्णा असई, जा सा सई सा अत्ताणं विभूसंती अच्छइ, असईवि एवमेव, तओ सईए भत्तारभत्तिसिकाउं उवणवेसो लोगेण गणिज्जइ न य हसिज्जइ, असईए उण वेसो उल्लणो लोए हसिज्जइ, यस-तस्या असौ वेषोऽन्यार्थं वर्त्तते। एवमत्र सतीसाधर्म्ये उपनयः कर्त्तव्यः, यथा सत्या विभूषां प्रकुर्वत्या अपि सा विभूषा लोकेनान्यथा न कल्प्यते एवं साधोः संयमार्थं शोभनं लेपयतोऽपि न विभूषादोष इति ॥ इदानीं मुद्रिकादिबन्धान् व्याख्यानयति, तत्संबन्धं प्रतिपादयन्नाह—

भिज्जिज्ज लिप्पमाणं लित्तं वा असइए पुणो बंधो। मुद्दिअनावाबंधो न तेणएणं तु बंधिज्जा ॥ ४०५ ॥

भिद्येत्तल्लिप्यमानं पात्रकं वा लिप्तं वा सन्द्रिद्येत ततोऽन्यस्याभावे पुनरपि बध्यते–सीव्यते, तत्र मुद्रिकाबन्धस्येयं स्थापना—≡≡, नौबन्धः पुनर्द्विविधो भवति, तस्य चेयं स्थापना—⧖। स्तेनकबन्धः पुनर्गुप्तो भवति, मध्येनैव पात्र-ककाष्ठस्य दवरको याति तावद्यावत्सा राजिः सीविता भवति, तेन ⧖ स्तेनकबन्धेन दुर्बलं पात्रं भवत्यतोऽसौ वर्जनी-यः। इदानीं स लेप उत्तममध्यमजघन्यभेदेन त्रिविधो भवत्यत आह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१४६॥

खरअयसिकुसुंभसरिसव कमेण उक्कोसमज्झिमजहन्ना । नवणीए सप्पिवसा गुडेन लेपो अलेवो उ ॥ ४०६ ॥

खर इति–खरसन्नयं तिलतिलं तेण कओ उक्कोसो लेवो, अयसि–कुसुंभिआ तेण य मज्झिमो लेवो, सरिसवतेल्लेण य जहन्नओ होइ, अनेन क्रमेणोत्कृष्टो मध्यमो जघन्य इति । कैः पुनर्लेपो न भवतीत्यत आह—नवनीतेन सर्पिषा–घृतेन वसया गुडेन लवणेन च, एभिः रसैरलेपः–एभिर्लेपो न भवतीति । उक्तो द्रव्यपिण्डः, इदानीं पिण्डस्यैकार्थिकान्युच्यन्ते–

पिंड निकाय समूहे संपिंडण पिंडणा य समवाए। समोसरण निचय उवचय चए य जुम्मे य रासी य ॥४०७॥

पिण्डो निकायः समूहः संपिण्डनं पिण्डना च समवायः समवसरणं 'सृ गतौ' सम्यग्–एकत्र गमनं समवसरणं, निचय उपचयः चयश्च जुम्मश्च राशिः पिण्डार्थः । प्रतिपादितो द्रव्यपिण्डः, भावपिण्डप्रतिपादनायाह—

दुविहो य भावपिंडो पसत्थओ होइ अप्पसत्थो य । दुग सत्तट्ठचउक्कग जेणं वा बज्झए इयरो ॥ ४०८ ॥

द्विविधो भावपिण्डः–प्रशस्तभावपिण्डोऽप्रशस्तभावपिण्डश्च, तत्राप्रशस्तं प्रतिपादयन्नाह—'दुयसत्तअट्ठ'इत्यादि, दुविहो रागो य दोसो य सत्तविहो सत्त भयट्ठाणाणि, एतानि च तानि–इहलोकभयं परलोकभयं आयाणभयं अकम्हाभयं आजीवियाभयं मरणभयं असिलोगभयं, "इहपरलोयायाणमकम्हाआजीवमरणमसिलोए"त्ति । अट्ठ कम्मपयडीओ णाणावरणाइयाउ, अहवा अट्ठ मयट्ठाणाणि–जाइकुलबलरूवे तवईस्सरिए सुए लाभे । चउविहो कोहमाणमायालोहरूवो । रागद्वेषावेव पिण्डः औदयिको भावोऽनन्तकर्मपुद्गलनिर्वृत्तः पिण्डः, एवं सप्तभिर्भयस्थानैर्यो जन्यते कर्मपिण्डः, एव-

लेपपिण्डे-पात्रलेपना नि. ४८४-४०७ भावपिण्डे नि. ४०८

॥१४६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ 'भावपिण्ड' वर्णयते

मन्यत्रापि योज्यं, 'येन वा' बाह्येन वस्तुना इतरः–आत्मा बध्यते कर्मणाऽष्टप्रकारेण सोऽप्रशस्तः। इदानीं प्रशस्तं भाव-पिण्डं प्रतिपादयन्नाह—

तिविहो होइ पसत्थो नाणे तह दंसणे चरित्ते य। मोत्तूण अप्पसत्थं पसत्थपिंडेण अहिगारो ॥ ४०९ ॥

त्रिविधः प्रशस्तो भावपिण्डः–ज्ञानविषयः दर्शनविषयः चारित्रविषयश्च, तत्र ज्ञानपिण्डो ज्ञानं स्फातिं नीयते येन, तथा दर्शनं स्फातिं नीयते येन, चारित्रं स्फातिं नीयते येन, स बाह्योऽभ्यन्तरश्च पिण्डः, मुक्त्वाऽप्रशस्तं प्रशस्तपिण्डेनाधिकारः। अयं च भावपिण्डः केन पिण्ड्यते ?–प्रचुरीक्रियते, शुद्धेनाहारोपधिशय्यादिना, अत्र चाहारेण प्रकृतं, स एव प्रशस्तो भावपिण्डः, कारणे कार्योपचारात्, ज्ञानादिपिण्डकारणमसौ, स चाहार एषणाशुद्धो ग्राह्यः, अनेन संबन्धेनागता एषणा प्रतिपाद्यते। अथवा पूर्वमिदमुक्तं–'पिंडं च एसणं च वोच्छं' तत्र पिण्ड उक्तः, इदानीमेषणा प्रतिपाद्यते, अथवा स्वयमे-वायं भाष्यकृत्संबन्धं करोति—

लित्तंमि भायणंमि उ पिंडस्स उवग्गहो उ कायव्वो। जुत्तस्स एसणाए तमहं वोच्छं समासेणं ॥२१२॥ (भा०)

लिप्ते भाजने सति ततः पिण्डस्योपग्रहो–ग्रहणं कर्त्तव्यं, किंविशिष्टस्य पिण्डस्य ?—एषणायुक्तस्य, अतस्तामेवैषणां प्रतिपादयन्नाह—

नामं ठवणादविए भावंमि य एसणा मुणेयव्वा। दव्वंमि हिरण्णाई गवेसगहभुंजणा भावे ॥ ४१० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्ति:

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||४१०||

दीप अनुक्रम [६४९]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः ॥१४७॥

नामस्थापने सुगमे, द्रव्ये–द्रव्यविषया, यथा हिरण्यादेर्गवेषणां करोति कश्चिद् भावे–भावविषया त्रिविधा–गवेषणैषणा–अन्वेषणैषणा ग्रहणैषणैषणा–पिण्डादानैषणा ग्रासैषणा । सा च गवेषणैषणा एभिर्द्वारैरभिगन्तव्या—

पमाणे काले आवस्सए य संघाडए य उवकरणे । मत्तगकाउस्सग्गो जस्स य जोगो सपडिवक्खो ॥ ४११ ॥

प्रमाणं कतिवारा भिक्षार्थं प्रवेष्टव्यमिति, एतद्वक्ष्यति, 'काले'त्ति कस्यां वेलायां प्रवेष्टव्यं ?, भिक्षा गवेषणीया इत्यर्थः, 'आवस्सए'त्ति आवश्यकं–कायिकादिव्युत्सर्गं कृत्वा भिक्षाटनं कर्त्तव्यं गवेषणमित्यर्थः, 'संघाडए'त्ति सङ्घाटकयुक्तेन हिण्डनीयं नैकाकिना, 'उवगरणे'त्ति भिक्षामटता सर्वमुपकरणं ग्राह्यमाहोश्चित्स्वल्पं, 'मत्तगे'त्ति भिक्षामटता–गवेषयता मात्रकग्रहणं कर्त्तव्यं, कायोत्सर्गः–भिक्षार्थं गच्छता उपयोगप्रत्ययः कार्यः, तथा च यस्य योगः–भिक्षार्थं गच्छन्निदं वक्ति यस्य योगो–येन वस्तुना सह संबन्धो भविष्यति तद्ग्रहीष्यामीत्यर्थः, 'सपडिवक्खो'त्ति सर्व एवायं द्वारकलापः सप्रतिपक्षोऽपि वक्तव्यः, सापवादोऽपीत्यर्थः । इदानीं भाष्यकारः प्रतिपदमेतां गाथां व्याख्यानयति, तत्र "पमाणे"त्ति व्याख्यानयन्नाह—

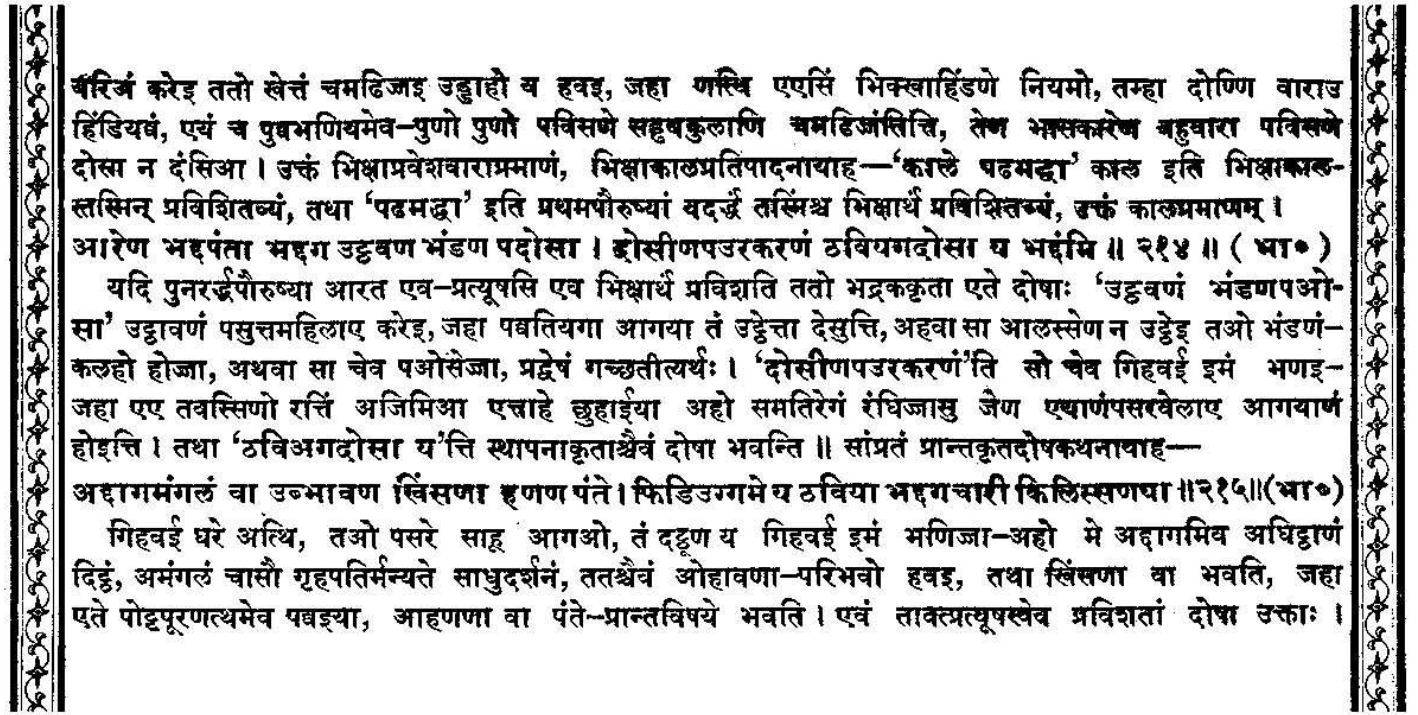
दुविहं होइ पमाणं काले भिक्खा पवेसमाणं च । सन्ना भिक्खायरिआ भिक्खे दो काल पढमद्धा ॥२१३॥ (भा०)

द्विविधं प्रमाणं भवति, 'कालो'त्ति एकं कालप्रमाणं कालनियमः–वेलानियम इत्यर्थः, तथाऽन्यद्भिक्षार्थं प्रविशमानां 'प्रमाणं' वारालक्षणं भवति, तत्र भिक्षाप्रवेशप्रमाणप्रतिपादनायाह—'सन्नाभिक्खायरिया भिक्खे दो' भिक्षार्थं वाराद्वयं प्रविशति, एकमकालसञ्ज्ञायाः पानकनिमित्तं, द्वितीयं भिक्षाकर्थाकाले प्रविशतीति । अदि पुण तइयवारं भिक्खा-

भावपिण्डः नि. ४०९ एषणायां प्रमाणकालावश्यकादिभिर्गवेषणैषणा भा. २१२ नि. ४१०-४११ भा. २१३

॥१४७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



परिअं करेइ ततो खेत्तं चमढिजइ उड्डाहो य हवइ, जहा णत्थि एएसिं भिक्खाहिंडणे नियमो, तम्हा दोण्णि वाराउ हिंडियव्वं, एवं च पुव्वभणियमेव–पुणो पुणो पविसणे सड्ढकुलाणि चमढिजंतित्ति, तेण भासकारेण बहुवारा पविसणे दोसा न दंसिआ। उक्तं भिक्षाप्रवेशवाराप्रमाणं, भिक्षाकालप्रतिपादनायाह—'काले पढमद्धा' काल इति भिक्षाकालस्तस्मिन् प्रविशितव्यं, तथा 'पढमद्धा' इति प्रथमपौरुष्यां यदर्द्धं तस्मिंश्च भिक्षार्थं प्रविशितव्यं, उक्तं कालप्रमाणम्।

आरेण भद्दपंता भद्दग उड्डवण भंडण पदोसा। दोसीणपउरकरणं ठवियगदोसा य भद्दंमि ॥ २१४ ॥ (भा०)

यदि पुनरर्द्धपौरुष्या आरत एव–प्रत्यूषसि एव भिक्षार्थं प्रविशति ततो भद्रककृता एते दोषाः 'उड्डवणं भंडणपओसा' उड्डावणं पसुत्तमहिलाए करेइ, जहा पवतियगा आगया तं उड्ढेत्ता देसुत्ति, अहवा सा आलस्सेण न उड्ढेइ तओ भंडणं–कलहो होज्जा, अथवा सा चेव पओसेज्जा, प्रद्वेषं गच्छतीत्यर्थः। 'दोसीणपउरकरणं'ति सो चेव गिहवई इमं भणइ–जहा एए तवस्सिणो रत्तिं अजिमिआ एत्ताहे छुहाईया अहो समतिरेगं रंधिज्जासु जेण एयाणंपसरवेलाए आगयाणं होइत्ति। तथा 'ठविअगदोसा य'त्ति स्थापनाकृताश्चैवं दोषा भवन्ति ॥ सांप्रतं प्रान्तकृतदोषकथनायाह—

अदागमंगलं वा उब्भावण खिंसणा हणण पंते। फिडिउग्गमे य ठविया भद्दगचारी किलिस्सणया ॥२१५॥(भा०)

गिहवई घरे अत्थि, तओ पसरे साहू आगओ, तं दट्ठूण य गिहवई इमं भणिज्जा–अहो मे अदागमिव अधिट्ठाणं दिट्ठं, अमंगलं चासौ गृहपतिर्मन्यते साधुदर्शनं, ततश्चैवं ओहावणा–परिभवो हवइ, तथा खिंसणा वा भवति, जहा एते पोट्टपूरणत्थमेव पवइया, आहणणा वा पंते–प्रान्तविषये भवति। एवं तावत्प्रत्यूषस्येव प्रविशतां दोषा उक्ताः।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२१५||

दीप अनुक्रम [६५३]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१४८॥

'फिडिए' त्ति अथापगतायां–अतिक्रान्तायामर्द्धपौरुष्यां भिक्षार्थं प्रविशति ततश्च यदि भद्रको भवति तत एवं ब्रवीति–यदुत अद्यदिवसादारभ्य यथा इयती वेला राद्धस्य भक्तस्य भवति तथा कर्त्तव्यं, ततश्च उद्गमदोषः–आधाकर्मादिदोषः, 'ठविय'त्ति अथवा यदुद्धरति तत्त्वयाऽद्यदिवसादारभ्य साध्वर्थं स्थापनीयं, ततश्चैवं स्थापनादयो दोषा भद्रकविषया भवन्ति, अथासौ गृहपतिर्भद्रको न भवति ततः 'चारी' इति ततश्चावेलायां भिक्षार्थं प्रविष्टमेवं प्रान्तो ब्रवीति–यदुतायं चारीभण्डिकः कश्चिद् अन्यथा कोऽयं भिक्षाकाल इति, नायं प्रत्यूषकालो नापि मध्याह्नकाल इति, 'किलस्सण'त्ति तथा अवेलायां भिक्षानिमित्तं प्रविष्टस्य क्लेश एव पर्यटनजनितः परं न तु भिक्षाप्राप्तिः, तम्हा दोसीणवेलाए चेव उयरेयवं। इदानीं मध्याह्नस्यारत एव यदि भिक्षामटति ततः को दोषः ? इत्यत आह—

भिक्खस्सवि य अवेला ओसक्कहिसक्कणे भवे दोसा। भद्दगपंतादीया तम्हा पत्ते चरे काले॥ २१६॥(भा०)

भिक्षाया अवेलायां यदि प्रविशति ततो यदि भद्रकः 'ओसक्कणं'ति याऽसौ रन्धनवेला तां मध्याह्नादारत एव कारयति येन साधोरपि दीयते, एवं तावद्भिक्षावेलायामप्राप्तायां हिण्डतो दोषाः, अथ पुनर्निवृत्तायां भिक्षावेलायामटति ततः 'अहिसक्कणे'त्ति रन्धनवेलां तामुच्छूर एव करोति येन साधोरपि भक्तं भवति, एवमेते दोषा भद्रके भवन्ति, 'पंतादीय'त्ति प्रान्तकृतास्तु दोषाः पूर्ववद्द्रष्टव्याः भाण्डिकोऽयमिति ब्रूते प्रान्तः, तस्मात्प्राप्त एव काले चरेद्भिक्षां न न्यूनेऽधिके वा। "काले"त्ति गयं, इदानीं "आवस्सए"त्ति व्याख्यायते—

प्रमाणकालादिभिर्गवेषणैषणा भा. २१४-२१६

॥१४८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आवस्सग सोहेउं पविसे भिक्खस्स सोहणे दोसा । उग्गाहिअवोसिरणे दवअसईए य उड्डाहो ॥२१७॥ (भा०)

अवश्यं कर्त्तव्यमावश्यकं–कायिकाव्युत्सर्गरूपं शोधयित्वा कृत्येत्यर्थः, ततो भिक्षार्थं प्रविशेत्, असोधने आवश्यकस्य दोषा भवन्ति, कथं ?—'उग्गाहियवोसिरणे'त्ति यद्यसौ साधुः उद्ग्राहितेन–गृहीतेनैव पात्रकेण व्युत्सृजति तत उड्डाहः, अथ तत्पात्रकमन्यस्य साधोः समर्प्य यदि व्युत्सृजति ततश्च द्रवस्यासति–अभावे सति 'उड्डाहो' उपघातो भवति ।

अइदूरगमणफिडिओ अलहंतो एसणंपि पेल्लेज्जा । छड्डावण पंतावण धरणे मरणं च छक्काया ॥ २१८ ॥ (भा०)

अथासौ अतिदूरं गमनं करोति स्थण्डिले ततः 'फिडिओ'त्ति भ्रष्टः सन् भिक्षावेलाया भिक्षामप्राप्नुवन्नेषणामपि 'प्रेरयेत्' अतिक्रामयेत्, अथवा तत्रैव क्वचिद्गृहासन्ने व्युत्सृजति ततः 'छड्डावण'त्ति स गृहपतिस्तदशुचि छड्डावेति, त्याजयतीत्यर्थः, अथवा पंतावणं–ताडनं कशादिना करोति, अथैतद्दोषभयाद्धरणं करोति पुरीषवेगस्य ततो मरणभयं भवेत्, व्युत्सृजतस्तु षट्कायविराधनेति, स्थण्डिलाभावात् । 'आवस्सए'त्ति गयं, 'संघाडए'त्ति व्याख्यायते—

एकाणियस्स दोसा इत्थी साणे तहेव पडिणीए। भिक्खविसोहि महव्वय तम्हा सबितिज्जए गमणं ॥४१२॥ दारं।

यदि सङ्घाटकोपेतः सन् भिक्षाटनं न करोति तत एकाकिन एते दोषाः–स्त्रीकृतः श्वजनितः प्रत्यनीकजनितः भिक्षाविशुद्धिरेकस्य न भवति तथा व्रतोपघातो भवति तस्मात्सद्वितीयेन गन्तव्यम् । इयं च प्रतिद्वारगाथा, इदानीं भाष्यकारः प्रतिपदं व्याख्यानयति—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ॥२१९॥

दीप अनुक्रम [६५८]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१४९॥

संघाडएणऽगहणे दोसा एगस्स इत्थियाउ भवे। साणे भिक्खुवओगं संजमआएगयरदोसा ॥ २१९ ॥(भा०)

'सङ्घाटकस्य' सङ्घाटकसंयोगस्य 'अग्रहणे' अकरणे दोषा एकाकिनः स्त्रीकृता भवन्ति, एकाकिनं दृष्ट्वा साधुं कदाचिद्गृह्णीयात्। 'इत्थि'त्ति गयं, 'साणे'त्ति व्याख्यायते-शुन्युपयोगं यदि ददाति ततः संयमविषयो दोषः, अथ भिक्षायामुपयोगं ददाति तत आत्मोपघातदोषः, एवमेकाकिनः प्रविशतः शुनीकृतो दोषो भवतीति, यथासङ्ख्यं चैतद् व्याख्येयं। 'साणे'त्ति गयं, इदानीं 'पडिणीए'त्ति व्याख्यायते—

दोण्णि उ दुद्धरिसतरा एगोत्ति हणे पदुट्ठपडिणीए। तिघरगहणे असोही अग्गहण पदोसपरिहाणी ॥२२०॥ (भा०)

द्वौ साधू भिक्षामटन्तौ प्रत्यनीकस्य दुष्प्रधृष्यतरौ भवतः–दुःखेन परिभूयेते दुर्जयतरौ इत्यर्थः। 'एगोत्ति हणे' एकाकिनं पुनर्दृष्ट्वा हन्ति प्रद्विष्टः सन् प्रत्यनीकस्तस्मात्सङ्घाटकेन गन्तव्यं। 'पडिणीए'त्ति गयं, इदानीं 'भिक्खाविसोहि'त्ति भण्णइ–यदा स एकाकी क्वचित्पाटके भिक्षार्थं प्रविष्टः समकमेव च गृहत्रयान्निर्गता भिक्षा गृह्णतो भिक्षाया अशुद्धिर्भवति-आहृतदोषो भवति, यत ईर्यापथिकां शोधयितुं न शक्नोति, अथ तत्रैकां भिक्षां गृह्णाति यस्यामुपयोगो दत्तः तत इतरस्य भिक्षाद्वयस्याग्रहणे 'पओस'त्ति ते भिक्षादातारः प्रद्वेषं गच्छेयुः, यदुतास्माकमयं परिभवं करोति येन नास्मदीयं गृह्णाति, 'परिहाणि'त्ति अग्रहणे च परिहाणिर्भवति भिक्षाया गच्छस्य वा तेनागृहीतेन 'भिक्खविसोहि'त्ति गयं, इदानीं 'महत्तय'त्ति व्याख्यायते—

पाणिवहो तिसु गहणे पउंजणे कोंटलयस्स बितियं तु। तेणं उच्छुद्धाई परिग्गहोऽणेसणग्गहणे ॥ २२१ ॥ (भा०)

गवेषणैषणायां संघाटित्वं भा. २१७-२२१ नि. ४१२

॥१४९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

त्रिषु गृहेषु यौगपद्यागतां भिक्षां यदा गृह्णाति तदा प्राणिवधः कृतो भवति, ततश्च प्रथमव्रतभङ्गः, तथा चासौ एकाकी कौटलं ज्योतिषं निमित्तं वा प्रयुङ्क्ते, ततश्च अनृतस्य नियमेनैव सम्भवो यतस्तत्रोपघातकरमवश्यमुच्यते, उपघातजनकं चानृतं तदुच्चारणे द्वितीयव्रतभङ्गः। 'तेणं उच्छुद्धाई' अथ तत्र गृहे एकाकी प्रविष्टः सन् उच्छुद्धं–विक्षिप्तं हिरण्यादि पश्यति ततश्च तद्गृह्णाति, एकाकिनो मोहसंभवात्, 'तेणं'ति ततः स्तैन्यदोषस्तृतीयव्रतभङ्ग इत्यर्थः, तथा कदाचिदेकाकी अनेषणीयमपि गृह्णीयात्, ततस्तस्मिन्ननेषणीये गृहीते परिग्रहकृतो दोषः, चतुर्थव्रतमत्र पृथग् नोक्तं, मध्यमतीर्थकराणां परिग्रह एव तस्यान्तर्भावात्, किल नापरिगृहीता स्त्री भुज्यत इति, पश्चिमस्य तु तीर्थकृतः पृथक् चतुर्थं व्रतं, तन्मतेन चतुर्थव्रतभङ्गं दर्शयन्नाह—

विहवा पउत्थवइया पयारमलभंति दट्ठुमेगागी। दारपिहाणय गहणं इच्छमणिच्छे य दोसा उ ॥ २२२ ॥ (भा०)

विधवा स्त्री, धवो–मनुष्यः स विनष्टो यस्या इति समासः, तथा प्रोषितभर्तृका, तथा या प्रचारं न लभते–निरुद्धा म्रियते, सा एवंविधा त्रिप्रकारा स्त्री एकाकिनं साधुं प्रविष्टं दृष्ट्वा गृहे द्वारं ढङ्कयित्वा गृह्णीयात्, तत्र यद्यसौ तां स्त्रियमिच्छति ततः संयमभ्रंशः अथ नेच्छति तत उड्डाहः, सैव स्त्री लोकस्य कथयति, यदुतायं मामभिभवतीति, ततश्चोड्डाहः। प्रतिद्वारगाथा व्याख्याता। कैः पुनः कारणैरसौ एकाकी भवति ?, तत्राह—

गारविए काहीए माइल्ले अलस लुद्ध निद्धम्मे। दुल्लभअत्ताहिठिय अमणुन्ने चा असंघाडो ॥ ४१३ ॥ द्वारगाहा।

'गारविए'त्ति गर्वेण लब्धिसंपन्नोऽहमितिकृत्वा एकाकीभवति, तथा 'काहीए'त्ति भिक्षार्थं प्रविष्टो धर्मकथां करोति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

महतीं वेलां तिष्ठति ततस्तेन सह न कश्चित्प्रयाति ततश्चैकाकीभवति, तथा मायावानेकाकीभवति, स हि शोभनं भुक्त्वाऽशोभनमानयति, स च द्वितीयं नेच्छत्यत एकाकीभवति, 'अलसः' अन्येन सह प्रभूतं पर्यटितुमसमर्थस्तत एकाक्येवानीय भक्षयति, गच्छवैयावृत्त्येऽलसः स एकाकीभवति, 'लुद्ध'त्ति लुब्धो विकृतीः प्रार्थयति, ताश्च द्वितीये सति न शक्यन्ते प्रार्थयितुमत एकाकीभवति, निर्द्धर्मः अनेषणीयं गृह्णाति ततो द्वितीयं नेच्छति, 'दुल्लभ'त्ति दुर्लभे दुर्भिक्षे एकाकीभवति, तत्र हि एकैक एव गच्छति येन पृथक् पृथग् भिक्षा लभ्यते, तथा 'अत्ताहिट्ठिय'त्ति आत्माधिष्ठितो यदात्मना लभते तदाहारयति अत्तलद्धिउत्ति जं भणिअं, अथवा अमनोज्ञो–न कश्चित्प्रतिभाति रटनशीलत्वात्ततश्चैकाकी हिण्डते, एवमसङ्घाटको भवति । इदानीं एतामेव गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयति—

संघाडगरायणिओ अलद्धिओमो य लद्धिसंपन्नो। जेट्ठग्ग पडिग्गहगं मुह गारवकारणा एगो॥ २२३ ॥(भा०)

कस्यचित्सङ्घाटकस्य योऽसौ रत्नाधिकः–पर्यायज्येष्ठः 'अलद्धिक'त्ति अलब्धिकः–लब्धिरहितः 'ओम'त्ति पर्यायलघुर्द्वितीयः स च लब्धिसंपन्नः, ततो योऽसौ पर्यायेण लघुर्लब्धिमान् स भिक्षामटन्नग्रतो गच्छति रत्नाधिकश्च पृष्ठतो व्रजति, पुनश्च मण्डल्यां भोजनकाले आचार्या एवं भणन्ति, यदुत ज्येष्ठार्यस्याग्रतः पतद्ग्रहं मुञ्च, पुनरसौ ओमराइणिओ चिन्तयति, यदुतास्यां वेलायामयं ज्येष्ठार्यः सञ्जातो न तु भिक्षावेलायां ज्येष्ठार्यः सञ्जातः, अहं लभे यावता ज्येष्ठार्यस्य प्रथमं समर्प्यते, ततश्चानेन गर्वकारणेन एकाकी भवति–एकाक्येव हिंडति । 'गारविए'त्ति गयं, 'काहीउ'त्ति व्याख्यायते—

काहीउ कहेइ कहं बिइओ वारेइ अहव गुरुकहणं । एवं सो एगागी माइल्लो भद्दगं भुंजे ॥ २२४ ॥(भा०)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भिक्षार्थं प्रविष्टः कथको धर्मकथां कुर्वन्नास्ते, ततश्च तस्य द्वितीयो वारयति–मा कृथा धर्मकथां ग्लानादयः सीदन्तीति, अथवाऽऽगत्य गुरोः कथयति यदुतायं धर्मकथां कुर्वंस्तिष्ठति, गुरुरपि तं निवारयति; यदि वारितोऽपि कथयति तदा स एवमेकाक्येव संजायते। 'काहिए'त्ति गयं, मायावी भद्रकं भुङ्क्ते अत एव एकाकी गच्छति॥ 'माइल्ले'त्ति गयं, 'अलसे'त्ति व्याख्यायते—

अलसो चिरं न हिंडइ लुद्धो ओहासए विगईओ। निद्धम्मो णेसणाई दुल्लहभिक्खे व एगागी ॥ २२५॥ (भा०)

अलसश्चिरं न हिण्डते कतिपयां भिक्षां गृहीत्वाऽऽगच्छति। 'अलसे'त्ति गयं 'लुद्धो'त्ति भण्णति, लुब्धो विकृतीः प्रार्थयते, ततश्चैकाक्येव याति। 'लुद्धे'त्ति गयं 'णिद्धम्मे'त्ति भण्यते, निर्धर्मा अनेषणीयादि गृह्णाति, अपरसाधुप्रेरितश्चैकाकीभूयैवाटति। 'णिद्धमे'त्ति गयं, 'दुल्लभे'त्ति भण्यते, दुर्भिक्षे–दुर्लभभिक्षायां संघाटं नेच्छति एकाक्येव भिक्षयति, ततश्चैकाक्येव भवति, 'दुल्लभे'त्ति गतं, 'अत्ताहिट्ठिय'त्ति व्याख्यायते—

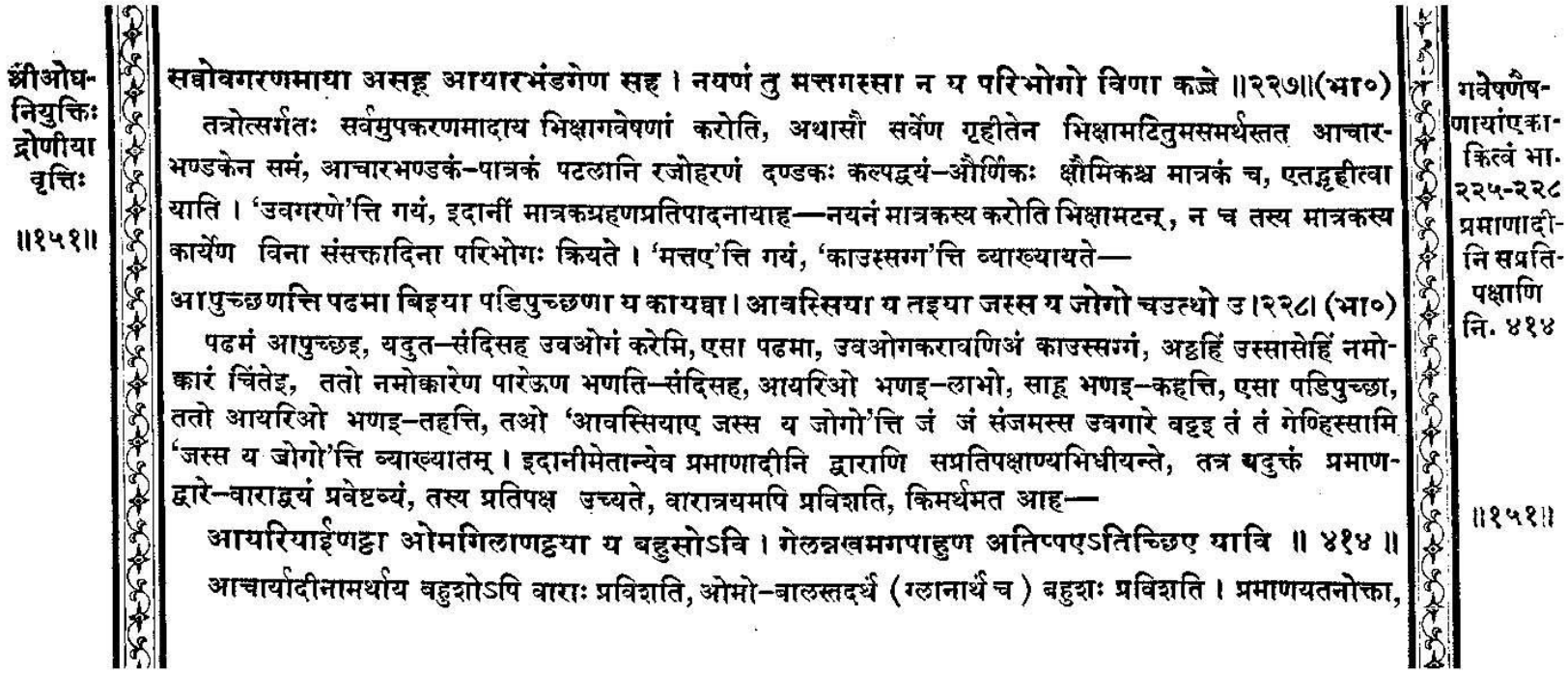
अत्ताहिट्ठियजोगी असंखडीओ वऽणिट्ठ सव्वेसिं। एवं सो एगागी हिंडइ उवएसऽणुवदेसा॥ २२६॥ (भा०)

आत्माधिष्ठितेन लब्धेन भक्तादिना युज्यत इति आत्माधिष्ठितयोगी अत्तलद्धिओ इत्यर्थः, स एकाकी भवति। 'अत्ताहिट्ठिए'त्ति गयं, 'अमणुन्ने'त्ति व्याख्यायते—'असंखडिओ वऽणिट्ठ सव्वेसिं'ति कलहकारकः सर्वेषामनिष्टः सन् ततश्चैकाकी क्रियते, एवमेभिः कारणैरेकाक्यसौ हिण्डते, उपदेशेन अनुपदेशेन वा, उपदेशेन गुरुणाऽनुज्ञातः अनुपदेशेन–गुरुणाऽनुक्तः। व्याख्यातं सङ्घाटकद्वारम्, अधुनोपकरणद्वारमुच्यते—

ओ० २६

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगम (४१/१)	[भाग-३२] "ओघनिर्युक्ति"– मूलसूत्र-२/१ (मूलं+निर्युक्तिः+वृत्तिः) मूलं [६६७] ●➔ "निर्युक्तिः [४१३...] + भाष्यं [२२७] + प्रक्षेपं [२६...]" ←●
प्रत गाथांक नि/भा/प्र ॥२२७॥ दीप अनुक्रम [६६७]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः
	अथ प्रमाणादि द्वाराणि वर्णयन्ते



श्रीओघ-नियुक्तिः द्रोणीया वृत्तिः ॥१५१॥

सव्वोवगरणमाया असहू आयारभंडगेण सह । नयणं तु मत्तगस्सा न य परिभोगो विणा कज्जे ॥२२७॥(भा०)

तत्रोत्सर्गतः सर्वमुपकरणमादाय भिक्षागवेषणां करोति, अथासौ सर्वेण गृहीतेन भिक्षामटितुमसमर्थस्तत आचार-भण्डकेन समं, आचारभण्डकं–पात्रकं पटलानि रजोहरणं दण्डकः कल्पद्वयं–और्णिकः क्षौमिकश्च मात्रकं च, एतद्गृहीत्वा याति । 'उवगरणे'त्ति गयं, इदानीं मात्रकग्रहणप्रतिपादनायाह—नयनं मात्रकस्य करोति भिक्षामटन्, न च तस्य मात्रकस्य कार्येण विना संसक्तादिना परिभोगः क्रियते । 'मत्तए'त्ति गयं, 'काउस्सग्ग'त्ति व्याख्यायते—

आपुच्छणत्ति पढमा बिइया पडिपुच्छणा य कायव्वा । आवस्सिया य तइया जस्स य जोगो चउत्थो उ ।२२८। (भा०)

पढमं आपुच्छइ, यदुत–संदिसह उवओगं करेमि, एसा पढमा, उवओगकरावणिअं काउस्सग्गं, अट्ठहिं उस्सासेहिं नमो-क्कारं चिंतेइ, ततो नमोक्कारेण पारेऊण भणति–संदिसह, आयरिओ भणइ–लाभो, साहू भणइ–कहत्ति, एसा पडिपुच्छा, ततो आयरिओ भणइ–तहत्ति, तओ 'आवस्सियाए जस्स य जोगो'त्ति जं जं संजमस्स उवगारे वट्टइ तं तं गेण्हिस्सामि 'जस्स य जोगो'त्ति व्याख्यातम् । इदानीमेतान्येव प्रमाणादीनि द्वाराणि सप्रतिपक्षाण्यभिधीयन्ते, तत्र यदुक्तं प्रमाण-द्वारे–वाराद्वयं प्रवेष्टव्यं, तस्य प्रतिपक्ष उच्यते, वारात्रयमपि प्रविशति, किमर्थमत आह—

आयरियाईणट्ठा ओमगिलाणट्ठया य बहुसोऽवि । गेलन्नखमगपाहुण अतिप्पएऽतिच्छिए यावि ॥ ४१४ ॥

आचार्यादीनामर्थाय बहुशोऽपि वाराः प्रविशति, ओमो–बालस्तदर्थं (ग्लानार्थं च) बहुशः प्रविशति । प्रमाणयतनोक्ता,

गवेषणैष-णायांएका-कित्वं भा. २२५-२२८ प्रमाणादी-नि सप्रति-पक्षाणि नि. ४१४

॥१५१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२२८||

दीप अनुक्रम [६६९]

इदानीं यदुक्तं कालद्वये प्रवेष्टव्यं तत्प्रतिपक्ष उच्यते, ग्लानक्षपकपाघूर्णार्थमतिप्रत्यूषस्यपि प्रविशति तथा 'अतिच्छिए वावि'त्ति अतिक्रान्तायामपि भिक्षावेलायां प्रविशति बहुशः ॥

अणुकंपापडिसेहो कयाइ न हिंडेज्ज वा न वा हिंडे । अणभोगि गिलाणट्ठा आवस्सगऽसोहइत्ताणं ॥४१५॥ दारं।

स च प्रत्यूषस्येव प्रविष्टः कस्मिंश्चिद् गृहे ग्लानार्थं, लब्धं च तत्तेन तत्र, ततश्च गृहपतिः पुनर्भणति अनुकम्पया, यदुत पुनरपि त्वया ग्लानार्थमस्यां वेलायामागन्तव्यं, ततश्चासौ साधुः प्रतिषेधं करोति, कथं ?, तं गृहस्थमेवं भणति, यदुत प्रत्यूषसि श्वः कदाचिदहं हिंडेज्जा कदाचिन्न हिंडेज्जत्ति, एवं भणंतेण आगंतुका उग्गमदोसा परिहरिया हवंति न च प्रतिषेधः कृतो भवति । उक्ता कालयतना, अधुनाऽऽवश्यकयतनोच्यते–कदाचिदसौ साधुरनाभोगेन 'आवश्यकं' कायिकाव्युत्सर्गलक्षणमकृत्वा ग्लानार्थं त्वरितं गतः ।

आसन्नाउ नियत्ते कालि पहुप्पंति दूरपत्तोवि । अपहुप्पंते तत्तो चिय एगु घरे वोसिरे एगो ॥ ४१६ ॥

तत आसन्नात्सञ्जातकायिकाद्याशङ्को निवर्त्तते, कालो पहुप्पइ यदि ततो दूरगतोऽपि निवर्त्तते, अथ निवर्त्तमानस्य कालो न पहुप्पइ 'तत्तोच्चिअ' तत एव यतो भिक्षार्थं गतस्तत एव व्युत्सृजति, कथम् ?, एकः साधुर्भाजनं धारयति एकस्तु व्युत्सृजति कायिकादि ।

भावासन्नो समणुन्न अन्नओसन्नसड्ढवेज्जघरे । सल्लपरूवणवेज्जो तत्थेव परोहडे वावि ॥ ४१७ ॥

अथवा 'भावासन्नः' असहिष्णुरत्यन्तं भवति ततः समनोज्ञा यदि तत्र क्षेत्र आसन्ना अन्यस्मिन् प्रतिश्रये ततस्तत्र

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

v

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रविश्य व्युत्सृजति। 'अण्ण'त्ति अथासमनोज्ञास्तत्रासन्नास्ततस्तद्गृहसतौ प्रविश्य व्युत्सृजति, तदभावेऽवसन्नानां वसतौ व्युत्सृजति तदभावे श्राद्धगृहे, तदभावे वैद्यगृहे व्युत्सृजति, तत्र च वैद्यगृहे प्ररूपयति यदुत 'तिण्णि सल्ला महाराय' इत्येवमादि, ततश्चासौ वैद्यः स्मारितो ग्रन्थ एवं भणति 'एत्थेव'त्ति अत्र पश्चाद्गृहे व्युत्सृज, 'परोहडे वा' गृहस्य पश्चादङ्गणे व्युत्सृजति, यतोऽसौ मध्यप्रदेशः, स च नरपतेः परिग्रहः ततः कलहादिर्न भवति। ●

उग्गहकाईयवज्जं छंडण ववहारु लब्भए तत्थ। गारविए पन्नवणा तव चेव अणुग्गहो एस ॥ ४१८ ॥

तदभावे गृहस्थसत्केऽवग्रहे परिगृहीते तस्मिन्नपि व्युत्सृजति, कथं ?, कायिकावर्जं पुरीषमुत्सृजन्नपि कायिकीं न व्युत्सृजति। किं कारणं ?, जओ छड्डुणे ववहारो लब्भइ, जदि गिहत्थो भणेज्जा–छड्डेहि, तो न छड्डेइ, ववहारं राउले करेइ। जहा चाणक्कएऽवि भणिअं–'जइ काइयं न वोसिरइ ततो अदोसो'। अयमित्थंभूतस्तत्र व्यवहारो लभ्यते, ततः कायिकां न व्युत्सृजति। उक्ताऽऽवश्यकयतना, अधुना सङ्घाटकयतनोच्यते, तत्र चेयं प्रतिद्वारगाथोपन्यस्ताऽऽसीत् "गारविएकाही" त्येवमादिका, तस्या यतनोच्यते, तत्र "गारविए"च्यस्य पदस्य यतनामाह—'गारविए पन्नवणा' योऽसौ-ओमरायणिको लब्ध्या गर्वितः सन्नेकाकी भवति तमाचार्यो धर्मकथया प्रज्ञापयति, यदुत तवैवायमनुग्रहो यत्त्वदीय-लब्ध्युपष्टम्भेन स्वाध्यादि कुर्वन्तीति। गारवियजयणा गया, एवमिदमुपलक्षणं वर्त्तते, अन्येषामपि कथिकमायाविअल-सलुब्धनिर्द्धर्माणां प्रज्ञापना कर्त्तव्या। इदानीं दुर्लभपदव्याख्यां कुर्वन्निदमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

● अत्र एका प्रक्षेप-गाथा वर्तते. मया संपादित "आगम सुत्ताणि" मूलं अथवा सटीकं पुस्तके सा मुद्रिता अस्ति

जइ दोण्ह एग भिक्खा न य वेल पहुप्पए तओ एगो । सवेवि अत्तलाभी पडिसेहमणुन्नपियधम्मे ॥ ४१९ ॥

यदि तत्र क्षेत्रे पर्यटतामेकैव भिक्षा द्वयोरपि लभ्यते न च कालः पर्याप्यते–न य पहुप्पइ तदा एकाकिन एव हिण्डन्ते । दुर्लभयतनोक्ता, इदानीं अत्ताहिट्ठिययतनोच्यते–यदि ते सर्व एव खग्गूडा अत्तलद्धिया होइउमिच्छंति तदाऽऽचार्यः प्रतिषेधं करोति, अथ कश्चित्प्रियधर्मा आत्मलब्धिको भवति तत आचार्योऽनुज्ञां करोति, ततश्चैवमेकाकी भवति, अत्ताहिट्ठिअजयणा भणिया, अमणुण्णयतनां प्रतिपादयन्नाह—

अमणुन्न अन्नसंजोइया उ सवेवि णेच्छण विवेगो । बहुगुणतदेकदोसे एसणबलवं नउ विगिंचे ॥ ४२० ॥

यद्यसौ 'अमनोज्ञः' रटनशीलस्ततोऽन्यस्य संयोज्यते तेन सह हिण्डते, अथ सर्व एव नेच्छन्ति ततस्तस्यामनोज्ञस्य विवेकः–परित्यागः क्रियते, अथासौ बहुगुणसंपन्नः किन्तु स एवैको दोषः रटनशील इति एषणायां च बलवांस्ततो नासौ परित्यज्यते । भणिया अमणुण्णजयणा, अधुना यदुक्तम्–"एगाणियस्स" इत्येवमादि तेषां यतनोच्यते, आह–किं पुनः कारणमुत्क्रमेण स्त्र्यादीनां पदानां यतनोच्यते ?, उच्यते, गर्वितकथिकादयः प्रज्ञापिताः सन्तः कारणवशादेकाकिनोऽपि भिक्षामटन्ति, ततश्चैकाकिनामटतां यद्यपि स्त्रीकृता दोषा भवन्ति तथाऽपि तत्रेयं यतना, इदानीं यां गाथोपन्यस्ताऽऽसीत् यदुत "एगाणियस्स दोसा" इत्यादिका, तत्र यतनां प्रतिपादयन्नाह—

इत्थीगहणे धम्मं कहेइ वयठवण गुरुसमीवंमि । इह चेवोवर रज्जू भएण मोहोवसम तीए ॥ ४२१ ॥

एवं तस्यैकाकिनो गतस्य सतः स्त्रीग्रहणे सति–स्त्रिया गृहीतः सन् धर्मकथां करोति, यदुत नरकगमनाय मैथुनासेवे-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१५३॥

त्येवमादिकां, अथ कथितेऽपि धर्मे न मुञ्चति ततो भणति यदुत व्रतानि गुरुसमीपे स्थापयित्वाऽऽगच्छामीति, एतदभिधाय नश्यति, अथ तथाऽपि न लभ्यते गन्तुं ततो भणति इहैवापवरके व्रतमोक्षणं करोमीति तत्र च प्रविशति, उल्लम्बनार्थं रज्जुं च गृह्णाति, ततस्तेन भयेन कदाचिन्मोहोपशमो भवति, मोहनरसो भयेन ह्रियते, अथैवमपि न मुञ्चति ततो म्रियत एवेति। उक्ता स्त्रीयतना, इदानीं श्वादियतनोच्यते—

साणा गोणा इयरे परिहरऽणाभोगकुड्डुकडनीसा। वारइ य दंडएणं वारावे वा अगारेहिं ॥ ४२२ ॥

श्वानो गवादयश्च येषु गृहेषु तानि परिहरति, अथानाभोगेन कथमपि प्रविष्टः प्रत्यनीकैश्च गृहीतुमारब्धस्ततः कुड्यकटनिश्रया तिष्ठति, कुड्यं कटं वा पृष्ठे करोति अग्रतो दण्डकेन वारयति अगारैर्वा वारयति। उक्ता श्वयतना, इदानीं पडिणीयतनोच्यते—

पडिणीयगेहवज्जण अणभोगपविट्ठ बोलमिक्खमणं। मज्झे तिण्ह घराणं उवओग करेउ गेण्हेज्जा ॥ ४२३ ॥

एकाकिना प्रत्यनीकगृहे न प्रवेष्टव्यं, अथानाभोगेन प्रविष्टः प्रत्यनीकैश्च ग्रहीतुमारब्धस्ततो बोलं करोति—उच्छब्दयति येन लोको मिलति, तत आकुले निष्क्रामति। उक्ता प्रत्यनीकयतना, अधुना भिक्षाविशोधियतनोच्यते—मध्ये स्थितस्त्रयाणामपि गृहाणामुपयोगं दत्त्वा पङ्क्त्या स्थितानां भिक्षां गृह्णाति, उक्ता भिक्षाविशोधियतना, अधुना पञ्चमहाव्रतयतनोच्यते, तत्र भिक्षायामुपयोगं ददता प्राणातिपातसंरक्षणं कृतमेव, इदानीं द्वितीयमहाव्रतयतनां प्रतिपादनायाह—

प्रमाणादीनि सप्रतिपक्षाणि नि. ४१९-४२३

॥१५३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||४२४||

दीप अनुक्रम [६८०]

वेंटल पुट्ठो न याणे आयन्नातीणि वज्जए ठाणे । सुद्धं गवेस उंछं पंचऽइयारे परिहरंतो ॥ ४२४ ॥

वेण्टलं–निमित्तादि पृष्टः सन्नेवं भणति–न जाने, एवं भणता द्वितीयमहाव्रततयतना कृता भवति । इदानीं तृतीयमहाव्रततयतनां दर्शयन्नाह—'आयण्णाईणि वज्जए ठाणे' तत्र भिक्षार्थं प्रविष्ट आकीर्णादिस्थानं परिवर्जयेत्, यत्र हिरण्यादि विक्षिप्तमास्ते तदाकीर्णस्थानं तच्च साधुना वर्जनीयं, एवं तृतीयमहाव्रततयतना कृता भवति । इदानीं पञ्चममहाव्रततयतनां प्रतिपादयन्नाह—'शुद्धम्' उद्गमादिदोषरहितं 'गवेषयति' अन्वेषयति 'उञ्छं' भक्तं पञ्चाप्यतीचारान् रक्षन् । उक्ता पञ्चममहाव्रततयतना, चतुर्थमहाव्रततयतना तूक्तैव, "इत्थिग्गहणे धम्मं" इत्येवमादिना, उक्ता सङ्घाटकयतना, इदानीमुपकरणयतनाप्रतिपादनायाह—

जहन्नेण चोलपट्टो वीसरणाल्लू गहाय गच्छेज्जा । उस्सग्ग काउ गमणे मत्तयगहणे इमे दोसा ॥ ४२५ ॥

उत्सर्गस्तावद्भिक्षार्थं गच्छता सर्वमुपकरणं गृहीत्वा गन्तव्यं, यस्तु विस्मरणालुः स जघन्येन चोलपट्टकमादाय गच्छति, उपलक्षणं चात्र चोलपट्टकोऽन्यथा पात्रकं पटलानि रजोहरणं दण्डकं कल्पद्वयं च गृहीत्वा गच्छति । उक्तोपकरणयतना, इदानीं मात्रकयतनां प्रतिपादयन्नाह–मात्रकं गृहीत्वा गन्तव्यं, अगृहीत्वा वोत्सर्गमिति–उपयोगं कृत्वा व्रजति, अथ मात्रकं न गृह्णाति गच्छंस्ततश्च मात्रकाग्रहणे एते च दोषाः वक्ष्यमाणाः, अत्र च यदुत्सर्गग्रहणं कृतं तद्विधिप्रदर्शनार्थं न तु पुनः स्वस्थानमिति । इदानीं मात्रकाग्रहणे दोषान् प्रदर्शयन्नाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१५४॥

आयरिए य गिलाणे पाहुणए दुल्लहे सहसलाभे । संसत्तभत्तपाणे मत्तगगहणं अणुन्नायं ॥ ४२६ ॥

आचार्यार्थं ग्लानार्थं प्राघूर्णकार्थं वा दुर्लभं वा किञ्चिल्लभ्यते तदर्थं, 'सहसा' अकस्मात्किञ्चित्कदाचिल्लभ्यते तदर्थं, तथा संसक्तभक्तपानग्रहणार्थं मात्रकग्रहणमनुज्ञातम् । इदानीमेतामेव गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयति—

पाउग्गायरियाई कह गिण्हउ मत्तए अगहियंमि । जा एसि विराहणया दवभाणे जं दवेण विणा ॥२२९॥ (भा०)

प्रायोग्यमाचार्यादीनां क गृह्णातु मात्रके अगृहीते सति ?, अग्रहणाच्च या तेषामाचार्यादीनां विराधना सा तेनाङ्गीकृता भवति, अथैवं मन्यसे द्रवभाजने गृह्णातु ततश्चैवं द्रवेऽगृहीते तेन विना या विराधना सा तदवस्थैव, आदिग्रहणाद् ग्लानप्राघूर्णका अपि व्याख्याता एव ।

दुल्लहदव्वं व सिया घयाइ गिण्हे उवग्गहकरं तु । पउरऽन्नपाणलंभो असंथरे कत्थ य सिया उ ॥ २३० ॥ (भा०)

दुर्लभं वा द्रव्यं घृतादि 'स्यात्' भवेत् ततस्तत्र घृतादि गृह्यते यत उपग्रहं करोति–अवष्टम्भं करोति तत्, सहसा–आकस्मिकप्रचुरान्नपानलम्भः स्यात्ततः असंस्तरतां प्रव्रजितानामात्मानं कृच्छ्रेण यापयतां कुत्रचित् स्याद्ग्रहणमिति । तथा च—

संसत्तभत्तपाणे मत्तग सोहेउ पक्खिवे उवरिं । संसत्तगं च णाउं परिट्ठवे सेसरक्खट्ठा ॥ २३१ ॥ (भा०)

संसक्तभक्तपानग्रहणे सति मात्रके 'शोधयित्वा' प्रत्युपेक्ष्य सक्तुकाञ्जिकादि पात्रकस्योपरि प्रक्षिपेत् । अथ तत्पानकादि गृहीतं मात्रके किन्तु अशुद्धसंसक्तं जातं, ततश्चैवं ज्ञात्वा विधिना तस्मिन्नेव क्षणे परिष्ठापयति, किमर्थं ?, शेषभक्तरक्षणार्थं, मा भूत्तद्बन्धेन शेषस्यापि संसक्तिः स्यात्, तस्मान्मात्रकं ग्रहीतव्यं, एभिश्च कारणैर्न गृह्णाति—

प्रमाणादीनि सप्रतिपक्षाणि नि. ४२४-४२६ भा. २२९-२३१

॥१५४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गेलन्नकज्जतुरिओ अणभोगेणं च लित्त अग्गहणं । अणभोगगिलाणट्ठा उस्सग्गादीणि नवि कुज्जा ॥ ४२७ ॥

ग्लानकार्येण त्वरितो गतः ततश्चैवं न गृह्णाति, अनाभोगेन वा निर्गतो यदि, लिप्तं वा लेपेन तत् मात्रकं यदि, ततश्चैवाग्रहणं मात्रकस्य संभवतीति । उक्ता मात्रकयतना, इदानीं उत्सर्गयतनाप्रतिपादनायाह—अनाभोगेन उत्सर्गं–उपयोगं न कुर्यात्, ग्लानार्थं वा त्वरित उत्सर्गं न कुर्यात्, आदिग्रहणादावश्यकं च न कुर्यादिति । उत्सर्गयतनोक्ता, इदानीं "जस्स जोगो" अस्य विधिरुच्यते—

जस्स य जोगमकाऊण निग्गमो न लभई तु सचित्तं । न य वत्थपायमाई तेण्णं गहणे कुणसु तम्हा ॥ ४२८ ॥

'जस्स य जोगं' इत्येवं 'अकृत्वा' अभणित्वा निर्गतः सन् एवं 'न लभते' न भवत्याभाव्यं 'सचित्तं' प्रव्रज्यार्थमुपस्थितं गृहस्थं, नाप्यचित्तं वस्त्रपात्रकादि, अथ यस्य योग इत्येवमकृत्वा गृह्णाति ततः स्तैन्यं भवति, तस्मात्कुरु यस्य योग इत्येवम् ।

सो आपुच्छि अणुन्नाओ सग्गामे हिंड अहव परगामे । सग्गामे सइ काले पत्ते परगामि वोच्छामि ॥ ४२९ ॥

आपुच्छणा णाम 'संदिसह उपओगं करेमि'त्ति, बितिया पडिपुच्छणा–कह गिण्हामित्ति, गुरू भणइ–तहत्ति, यथा पूर्वसाधवो गृह्णन्तीत्यर्थः, एवमसौ अनेन क्रमेण प्रच्छने कृते सत्यनुज्ञात आवश्यकीं कृत्वा यस्य च योग इत्येवमभिधाय निर्गत्य स्वग्रामे हिण्डते, अथवा 'परग्रामे' समीपग्रामे, तत्र स्वग्रामे यदि हिण्डते ततः 'सति काले' प्राप्तायां भिक्षावेलायामित्यर्थः, इदानीं परग्रामे वक्ष्यामि हिण्डतो विधिम्—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||४३०||

दीप अनुक्रम [६८९]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१५५॥

पुरतो जुगमायाए गंतूर्ण अन्नगामबाहिंठिओ । तरुणे मज्झिमथेरे नव पुच्छाओ जहा हेट्ठा ॥ ४३० ॥

पुरतो युगमात्रं निरीक्षमाणो 'गत्वा' अन्यग्रामं संप्राप्य बहिर्व्यवस्थितः पृच्छति–किं विद्यते भिक्षावेलाऽत्र ग्रामे उत न ?, कान् पृच्छतीत्यत आह—तरुणं मध्यमं स्थविरं, एकैकस्य त्रैविध्यान्नव पृच्छाः कर्त्तव्याः, यथाऽधस्तात्प्रतिपादितस्तथैवात्रापि न्यायः, तत्र तरुणं स्त्रीपुंनपुसकं मध्यमं स्त्रीपुंनपुसकं स्थविरं स्त्रीपुंनपुंसकमिति । एवं पृष्ट्वा यदि तत्र भिक्षावेला तत्क्षण एव ततः को विधिरित्यत आह—

पायपमज्जणपडिलेहणा उ भाणवुम देसकालंमि । अप्पत्तेऽविय पाए पमज्ज पत्ते य पायदुगं ॥ ४३१ ॥

तत्र हि ग्रामासन्ने उपविश्य पादप्रमार्जनं करोति, किं कारणं ?, तत्पादरजः कदाचित्सचित्तं भवति कदाचिन्मिश्रं लग्नं भवेत्, ग्रामे च नियमादचित्तं रजोऽतः प्रमार्जयति, पुनश्च प्रत्युपेक्षणां करोति पात्रद्वितयस्य–पतद्ग्रहस्य मात्रकस्य च, एवं 'देशकाले' भिक्षावेलायां प्राप्तायां करोति, अथाद्यापि न भवति भिक्षाकालस्ततस्तस्मिन्नप्राप्ते भिक्षाकाले पादौ प्रमार्ष्टि, ततस्तावदास्ते यावद्भिक्षाकालः प्राप्तः, ततस्तस्मिन् प्राप्ते सति तस्यां वेलायां पात्रद्वितयं प्रत्युपेक्षत इति । एवमसौ पात्रद्वितयं प्रत्युपेक्ष्य ग्रामे प्रविशन् कदाचिच्छ्रमणादीनि पश्यति ततस्तान् पृच्छति, एतदेवाह—

समणं समणिं सावगसाविगमिहि अन्नतित्थि बहि पुच्छे। अत्थिह समण ? सुविहिया सिट्ठे तेसालयं गच्छे॥४३२॥

श्रमणं श्रमणीं श्रावकं श्राविकां गृहस्थमन्यतीर्थिकान् वा बहिर्दृष्ट्वा पृच्छति, एताननन्तरोक्तान् सर्वान् दृष्ट्वा पृच्छति,

॥१५५॥

प्रमाणादीनि सप्रतिपक्षाणि नि. ४२७-४२९ परग्रामे भिक्षा नि. ४३०-४३२

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परग्रामे भिक्षा, स्थापनाकुल पृच्छा आदि विधि" वर्णयन्ते

अत्र सन्ति श्रमणाः ?, किंविशिष्टाः ?–शोभनं विहितमेषामिति सुविहिताः–शोभनानुष्ठानाः, ततश्चैतेषामन्यतमेन कथिते सति ततस्तेषामेव–श्रमणादीनां 'आलयं' आवासं गच्छेत् । ततस्तेषां आलयं प्राप्य किं करोति ? इत्याह—

समणुण्णेसु पवेसो बाहिं ठविऊण अन्न किइकम्मं । खग्गूडे सन्नेसुं ठवणा उच्छोभवंदणयं ॥ ४३३ ॥

यदि हि ते समनोज्ञाः–एकसामाचारीप्रतिबद्धास्ततस्तेषां मध्ये प्रविशति अन्ये–असमनोज्ञा भवन्ति यदि ततो बाह्यत उपकरणं स्थापयित्वा प्रविश्य 'कृतिकर्म' द्वादशावर्त्तवन्दनं ददाति, अथ ते संविग्नपाक्षिका अवसन्ना भवन्ति ततो बहिर्व्यवस्थित एव वन्दनं कृत्वाऽबाधां पृच्छति, अथ ते 'अवसन्नाः' खग्गूडप्रायास्ततो बहिरेवोपकरणं स्थापयित्वा पुनश्च प्रविश्य तेषामुच्छोभवन्दनं करोति ।

गेलन्नाइ अबाहा पुच्छिय सयकारणं च दीवेत्ता । जयणाए ठवणकुले पुच्छइ दोसा अजयणाइ ॥ ४३४ ॥

एवं सर्वेष्वेतेष्वनन्तरोदितेषु समनोज्ञादिषु प्रविश्य ग्लानाद्यबाधां पृष्ट्वा स्वकीयमागमनकारणं 'दीपयित्वा' निवेद्य 'यतनया' मधुरवाग्लक्षणया, यदिवा वक्ष्यमाणलक्षणया स्थापनाकुलानि पृच्छति । अयतनया पृच्छतो दोषः वक्ष्यमाणलक्षणो यतोऽतो यतनया पृच्छति । एतानि तानि स्थापनाकुलानि—

दाणे अभिगमसड्ढे संमत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते । मामाए अचियत्ते कुलाइ जयणाइ दायंति ॥ ४३५ ॥

दानश्राद्धकोऽभिगमश्राद्धको–यत्र कारणे आपन्ने प्रविश्यते सम्यक्त्वधरकुलं मिथ्यात्वकुलं मामाकः–मा मम समणा धरमइंतु तत्कुलं 'अचियत्तं' अदानशीलं कुलं, एतानि कुलानि ते वास्तव्यास्तस्य साधोर्यतनया दर्शयन्ति ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सागारि वणिम सुणए गोणे पुन्ने दुगुंछियकुलाइं । हिंसागं मामागं सवपयत्तेण वज्जेज्जा ॥ ४३६ ॥

सागारिकः–शय्यातरस्तद्गृहं दर्शयन्ति, तथा वणीमओ–दरिद्रस्तद्गृहं दर्शयन्ति, तत्रैतदर्थं न गम्यते, स हि दरिद्रोऽसति भक्ते लज्जां करोति, यद्वा यत्किञ्चिदस्ति तद्दत्त्वा पुनरात्मार्थं रन्धनं करोति, तथा श्वा यत्र दुष्टो गृहे तच्च, गौर्वा यत्र दुष्टो गृहे तच्च, 'पुण्णे'त्ति पुण्यार्थं यत्र बहु रन्धयित्वा श्रमणानां दीयते, अथवा पूर्णं यद्गृहस्थैर्बहुभिस्तच्च दर्शयन्ति, जुगुप्सितं–छिम्पकादि तच्च, हिंसागं–सौकरिकादिगृहं तच्च मामाकं चोक्तं, एतानि दर्शितानि सन्ति सर्वयत्नेन परिहर्त्तव्यानीति । इदानीं यदुक्तं 'यतनया स्थापनाकुलानि पृच्छनीयानि कथनीयानि च' तत्प्रतिपादनायाह—

बाहाए अंगुलीय व लट्ठीइ व उज्जुओ ठिओ संतो । न पुच्छेज्ज न दाएज्जा पच्चावाया भवे दोसा ॥ ४३७ ॥

बाहुं प्रसार्य गृहाभिमुखं न दर्शयन्ति नापि पृच्छति, तथाऽङ्गुल्या यष्ट्या न पृच्छति नापि कथयति, ऋजुर्गृहाभिमुखः स्थितो न पृच्छेत् साधुनापि दर्शयेद्, यतस्तत्र दोषाः, किंविशिष्टाः?–प्रत्यपायजनिता भवन्ति । के च ते प्रत्यपायाः? इत्याह–

अगणीण व तेणेहि व जीवियववरोवणं तु पडिणीए । खरओ खरिया सुण्हा णट्ठे वट्टक्खुरे संका ॥ ४३८ ॥

यया दिशा साधुना बाहुं प्रसार्य गृहं पृष्टं तेन बाह्वादि प्रसार्य तत्कथितं गृहं कदाचिदग्निना दग्धं भवति ततश्च गृहपतिस्तं साधुमाशङ्कते, यदुत तेन साधुनाऽन्यस्य साधोर्ह्यस्तनेऽहनि दर्शितमासीत्तद्यदि तत्कृतोऽयं घातः स्यात्, नान्यः, स्तेनकैर्वा मुषितं भवति जीवितव्यपरोपणं वा गृहस्थस्य प्रत्यनीकेन कृतं भवति तत आशङ्का साधोरुपरि भवति, कदाचिद्वा 'खरिय'त्ति द्व्यक्षरिका–कर्मकरी नष्टा भवति, 'खरओ' द्व्यक्षरो वा–कर्मकरः प्रायो नश्यति, सुण्हा वा–स्नुषा

परग्रामे श्रमणादिस्थापनाकुलपृच्छा नि. ४३३-४३७

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||४३८||

दीप अनुक्रम [६९७]

केनचित्सह गता, एतेषु नष्टेषु सत्सु साधोरुपरि शङ्का भवति, यदुत तत्कृतोऽयं घात इति, 'वृत्तखुरः' अश्वप्रधानः केनचिदपहृतो भवेत्ततश्च साधोरुपरि वाह्यादिना दर्शयतः शङ्का भवति ॥ इदानीं यानि प्रतिकुष्टकुलानि कथितानि तान्येभिरभिज्ञानैर्वर्जयति—

पडिकुट्ठकुलाणं पुण पंचविहा थूभिआ अभिन्नाणं । भग्गघरगोपुराई रुक्खा नाणाविहा चेव ॥ ४३९ ॥

तेषां प्रतिकुष्टकुलानां पञ्चविधा स्तूपिकाऽभिज्ञानं भवति, भग्नगृहसमीपादौ वा तथा गोपुरसमीपे बहिरन्तर्वा वृक्षा नानाविधा अभिज्ञानं प्रतिषिद्धकुलानाम् । इतश्च स्थापनाकुलेषु न प्रवेष्टव्यं, यतः—

ठवणा मिलक्खुनेडुं अचियत्तघरं तहेव पडिकुट्ठं । एयं गणधरमेरं अइक्कमंतो विराहेज्जा ॥ ४४० ॥

स्थापनाकुलानि तथा 'मिलक्खू' म्लेच्छगृहं तथा अचियत्तगृहं तथा 'प्रतिकुष्टं' छिम्पकादिगृहं सूतकोपेतगृहं वा, एतेषु न प्रवेष्टव्यं, इयं 'गणधरमेरा' गणधरस्थितिस्तताश्चैतां मर्यादां प्रवेशेनातिक्रामन् विराधयति दर्शनादि । आह-प्रतिकुष्टकुलेषु प्रविशतो न कश्चित् षड्जीववधो भवति किमर्थं परिहार इति ?, उच्यते—

छक्कायदयावंतोऽवि संजओ दुल्लहं कुणइ बोहिं । आहारे नीहारे दुगुंछिए पिंडगहणे य ॥ ४४१ ॥

सुगमा ॥ नवरम्—आहारनीहारौ यद्यगुप्तः सन् करोति, 'जुगुप्सितेषु' छिम्पकादिषु यदि पिण्डग्रहणं करोति ततो दुर्लभां बोधिं करोतीति । ननु च ये इह जुगुप्सितास्ते चैवान्यत्राजुगुप्सितास्ततः कथं परिहरणं कर्त्तव्यं ?, उच्यते—

जे जहि दुगुंछिया खलु पवावणवसहिभत्तपाणेसु । जिणवयणे पडिकुट्ठा वज्जेयव्वा पयत्तेणं ॥ ४४२ ॥

ओ० २७

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||४४२||

दीप अनुक्रम [७०१]

ये 'यस्मिन्' विषयादौ जुगुप्सिताः प्रव्रज्यामङ्गीकृत्य वसतिमङ्गीकृत्य तथा भक्तं पानं चाङ्गीकृत्य ते तत्र वर्जनीयाः, तत्थ पवावणं प्रतीत्य अवरुन्धिका ण पव्वावणजोग्गा वसहिभत्तपाणेसु जोग्गा, वसहिमङ्गीकृत्य जुगुप्सितो भंडाण वाडओ तत्थ वसई न कीरइ, जतो तत्थ गाइथवनच्चियवएण असज्झायादि होइ, पवावणभत्तपाणेसु पुण जुग्गो, तथा भक्तपानग्रहणेषु जुगुप्सितानि सूतकगृहाणि पव्वावणेसु य, ताणि पुण वसहिं अण्णत्थ दवावेंति, अण्णाणि पुण तिहिवि दोसेहिं दुट्ठाणि कम्मकराईणि, एते जिनवचनप्रतिकुष्टा वर्जनीयाः प्रयत्नेन । अथवा पश्चार्द्धमन्यथा व्याख्यायते, पव्वावणे दुगुंछिया एते—

अट्ठारस पुरिसेसुं वीसं इत्थीसु दस नपुंसेसुं । पव्वावणाए एए दुगुंछिया जिणवरमयंमि ॥ ४४३ ॥

पव्वावणे जिणवयणे पडिसिद्धा, वसहिदुगुंछिया ओसण्णा अमणुण्णा वा, भत्तपाणेवि एते चेव, एते जिनवचनप्रतिकुष्टाः । दोसेण जस्स अयसो आयासो पवयणे य अग्गहणं । विप्परिणामो अप्पच्चओ य कुच्छा य उप्पज्जे ॥ ४४४ ॥

सर्वथा येन केनचित् 'दोषेण' निमित्तेन यस्य संबन्धिना 'अयशः' अश्लाघा 'आयासः' पीडा प्रवचने भवति, अग्रहणं वा विपरिणामो वा श्रावकस्य शैक्षकस्य वा तन्न कर्त्तव्यं, तथाऽप्रत्ययो वा शासने येन भवति यदुतैतेऽन्यथा वदन्ति अन्यथा कुर्वन्ति एवंविधोऽप्रत्ययो येन भवति तन्न कर्त्तव्यं, तथा जुगुप्सा च येनोत्पद्यते यदुत वराकका एते दयामनकास्तदेवंविधं न किञ्चित्कार्यम् । यस्तु पुनरेवं करोति तस्येदमुक्तं भगवता—

पवयणमणपेहंतस्स तस्स निद्धंधसस्स लुद्धस्स । बहुमोहस्स भगवया संसारोऽणंतओ भणिओ ॥ ४४५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गवेषणा. एषणा इत्यादिनाम् वर्णनं

प्रवचनमनपेक्षमाणस्य तस्य 'निद्धन्धसस्य' निःशूकस्य लुब्धस्य बहुमोहस्य भगवता संसारोऽनन्त उक्त इति । तथा न केवलं बहुमोहस्यैतद्भवति योऽप्यन्यस्तस्याप्येवं कुर्वतोऽनन्त एव संसारः, एतदेवाह—

जो जह व तह व लद्धं गिण्हइ आहारउवहिमाईयं । समणगणमुक्कजोगी संसारपवड्ढओ भणिओ ॥ ४४६ ॥

सुगमा ॥ एवं तावज्ज्ञानवतामपि दोषः, ये तु पुनराचार्येण मुण्डितमात्रा अगीतार्था एव मुक्तास्ते सुतरामज्ञानादेव एषणादि न कुर्वन्ति, एतदेवाह—

एसणमणेसणं वा कह ते नाहिंति जिणवरमयं वा । कुरिणंमिव पोयाला जे मुक्का पवइमेत्ता ॥ ४४७ ॥

सुगमा ॥ नवरं 'कुरिणंमि' महति अरण्ये 'पोयाला' मृगादिपोतलकास्त इह यूथपतिना मुक्ताः सन्तो विनश्यन्ति एवं तेऽपीति । एवं तावदाचार्यदोषेणैवंविधा भवन्ति, एते तु स्वदोषेण भवन्ति, के च ते ?, अत आह—

गच्छंमि केइ पुरिसा सउणी जह पंजरंतरनिरुद्धा । सारणवारणचइया पासत्थगया पविहरंति ॥ ४४८ ॥

गच्छे केचित् पुरुषा निरुद्धाः सन्तः शकुनीव पञ्जरान्तरनिरुद्धा, ते 'सारणवारणचइया' सारणं-प्रसर्पणं संयमे तेन, 'सृ गतौ' इत्यस्येदं रूपं अथवा सारणं-स्मारणं वा संयमविषयं, वारणं–दोषेभ्यो निवारणमिति एवं निरुद्धाः सन्तः 'चइता' त्याजिताः सन्तः पार्श्वस्थादिषु प्रविहरन्ति ।

तिविहोवघायमेयं परिहरमाणो गवेसए पिंडं । दुविहा गवेसणा पुण दव्वे भावे इमा दव्वे ॥ ४४९ ॥

एवं त्रिविधस्य ज्ञानदर्शनचारित्रस्योपघातभूतं पिण्डं 'परिहरन्' परित्यजन्,किं कुर्वीत ? अत आह 'गवेसए' गवेषयेद्–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१५८॥

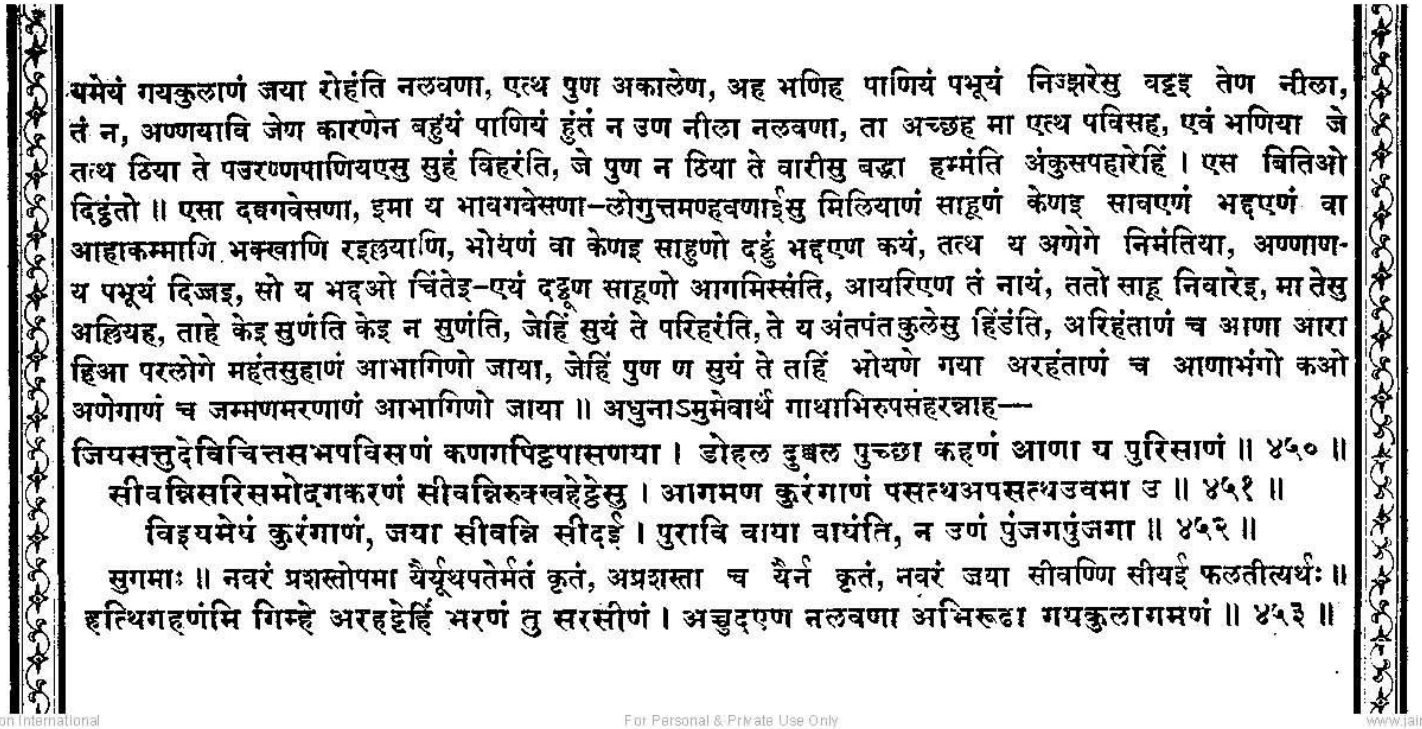
अन्वेषयेत्, कं ?–तमेव 'पिण्डं' संयमोपकारिणं। इदानीं सा गवेषणा द्विविधा–द्रव्यतो भावतश्च, द्रव्यतस्तावद् 'इमा' वक्ष्यमाणलक्षणा। का चासौ वक्ष्यमाणा ?, सोच्यते–वसंतपुरं नाम नयरं जियसत्तू राया धारिणी देवी, सा य अप्पणो चित्तसभं अइगया कणगपिट्ठिमिगे पासइ, सा य गुव्विणी, तेसु कणगपिट्ठिमिगेसु दोहलो समुप्पण्णो, चिंतेइ य–धन्नाओ ताओ जाओ एएसिं चम्मेसु सुवंति मंसाणि य खायंति, सा तेणं डोहलेणं अणवणिज्जंतेण दुब्बला जाया, रण्णा य पुच्छिया, कहियं च तीए, ताहे रण्णा पुरिसा आणत्ता, वच्चह कणगपिट्ठे मिगे गेण्हह, तेसिं पुण मिगाणं सीवण्णिफलाणि आहारो, तया य सीवण्णीणं अकालो फलस्स, ताहे कित्तिमाणि कणिक्कफलाणि काउं गया अडवीए, तत्थ य पुंजयपुंजया सीवण्णीणं हेट्ठा ठवंति, ताहे कुरंगेहिं दिट्ठं, गया य जूहवइस्स साहेंति, ताहे ते मिगा आगया, जो तेसिं अहिवई सो भणइ–अच्छह तुब्भे पेच्छामि ताव अप्पणा गंतुं, दिट्ठं च तेणं, कहियं च ताणं जहा केणइ धुत्तिमा कया अम्ह गहणत्थं, जेण अकालो सीवण्णिफलाणं, अह भणइ–अकालेवि हवंति चेव फलाणि, तं सच्चं, किं तु ण पुंजया होंता, अह भणह वातेण तहा कया तण्ण जओ पुरावि एवमेव वाया वायंता न उण पुंजयपुंजएहिं फलाइं कयाइ ठियाणि ता ण गच्छामो तत्थ, एवं भणिए केइ तत्थ ठिया, अण्णे पुण असद्दहंता गया, तत्थ य बंधणमरणाइं पाविया, जे उण ठिया ते सच्छंदं वणेसु सुहं मोदंति। एस एगो दिट्ठंतो, बितिओ भण्णइ—एक्को राया, तेण य हत्थिगहणत्थं पुरिसा भणिया, जहा गेण्हह हत्थी, ते भणंति–जत्थ हत्थी चरंति तं नलवणं सुक्कं गिम्हकालेण, तो तत्थ अरण्णे अरहट्टो कीरइ, राइणा तहत्ति पडिवण्णं, तेहिंपि तत्थ गंतूण तहत्तिकयं उल्लूहं च नलवणं हरियं जायं, ताहे जूहवइणा दिट्ठं, निवारेइ नियकलहगे, जहा विद्दि-

एषणाऽभावेससारः नि. ४४६-४४९ द्रव्यगवेषणायां वानरगजयूथदृष्टान्तौ

॥१५८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||४४९|| दीप अनुक्रम [७०८]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः



यमेयं गयकुलाणं जया रोहंति नलवणा, एत्थ पुण अकालेण, अह भणिह पाणियं पभूयं निज्झरेसु वट्टइ तेण नीला, तं न, अण्णयावि जेण कारणेन बहुयं पाणियं हुंतं न उण नीला नलवणा, ता अच्छह मा एत्थ पविसह, एवं भणिया जे तत्थ ठिया ते पउरण्णपाणियएसु सुहं विहरंति, जे पुण न ठिया ते वारीसु बद्धा हम्मंति अंकुसपहारेहिं । एस बितिओ दिट्ठंतो ॥ एसा दव्वगवेसणा, इमा य भावगवेसणा–लोगुत्तमण्हवणाईसु मिलियाणं साहूणं केणइ सावएणं भद्दएणं वा आहाकम्माणि भक्खाणि रइल्लयाणि, भोयणं वा केणइ साहुणो दट्ठुं भद्दएण कयं, तत्थ य अणेगे निमंतिया, अण्णाणय पभूयं दिज्जइ, सो य भद्दओ चिंतेइ–एयं दट्ठूण साहूणो आगमिस्संति, आयरिएण तं नायं, ततो साहू निवारेइ, मा तेसु अल्लियह, ताहे केइ सुणंति केइ न सुणंति, जेहिं सुयं ते परिहरंति, ते य अंतपंतकुलेसु हिंडंति, अरिहंताणं च आणा आराहिआ परलोगे महंतसुहाणं आभागिणो जाया, जेहिं पुण ण सुयं ते तहिं भोयणे गया अरहंताणं च आणाभंगो कओ अणेगाणं च जम्मणमरणाणं आभागिणो जाया ॥ अधुनाऽमुमेवार्थं गाथाभिरुपसंहरन्नाह—

जियसत्तुदेविचित्तसभपविसणं कणगपिट्ठपासणया । डोहल दुब्बल पुच्छा कहणं आणा य पुरिसाणं ॥ ४५० ॥
सीवन्निसरिसमोदगकरणं सीवन्निरुक्खहेट्ठेसु । आगमण कुरंगाणं पसत्थअपसत्थउवमा उ ॥ ४५१ ॥
विइयमेयं कुरंगाणं, जया सीवन्नि सीदई । पुरावि वाया वायंति, न उणं पुंजगपुंजगा ॥ ४५२ ॥

सुगमाः ॥ नवरं प्रशस्तोपमा यैर्यूथपतेर्मतं कृतं, अप्रशस्ता च यैर्न कृतं, नवरं जया सीवण्णि सीयई फलतीत्यर्थः ॥

हत्थिगहणंमि गिम्हे अरहट्टेहिं भरणं तु सरसीणं । अच्चुदएण नलवणा अभिरूढा गयकुलागमणं ॥ ४५३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१५९॥

विइयमेयं गयकुलाणं, जहा रोहंति नलवणा । अन्नयावि झरंति सरा, न एवं बहुओदगा ॥ ४५४ ॥

सुगमे, नवरं 'भरणं च सरसीणं'ति महंति सरांसि सरस्य उच्यन्ते तासां भरणम् ॥

ण्हाणाईसु विरइयं आरंभकडं तु दाणमाईसु । आयरियनिवारणया अपसत्थितरे उवणओ उ ॥ ४५५ ॥

स्नानादिषु विरचितं किञ्चिद्भक्तं, आरम्भे वा भोजने दानादि किञ्चित्प्रवर्त्तितं, तत्राचार्यो निवारणां करोति । अयं चाप्रशस्तस्येतरस्य चोपनय उक्तः । अहवा इमा भावगवेसणा–धम्मरुई नाम अणगारो सो ज्येष्ठामूले ज्येष्ठमासइत्यर्थः तिहिं आयावेइ अट्ठमं च करेइ, सो य पारणए सग्गामे न हिंडइ अन्नं गामं वच्चइ, तत्थ य वच्चंतं साहुं दट्ठूण एक्का देवया आउट्टा, कोंकणगरूवादि तो विउव्वइ, ताहे रुक्खहेट्ठा अणुकंपाए लाउएणं कंजियस्स भरिएणं अच्छइ, ताहे तं साहुं अब्भासगं दट्ठूण एगो भणति तुमं पिब कंजियं, ताहे सो भणइअलाहि मम पीएणं ताहे सो भणइ–को उण एयं वहिही तम्हा साहुस्स दिज्जउ, ताहे बीओ भणइ–देहि वा छड्डेहि वा, तओ तेणं सो अणगारो निमंतिओ भणिओ य–तुब्भे इमं गेण्हह, ताहे सो भगवं दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ य गवेसइ, दव्वओ इमं कंजियं सीयलं सुरहिं च, खेत्ततो इमाए अडवीए को देइ ?, कालतो जेट्ठमासो, एत्थवि दुक्खं दाउं, भावओ हट्ठतुट्ठचित्तेण निमंतेति, तं एत्थ कारणेण भवियव्वं, ताहे सो उवउत्तो हेट्ठा पेच्छइ जाव भूमीए पाया न लग्गंति, उवरि पेच्छइ अच्छीणि अणिमिसाणि, ताहे देवत्ति नाऊण वज्जियं ॥ अहवा वयरसामी दिट्ठंतो, वयरसामी आयरिएहिं समं वासारत्तं एगंमि नगरे ठिओ, तत्थ य सत्ताहवद्दले न कोइ साहू णीइ, सोवि भगवं डहरओ ण णीति, तस्स पुवसंगइया देवा आगया, ते हि तत्थ वणियवेसं काऊण भरएहिं आगंतूण अब्भासे ठिआ, तेहिं

वानरगज-दृष्टान्तगाथाः नि. ४५०-४५४ स्नानादि-षूपनयः नि. ४५५

॥१५९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्थ अणेगरूवं उवक्खडियं, उज्जुत्ता अकलिज्जंता य गता निमंतंति साहुणो, ते भणंति–एस खुड्डुलओ गेण्हउ, ताहे सो आयरियसंदिट्ठो पयट्टो जाव अज्जवि वरिसइ, ताहे तेहिं देवेहिं सव्वं वद्दलं उवसंहरियं, आगओ तं पएसं, देवेहि य वीहिकूरो दाउमारद्धो पूसफलं माहुरयं च, सो भगवं उवउत्तो–को कालो वाणियगाणं एत्थ आगमणे, एज्ज वा अकाले वासं न उवसमेइ तो किह आगया ?, इमो य पढमपाउसो कतो वीहिणो पूसफलं वा ?, एवं चिंतंतो हेट्ठा उवरिं च निरूवेइ जाव भूमीए पाया न लग्गंति अणिमिसाणि अच्छीणि तओ गुज्झगत्ति वज्जेइ, ताहे देवा सत्थं साहरित्ता वंदंति नमंसंति, पसंसति धन्नोऽसि भयवं !, तत्थ य से वेउव्विलद्धिं नभोगमणलद्धिं च देंति, ताहे गया देवा। एसा भावगवेसणा। अमुमेवार्थं गाथाभिरुपसंहरति, तत्र निर्युक्तिकारः कथानकद्वयमपि उपसंहरन्नाह—

धम्मरुइ अज्जवयरे लंभो वेउव्वियस्स नभगमणं। जेट्ठामूले अट्ठम उवरिं हेट्ठा व देवाणं ॥ ४५६ ॥

धर्मरुचिरनगारस्तथाऽऽर्यवयरस्वामी लम्भो वैकुर्विकलब्धेर्नभोगमनलब्धेश्च तस्यैव, तथा ज्येष्ठामूले ज्येष्ठमास इत्यर्थः, धर्मरुचिरष्टमभक्तेन स्थितोऽन्यस्मिन् ग्रामे गच्छन् देवेन दृष्टः, स च भगवानधस्तादुपरि चोपयोगं दत्त्वा पुनश्च न गृहीतवानकल्प्यमिति। इदानीं भाष्यकारो धर्मरुचिकथानकमुपसंहरन्नाह—

आयावणऽट्ठमेणं जेट्ठामूलंमि धम्मरुइणो उ। गमणऽन्नगामभिक्खट्ठया य देवस्स अणुकंपा ॥ २३२ ॥ (भा०)
कोंकणरूवविउव्वण अंबिल छड्डेमऽहं पियसु पाणं। छड्डेहित्तिय बिइओ तं गिण्ह मुणित्ति उवओगो ॥२३३॥ (भा०)
तण्हाछुहाकिलंतं दट्ठूणं कुंकणो भणइ साहुं। उज्झामि अंबकंजिय अज्जो ! गिण्हाहि णं तिसिओ ॥२३४॥ (भा०)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सोऊण कोंकणस्स य साहू वयणं इमं विचिंतेइ । गविसणविहिए निउणं जह भणिअं सव्वदंसीहिं ॥२३५॥ (भा०)
गविसणगहणकुडंगं नाऊण मुणी उ मुणियपरमत्थो । आहडरक्खणहेउं उवउंजइ भावओ निउणं ॥२३६॥ (भा०)
उक्कोसदव्वखेत्तं च अरण्णं कालओ निदाहो उ । भावे हट्ठपहट्ठो हिट्ठा उवरिं च उवओगो ॥ २३७ ॥ (भा०)
दट्ठूण तस्स रूवं अच्छिनिवेसं च पायनिक्खेवं । उवउंजिऊण पुव्विं गुज्झिगमिणमो त्ति चज्जेइ ॥ २३८॥ (भा०)

गवेषणा गहनमेव गह्वरमित्यर्थः तज्ज्ञात्वा मुनिः ॥ उत्कृष्टमेतद्द्रव्यं–काङ्क्षिकं सुरभि क्षेत्रतोऽरण्ये कुतोऽस्य सम्भवः?, शेषं सुगमं ॥ दृष्ट्वा च 'तस्य' देवस्य रूपं वर्जयतीति संबन्धः । इदानीं भाष्यकार एव वयरस्वामिकथानकमुपसंहरन्नाह—

सत्ताहवद्दले पुव्वसंगई वणियविरूवुवक्खडणं । आमंतण खुड्ड गुरू अणुनवनं विंदु उवओगो ॥२३९॥ (भा०)

सप्ताहवर्दले पूर्वसङ्गतिकदेवो विरूपरूपं–अनेकप्रकारं उपक्खडित्ता आमन्त्रणं क्षुल्लस्य कृतवान्, गुरुणा चानुज्ञातः प्रवृत्तश्च, पुनश्च बिन्दुपतनात्स्थितो, देवेन चोपसंहरितं, पुनश्च वयरस्वामिना उपयोगो दत्तः ।

एसा गवेसणविही कहिया भे धीरपुरिसपन्नत्ता । गहणेसणंपि एत्तो वोच्छं अप्पक्खरमहत्थं ॥ ४५७ ॥

सुगमा ॥ तत्र यदुक्तं 'इत ऊर्ध्वं ग्रहणैषणां वक्ष्ये' इति, तत्प्रतिपादयन्नाह—

नामं ठवणादविए भावे गहणेसणा मुणेयव्वा । दव्वे वानरजूहं भावंमि य ठाणमाईणि ॥ ४५८ ॥

याऽसौ ग्रहणैषणा सा चउविहा–नामग्रहणैषणा स्थापनाग्रहणैषणा द्रव्यग्रहणैषणा भावग्रहणैषणा च ज्ञेया, नामग्रहणै-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

षणा सुगमा, तत्र स्थापनाग्रहणैषणा द्विविधा–सद्भावस्थापनाग्रहणैषणा चित्रकर्मणि साधुग्रहणैषणां कुर्वन् दर्श्यते, असद्भावस्थापनाग्रहणैषणाऽक्षादिषु, तत्र द्रव्यग्रहणैषणा आगमतो नोआगमतश्च, आगमतो ग्रहणैषणापदार्थज्ञः तत्र चानुपयुक्तः, नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरे तथा ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यग्रहणैषणायां वानरयूथं, भावग्रहणैषणायां तु स्थानादीनि भवन्ति, एतदुक्तं भवति–भावग्रहणैषणां कुर्वन् विवक्षिते स्थाने तिष्ठति, दातृप्रभृतीनि च परीक्षते भावग्रहणैषणायां, तत्र द्रव्यग्रहणैषणायामिदमाख्यानकम्—एकं वणं तत्थ वानरजूहं परिवसइ, कालेण य तं परिसडियपंडुपत्तं जायं, उण्हकाले ताहे जूहवई भणइ– अण्णं वणं गच्छामो, तत्थ तेसिं जूहवई अण्णवणपरिक्खणत्थं दुन्नि व तिण्णि व पंच व सत्तव पयट्टइ, वच्चह वणंतरे जोएह, ताहे गया एगं वणसंडं पासंति पउरफलपुप्फं, तस्स वणस्स मज्झे एगो महद्दहो, तं दट्ठूण हट्ठतुट्ठा गया जूहवइणो साहंति ताहे जूहवई सव्वेसिं समं आगओ, ताहे तं वणं रुक्खेण रुक्खं पलोएइ, ताहे तं वणं सुद्धं, तेण भणिया–खायह वणफलाइं, जाहे ते तत्थ धाया ताहे पाणियं गया, ताहे सो जूहवई दहस्स परिपेरंतेहिं पलोएइ जाव ओयरंताणि पयाणि दीसंति नीसरंताणि न दीसंति, ताहे भणइ– एस दहो सावाओ ता मा एत्थ तीरट्ठिया मज्झे वा उपरि य पाणियं पियह किं तु नालेण पियह, तत्थ जेहिं सुयं तस्स वयणं ते पुप्फफलाणं आभागिणो जाया, एवं चेव आयरिओ ताणं साहूणं आहाकम्मुद्देसियाणि समोसरणण्हवणाइसु परिहरावेइ उवाएण फासुयं गिण्हावेइ जहा न छलिज्जंति आहाकम्माइणा तहा करेइ, तत्थ पुव्वकयाणि खीरदहिघयाईणि तारिसाणि गिण्हावेइ अकयाकारियासंकप्पियाणि, तत्थ जे आयरियाणं वयणं सुणंति ते परिहरंति ते अचिरेणं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-नियुक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१६१॥

कालेणं कम्मक्खयं करेहिंति, जे ण सुणंति ते भणंति एते तुम्हारया असद्धिकल्पाः, किं कारणं एयं न घिप्पंतित्ति ?, एवं असुणेंता अणेगाणं जाइयवमरियवयाणं आभागिणो जाया ॥ इदानीममुमेवार्थं गाथाभिः प्रदर्शयन्नाह—

परिसडियपंडुपत्तं वणसंडं दट्ठु अन्नहिं पेसे । जूहवई पडियरिए जूहेण समं तहिं गच्छे ॥ ४५९ ॥
सयमेवालोएउं जूहवई तं वणं समं तेहिं । वियरइ तेसि पयारं चरिऊण य ते दहं गच्छे ॥ ४६० ॥
ओयरंतं पयं दट्ठु, उत्तरंतं न दीसइ । नालेण पियह पाणीयं, एस निक्कारणो दहो ॥ ४६१ ॥

सुगमाः, नवरं 'पडियरिए' निरूविए ॥ नवरं 'वियरइ' ददाति 'तेसां' वानराणां 'प्रचारं' अटनमुत्सङ्कलयति ॥ एवं तावद्द्रव्यग्रहणैषणा, भावग्रहणैषणा एभिर्द्वारैरनुगन्तव्या—

ठाणे य दायए चेव, गमणे गहणागमे । पत्ते परियत्ते पाडिए य गुरुयं तिहा भवे ॥ ४६२ ॥ द्वारं ॥

तत्र पिण्डग्रहणं कुर्वता वक्ष्यमाणं स्थानत्रितयं परिहरणीयं, तद्यथा—आत्मोपघातिकं प्रवचनोपघातिकं संयमोपघातिकं चेति । तथा पिण्डग्रहणं कुर्वता दाता परीक्षणीयः–योऽव्यक्तादिरूपो न भवति, तथा दातुर्गमनं निरूपणीयं भिक्षार्थमभ्यन्तरं प्रविशतो भिक्षां च दत्त्वा गच्छतो गमनं निरूपणीयं, 'गहणं'ति स भिक्षादाता यस्माद् हण्डिकादिस्थानाद्ग्रहणं भिक्षायाः करोति तन्निरीक्षणीयं, स दाता तां भिक्षां गृहीत्वाऽभ्यागच्छन्निरूपणीयः, 'पत्ते'त्ति प्राप्तस्य दातुस्तस्य हस्तं उदकार्द्रो न वेति निरूपणीयः, अथवा 'पत्ते'त्ति पात्रं–स्थानं यस्मिन् भिक्षा आदाय गृहस्थ आगतः कडुच्छुकादि तन्निरीक्षणीयं, अथवा पत्तेत्ति प्राप्तं द्रव्यमोदनादि निरूपयति'परियत्ते'त्ति परावृत्तमधोमुखं स्थितं भिक्षां ददतो दातुः कडुच्छुकादिकं

वानरदृष्टान्तगाथाः नि. ४५९-४६१

भावग्रहणैषणायांस्थानादीनि नि. ४६२

॥१६१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत् निरूपयति कदाचिदुदकार्द्रं भवति, 'पाडिए'त्ति पातितश्च पात्रके पिण्डो निरूपणीयः, 'गुरुयं'ति गृहस्थभाजनं स्थाल्यादि गुरुर्भवति, कदाचित्तद्द्रव्यं गुडादि गुरुर्भवति, पाषाणादिर्वा भण्डकस्योपरि यो दत्तः, तथा 'तिह'त्ति त्रिविधः कालो वक्तव्यः, भावश्च–प्रशस्ताप्रशस्तरूपो वक्तव्यः। इदानीं भाष्यकारः प्रतिपदं व्याख्यानयति, तत्राद्यावयवव्याख्यानायाह—

आया पवयण संजम तिविहं ठाणं तु होइ नायव्वं। गोणाइ पुढविमाई निद्धमणाई पवयणंमि ॥२४०॥ (भा०)

त्रिविधमुपघातस्थानं भवति, तद्यथा–आत्मोपघातिकं प्रवचनोपघातिकं संयमोपघातिकं चेति, तत्र यथायोगं गवादिभिरात्मोपघातिकं भवति पृथिवीकायादिभिः संयमोपघातिकं भवति निद्धमणादि–नगरोदकोपघसरादि उपघातस्थानं प्रवचनविषयं भवति। तत्र गवादिभिः कथमात्मोपघातो भवतीति दर्शयन्नाह—

गोणे महिसे आसे पेल्लण आहणण मारणं भवइ। दरगहिय भाणभेदो छड्डुणि भिक्खस्स छक्काया ॥ ४६३ ॥
चलकुड्डुपडणकंटगबिलस्स व पासि होइ आयाए। निक्खमपवेसवज्जण गोणे महिसे य आसे य ॥ ४६४ ॥

यदा गोमहिष्यादिस्थाने स्थितो भिक्षां गृह्णाति ततो महिष्यश्वादिप्रेरणं–विक्षेपणं आघातो वा मारणं तत्कृतं भवति आत्मविराधना, अर्द्धगृहीतायां भिक्षायां 'भाजनभेदः' पात्रकभेदो भवति, ततश्च भिक्षायाः 'छड्डुने' प्रोज्झने षडपि काया विराध्यन्ते, इयं संयमविराधना। अथवाऽनेन प्रकारेणात्मविराधना भवेत्—तत्र भिक्षाग्रहणस्थाने कदाचिच्चलं कुड्यमासन्ने भवति ततस्तत्पतनजनित आत्मोपघातो भवति, कण्टका वा तत्र भवन्ति, बिलस्य वा 'पार्श्वे' आसन्ने तत्स्थानं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः ॥१६२॥

भवति ततश्चात्मविराधना । तथा निष्क्रमणप्रवेशस्थानं गोमहिषाश्वादीनां वर्जयित्वा तिष्ठति भिक्षाग्रहणार्थं । तथा प्रकारान्तरेण संयमोपघातं दर्शयन्नाह—

पुढविदगअगणिमारुयतरुतसवज्जंमि ठाणि ठाइज्जा । दिंती व हेट्ठ उवरिं जहा न घट्टेइ फलमाई ॥ ४६५ ॥

पृथिव्युदकाग्निमारुततरुत्रसैर्वर्जिते स्थाने स्थातव्यं, यथा वा भिक्षां प्रयच्छन्ती गृहस्थी 'अधो' भूमौ 'उपरि' च नीत्रादौ न सङ्घट्टयति फलादि तत्र प्रवेशे स्थितो गृह्णाति । इदानीं प्रवचनोपघातप्रदर्शनायाह—

उच्चारे पासवणे सिणाण आयमणठाण उक्कुरुडे । निद्धमणमसुइमाई पवयणहाणी विवज्जेज्जा ॥ ४६६ ॥

प्रश्रवणस्य उच्चारस्य स्नानस्य आचमनस्य च यत्स्थानं तथा कज्जत्थोकुरटिकास्थानं तथा निर्द्धमनस्थानं–उपघसरस्थानं यत्र वाऽशुचि प्रक्षिप्यते स्थाने, एतेषु स्थानेषु भिक्षां गृह्णतः प्रवचनोपघातो भवति, ततः सर्वप्रकारैः प्रवचनहानिं–हीलनां वर्जयेत् । उक्तं स्थानद्वारम्, अधुना दातृद्वारमुच्यते, तत्र चैतानि द्वाराणि—

अवत्तमपहु थेरे पंडे मत्ते य खित्तचित्ते य । दित्ते जक्खाइट्ठे करचरछिन्नेऽन्ध णियले य ॥ ४६७ ॥

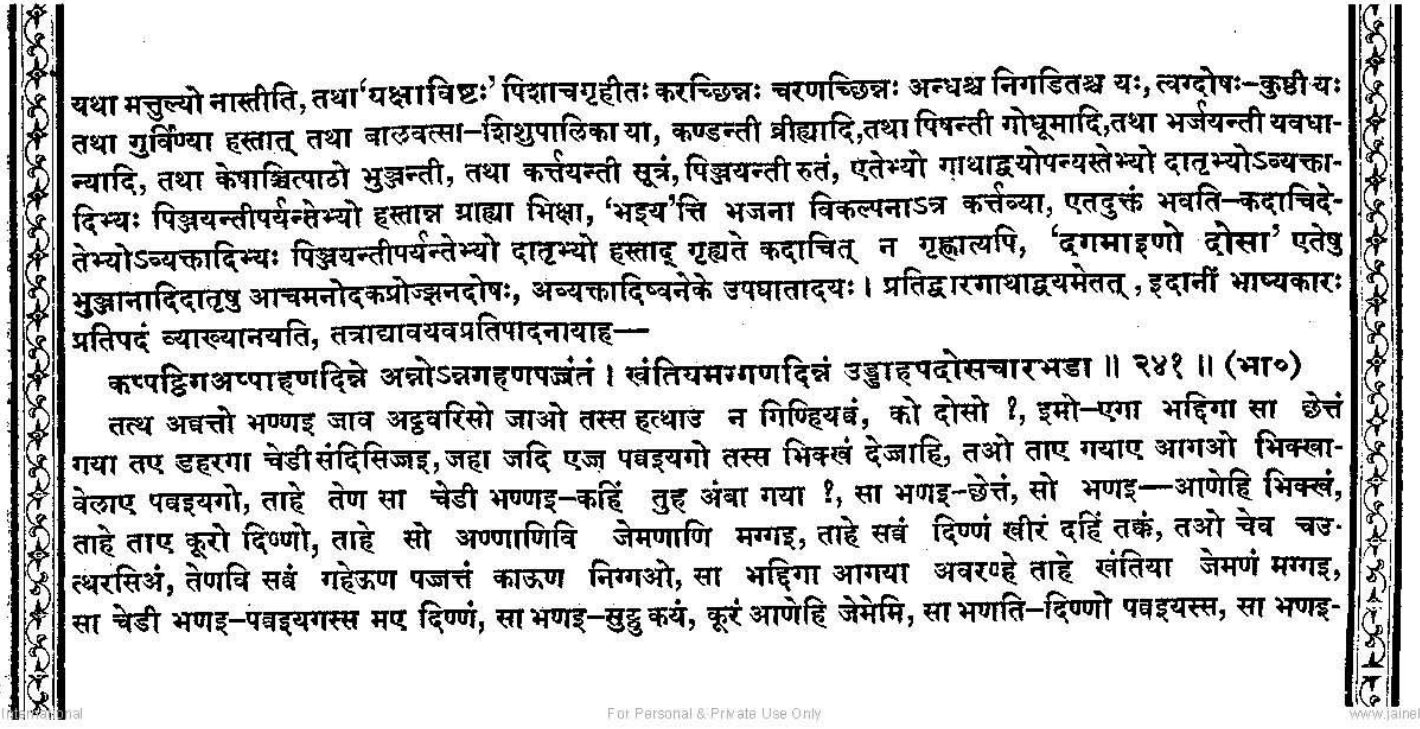
तद्दोसगुविणीबालवच्छकंडंतपीसभज्जंती । कत्तंती पिंजंती भइया दगमाइणो दोसा ॥ ४६८ ॥

'अव्यक्तः' अष्टानां वर्षाणामधो बालः, स यद्यपि भिक्षां ददाति तथापि न गृह्यते, तथा अप्रभुर्यस्तस्य हस्तान्न गृह्यते, तथा स्थविरहस्तात् 'पण्डकात्' नपुंसकहस्तात्, मत्तो यः सुरया पीतया तस्य हस्तान्न गृह्यते, क्षिप्तं चित्तं यस्य द्रविणाद्यपहारे सति चित्तविभ्रमो जातः, तथा दीप्तं चित्तं यस्यासकृच्छत्रुपराजयाद्युत्कर्षेणातिविस्मयाभिभूतस्य चित्तहासो जातः

ग्रहणैषणा-यांस्थानद्वार नि.४६३-४६६ भा.२४० दातृ-द्वारं नि.४६७-४६८

॥१६२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



यथा मत्तुल्यो नास्तीति, तथा 'यक्षाविष्टः' पिशाचगृहीतः करच्छिन्नः चरणच्छिन्नः अन्धश्च निगडितश्च यः, त्वग्दोषः–कुष्ठी यः तथा गुर्विण्या हस्तात् तथा बालवत्सा–शिशुपालिका या, कण्डन्ती व्रीह्यादि,तथा पिषन्ती गोधूमादि,तथा भर्जयन्ती यवधान्यादि, तथा केषाञ्चित्पाठो भुञ्जन्ती, तथा कर्त्तयन्ती सूत्रं, पिञ्जयन्ती रुतं, एतेभ्यो गाथाद्वयोपन्यस्तेभ्यो दातृभ्योऽव्यक्तादिभ्यः पिञ्जयन्तीपर्यन्तेभ्यो हस्तान्न ग्राह्या भिक्षा, 'भइय'त्ति भजना विकल्पनाऽत्र कर्त्तव्या, एतदुक्तं भवति–कदाचिदेतेभ्योऽव्यक्तादिभ्यः पिञ्जयन्तीपर्यन्तेभ्यो दातृभ्यो हस्ताद् गृह्यते कदाचित् न गृह्णात्यपि, 'दगमाइणो दोसा' एतेषु भुञ्जानादिदातृषु आचमनोदकप्रोज्झनदोषः, अव्यक्तादिष्वनेके उपघातादयः। प्रतिद्वारगाथाद्वयमेतत्, इदानीं भाष्यकारः प्रतिपदं व्याख्यानयति, तत्राद्यावयवप्रतिपादनायाह—

कप्पट्ठिगअप्पाहणदिन्ने अन्नोऽन्नगहणपज्जंतं। खंतियमग्गणदिन्नं उड्डाहपदोसचारभडा ॥ २४१ ॥ (भा०)

तत्थ अवत्तो भण्णइ जाव अट्ठवरिसो जाओ तस्स हत्थाउ न गिण्हियव्वं, को दोसो ?, इमो–एगा भद्दिगा सा छेत्तं गया तए डहरगा चेडी संदिसिज्जइ, जहा जदि एज्ज पवइयगो तस्स भिक्खं देज्जाहि, तओ ताए गयाए आगओ भिक्खावेलाए पवइयगो, ताहे तेण सा चेडी भण्णइ–कहिं तुह अंबा गया ?, सा भणइ–छेत्तं, सो भणइ—आणेहि भिक्खं, ताहे ताए कूरो दिण्णो, ताहे सो अण्णाणिवि जेमणाणि मग्गइ, ताहे सव्वं दिण्णं खीरं दहिं तक्कं, तओ चेव चउत्थरसिअं, तेणवि सव्वं गहेऊण पज्जत्तं काऊण निग्गओ, सा भद्दिगा आगया अवरण्हे ताहे खंतिया जेमणं मग्गइ, सा चेडी भणइ–पवइयगस्स मए दिण्णं, सा भणइ–सुट्ठु कयं, कूरं आणेहि जेमेमि, सा भणति–दिण्णो पवइयस्स, सा भणइ-

ओ०२८

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सुट्ठु कयं, आणेहि कुसिणं दधिदुद्धादि, सा भणइ-दिण्णं, सुट्ठु कयं, कंजिअं आणेहि, चेडी भणइ–तंपि दिन्नं, एत्थ सा भद्दिगा रुट्ठा भण्णति–कीस सव्वं देहि?, चेडी भणइ–सो मग्गइ, सा भणइ–चेडरूवं परिभविऊण सव्वं घेत्तूण गओ, गया आयरियस्स पासं, तत्थ खिंसति-एस चारभडो इव सव्वं सव्वं घेत्तूण आगओ, तत्थवि आयरिएणं तीए पुरओ चेव तस्स सव्वं उवकरणं अदक्खेयव्वं, एते दोसा अवत्तगहत्थाओ गहणे । दारं । इदानीं अप्रभुद्वारमुच्यते—

अप्पभु भयगाईया उभएगतरे पदोस पहु कुज्जा । थेरे चलंत पडणं अप्पभुदोसा य ते चेव ॥ २४२ ॥ (भा०)

अप्रभवो–भृतकादयस्तेषां हस्ताद्भिक्षा न ग्राह्या, यतः 'उभयोः' प्रव्रजितकभृतकयोः प्रद्वेषं कुर्यात्, एकतरस्य वा-प्रव्रजितस्य भृतकस्य वोपरि प्रद्वेषं कुर्यात् प्रभुः, द्वारं । इदानीं स्थविरद्वारमुच्यते–स्थविरस्यापि हस्ताद्भिक्षा न ग्राह्या, यतस्तस्य चलतः–कम्पमानस्य पतनं भवति, अप्रभुदोषाश्च त एव भवन्ति, एतदुक्तं भवति–स्थविरः प्रायेणाप्रभुर्भवति परिभूतत्वादिति । द्वारं । इदानीं पण्डकद्वारमुच्यते—

आयपरोभयदोसा अभिक्खगहणंमि खुब्भण नपुंसे । लोगदुगुंछा संका एरिसगा नूणमेतेऽवि ॥२४३॥ (भा०)

नपुंसकान्न गृह्यते यत आत्मनः परत उभयतश्च दोषाः संभवन्ति, आत्मशब्देन साधुर्गृह्यते, ततः को दोषः ?, क्षोभणं स्यात् बहुमोहनपुंसकदर्शनेऽभीक्ष्णं, तत्र भिक्षाग्रहणे च तद्वा क्षुभ्येत अभीक्ष्णं साधुदर्शनादिना, उभयकृतो वा दोषः, लोकश्च जुगुप्सते शंकते च, नूनमेतेऽपि नपुंसकानीति । द्वारं । मत्तद्वारमाह—

अवयास भाणभेदो वमणं असुइत्ति लोगउड्डाहो । खेत्ते य दित्तचित्ते जक्खाइट्ठे य दोसा उ ॥२४४॥ (भा०)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सुरापानेन यो मत्तस्तस्य हस्ताद्भिक्षा न गृह्यते, किं कारणं ?, यतो मत्तो भिक्षां प्रयच्छन् कदाचिदवयासं करोति–आलिङ्गतीत्यर्थः कदाचिद्भाजनं–पात्रकं भिनत्ति वमनं वा–छर्दनं करोति, तथाऽशुचिरितिकृत्वा लोक उड्डाहो भवति-प्रवचनोपघातः । द्वारम् । इदानीं तृतीयद्वारमुच्यते–व्याक्षिप्तचित्ते दीप्तचित्ते यक्षाविष्टे एत एव दोषा आलिङ्गनभाजन-भेदवमनाशुचिप्रभृतयो भवन्तीति । इदानीं द्वारपञ्चकप्रतिपादनायाह—

करच्छिन्न असुइ चरणे पडणं अंधिल्लए य छक्काया। नियलाऽसुइ पडणं वा तद्दोसी संकमो असुइ ॥२४५॥ (भा०)

छिन्नकरो यदि भिक्षां ददाति ततो न गृह्यते यतोऽशुचिदोषो लोके भवति । द्वारं । तथा यस्यापि चरणश्छिन्नस्ततोऽपि न गृह्यते यतः तस्य प्रयच्छतः पतनं भवति । द्वारं । अन्धादपि न गृह्यते यतोऽसौ प्रयच्छन् षट् कायान् व्यापादयति । दारं । निगडितादपि न गृह्यते भिक्षा, यतोऽसावशुचिर्भवति, पतनं च तस्य निगडबद्धस्य स्यात् । दारं । त्वग्दोषदूषितस्यापि हस्तान्न गृह्यते यतः कदाचित्कुष्ठसङ्क्रमः स्यात् अशुचिश्चासौ वर्त्तते । दारं ।

गुविणि गब्भे संघट्टणा उ उट्ठंति निवेसमाणी य। बालाई मंसउंडग मज्जाराई विराहेज्जा ॥ २४६ ॥(भा०)

गुर्विणीहस्तान्न गृह्यते यतस्तस्या गर्भे संघट्टनं भवति, कथम् ?, उत्तिष्ठन्त्याश्चोपविशन्त्याश्च । दारं । बालवत्साया अपि हस्तान्न गृह्यते भिक्षा, यतो बालं मुक्त्वा यदि भिक्षां ददाति ततस्तं बालं 'मंसुण्डकादिबुद्ध्या' मांसपिण्डादिबुद्ध्या, आदिग्रहणान्नवनीतबुद्ध्या वा मार्जारादिर्विराधयेत् । दारं । इदानीं द्वारपञ्चकप्रतिपादनायाह—

बीओदगसंघट्टण कंडणपीसंत भज्जणे डहणं। कत्तंती पिंजंती हत्थं लित्तंमि उदगवहो ॥ २४७ ॥ (भा०)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कण्डयन्त्याः पिंषन्त्याश्च हस्तान्न गृह्यते यतस्तत्र यथासङ्ख्येन एकस्या बीजसंघट्टनकृतो दोषः अपरस्या उदकसंघट्टनकृतो दोषः, इति द्वारद्वयम् । याऽपि यवादीनां भर्जनं करोति तस्या अपि हस्तान्न गृह्यते यतस्तत्र यवादिदहनकृतो दोषो भवति । दारं । तथा कर्त्तन्त्याः पिञ्जन्त्याश्च हस्तान्न गृह्यते यतस्तयोर्निष्ठीवनलिप्तौ हस्तौ भवतस्तत्प्रक्षालने उदकवधः, द्वारद्वयं ॥ इदानीं यदुक्तमासीद् भजनया–विकल्पेनैषामव्यक्तादीनां हस्ताद्गृह्यते न त्वेकान्तेनैवाग्रहणं किन्तु ग्रहणमपि तत्प्रदर्शयति, तत्राद्यावयवभजनाप्रतिपादनायाह—

भिक्खामेत्ते अवियालणं तु बालेण दिज्जमाणंमि । संदिट्ठे वा गहणं अइबहुयवियालणुन्नाओ ॥ ४६९ ॥

बालो यदि भिक्षामात्रं परोक्षेऽपि ददाति ततो भिक्षामात्रे दीयमानेऽविचारणया गृह्णाति, अथासौ बालो गृहपतिना प्रत्यक्षमेव 'संदिष्टः' उक्तो यथा प्रयच्छास्मै साधवे भिक्षां, ततोऽसौ साधुर्गृह्णाति, अथासावतिबहु प्रयच्छति ततः साधुर्विचारयति, यदुत किमित्यद्यातिबहु दीयते ?, एवमुक्ते सति यद्यसौ गृहस्थ एवं भणति–यदुताद्य प्राघूर्णकादिवशाद्बहु संस्कृतं, ततोऽसौ साधु गृह्णाति । उक्ताऽव्यक्तयतना, इदानीं अप्रभुयतनोच्यते–

अप्पहुसंदिट्ठे वा भिक्खामित्ते व गहणऽसंदिट्ठे । थेरपहु थरथरंते धरणं अहवा दढसरीरे ॥ ४७० ॥

अप्रभुः—भृतकादिर्यदि सन्दिष्टः–उक्तो भवति प्रभुणा ततस्तस्य हस्ताद्गृह्यते, यदा पुनर्न संदिष्टः—नोक्तः स प्रभुणा यथा दातव्यं त्वया, तत्रासन्दिष्टे सति भिक्षामात्रस्यैव ग्रहणं करोति । अप्रभुयतनोक्ता, स्थविरयतनोच्यते–स्थविरः सन्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रभुर्यदि ददाति, किंविशिष्टः ?–कम्पमानः परेण धृतः सन् ततो गृह्यते, अथासौ स्थविरः प्रभुर्यदि दृढशरीरो ददाति तथाऽपि गृह्यते । दारं । इदानीं पण्डकादीनां यतनादर्शनायाह—

पंडगअप्पडिसेवी मत्तो सड्ढो व अप्पसागरिए । खेत्ताइ भद्दगाणं करचरबिट्ठप्पसागरिए ॥ ४७१ ॥

पण्डकस्य ददतो गृह्यते यद्यसावप्रतिसेवी भवति–न कुत्सितं कर्म आचरति । दारं । श्राद्धकस्य च मत्तस्य हस्ताद्गृह्यते, यद्यसावल्पसागारिकः स भवेत्, वाशब्दादल्पमदश्च यदि स्यात् । दारं । तथा क्षिप्तचित्तदीप्तचित्तयक्षाविष्टानां हस्ताद्गृह्यते यदि प्रकृत्या भद्रका भवन्ति–साधुवासनावन्त इत्यर्थः । द्वारत्रितयं । तथा कररहितचरणरहितानां हस्ताद्गृह्यते, कथं?, चरणरहितो यद्युपविष्टो ददाति अल्पसागारिकं च यदि भवति, कररहितोऽपि यद्यल्पसागारिके ददाति ततो गृह्यते नान्यथा । द्वारद्वितयं । इदानीमन्धादियतनाप्रदर्शनायाह—

सड्ढो व अन्नरुंभण अंधे सवियारणा य बद्धंमि । तद्दोसिए अभिन्ने वेला थणजीवियं थेरा ॥ ४७२ ॥

अन्धस्य च हस्ताद्गृह्यते यदि श्रद्धावानन्येनाकृष्यमाणो ददाति । दारं । बद्धस्य च हस्ताद् गृह्यते यदि स सविचारो भवति–परिष्वष्वितुं शक्नोति । दारं । 'त्वग्दोषदुष्टस्यापि' कुष्ठिनोऽपि हस्ताद् गृह्यते यद्यसावभिन्नकुष्ठी भवति–गलत्कुष्ठो न भवतीति । दारं । वेलेति–गुर्विण्या यदि वेलामासस्ततस्तस्या हस्तान्न गृह्णन्ति स्थविरकल्पिका इतरत्र गृह्णन्ति, जिनकल्पिकादयस्तु यतः प्रभृत्यापन्नसत्त्वा भवति तत एवारभ्य न गृह्णन्ति । दारं । तथा स्थविराः स्थविरकल्पिकाः स्तनोपजीवी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१६५॥

यो बालस्तद्युक्ता या बालवत्सा तस्या हस्तान्न गृह्णन्ति, जिनकल्पिकादयस्तु यावदपि बालस्तावदपि तां बालवत्सां परिहरन्ति–न तस्य हस्ताद् गृह्णन्ति । द्वारद्वयं । इदानीं कण्डयन्त्यादियतनोच्यते—

उक्खित्तऽपच्चवाए कंडे पीसे वछूढ भज्जन्ती । सुक्कं व पीसमाणी बुद्धीय विभावए सम्मं ॥ ४७३ ॥

तत्र कण्डयन्त्या हस्ताद् गृह्यते यद्युत्क्षिप्तं मुशलमास्ते साधुश्च प्राप्तस्ततोऽप्रत्यपाये स्थाने मुशलं स्थापयित्वा यदि ददाति । दारं । पीसे वत्ति–पेषयन्त्या हस्ताद् गृह्यते यदि तत्पेषणीयमचेतनं–धानादि तथा यत् सचित्तं पूर्वं यदि प्रक्षिप्तं तत्पिष्टं अन्यदद्यापि न प्रक्षिप्यते साधुश्च तत्रावसर उपस्थितो भिक्षार्थं ततस्तस्या हस्ताद्गृह्यते, तच्च पेषणं शिलायां घरट्टे वा । दारं । 'अच्छूढभज्जन्ती'त्ति भर्जयन्त्या अपि हस्ताद् गृह्यते यदि पूर्वप्रक्षिप्तं भृष्टं अन्यदद्यापि न प्रक्षिप्यते साधुश्च प्राप्त इत्यस्मिन्नवसर इति, शुष्कं वाऽचेतनं तद्धस्तु यदि पिनष्टि ततश्च बुद्ध्या 'विभाव्य' निरूप्योत्तरकालं गृह्णाति । इदानीमेनामेव गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयति—

मुसले उक्खित्तंमि य अपच्चवाए य पीस अचित्ते । भज्जंती अच्छूढे भुंजंती जा अणारद्धा ॥ २४८ ॥ (भा०)

मुशले उत्क्षिप्ते सति अप्रत्यपाये प्रदेशे स्थापयित्वा यदि भिक्षां ददाति, 'पीस अचित्ते'त्ति अचेतनं वा यदि घरट्टादौ पिनष्टि ततो ददाति भिक्षां, भज्जंतीति जवधाणे भट्ठंमि अण्णंमि अप्पखित्ते सति एयंमि अवसरंमि साहुणो भिक्खं देइ, भुञ्जानाया अपि हस्ताद्गृह्यते यद्यद्यापि न विट्टलयति भक्तं यत्तद्भाजनगृहीतं तदुत्थाय ददाति ॥

कत्तंतीए थूलं विक्खिण लोढण जति य निट्ठवियं। पिंजण असोयवाई भयणागहणंतु एएसिं ॥ ४७४ ॥

अव्यक्तादि यतना नि. ४७१-४७४ भा. २४८

॥१६५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तथा कर्त्तयन्त्या अपि हस्ताद्गृह्यते यदि स्थूरमसौ कर्त्तयति, किं कारणं ?, यतः स्थूरमसौ कर्त्तयन्ती शङ्खचूर्णं न हस्ताङ्गुलौ करोति, नापि निष्ठीवनेन, विक्खिणंति रूयं विक्खिणंतीए हत्थाउ घेप्पइ,तथा उरिणणं लोढणं यदि निट्ठविअं लोढेयव्वयं तीए हत्थाउ भिक्खा घेप्पइ, एतदुक्तं भवति–जो सो अकप्पासो घाणो लोढणीए दिन्नो सो लोढिओ अन्नो न अज्जवि दिज्जइ घाणो, एयाए वेलाए घेप्पइ भिक्षा देंतीए तीए, पिञ्जयन्त्या अपि हस्ताद्गृह्णाति यद्यसौ महेलाऽशौचवादिनी भवति–न हस्तौ प्रक्षालयति । एवमेषां दातृणां हस्ताञ्जनया ग्रहणं करोति । उक्ता प्रतिद्वारगाथा, तत्प्रतिपादनाच्चोक्तं दातृद्वारं, इदानीं गमनद्वारप्रतिपादनायाह–

गमणं च दायगस्सा हेट्ठा उवरिं च होइ नायव्वं । संजमआयविराहण तस्स सरीरे य मिच्छत्तं ॥ ४७५ ॥

'गमनं च' भिक्षादानार्थमभ्यन्तरप्रवेशस्तस्य दातुः 'अधस्ताद्' भुवि विज्ञेयम् 'उपरि च' उपरिविभागश्च विज्ञेयः, यदि न निरूपयति ततस्तस्य गच्छतः पृथिव्यादिमर्दने सति साधोः संयमविराधना भवति, आत्मविराधना च तस्य दातुः शरीरे सर्पादिदशनजनिता भवति, अत एव च निमित्ताच्छ्राद्धः सन् मिथ्यात्वं यायात् यदुतैवंविधस्य दत्तं येन तत्क्षण एव स दाता सर्पेण दष्ट इति । इदानीमेनामेव गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयति—

वच्चंती छक्काया पमद्दए हिट्ठतो उवरि तिरियं च। फलवल्लिरुक्खसाला तिरिया मणुया य तिरियं तु ।२४९।(भा०)

व्रजन्ती सा स्त्री भिक्षाया दात्री षडपि कायान् प्रमर्दयेत्, क्व ?–'अधस्ताद्' भुवि पृथिव्यप्तेजोवनस्पतित्रसान् व्या-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पादयेत्, वायुकायं दृतौ स्थितं स्पृशन्ती व्यापादयेत्, तथोपरि तिर्यग्व्यवस्थिता फलवल्लीवृक्षशालाः– शाखा विराधयति, तथा तिर्यग्मनुजान्–जातमात्रबालकान् तिरश्चः–अश्ववत्सकादीन् सङ्घट्टयेत्। अथ चैते दोषाः—

कंटगभाई य अहे उप्पिं अहिमादिलंबणे आया। तस्स सरीरविणासो मिच्छत्तुड्डाह वोच्छेओ ॥२५०॥ (भा०)

कण्टकादयो वाऽधो भवन्ति, उपरि अह्यादि–सर्पादिलम्बने आत्मविराधना दातुः, तस्य च–दातुः शरीरविनाशे मिथ्यात्वं तस्यान्यस्य वा भवति, 'उड्डाहश्च' प्रवचनोपघातश्च भवति यदुत एतेषामेतावानपि प्रभावो नास्ति येन दातारं रक्षति। व्याख्यातं गमनद्वारम्, इदानीं ग्रहणद्वारप्रतिपादनायाह–

नीयदुवारुग्घाडणकवाडठिय देह दारमाइन्ने। इड्डिरपत्थियलिंदे गहणं पत्तस्सऽपडिलेहा ॥ ४७६ ॥

'नीयदुवार' गाहा, नीचद्वारं यदि भवति तत्र चक्षुषा निरूपणं कर्तुं न शक्नोति अतो न गृह्यते भिक्षा, तथोद्घाटकपाटं—अनर्गलितकपाटं न किन्तु पिहितकपाटं, तत्रापि न गृह्णाति, तथा दातुः संबन्धिना स्वदेहेन द्वारे रुद्धे सति न गृह्यते, आकीर्णं चान्यपुरुषैर्गमागमं कुर्वद्भिः तथा इड्डुर-गन्त्र्याः संबन्धि तेन तिरोहिते पत्थिका–बृहती पिट्टिका तया वा पिहिते द्वारे अलिन्दं–कुण्डकं तेन वा तिरोहिते एवमेतेषु दोषेषु सत्सु 'ग्रहणं प्राप्तस्य' गृहस्थस्य गृह्यते ऽस्मिन्निति ग्रहणं, यस्मात्प्रदेशाद्भण्डकं गृह्णाति तं प्रदेशं प्राप्तस्य 'अपडिलेह'त्ति यतः प्रत्युपेक्षणा न शुद्ध्यति अनन्तरोदितैर्दोषैरतो न गृह्यते, यद्येभिरनन्तरोदितैर्दोषैर्भवद्भिर्न ग्रहणं ततो ग्रहणप्रदेशं प्राप्तस्य प्रत्युपेक्षणा कर्त्तव्या–श्रोत्रादिभिरुपयोगं करोति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यदि श्रोत्राद्युपयोगेन शुद्धा ततो ग्रहीष्यति, अथ न शुद्धा श्रोत्राद्युपयोगेन ततो न ग्रहीष्यति ॥ इदानीं भाष्यकारः प्रतिपदमेनामेव गाथां व्याख्यानयति, तत्र कथं जिनकल्पिकादयो गृह्णन्ति कथं वा स्थविराः ? इत्येतत्प्रदर्शयन्नाह—

नियमा उ दिट्ठगाही जिणमाई गच्छनिग्गया होंति। थेरावि दिट्ठगाही अदिट्ठि करेंति उवओगं ॥२५१॥ (भा०)

'नियमात्' अवश्यन्तयैव दृष्टग्राहिणः जिना–जिनकल्पिकादयो 'गच्छनिर्गताः' परित्यक्तगच्छा भवन्ति, 'स्थविराः' स्थविरकल्पिका अपि 'दृष्टग्राहिण एव' अतिरोहितद्वार एव गृहे गृह्णन्ति, किमयमेव नियमः ?, नेत्याह– 'अदृष्टे' तिरोहिते गृहद्वारे कपाटादिना उपयोगं श्रोत्रादिभिरिन्द्रियैर्दत्त्वा ततः परिशुद्धे गृह्णन्ति । इदानीं 'नीयदुवार-कवाडे त्ति व्याख्यानयन्नाह—

णीयदुवारुवओगे उड्डाह अवाउडा पदोसो य। हियनट्ठंमि अ संका एमेव कवाडउग्घाडे ॥ २५२ ॥ (भा०)

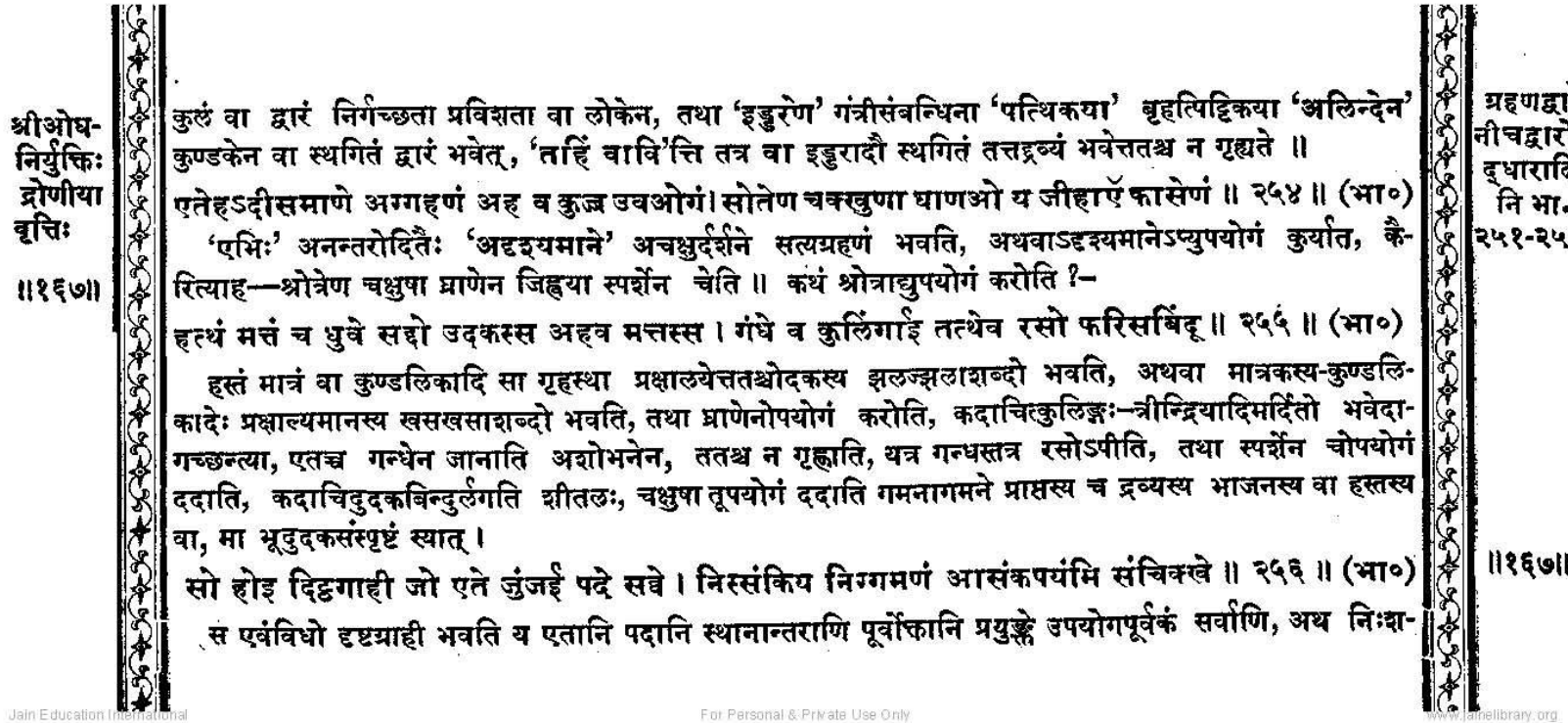
नीचद्वारे गृहे न ग्राह्यं यतस्तत्र नीचद्वारे निष्कुटनं कृत्वोपयोगनिरीक्षणं कुर्वत उड्डाहः पश्चाद्भागदर्शने पेला-दिदर्शने सति कदाचित्तत्राप्रावृताः स्त्रियस्तिष्ठन्ति ततश्च निरूपयतः प्रद्वेषमुपरि कुर्वन्ति, तथा हृते चौरादिना नष्टे–स्वयमेवादृश्यमाने क्वचिद्वस्तुनि शङ्कोपजायते गृहस्थानां जहा तेण पवइयएणं निऊडिऊण निरूविअं आसी जदि तेण ण हियं भवे ?, 'एवमेव' एत एव दोषाः पिहितकपाटे निरर्गलमुद्घाटयतोऽप्रावृतिकादयः ॥

देहन्नसरीरेण व दारं पिहिअं जणाउलं वावि। इड्डरपत्थियलिंदेण वावि पिहियं तहिं वावि ॥२५३॥ (भा०)

दातुर्देहेन द्वारं पिहितं स्थूलत्वाद्देहस्य अन्यस्य वा पार्श्वस्थस्य शरीरेण पिहितं। द्वारम्। आकीर्णं व्याख्यानयति–जना-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः



श्रीओघ-नियुक्तिः द्रोणीया वृत्तिः ॥१६७॥

कुलं वा द्वारं निर्गच्छता प्रविशता वा लोकेन, तथा 'इडुरेण' गंत्रीसंबन्धिना 'पत्थिकया' बृहत्पिट्टिकया 'अलिन्देन' कुण्डकेन वा स्थगितं द्वारं भवेत्, 'तहिं वावि'त्ति तत्र वा इडुरादौ स्थगितं तत्तद्द्रव्यं भवेत्ततश्च न गृह्यते ॥

एतेहऽदीसमाणे अग्गहणं अह व कुज्ज उवओगं। सोतेण चक्खुणा घाणओ य जीहाएँ फासेणं ॥ २५४ ॥ (भा०)

'एभिः' अनन्तरोदितैः 'अदृश्यमाने' अचक्षुर्दर्शने सत्यग्रहणं भवति, अथवाऽदृश्यमानेऽप्युपयोगं कुर्यात्, कैरित्याह—श्रोत्रेण चक्षुषा घ्राणेन जिह्वया स्पर्शेन चेति ॥ कथं श्रोत्राद्युपयोगं करोति ?–

हत्थं मत्तं च धुवे सद्दो उदकस्स अहव मत्तस्स। गंधे व कुलिंगाई तत्थेव रसो फरिसबिंदू ॥ २५५ ॥ (भा०)

हस्तं मात्रं वा कुण्डलिकादि सा गृहस्था प्रक्षालयेत्ततश्चोदकस्य झलज्झलाशब्दो भवति, अथवा मात्रकस्य-कुण्डलिकादेः प्रक्षाल्यमानस्य खसखसाशब्दो भवति, तथा घ्राणेनोपयोगं करोति, कदाचित्कुलिङ्गः–त्रीन्द्रियादिमर्दितो भवेदागच्छन्त्या, एतच्च गन्धेन जानाति अशोभनेन, ततश्च न गृह्णाति, यत्र गन्धस्तत्र रसोऽपीति, तथा स्पर्शेन चोपयोगं ददाति, कदाचिदुदकबिन्दुर्लगति शीतलः, चक्षुषा तूपयोगं ददाति गमनागमने प्रक्षस्य च द्रव्यस्य भाजनस्य वा हस्तस्य वा, मा भूदुदकसंस्पृष्टं स्यात्।

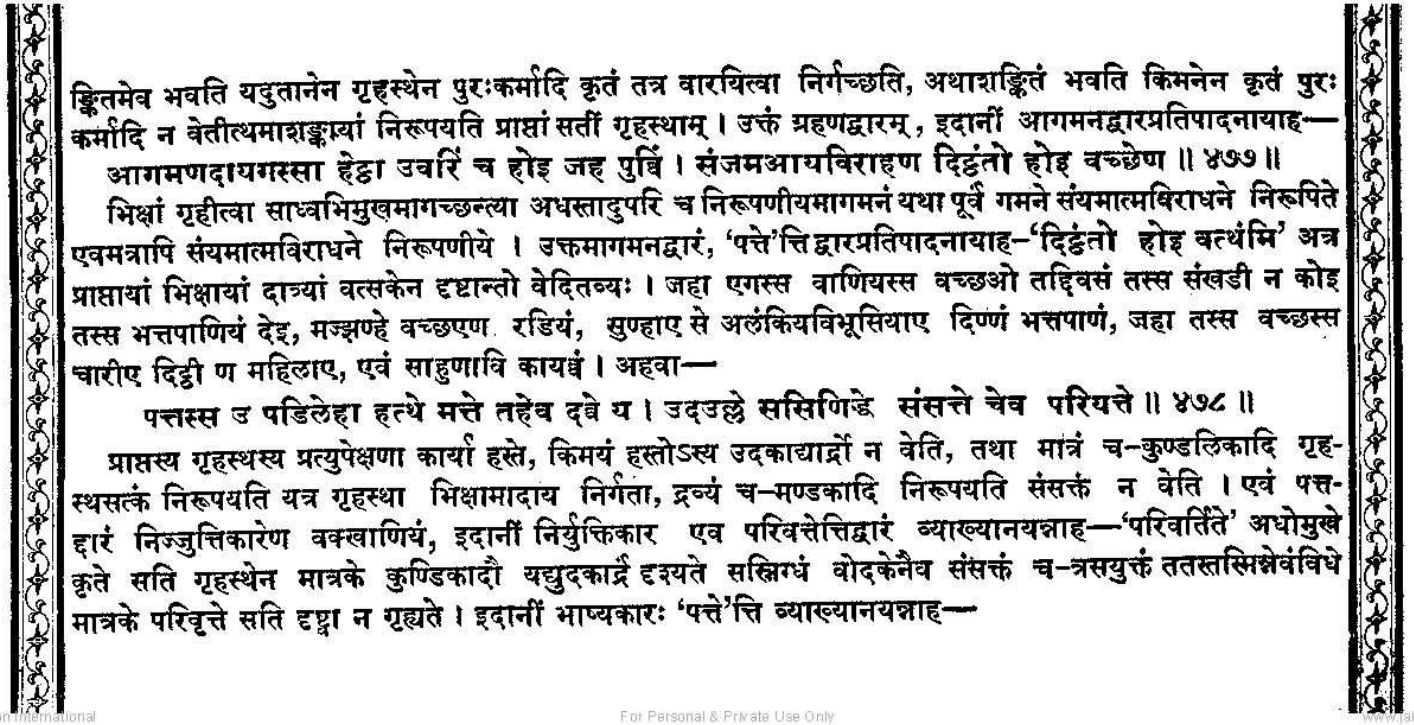
सो होइ दिट्ठगाही जो एते जुंजई पदे सव्वे। निस्संकिय निग्गमणं आसंकपयंमि संचिक्खे ॥ २५६ ॥ (भा०)

स एवंविधो दृष्टग्राही भवति य एतानि पदानि स्थानान्तराणि पूर्वोक्तानि प्रयुङ्क्ते उपयोगपूर्वकं सर्वाणि, अथ निःश-

ग्रहणद्वारे नीचद्वारोद्धारादिनि भा. २५१-२५६

॥१६७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



ङ्कितमेव भवति यदुतानेन गृहस्थेन पुरःकर्मादि कृतं तत्र वारयित्वा निर्गच्छति, अथाशङ्कितं भवति किमनेन कृतं पुरः कर्मादि न वेतीत्थमाशङ्क्याह निरूपयति प्राप्तां सतीं गृहस्थाम् । उक्तं ग्रहणद्वारम्, इदानीं आगमनद्वारप्रतिपादनायाह—

आगमणदायगस्सा हेट्ठा उवरिं च होइ जह पुव्विं । संजमआयविराहण दिट्ठंतो होइ वच्छेण ॥ ४७७ ॥

भिक्षां गृहीत्वा साध्वभिमुखमागच्छन्त्या अधस्तादुपरि च निरूपणीयमागमनं यथा पूर्वं गमने संयमात्मविराधने निरूपिते एवमत्रापि संयमात्मविराधने निरूपणीये । उक्तमागमनद्वारं, 'पत्ते'त्ति द्वारप्रतिपादनायाह–'दिट्ठंतो होइ वत्थंमि' अत्र प्राप्तायां भिक्षायां दात्र्यां वत्सकेन दृष्टान्तो वेदितव्यः । जहा एगस्स वाणियस्स वच्छओ तद्दिवसं तस्स संखडी न कोइ तस्स भत्तपाणियं देइ, मज्झण्हे वच्छएण रडियं, सुण्हाए से अलंकियविभूसियाए दिण्णं भत्तपाणं, जहा तस्स वच्छस्स चारीए दिट्ठी ण महिलाए, एवं साहुणावि कायव्वं । अहवा—

पत्तस्स उ पडिलेहा हत्थे मत्ते तहेव दवे य । उदउल्ले ससिणिद्धे संसत्ते चेव परियत्ते ॥ ४७८ ॥

प्राप्तस्य गृहस्थस्य प्रत्युपेक्षणा कार्या हस्ते, किमयं हस्तोऽस्य उदकाद्यार्द्रो न वेति, तथा मात्रं च–कुण्डलिकादि गृहस्थसत्कं निरूपयति यत्र गृहस्था भिक्षामादाय निर्गता, द्रव्यं च–मण्डकादि निरूपयति संसक्तं न वेति । एवं पत्तद्वारं निर्युक्तिकारेण व्याख्यानियं, इदानीं निर्युक्तिकार एव परिवत्तेत्तिद्वारं व्याख्यानयन्नाह—'परिवर्तिते' अधोमुखे कृते सति गृहस्थेन मात्रके कुण्डिकादौ यद्युदकार्द्रं दृश्यते सस्निग्धं वोदकेनैव संसक्तं च–त्रसयुक्तं ततस्तस्मिन्नेवंविधे मात्रके परिवृत्ते सति दृष्ट्वा न गृह्यते । इदानीं भाष्यकारः 'पत्ते'त्ति व्याख्यानयन्नाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१६८॥

तिरियं उड्ढमहेवि य भायणपडिलेहणं तु कायव्वं । हत्थं मत्तं दव्वं तिन्नि उ पत्तस्स पडिलेहा ॥ २५७ ॥ (भा०)

गृहस्थभाजनस्या आगच्छत एव तिर्यक्-पार्श्वतो भाजनस्य ऊर्द्धं कर्णकेषु भाजनस्य अधो-बुध्ने प्रत्युपेक्षणा कर्त्तव्या, तथा 'प्राप्तस्य' आसण्णीभूतस्य गृहस्थस्य हस्तं मात्रं द्रव्यं त्रीण्यप्येतानि गृहस्थसत्कानि प्रत्युपेक्षेयत्–निरूपयेत्, किम् ?— मासंसिणिद्धों दउल्ले तसाउलं गिण्ह एगतर दट्ठुं । परियत्तियं च मत्तं ससणिद्धाईसु पडिलेहा ॥ २५८ ॥ (भा०)

सस्निग्धं तोयेन उदकार्द्रमुदके त्रसाकुलं हस्तं मात्रं द्रव्यं वा दृष्ट्वा एकतरमपि तन्मा गृहाण । ' पत्ति'त्ति द्वारमुक्तं, भाष्यकार एव 'परियत्तिय'त्ति व्याख्यानयन्नाह—'परियत्तियं च मत्तं' तत् गृहस्थमात्रकं कदाचित्सस्निग्धादिसमन्वितं भवति ततश्च सस्निग्धादिषु सत्सु प्रत्युपेक्षणा कार्येति । उक्तं परावर्त्तितद्वारं, 'पडिय'त्तिद्वारं व्याचिख्यासुराह—

पडिओ खलु दट्ठव्वो किमिसहावओ य जो पिंडो । संजमआयविराहण दिट्ठंतो सिट्ठि कब्बट्ठो ॥ ४७९ ॥

पतितः पात्रके पिण्डो द्रष्टव्यः किमयं कृत्रिमः ?—योगेन निष्पन्नः सक्तुमुद्गपिण्ड इव सिद्धपिण्डो वा स्वाभाविककूर-खोट्ट इव, तत्र यदि कृत्रिमः पिण्डः स्फोटयित्वा तं न निरूपयति ततः संयमात्मविराधना भवति, यथा सिट्ठिकब्बट्ठस्स हता काष्ठेन कन्थिका इत्येतत्कथानकमनुसरणीयं, तेन हि संयोगपिण्डो न निरूपितस्तत्र च संकलिकाऽऽसीत्, तत्र राज-कुले व्यवहारस्तेन च काष्ठर्षिणा भगवता निर्यूढम्, अन्यश्च कदाचित्तादृशो न भवति ततश्च निरूपणीय इति । तत्रात्म-विराधनादिप्रदर्शनायाह—

गरविस अट्ठिय कंटय विरुद्धदवंमि होइ आयाए । संजमओ छक्काया तम्हा पडियं विगिंचिज्जा ॥ ४८० ॥

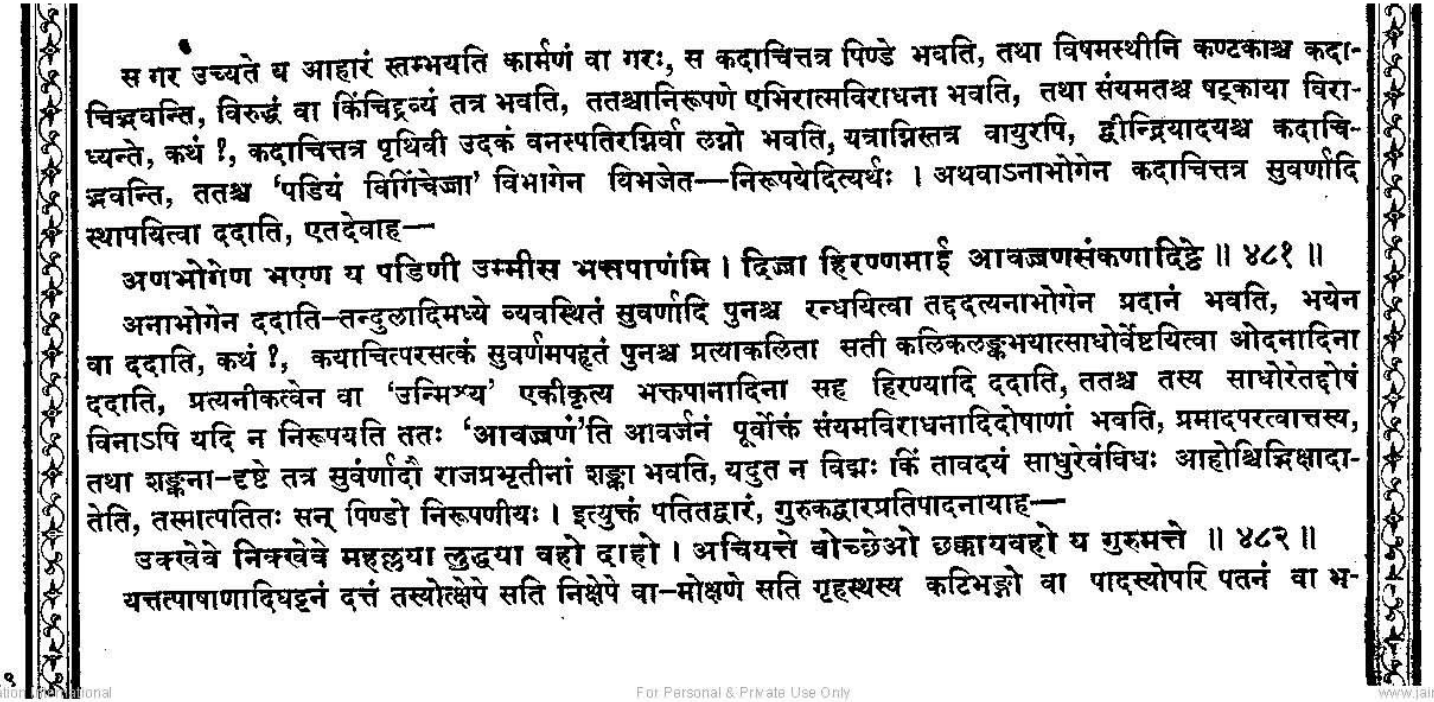
दात्रागमन पात्रपरावृ-त्तिपतितनि रूपणं नि॰ ४७७-४८० भा. २५७-२५८

॥१६८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||४८०||

दीप अनुक्रम [७६६]



स गरः उच्यते य आहारं स्तम्भयति कार्मणं वा गरः, स कदाचित्तत्र पिण्डे भवति, तथा विषमस्थीनि कण्टकाश्च कदाचिद्भवन्ति, विरुद्धं वा किंचिद्द्रव्यं तत्र भवति, ततश्चानिरूपणे एभिरात्मविराधना भवति, तथा संयमतश्च षट्काया विराध्यन्ते, कथं ?, कदाचित्तत्र पृथिवी उदकं वनस्पतिरग्निर्वा लग्नो भवति, यत्राग्निस्तत्र वायुरपि, द्वीन्द्रियादयश्च कदाचिद्भवन्ति, ततश्च 'पडियं विगिंचेज्जा' विभागेन विभजेत—निरूपयेदित्यर्थः । अथवाऽनाभोगेन कदाचित्तत्र सुवर्णादि स्थापयित्वा ददाति, एतदेवाह—

अणभोगेण भएण य पडिणी उम्मीस भत्तपाणंमि । दिज्जा हिरण्णमाई आवज्जणसंकणादिट्ठे ॥ ४८१ ॥

अनाभोगेन ददाति–तन्दुलादिमध्ये व्यवस्थितं सुवर्णादि पुनश्च रन्धयित्वा तद्दत्यनाभोगेन प्रदानं भवति, भयेन वा ददाति, कथं ?, कयाचित्परसत्कं सुवर्णमपहृतं पुनश्च प्रत्याकलिता सती कलिकलङ्कभयात्साधोर्वेष्टयित्वा ओदनादिना ददाति, प्रत्यनीकत्वेन वा 'उन्मिश्र्य' एकीकृत्य भक्तपानादिना सह हिरण्यादि ददाति, ततश्च तस्य साधोरेतद्दोषं विनाऽपि यदि न निरूपयति ततः 'आवज्जण'ति आवर्जनं पूर्वोक्तं संयमविराधनादिदोषाणां भवति, प्रमादपरत्वात्तस्य, तथा शङ्कना–दृष्टे तत्र सुवर्णादौ राजप्रभृतीनां शङ्का भवति, यदुत न विद्मः किं तावदयं साधुरेवंविधः आहोश्चिन्निक्षादातेति, तस्मात्पतितः सन् पिण्डो निरूपणीयः । इत्युक्तं पतितद्वारं, गुरुकद्वारप्रतिपादनायाह—

उक्खेवे निक्खेवे महल्लया लुद्धया वहो दाहो । अचियत्ते वोच्छेओ छक्कायवहो य गुरुमत्ते ॥ ४८२ ॥

यत्तत्पाषाणादिघट्टनं दत्तं तस्योत्क्षेपे सति निक्षेपे वा–मोक्षणे सति गृहस्थस्य कटिभङ्गो वा पादस्योपरि पतनं वा भ-

ओ० ३९

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वति, 'महल्लया' इति महत्प्रमाणं वा तद्गृहस्थस्य भाजनं तस्योत्क्षेपे सति दोषा भवन्ति, अथवा 'महल्लया' इति महता भण्डकेन दीयतामित्येवं कदाचिदसौ साधुर्भणति, ततश्च लुब्धता साधोरुपजायते, तथा वधश्च–तस्यैव साधोः पादस्योपरि भण्डकेन पतितेन वधो भवति, तथा 'दाह'त्ति दाहो वा भवति यदि तदुष्णं भण्डकं भवति,अचियत्तं वा भवति तस्यैव गृहस्थस्य तद्गृहपतेर्वा 'अचियत्तं वा' अप्रतीतिर्वा भवति,महाप्रमाणकेन भण्डकेन दीयमाने सति व्यक्च्छेदो वा तद्द्रव्यस्यान्यद्रव्यस्य वा भवति, षट्कायवधश्च भण्डकपतने सति भवति, एवं गुरुके भण्डके एते दोषा भवन्ति। एतामेव गाथां भाष्यकृदाह, तत्राद्यावयवमाह–

गुरुदव्वेण व पिहिअं सयं व गुरुयं हवेज्ज जं दव्वं।
उक्खेवे निक्खेवे कडिभंजण पाय उवरिं वा ॥ २५९ ॥ (भा०) ॥

गुरुद्रव्येण वा 'पिहितं' घट्टितं तद्द्रव्यं भवेत्, स्वयं वा तद्द्रव्यं गुडपिण्डादि गुरुकं भवेत्, ततश्च तस्य 'उत्क्षेपे' उत्पाटने निक्षेपे च पुनर्मोचने सति कटिभङ्गो भवति,पादस्योपरि पतेत्ततश्चात्मविराधना भवति। 'महल्लया' इति व्याख्यानयन्नाह–

महल्लेण देहि मा डहरएण भिन्ने अहो इमो लुद्धो। उभए एगतरवहो दाहो अचुण्ह एमेव ॥२६०॥ (भा०) ॥

कश्चित्साधुः कडुच्छिकया ददतीं स्त्रियं एवं ब्रूते–यदुत 'महल्लेण' बृहता भाजनेन स्थाल्यादिना देहि, मा 'डहरकेण' लघुना प्रयच्छ कडुच्छुकादिना, ततः सा तथैव करोति, अशक्नुवत्याश्च कदाचित्तद्भाजनं भज्यते ततो भिन्ने सति तस्मिन् भाजने गृहस्थ एवं भणति–यदुताहो ! अयं साधुर्महालुब्धः येन बृहता भाजनेन दीयमानं गृह्णाति, तत 'उभयस्य' साधु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गृहस्थयोः पादस्योपरि पतितेन भण्डकेन वधो भवति, एकतरस्य वा वधो भवति, तथा दाहश्च अत्युष्णे तस्मिन् द्रव्ये पतिते सति भवति 'एमेव'त्ति उभयोरन्यतरस्य वा ॥ इदानीं 'अचियत्ते'त्ति व्याख्यानयन्नाह—

बहुगहणे अचियत्तं वोच्छेओ तदन्न दव्व तस वावि। छक्कायाण य वहणं अइमत्ते तंमि मत्तंमि ॥२६१॥ (भा०)॥

बहुग्रहणे तस्य घृतादिद्रव्यस्य 'अचियत्तं' अप्रीतिर्भवति तस्य तद्गृहपतेर्वा, व्यवच्छेदो वा तदन्यस्य द्रव्यस्य भवति–तस्माद्–घृतादेः अन्यद्–क्षीरगुडादि तस्य व्यवच्छेदो भवति, तस्य वा–घृतादेर्द्रव्यस्य वा व्यवच्छेदो भवतीति, तथा षट्कायानां वा हननं भवति 'अतिमात्रे' बृहत्प्रमाणे 'मात्रके' स्थाल्यादौ गृहीते सति । उक्तं गुरुकद्वारं, त्रिविधेतिद्वारं-प्रतिपादयन्नाह—

तिविहो य होइ कालो गिम्हो हेमंत तह य वासासु। तिविहो य दायगो खलु थी पुरिस नपुंसओ चेव ॥४८३॥

एक्किक्कोवि अ तिविहो तरुणो तह मज्झिमो य थेरो य। सीयतणुओ नपुंसो सोम्हित्थी मज्झिमो पुरिसो ॥४८४॥

कालस्त्रिविधो भवति, तद्यथा—ग्रीष्मो हेमन्तो वर्षा च, तत्र त्रिविधेऽपि काले दाता त्रिविध एव भवति, स्त्री पुमान्न-पुंसकं चेति ॥ पुनः स एकैकस्त्र्यादिदाता त्रिविधो भवति–तरुणो मध्यमः स्थविरश्च। इदानीं नपुंसकादीनां स्वरूपप्रतिपाद-नायाह–शीतलतनुर्नपुंसको भवति, 'सोम्हित्थि'त्ति सोष्मा स्त्री भवति, मध्यमश्च पुरुषो भवति–नाप्युष्णो नातिशीतल इति ॥

पुरकम्मं उदउल्लं ससणिद्धं तंपि होइ तिविहं तु। इक्किक्कंपि य तिविहं सचित्ताचित्तमीसं तु ॥ ४८५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||४८५||

दीप अनुक्रम [७७१]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१७०॥

न केवलं कालादयस्त्रिविधाः यदपि तत्पुरःकर्मादि तदपि त्रिविधं, तद्यथा–पुरःकर्म उदकार्द्रं सस्निग्धं चेति, तत्पुनरेकैकं त्रिविधं–सचित्ताचित्तमिश्रभेदभिन्नं भवति, एतदुक्तं भवति–यत्पुरःकर्म तत्सचित्तमचित्तं मिश्रं चेति, यदपि उदकार्द्रं तदपि सचित्तमचित्तं मिश्रं चेति, यदपि सस्निग्धं तदपि सचित्तमचित्तं मिश्रं चेति । इदानीं यत्तदुक्तं पुरःकर्मादित्रितयं तत्राद्यद्वयस्य प्रतिषेधं कुर्वन्नाह—

आइद्दुवे पडिसेहो पुरओ कय जं तु तं पुरेकम्मं । उदउल्लबिंदुसहिअं ससणिद्धे मग्गणा होइ ॥ ४८६ ॥

आद्यद्वितयस्य पुरतः कर्मण उदकार्द्रस्य च प्रतिषेधो द्रष्टव्यः, यतस्ताभ्यां सदोषत्वान्नैव व्यवहार इति । इदानीं पुरः-कर्मादीनां लक्षणप्रतिपादनायाह–'पुरओ कय जं तु तं पुरेकम्मं' भिक्षायाः पुरतः–प्रथममेव यत्कृतं कर्म–कडुच्छुकादिप्रक्षा-लनादि तत्पुरःकर्माभिधीयते, उदकार्द्रं पुनरुच्यते यद्बिन्दुसहितं भाजनादि गलद्बिन्दुरित्यर्थः, सस्निग्धं पुनरुच्यते यद्बि-न्दुरहितमात्रं, तत्रेह सस्निग्धे 'मार्गणा' अन्वेषणा कर्त्तव्या यतः सस्निग्धे हस्तादौ ग्रहणं भविष्यत्यपि ॥

ससिणिद्धंपि य तिविहं सचित्ताचित्तमीसगं चेव । अचित्तं पुण ठप्पं अहिगारो मीससचित्ते ॥ ४८७ ॥

यत्तत्सस्निग्धं तत्त्रिविधं–सचित्तमचित्तं मिश्रं चेति, तत्राचित्तं स्थाप्यं यतस्तत्राचित्तसस्निग्धे ग्रहणं क्रियत एव न तत्र निरूपणा, अधिकारः पुनः–निरूपणं मिश्रसचित्तयोः कर्त्तव्यं । इदानीं मिश्रसचित्तसस्निग्धे हस्ते सति ग्रहणविधिं प्रतिपादयन्नाह—

पवाण किंचि अवाणमेव किंचिच होअणुवाणं । पाएण हि यं (तं) सव्वं एक्कहाणी य वुड्ढी य ॥ ४८८ ॥

गुरुकद्वारं भा. २६१ पुरःकर्मादि त्रैविध्यं नि. ४८३-४८८

॥१७०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुरःकर्म आदि त्रयाणाम् वर्णनं

अत्र हस्ते सस्निग्धं किञ्चित् प्रम्लानं–मनाक्शुष्कं तथा 'अव्वाणं'ति आव्यानमुद्घानं किञ्चित्सस्निग्धं 'किञ्चिच्च होअणुव्वाणं'ति किञ्चिच्च स्निग्धमनाव्यानमनुद्घानम्, एवं त्रिविधमप्येतत्सर्वं प्रायेण सस्निग्धमुच्यते, एवमेतद्विभाव्य तत एकैकशुष्कभागवृद्ध्या ग्रहणं कर्त्तव्यं पूर्वानुपूर्व्या, तथा एकैकशुष्कभागहान्या वा पश्चानुपूर्व्या गृह्णाति भिक्षां। सा एकैकभागवृद्धिः कथं कर्त्तव्येत्यत आह—

सत्तविभागेण करं विब्भाइत्ताण इत्थिमाईणं। निच्चुन्नयइयरेवि य रेहा पव्वे करतले य ॥ ४८९ ॥

'सप्त विभागान्' सप्तधा 'करं' हस्तं 'विभज्य' विभागीकृत्य, केषां ?–स्त्र्यादीनां, ते च विभागा एतानङ्गीकृत्य कर्त्तव्याः, के च ते ?–'निच्चोन्नतेतरे' तत्र निम्नं त्वङ्गुलिपर्वरेखा उन्नतमङ्गुलिपर्वाणि इतरत्–करतलं नोन्नतं नापि निम्नं। इदानीं केन शुष्केन प्रदेशेन कः प्रदेशः प्रम्लानो भवति ? केन वा प्रम्लानेन प्रदेशेन कः सार्द्रः प्रदेशो भवतीत्यस्यार्थस्य ज्ञापनार्थमाह—

जाहे य उन्नयाइं उव्वाणाइं हवंति हत्थस्स। ताहे तलपव्वाणा लेहा पुण होंतऽणुव्वाणा ॥ ४९० ॥

यदा उन्नतानि हस्तस्थानानि उद्घानानि भवन्ति तदा हस्ततलं प्रम्लानं–मनाक् शुष्कं भवति रेखास्तु भवन्त्यनुद्घानाः। इदानीं शुष्कहस्तस्थानानामेकैकवृद्ध्या यथा यस्मिन् काले ग्रहणं भवति तथा प्रदर्शयन्नाह—

तरुणित्थि एक्कभागे पव्वाणे होइ गहण गिम्हासु। हेमंते दोसु भवे तिसु पव्वाणेसु वासासु ॥ ४९१ ॥

तरुण्याः स्त्रिय उन्नतसप्तमैकभागे प्रम्लाने शुष्के सति उष्णकाले गृह्यते भिक्षा यतः सोष्मतया कालस्य चोष्णतया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१७१॥

यावता कालेन असावुन्नतप्रदेशः शोषमुपगतस्तावता कालेन इतरे निम्नप्रदेशाः सार्द्रा अपि अचित्ताः संजाताः अतः कल्पते भिक्षाग्रहणं, हेमन्तकाले तस्या एव तरुण्या द्वयोः सप्तमभागयोः शुष्कयोः सतोर्भिक्षाग्रहणं भवेदिति, तस्या एव तरुण्या वर्षाकाले त्रिषु सप्तभागेषु शुष्केषु सत्सु भिक्षाग्रहणं भवति ।

एमेव मज्झिमाए आढत्तं दोसु ठायए चउसु । तिसु आढत्तं थेरी नवरि ट्ठाणेसु पंचसु उ ॥ ४९२ ॥

एवमेव मध्यमायाः स्त्रिया उष्णकाले द्वयोर्भागयोः प्रारब्धं चतुर्षु भागेषु संतिष्ठते, एतदुक्तं भवति–मध्यमायाः स्त्रिया उष्णकाले द्वयोः सप्तभागयोः शुष्कयोः सतोर्ग्रहणं भवति, तथा तस्या एव मध्यमायाः स्त्रिया हेमन्ते काले त्रिषु सप्तभागेषु शुष्केषु सत्सु ग्रहणं भवति, तस्या एव च मध्यमस्त्रिया वर्षाकाले चतुर्षु सप्तभागेषु शुष्केषु सत्सु भिक्षाग्रहणं कर्त्तव्यं, एवं स्थविराया अपि उष्णकाले त्रिषु भागेषु प्रारब्धं पञ्चसु भागेषु संतिष्ठते, एतदुक्तं भवति–उष्णकाले स्थविर्यास्त्रिषु सप्तभागेषु शुष्केषु सत्सु ग्रहणं भवति, तथा तस्या एव स्थविर्या हेमन्तकाले चतुर्षु सप्तभागेषु शुष्केषु सत्सु भिक्षाग्रहणं कर्त्तव्यं, तस्या एव वर्षाकाले पञ्चसु सप्तभागेषु शुष्केषु सत्सु भिक्षाग्रहणं कर्त्तव्यम् ।

एमेव होइ पुरिसो दुगाइछट्ठाण पज्जवसिएसुं । अपुमं तु तिभागाइं सत्तमभागे अवसिते उ ॥ ४९३ ॥

एवमेव पुरुषस्य द्वयोर्भागयोः प्रारब्धं षट्स्थानपर्यवसितेषु भागेषु संतिष्ठते, एतदुक्तं भवति–तरुणपुरुषस्योष्णकाले भागद्वये शुष्के सति गृह्यते, तथा तस्यैव तरुणस्य शीतकाले त्रिषु भागेषु शुष्केषु सत्सु भिक्षा गृह्यते, तथा तस्यैव तरुणस्य वर्षाकाले चतुर्षु भागेषु शुष्केषु सत्सु ग्रहणं, तथा मध्यमपुरुषस्योष्णकाले त्रिषु भागेषु शुष्केषु सत्सु ग्रहणं, तस्यैव मध्य-

पुरःकर्मादि त्रैविध्यं नि. ४८९-४९३

॥१७१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मस्य हेमन्ते चतुर्षु भागेषु शुष्केषु सत्सु ग्रहणं, तथा तस्यैव मध्यमस्य वर्षाकाले पञ्चसु भागेषु शुष्केषु सत्सु भिक्षाग्रहणं कर्त्तव्यं, तथा वृद्धपुरुषस्योष्णकाले चतुर्षु भागेषु शुष्केषु सत्सु ग्रहणं कर्त्तव्यं, तस्यैव वृद्धस्य हेमन्ते पञ्चसु भागेषु शुष्केषु ग्रहणं, तस्यैव वृद्धस्य वर्षाकाले षट्सु भागेषु शुष्केषु भिक्षाग्रहणं कर्त्तव्यं । नपुंसकस्य पुनस्त्रिभागेष्वारब्धं सप्तमभागेषु संतिष्ठते, एतदुक्तं भवति–सर्वस्मिन् हस्ते शुष्के सति ग्रहणं कर्त्तव्यं भवति, तत्र चेयं भावना–तरुणनपुंसकस्योष्णकाले त्रिषु भागेषु शुष्केषु भिक्षाग्रहणं कल्पते, तस्यैव तरुणनपुंसकस्य हेमन्तकाले चतुर्षु भागेषु शुष्केषु भिक्षाग्रहणं कर्त्तव्यं, तस्यैव वर्षाकाले पञ्चसु भागेषु शुष्केषु ग्रहणं, मध्यमस्य नपुंसकस्योष्णकाले चतुर्षु भागेषु शुष्केषु ग्रहणं, तस्यैव च हेमन्तकाले पञ्चसु भागेषु शुष्केषु ग्रहणं, तस्यैव च वर्षाकाले षट्सु भागेषु शुष्केषु ग्रहणं, वृद्धनपुंसकस्योष्णकाले पञ्चसु भागेषु शुष्केषु ग्रहणं, तस्यैव हेमन्तकाले षट्सु भागेषु शुष्केषु भिक्षाग्रहणं, तस्यैव वृद्धनपुंसकस्य वर्षाकाले सप्तस्वपि सप्तभागेषु शुष्केषु भिक्षाग्रहणं कर्त्तव्यमिति । एवमेकैकवृद्ध्या ग्रहणमुक्तं, पश्चानुपूर्व्या तु एकैकभागहान्या भिक्षाग्रहणं वेदितव्यं, तच्चैवं–स्थविरनपुंसकस्य वर्षाकाले सप्तभिरपि हस्तभागैः शुष्कैर्गृह्यते भिक्षा, तस्यैव शीतकाले षड्भिर्भागैः शुष्कैर्गृह्यते, तस्यैवोष्णकाले पञ्चभिर्भागैः शुष्कैर्गृह्यते, एवमनया हान्या तावन्नेतव्यं यावत्तरुणी स्त्रीति । उक्तं त्रिविधद्वारं, भावद्वारप्रतिपादनायाह—

दुविहो य होइ भावो लोइयलोउत्तरो समासेणं । एक्किक्कोवि य दुविहो पसत्थओ अप्पसत्थो य ॥ ४९४ ॥

द्विविधो भवति भावः–लौकिको लोकोत्तरश्चेति, समासतः पुनरेकैको द्विविधः–प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च, लौकिकः प्रशस्तोऽ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||४९४||

दीप अनुक्रम [७८३]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१७२॥

प्रशस्तश्च, एवं लोकोत्तरोऽपि । तत्रोदाहरणमुच्यते–एगंमि सण्णिवेसे दो भाउया वणिया, ते य परोप्परं विरिक्का, तत्थ एगो गामे गंतूण करिसणं करेइ, अण्णोवि तहेव, तत्थ एकस्स सुमहिला अण्णस्स दुम्महिला, जा सा दुम्महिला सा गोसे उट्ठिया मुहोदगदंतपक्खालणअद्दागफलिहमाईहिं मंडंती अच्छइ, कम्मारगाईणं न किंचि जोगक्खेमं वहइ, कलेउयं च करेइ, अण्णस्स य जा सा महिला कम्मारमाईणं जोगक्खेमं वहइ अप्पणो य सकज्जं मंडणादि करेइ, तत्थ जा सा अप्पणो चेव मंडणे लग्गा अच्छइ तीए अचिरेण कालेणं परिक्खीणं घरं, इयरीए धणधण्णेणं घरं समिद्धं जायं । एवं च जो साहू वण्णहेउं रूवहेउं वा आहारं आहारेइ, नवि आयरिए णवि बालवुड्ढगिलाणदुब्बले पडियग्गति अप्पणो य गहाय पज्जत्तं नियत्तइ, एवं सो अप्पपोसओ, जहा सा चुक्का हिरण्णाईणं एवं सोवि निज्जरालाभो तस्स चुक्किहिइ, पसत्थो इमो-जो णो वण्णहेउं रूवहेउं वा आहारं आहारेइ, बालाईणं दाउं पच्छा आहारेइ, सो नाणदंसणचरित्ताणं आभागी भवति । एवं पसत्थेण भावेणं आहारेयव्वो सो पिंडो । इदानीमेनमेवार्थं गाथाभिरुपसंहरन्नाह—

सज्झिलगा दो वणिया गामं गंतूण करिसणारंभो । एगस्स देहमंडणबाउसिआ भारिया अलसा ॥ ४९५ ॥
मुहधोवण दंतवणं अद्दागाईण कल्ल आवासं । पुव्वण्हकरणमप्पण उक्कोसयरं च मज्झण्हे ॥ ४९६ ॥
तणकट्ठहारगाणं न देइ न य दासपेसवग्गस्स । न य पेसणे निउंजइ पलाणि हिय हाणि गेहस्स ॥ ४९७ ॥
बिइयस्स पेसवग्गं वावारे अन्नपेसणे कम्मे । काले देहाहारं सयं च उवजीवई इड्ढी ॥ ४९८ ॥

सुगमाः नवरं 'बाउसिआ' विहूसणसीला ॥ मुखधावनं करोति, तथा 'कल्ल'त्ति कल्यपूपकम् आवश्यकं पूर्वाह्णे

भावप्राश-स्त्यतरद्वारं नि. ४९४-४९८ भ्रातृद्वय-स्य वधूद्वयं दृष्टान्तः

॥१७२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करोत्यात्मना चोत्कृष्टतरं च घृतपूर्णादि मध्याह्ने भक्षयत्येकाकिनी ॥ तृणकाष्ठहारकाणां न किञ्चिद्ददाति दासवर्गस्य तथा प्रेष्यो यः कश्चित्प्रेष्यते तद्वर्गस्य च न किञ्चिद्ददाति, न च 'प्रेषणे' कार्ये नियुङ्क्ते कर्मकरान्, ततश्च भोजनादिना विना 'पलाणा' नष्टाः हृतं च यत्किञ्चिद्गृहे रिक्थमासीत्, एवं हानिर्जाता गेहस्य, तत्रायं लौकिकोऽप्रशस्तो भावः। इदानीं लौकिकप्रशस्तभावप्रतिपादनायाह–द्वितीयस्य या भार्या सा प्रेष्यवर्गं व्यापारयित्वा प्रेषणा कार्ये कर्मणि च विविधे काले च तेषामाहारं ददाति स्वयं च काले आहारमुपजीवति। अयं च लौकिकोऽत्र प्रशस्तो भाव उक्तः, इदानीं लोकोत्तरामप्रशस्तप्रतिपादनायाह—

वन्नबलरूवहेउं आहारे जो तु लाभि लब्भंते। अतिरेगं न उ गिण्हइ पाउग्गगिलाणमाईणं ॥ ४९९ ॥
जह सा हिरण्णमाईसु परिहीणा होइ दुक्खआभागी। एवं तिगपरिहीणो साहू दुक्खस्स आभागी ॥ ५०० ॥
आयरियगिलाणट्ठा गिण्ह न महंति एव जो साहू। नो वन्नरूवहेउं आहारे एस उ पसत्थो ॥ ५०१ ॥

वर्णबलरूपहेतुमाहारयति यश्च लाभे क्षीरादौ लभ्यमाने सति प्रायोग्यं ग्लानादीनामतिरिक्तं न गृह्णाति। यथा सा गृहस्था हिरण्यादिपरिहीना संजाता दुःखभागिनी च जाता एवं साधुरपि त्रिकेण–ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणेन हीनो दुःखस्य भागी भवति। उक्तो लोकोत्तरोऽप्रशस्तः, इदानीं लोकोत्तरप्रशस्तभावदर्शनायाह—आचार्यादीनामर्थाय गृह्णाति न ममेदं योग्यं किन्त्वाचार्यादेः, एवं यः साधुर्गृह्णाति, शेषं सुगमं। उक्तो लोकोत्तरः प्रशस्तो भावः, उक्तं भावद्वारम् ॥

उग्गमउप्पायणएसणाए बायाल होंति अवराहा। सोहेउं समुयाणं पडुप्पन्ने वचए वसहिं ॥ ५०२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ॥५०३॥

दीप अनुक्रम [७९२]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१७३॥

सुन्नघरदेउले वा असई य उवस्सयस्स वा दारे । संसत्तकंटगाई सोहेउमुवस्सगं पविसे ॥ ५०३ ॥

एवं साधुरुद्गमोत्पादनैषणाभिर्द्विचत्वारिंशदपराधा भवन्ति तैः समुदानं भैक्षं 'शोधयित्वा' विविच्य ततः 'पडुप्पन्ने' लब्धे सति भक्तादौ वसतिं प्रयाति । इदानीं तद्भक्तं गृहीतं सच्छोधयित्वा वसतिं प्रविशति, केषु स्थानेषु ?, अत आह—गृहीत्वा भक्तमुपाश्रयाभिमुखो व्रजेत्, शून्यगृहे तद्भक्तं प्रत्युपेक्ष्य ततो वसतिं प्रविशति, तदभावे देवकुले वा, 'असई य' गृहादीनामभावे उपाश्रयद्वारे संसक्तं त्रसैः कण्टकैर्वा यद्भक्तं तत् शोधयित्वा–प्रोज्झ्य संसक्तादिभक्तं तत उपाश्रयं प्रविशति । एवं तस्य प्रत्युपेक्ष्यमाणस्य कदाचित्संसक्तं भवति तत्र किं करोतीत्यत आह—

संसत्तं तत्तोचिअ परिट्ठवेत्ता पुणो दवं गिण्हे । कारण मत्तय गहिअं पडिग्गहे छोडु पविसणया ॥ ५०४ ॥

यदि तत्र संसक्तं भक्तं पानकं वा भवेत्ततस्तस्मादेव स्थानात्प्रतिस्थाप्य पुनरप्यन्यद्द्रवं गृह्णाति, तथा ग्लानादिकारणेन च मात्रके यद्गृहीतमासीत्तत्पतद्ग्रहे प्रक्षिप्य प्रविशति, यतस्तस्य साधुभिराख्यातं यदुत ग्लानस्यान्यल्लब्धमतो निष्कारणमात्रकोपयोगं परिहरन् पतद्ग्रहे प्रक्षिप्य प्रविशति, निष्कारणमात्रकोपयोगे च प्रमादी भवति । एवमसौ परिशुद्धे सति भक्ते प्रविशति उपाश्रयं । अथाशुद्धं भवति ततः परिष्ठाप्य किं करोतीत्यत आह—

गामे य कालभाणे पहुच्चमाणे हवंति भंगट्ठा । काले अपहुप्पंते नियत्तई सेसए भयणा ॥ ५०५ ॥

यदा ग्रामः पर्याप्यते कालश्च यदा पर्याप्यते भाजनं च पर्याप्यते एवमस्मिंस्त्रये पर्याप्यमाणे सति पदत्रयनिष्पन्ना अष्टौ

भावद्वारोप संहारः नि. ४९९-५०१ गृहीतभक्तस्य प्रवेश-विधिः नि. ५०२-५०५

॥१७३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भङ्गा भवन्ति, तेषां च भङ्गकानां मध्ये यस्मिन् भङ्गके कालो न पर्याप्यते तस्मिन्निवर्त्तत एव, शेषेषु चतुर्षु भङ्गेषु 'भजनां' विकल्पनां करोति सेवनां वा करोति। इदानीं भजनां दर्शयन्नाह—

अण्णं च वए गामं अण्णं भाणं व गेण्ह सइ काले। पढमे बितिए छप्पंचमे य भय सेस य नियत्ते ॥ ५०६ ॥

अन्यं ग्रामं वा व्रजति काले पर्याप्यमाणे, अन्यं च भाजनं गृह्णाति पर्याप्यमाणे काले सति, एवं प्रथमे भङ्गे द्वितीये च षष्ठे पञ्चमभङ्गके च 'भजनां' सेवनां करोति काले सति, शेषभङ्गेषु येषु कालो न पर्याप्यते तेषु 'निवर्त्तनं' गन्तव्यं भिक्षाया इत्यर्थः। स च पर्याप्यमाणः कालो द्विविधः–जघन्य उत्कृष्टश्च, तत्र जघन्यप्रतिपादनायाह—

वोसिट्ठुमागयाणं उवासिअ मत्तए य भूमितिअं। पडिलेहियमत्थमणं सेसत्थमिए जहन्नो उ ॥ ५०७ ॥

सञ्ज्ञां व्युत्सृज्यागतानां मात्रकं च यस्मिन् तोयं गृहीत्वा गत आसीन्निर्लेपनार्थं तस्मिन्नुद्वासिते–शोषिते सति भूमित्रिके च–कायिकीभूमौ द्वादश स्थण्डिलानि संज्ञाभूमौ द्वादश स्थण्डिलानि कालभूमौ त्रीणि स्थण्डिलानि, एवमस्मिन् भूमित्रितये प्रत्युपेक्षिते सति यदाऽस्तमनं भवति तस्मिन् प्रदेशे 'अत्थमिए'त्ति शेषोपधिं अस्तमिते आदित्ये प्रत्युपेक्षते यदा अयमित्थंभूतो जघन्यः काल इति। इदानीमुत्कृष्टकालप्रतिपादनायाह—

भुत्ते वियारभूमी गयागयाणं तु जह्न य ओगाहे। चरमाए पोरिसीए उक्कोसो सेस मज्झिमओ ॥ ५०८ ॥

भुक्ते सति विचारभूमिं गत्वाऽऽगतानां यथा 'ओगाहे' आगच्छति चरमा पौरुषी–चतुर्थः प्रहरः, अथवा चरमपौ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१७४॥

रुषी–पादोनश्चतुर्थप्रहरो यथाऽऽगच्छति अस्यां वेलायामयमुत्कृष्टः कालः, शेषस्त्वन्यो मध्यमः काल इति । तेन च भिक्षामटित्वा विनिवृत्त्य प्रविशता वसतौ किं कर्त्तव्यमत आह—

पायपमज्जणनिसीहिआ य तिन्नि उ करे पवेसंमि । अंजलि ठाणविसोही दंडग उवहिस्स निक्खेवो ॥ ५०९ ॥

बहिरेव वसतेः पादौ प्रमार्जयति निषीधिकात्रितयं करोति, प्रविशन् पुनश्च गुरोः पुरस्तादञ्जलिना नमस्कारं करोति 'नमो खमासमणाणं'ति, तथा प्रविष्टश्च स्थानं विशोधयति यत्र दण्डकस्योपधेश्च निक्षेपं करोति । इदानीमेतामेव गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह—

एवं पडुपन्ने पविसओ उ तिन्नि व निसीहिया होंति । अग्गदुारे मज्झे पवेस पाए य सागरिए ॥ २६२ ॥ (भा०)

एवं प्रत्युत्पन्ने–लब्धे सति भक्ते प्रविशतस्तिस्रो निषीधिका भवन्ति, क्व ?–अग्रद्वारे प्रथमा तथा द्वितीया मध्यप्रदेशे वसतेः प्रवेशे च मूलद्वारस्य तृतीयां निषीधिकां करोति पादौ च प्रमार्जयति यदि कश्चित् सागारिको न भवति, अथ तत्र सागारिको भवति ततो वरण्डकाभ्यन्तरे प्रमार्जनं करोति, अथ मध्यमेऽपि भवति–द्वितीयनिषीधिकास्थानेऽपि भवति ततो मध्ये प्रविश्य प्रमार्जयति पादौ, तेन च कारणेन पश्चाद्भाष्यकारेण पादप्रमार्जनं व्याख्यातं येन तदनियतं वर्त्तते, निषीधिकास्वकृतास्वपि कारणवशात्संभवतीति । इदानीमञ्जल्यवयवं व्याख्यानयन्नाह—

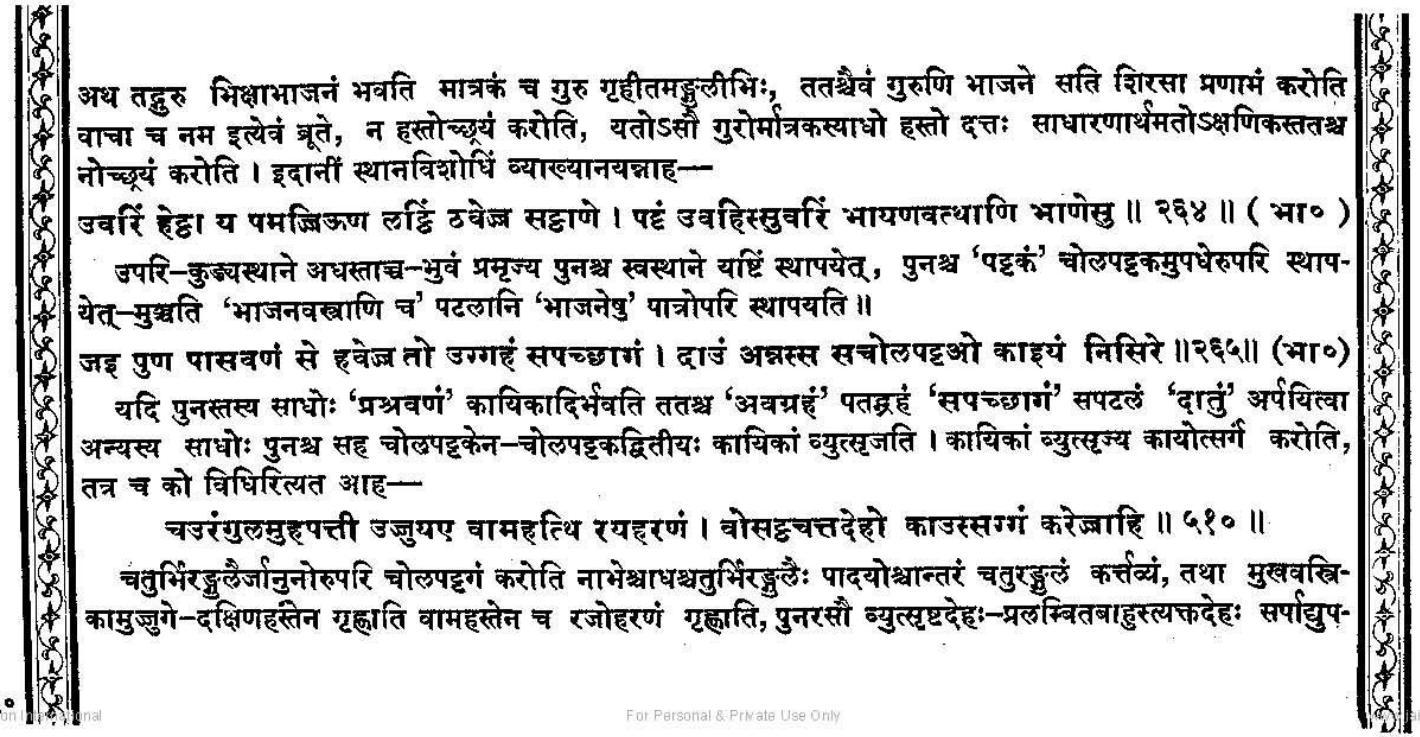
हत्थुस्सेहो सीसप्पणामणं वाइओ नमोक्कारो । गुरुभायणे पणामो वायाएँ नमो न उस्सेहो ॥ २६३ ॥ (भा०)

हस्तस्योत्सेधं नमस्कारार्थं करोति, शीर्षप्रणमनं करोति, वाचा च "नमो खमासमणाणं"ति, इत्येवं नमस्कारं करोति

ग्रामादिप-र्यासता नि. ५०६-५०८ वसतिप्रवेशः नि. ५०९ भा. २६२-२६३

॥१७४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



अथ तद्गुरु भिक्षाभाजनं भवति मात्रकं च गुरु गृहीतमङ्गुलीभिः, ततश्चैवं गुरुणि भाजने सति शिरसा प्रणामं करोति वाचा च नम इत्येवं ब्रूते, न हस्तोच्छ्रयं करोति, यतोऽसौ गुरोर्मात्रकस्याधो हस्तो दत्तः साधारणार्थमतोऽक्षणिकस्तत्श्च नोच्छ्रयं करोति । इदानीं स्थानविशोधिं व्याख्यानयन्नाह—

उवरिं हेट्ठा य पमज्जिऊण लट्ठिं ठवेज्ज सट्ठाणे । पट्टं उवहिस्सुवरिं भायणवत्थाणि भाणेसु ॥ २६४ ॥ (भा०)

उपरि–कुड्यस्थाने अधस्ताच्च–भुवं प्रमृज्य पुनश्च स्वस्थाने यष्टिं स्थापयेत्, पुनश्च 'पट्टकं' चोलपट्टकमुपधेरुपरि स्थापयेत्–मुञ्चति 'भाजनवस्त्राणि च' पटलानि 'भाजनेषु' पात्रोपरि स्थापयति ॥

जइ पुण पासवणं से हवेज्ज तो उग्गहं सपच्छागं । दाउं अन्नस्स सचोलपट्टओ काइयं निसिरे ॥२६५॥ (भा०)

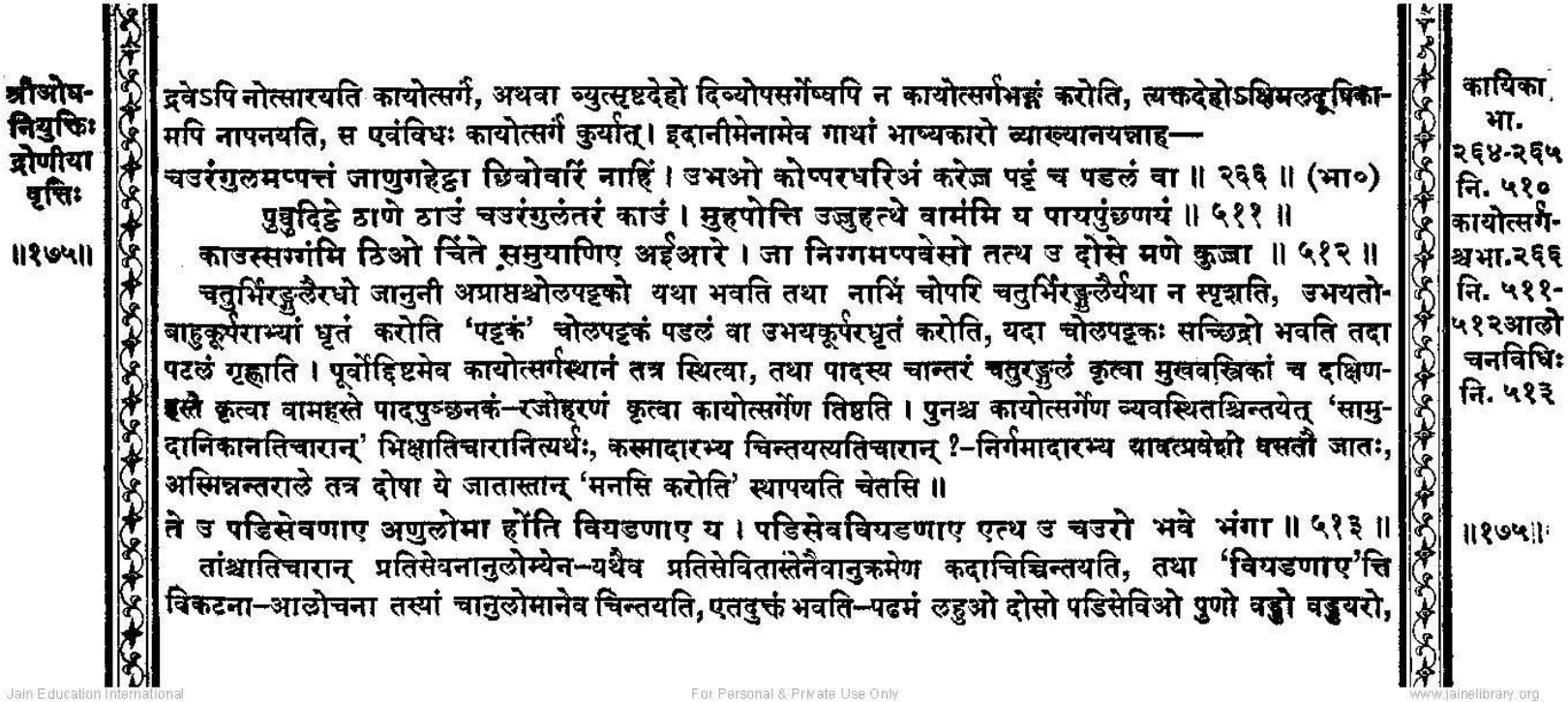
यदि पुनस्तस्य साधोः 'प्रश्रवणं' कायिकादिर्भवति ततश्च 'अवग्रहं' पतद्ग्रहं 'सपच्छागं' सपटलं 'दातुं' अर्पयित्वा अन्यस्य साधोः पुनश्च सह चोलपट्टकेन–चोलपट्टकद्वितीयः कायिकां व्युत्सृजति । कायिकां व्युत्सृज्य कायोत्सर्गं करोति, तत्र च को विधिरित्यत आह—

चउरंगुलमुहपत्ती उज्जुयए वामहत्थि रयहरणं । वोसट्ठचत्तदेहो काउस्सग्गं करेज्जाहि ॥ ५१० ॥

चतुर्भिरङ्गुलैर्जानुनोरुपरि चोलपट्टगं करोति नाभेश्चाधश्चतुर्भिरङ्गुलैः पादयोश्चान्तरं चतुरङ्गुलं कर्त्तव्यं, तथा मुखवस्त्रिकामुज्जुगे–दक्षिणहस्तेन गृह्णाति वामहस्तेन च रजोहरणं गृह्णाति, पुनरसौ व्युत्सृष्टदेहः–प्रलम्बितबाहुस्त्यक्तदेहः सर्पाद्युप-

ओ० ३०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



श्रीओघनियुक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१७५॥

द्रवेऽपि नोत्सारयति कायोत्सर्गं, अथवा व्युत्सृष्टदेहो दिव्योपसर्गेष्वपि न कायोत्सर्गभङ्गं करोति, त्यक्तदेहोऽक्षिमलदूषिकामपि नापनयति, स एवंविधः कायोत्सर्गं कुर्यात्। इदानीमेनामेव गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह—

चउरंगुलमप्पत्तं जाणुगहेट्ठा छिवोवरिं नाहिं। उभओ कोप्परधरिअं करेज्ज पट्टं च पडलं वा ॥ २६६ ॥ (भा०)

पुव्वुद्दिट्ठे ठाणे ठाउं चउरंगुलंतरं काउं। मुहपोत्ति उज्जुहत्थे वामंमि य पायपुंछणयं ॥ ५११ ॥

काउस्सग्गंमि ठिओ चिंते समुयाणिए अईआरे। जा निग्गमप्पवेसो तत्थ उ दोसे मणे कुज्जा ॥ ५१२ ॥

चतुर्भिरङ्गुलैरधो जानुनी अप्राप्तश्चोलपट्टको यथा भवति तथा नाभिं चोपरि चतुर्भिरङ्गुलैर्यथा न स्पृशति, उभयतोबाहुकूर्पराभ्यां धृतं करोति 'पट्टकं' चोलपट्टकं पडलं वा उभयकूर्परधृतं करोति, यदा चोलपट्टकः सच्छिद्रो भवति तदा पटलं गृह्णाति। पूर्वोद्दिष्टमेव कायोत्सर्गस्थानं तत्र स्थित्वा, तथा पादस्य चान्तरं चतुरङ्गुलं कृत्वा मुखवस्त्रिकां च दक्षिणहस्ते कृत्वा वामहस्ते पादपुञ्छनकं–रजोहरणं कृत्वा कायोत्सर्गेण तिष्ठति। पुनश्च कायोत्सर्गेण व्यवस्थितश्चिन्तयेत् 'सामुदानिकानतिचारान्' भिक्षातिचारानित्यर्थः, कस्मादारभ्य चिन्तयत्यतिचारान् ?–निर्गमादारभ्य यावत्प्रवेशो वसतौ जातः, अस्मिन्नन्तराले तत्र दोषा ये जातास्तान् 'मनसि करोति' स्थापयति चेतसि ॥

ते उ पडिसेवणाए अणुलोमा होंति वियडणाए य। पडिसेवविअडणाए एत्थ उ चउरो भवे भंगा ॥ ५१३ ॥

तांश्चातिचारान् प्रतिसेवनानुलोम्येन–यथैव प्रतिसेवितास्तेनैवानुक्रमेण कदाचिच्चिन्तयति, तथा 'वियडणाए'त्ति विकटना–आलोचना तस्यां चानुलोमानेव चिन्तयति, एतदुक्तं भवति–पढमं लहुओ दोसो पडिसेविओ पुणो वड्ढो वड्ढयरो,

कायिका भा. २६४-२६५ नि. ५१० कायोत्सर्गश्च भा.२६६ नि. ५११-५१२आलोचनविधिः नि. ५१३

॥१७५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आलोचनाविधेः विधानं वर्णयते

चिंतेइ एवमेवं, ततश्च प्रतिसेवनाया अनुकूलम्, आलोचनायामप्यनुकूलमेव, यतः प्रथमं लघुको दोष आलोच्यते पुनर्बृहत्तरः पुनर्बृहत्तम इत्येष प्रथमभङ्गकः, अण्णो पडिसेवणाए अणुकूलो न उण विअडणाए, एतदुक्तं भवति–आसेविअं पढमं वड्डं पुणो लहुअं पुणो वड्डं पुणो वड्डयरं, चिंतेइ एवमेव,ततश्च प्रतिसेवनाया अनुकूलं न त्वालोचनायाः, यतस्तत्र प्रथमं लघुतर आलोच्यते पुनर्बृहत्तरः पुगर्बृहत्तमःइत्येष द्वितीयः, अण्णो पडिसेवणाए नाणुकूलो आलोयणाए पुण अणुकूलो,एतदुक्तं भवति– अड्डवियड्डा पडिसेविआ चिंतेइ पुण आलोयणाणुकूलेणं,एष तइओ भंगो, अण्णे उण पडिसेवणाएवि अणणुकूलो आलोयणाएवि अणणुकूलो, एतदुक्तं भवति–पढमं वड्डो पडिसेविओ पुणो लहुओ पुणो वड्डो वड्डयरो,चिंतेइ पुण जं जहा संभरइ,पढमं वड्डो पुणो लहुओ पुणो वड्डो पुणो वड्डयरो, एवं अड्डवियड्डं चिंतंतस्स ण पडिसेवणाणुकूलो णालोयणाणुकूलो, एस चउत्थो, एसो य वज्जेयव्वो । इदानीममुमेवार्थं गाथार्द्धेनोपसंहरन्नाह—'पडिसेवावियडणाए होंति एत्थंपि चउभंगा' इदं व्याख्यातमेवेति । इदानीं सामुदानिकानतिचारानालोचयति यदि व्याक्षेपादिरहितो गुरुर्भवति, अथ व्याक्षिप्तो गुरुर्भवति तदा नालोचयति, एतदेवाह—

वक्खित्तपराहुत्ते पमत्ते मा कयाइ आलोए । आहारं च करेंतो नीहारं वा जइ करेइ ॥ ५१४ ॥
कहणाईवक्खित्ते विकहाइ पमत्त अन्नओ व मुहे । अंतरमकारए वा नीहारे संक मरणं वा ॥२६७॥ (भा०)

व्याक्षिप्तो धर्मकथनादिना स्वाध्यायेन, 'पराहुत्तो'त्ति पराङ्मुखः पराभिमुख इत्यर्थः, प्रमत्त इति विकथयति, एवंविधे गुरौ न कदाचिदालोचयेत्, तथाऽऽहारं कुर्वति सति, तथा नीहारं वा यदि करोति ततो नालोचयति । इदानीमेतामेव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||५१४||

दीप अनुक्रम [८०९]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१७६॥

गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह—धर्मकथादिना वा व्याक्षिप्तः कदाचिद् गुरुर्भवति, विकथादिना वा प्रमत्तोऽन्यतोऽभिमुखो वा भवति, भुञ्जतोऽपि नालोचनीयं, किं कारणं ?–'अंतरं'ति अन्तरायं वा भवति यावदालोचनां शृणोति, अकारकं वा–शीतलं भवति यावदालोचनां शृणोति । तथा नीहारमपि कुर्वतो नालोचनीयं, किं कारणं ?, यत आशङ्कया साधुजनितया न कायिकादिर्निर्गच्छति, अथ धारयति ततो मरणं वा भवति । यस्मादेते दोषास्तस्मात्—

अवक्खित्ताउत्तं उवसंतमुवट्ठिअं च नाऊणं । अणुन्नवेत्तु मेहावी आलोएज्जा सुसंजए ॥ ५१५ ॥

कहणाइ अवक्खित्ते कोहाइ अणाउले तदुवउत्ते । संदिसहत्ति अणुन्नं काऊण विदिन्नमालोए ॥२६८॥ (भा०)

धर्मकथादिनाऽव्याक्षिप्ते गुरौ आलोचयेत्, आयुक्तं–उपयोगतत्परं,'उपशान्तं' अनाकुलं गुरुं दृष्ट्वा 'उपस्थितं' उद्यतं च ज्ञात्वा, एवंविधं गुरुमनुज्ञाप्य मेधावी आलोचयेत् 'सुसंयतः' साधुः । इदानीमेतामेव गाथां व्याख्यानयन् भाष्यकृद्दाह—धर्मकथादिनाऽव्याक्षिप्ते क्रोधादिभिरनाकुले तदुपयुक्ते–भिक्षालोचनोपयुक्ते च 'संदिसहत्ति अणुन्नं काऊण' संदिशत आलोचयामीत्येवमनुज्ञां कृत्वा–मार्गयित्वेत्यर्थः, 'विदिण्णे'त्ति आचार्येण विदिन्नायामनुज्ञायां भणत इत्येवंलक्षणायां तत आलोचयेत् । तेन च साधुनाऽऽलोचयता एतानि वर्जनीयानि—

नट्ठं वलं चलं भासं मूयं तह ढड्ढरं च वज्जेज्जा । आलोएज्ज सुविहिओ हत्थं मत्तं च वावारं ॥ ५१६ ॥ दारं ॥

करपाय भमुहिसीसऽच्छिउट्ठिमाईहि नट्ठिअं नाम । वलणं हत्थसरीरे चलणं काए य भावे य ॥२६९॥ (भा०)

गारत्थियभासाओ य वज्जए मूय ढड्ढरं च सरं । आलोए वावारं संसट्ठियरे व करमत्ते ॥ २७० ॥ (भा०)

आलोचना विधिः नि. ५१४-५१६ भा. २६८-२७०

॥१७६॥

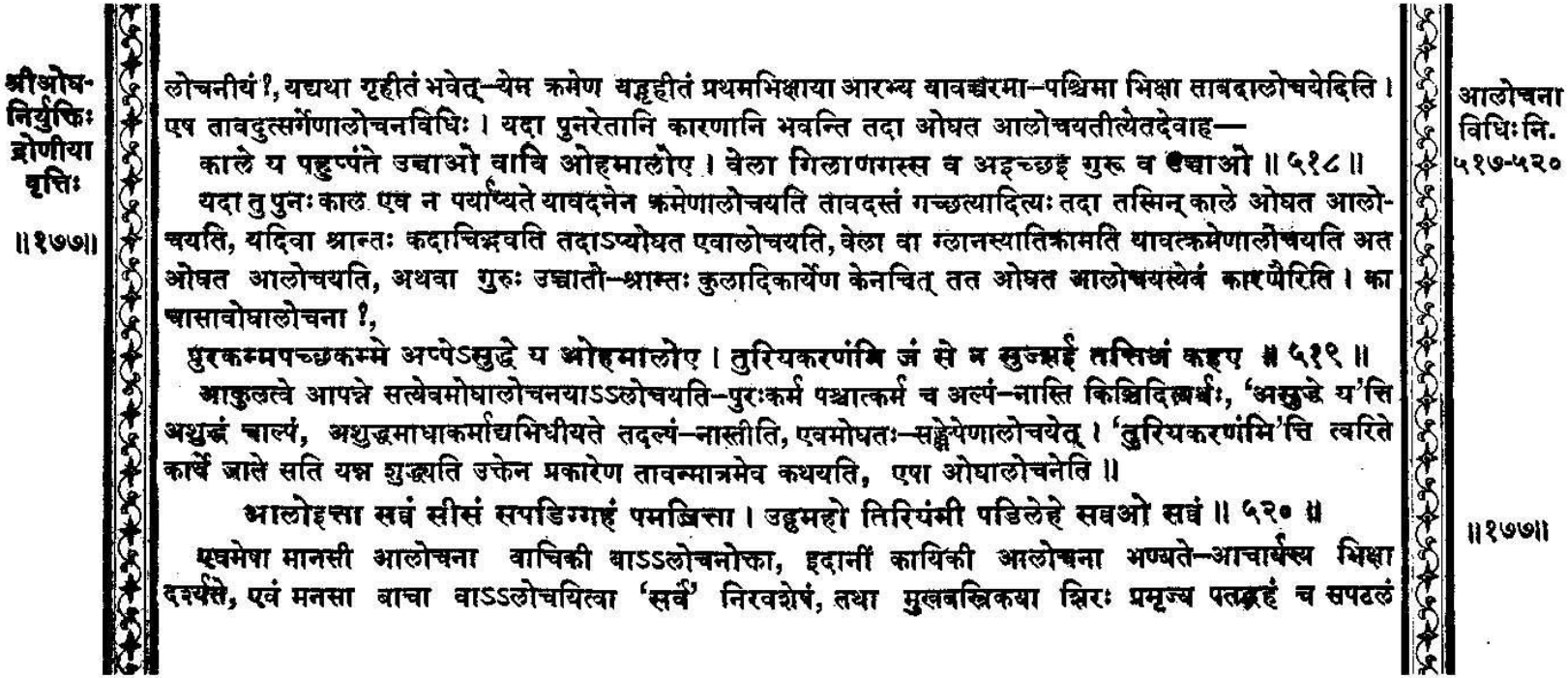
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नृत्यन्नालोचयति वलन्नालोचयति अंगानि चलयन्नालोचयति, तथा भाषमाणो गृहस्थभाषया नालोचयति, किं तर्हि ?–संयतभाषयाऽऽलोचयति, तद्यथा–सुयारियाउ इत्येवमादि, तथा चालोचयन् मूकेन स्वरेण नालोचयति मिणिमिणंतं, तथा ढड्ढरेण च स्वरेण–उच्चैर्नालोचयति, एवंविधं स्वरं वर्जयेत् । किं पुनरसावालोचयतीत्यत आह–आलोचयेत्सुविहितो हस्तमुदकक्लिन्नं, तथा 'मात्रकं' गृहस्थसत्कं कडुच्छुकादि–उदकार्द्रादि, तथा गृहस्थया कतमं व्यापारं कुर्वत्या भिक्षा दत्तेत्येतच्चालोचयति । इदानीमेतामेव गाथां व्याख्यानयन्नाह—करस्य तथा पादस्य भ्रुवः शिरसः अक्ष्णः ओष्ठस्य च, एवमादीनामङ्गानां सविकारं चलनं नर्त्तनं नाम, एतत् कुर्वन्नालोचयति, वलनं हस्तस्य शरीरस्य कुर्वन्नालोचयति, तथा चलनं कायस्य करोति मोटनं तत्कुर्वन्नालोचयति, तथा भावतश्चलनमन्यथा गृहीतमन्यथाऽऽलोचयति अङ्गुवियङ्गं ॥ आलोचयन् गृहस्थभाषया नालोचयति, यथा "सुग्गीओ(लंगणीओ) लद्धाओ मंडया लद्धा" इत्येवमादि, किन्तु संयतभाषयाऽऽ' लोचनीयं "सुयारियाउ" इत्येवमादि, मूकस्वरं मनाक् ढड्ढरं च महान्तं स्वरं वर्जयन्नालोचयति, किमालोचयति ?–'व्यापारं' गृहस्थयोः संबन्धिनं, तथा 'संसृष्टम्' उदकार्द्रादि, 'इतरं' असंसृष्टं, किं तत् ?–करं संसृष्टमसंसृष्टं च उदकेन, तथा 'मात्रकं' गृहस्थसत्कं कुण्डलिकादि उदकसंसृष्टमसंसृष्टं चेति, एतदालोचयेत् ।

एयद्दोसविमुक्कं गुरुणा गुरुसम्मयस्स वाऽऽलोए । जं जह गहियं तु भवे पढमाओ जा भवे चरिमा ॥ ५१७ ॥

एभिर्दोषैर्विमुक्तमनन्तरोक्तैर्भैक्षमालोचयेद्गुरोः समीपे वा यो गुरोः संमतो–बहुमतस्तस्य समीपे आलोचयेत्, कथमा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः ॥१७७॥

लोचनीयं ?, यद्यथा गृहीतं भवेत्–येन क्रमेण यद्गृहीतं प्रथमभिक्षाया आरभ्य यावच्चरमा–पश्चिमा भिक्षा तावदालोचयेदिति । एष तावदुत्सर्गेणालोचनविधिः । यदा पुनरेतानि कारणानि भवन्ति तदा ओघत आलोचयतीत्येतदेवाह—

काले य पडुप्पंते उच्चाओ वावि ओहमालोए । वेला गिलाणगस्स व अइच्छइ गुरू व उच्चाओ ॥ ५१८ ॥

यदा तु पुनः काल एव न पर्याप्यते यावदनेन क्रमेणालोचयति तावदस्तं गच्छत्यादित्यः तदा तस्मिन् काले ओघत आलोचयति, यदिवा श्रान्तः कदाचिद्भवति तदाऽप्योघत एवालोचयति, वेला वा ग्लानस्यातिक्रामति यावत्क्रमेणालोचयति अत ओघत आलोचयति, अथवा गुरुः उच्चातौ–श्रान्तः कुलादिकार्येण केनचित् तत ओघत आलोचयत्येवं कारणैरिति । का चासावोघालोचना ?,

पुरकम्मपच्छकम्मे अप्पेऽसुद्धे य ओहमालोए । तुरियकरणंमि जं से न सुज्झई तस्सिअं कहए ॥ ५१९ ॥

आकुलत्वे आपन्ने सत्येवमोघालोचनयाऽऽलोचयति–पुरःकर्म पश्चात्कर्म च अल्पं–नास्ति किञ्चिदित्यर्थः, 'असुद्धे य'त्ति अशुद्धं चाल्पं, अशुद्धमाधाकर्माद्यभिधीयते तदल्पं–नास्तीति, एवमोघतः–सङ्क्षेपेणालोचयेत् । 'तुरियकरणंमि'त्ति त्वरिते कार्ये जाते सति यन्न शुद्ध्यति उक्तेन प्रकारेण तावन्मात्रमेव कथयति, एषा ओघालोचनेति ॥

आलोइत्ता सव्वं सीसं सपडिग्गहं पमज्जित्ता । उड्ढमहो तिरियंमी पडिलेहे सव्वओ सव्वं ॥ ५२० ॥

एवमेषा मानसी आलोचना वाचिकी वाऽऽलोचनोक्ता, इदानीं कायिकी आलोचना भण्यते–आचार्यस्य भिक्षा दर्श्यते, एवं मनसा वाचा वाऽऽलोचयित्वा 'सर्वं' निरवशेषं, तथा मुखवस्त्रिकया शिरः प्रमृज्य पतद्ग्रहं च सपटलं

आलोचना विधिः नि. ५१७-५२० ॥१७७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ॥५२०॥ दीप अनुक्रम [८१८]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रमृज्य 'ऊर्द्ध्वं' पीठीः 'अधो' भुवि 'तिर्यक्' तिरश्चीनं 'प्रत्युपेक्षेत' निरूपयेत् 'सर्वतः' समन्ताच्चतुष्वपि दिक्षु सर्वैरन्तर्येण, ततः पतद्ग्रहं हस्ते कृत्वा भक्तादि गुरोर्दर्शयतीति वक्ष्यति भाष्यकृत् । इदानीमेतामेव गाथां भाष्यकृदाह, तत्र गुरुदोषत्वात्प्रथममूर्ध्वादीनि त्रीणि पदानि व्याख्यानयन्नाह—

उड्ढं पुप्फफलाई तिरियं मज्जारिसाणडिंभाई । खीलगदारुगआवडणरक्खणट्ठा अहो पेहे ॥ २७१ ॥ (भा०)

उद्यानादौ आवासितानां सतां पुष्पफलादिपातमूर्ध्वं निरूप्य ततो गुरोर्दर्शयति, तिर्यङ् मार्जारश्वडिम्भानालोक्यालोचयति, मा भूत्ते आगच्छन्तस्तत्पात्रमुत्प्रेर्य पातयिष्यन्ति, आदिशब्दात्काण्डं वा केनचिद्विक्षिप्तमायाति, अतस्तिर्यग् निरूप्यते, तथाऽधो निरूपयति, किमर्थं ?, कदाचित्कीलको भवति, तत्रापतनम्–आस्खलनं मा भूदिति, अतोऽधो निरूप्य ततो भक्तादि दर्शयति । इदानीं 'सीसं सपडिग्गहं पमज्जेत्त'त्ति व्याख्यानयति—

ओणमओ पवडेज्जा सिरओ पाणा सिरं पमज्जेज्जा । एमेव उग्गहंमिवि मा संकुडणे तसविणासो॥२७२॥ (भा०)

हस्तस्थे पतद्ग्रहेऽवनमतः शिरसः प्रपतेयुः प्राणिनः कदाचिदतः शिरः प्रथममेव प्रमार्जयेत्, एवमेव पतद्ग्रहे प्रमार्जनं कृत्वा प्रदर्शयेद्भक्तादि, किं कारणं ?–'मा संकुडणे तसविणासो'त्ति मा भूत्सङ्कोचने सति पटलानां त्रसादिविनाशो भविष्यत्यतः प्रमृज्य पतद्ग्रहं भक्तं प्रदर्शयतीति ॥

काउं पडिग्गहं करयलंमि अद्धं च ओणमित्ताणं । भत्तं वा पाणं वा पडिदंसिज्जा गुरुसगासे ॥ २७३ ॥ (भा०)

कृत्वा पतद्ग्रहं करतले अर्धं च शरीरस्यावनम्य पुनर्भक्तं वा पानं वा प्रदर्शयेत् गुरुसगासे इति ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ताहे य दुरालोइय भत्तपाण एसणमणेसणाए उ । अट्ठुस्सासे अहवा अणुग्गहादीउ झाएज्जा ॥२७४॥ (भा०)

ततः कदाचिद्दुरालोचितं भक्तपानं भवति, 'नट्ठं वलं चलं' इत्येवमादिना प्रकारेण, तथैषणादोषः कदाचित् सूक्ष्मः कृतो भवति, अनेषणादोषो वा कश्चिदजानता, ततश्चैतेषां विशुद्ध्यर्थमष्टोच्छ्वासं–नमस्कारं ध्यायेत्, अथवा 'अनुग्रहादी'-ति अथवाऽनुग्रहादि ध्यायेत्, "जइ मे अणुग्गहं कुज्जा साहू हुज्जामि तारिओ" इत्येवमादि गाथाद्वयं कायोत्सर्गस्थो विशुद्ध्यर्थं ध्यायेत्, उत्सार्य च कायोत्सर्गं ततः स्वाध्यायं प्रस्थापयेत् । एतदेवाह—

विणएण पट्ठवित्ता सज्झायं कुणइ तो महुत्तागं । पुव्वभणिया य दोसा परिस्समाई जढा एवं ॥ ५२१ ॥

विनयेन प्रस्थाप्य स्वाध्यायं योगविधाविव ततः स्वाध्यायं मुहूर्त्तमात्रं करोति, जघन्यतो गाथात्रयं पठति, उत्कृष्टतश्चतुर्दशापि सूक्ष्माणप्राणलब्धिसंपन्नोऽन्तर्मुहूर्त्तेन परावर्त्तयति,एवं च कुर्वता पूर्वभणिता दोषा 'धातुक्षोभे मरण' मित्येवमादयः तथा परिश्रमादयश्च दोषा 'जढाः'त्यक्ता भवन्तीति ॥

दुविहो य होइ साहू मंडलिउवजीवओ य इयरो य । मंडलिमुवजीवंतो अच्छइ जा पिंडिया सवे ॥ ५२२ ॥

स च साधुर्द्विप्रकारो–मण्डल्युपजीवकः इतरश्च–अमण्डल्युपजीवकः, तत्र यो मण्डल्युपजीवकः साधुः सोऽटित्वा 'भिक्षां तावत्प्रतिपालयति यावत् 'पिण्डिताः' एकीभूताः सर्वेऽपि साधवो भवन्ति, पुनश्च स तैः सह भुङ्क्ते ।

इयरोवि गुरुसगासं गंतूण भणइ संदिसह भंते ! । पाहुणगखवगअतरंतबालवुड्ढाणसेहाणं ॥ ५२३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||५२३||

दीप अनुक्रम [८२५]

'इतरोऽपि' अमण्डल्युपजीवकः,तत्र यो मण्डल्युपजीवकः स साधुर्गुरुसगासं गत्वा तमेव गुरुं भणति–यथा हे आचार्याः ! संदिशत–ददत यूयमिदं भोजनं प्राघूर्णकक्षपकअतरन्तबालवृद्धशिक्षकेभ्यः साधुभ्य इति । पुनश्च—

दिण्णे गुरूहिं तेसिं सेसं भुंजेज्ज गुरुअणुन्नायं । गुरुणा संदिट्ठो वा दाउं सेसं तओ भुंजे ॥ ५२४ ॥

एवमुक्तेन सता गुरुणा दत्ते सति तेभ्यः–प्राघूर्णकादिभ्यो यच्छेषं तद् भुञ्जीत गुरुणाऽनुज्ञाते सति, यदिवा गुरुणा 'सन्दिष्टः' उक्तः यदुत त्वमेव प्राघूर्णकादिभ्यः प्रयच्छ, एवमसौ साधुर्भणितः सन् दत्त्वा प्राघूर्णकादिभ्यस्ततः शेषं यद् भक्तं तद्भुङ्क्ते । एवं न केवलमसौ प्राघूर्णकादिभ्यो ददाति अन्यानपि साधून्निमन्त्रयति, तत्र यदि ते गृह्णन्ति ततो निर्जरा, अथ न गृह्णन्ति तथाऽपि विशुद्धपरिणामस्य निर्जरैवेति ॥ एतदेवाह—

इच्छिज्ज न इच्छिज्ज व तहविय पयओ निमंतए साहू । परिणामविसुद्धीए अ निज्जरा होअगहिएवि ॥ ५२५ ॥

इच्छेत् कश्चित्साधुर्नेच्छेद्वा तथापि प्रयत्नेन–सद्भावेन निमन्त्रयेत्साधून्, एवं सद्भावेन निमन्त्रयमाणस्य 'परिणाम-विशुद्ध्या' चित्तनैर्मल्यान्निर्जरा भवति–कर्मक्षयलक्षणाऽगृहीतेऽपि भक्ते । अथावज्ञया निमन्त्रयति ततोऽयं दोषः—

भरहेरवयविदेहे पन्नरसवि कम्मभूमिगा साहू । एक्कंमि हीलियंमी सवे ते हीलिया हुंति ॥ ५२६ ॥
भरहेरवयविदेहे पन्नरसवि कम्मभूमिगा साहू । एक्कंमि पूइयंमी सवे ते पूइया हुंति ॥ ५२७ ॥
अह को पुणाइ नियमो एक्कंमिवि हीलियंमि ते सवे । होंति अवमाणिया पूइए य संपूइया सवे ॥ ५२८ ॥
नाणं व दंसणं वा तवो य तह संजमो य साहुगुणा । एक्के सवेसुवि हीलिएसु ते हीलिया हुंति ॥ ५२९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एमेव पूइयंमिवि एक्कंमिवि पूइया जइगुणा उ । थोवं बहूनिवेसं इइ नचा पूयए महमं ॥ ५३० ॥
तम्हा जइ एस गुणो एक्कंमिवि पूइयंमि ते सव्वे । भत्तं वा पाणं वा सव्वपयत्तेण दायव्वं ॥ ५३१ ॥

सुगमा ॥ यदा पुनरादरेण निमन्त्र्यते तदायं महान् गुणः—सुगमा ॥ अत्राह परः—अथ कः पुनरयं नियमः ? यदेकस्मिन्नवमानिते सति सर्वे एवापमानिता भवन्ति, तथैकस्मिन् संपूजिते सति सर्वे एव संपूजिता भवन्ति, न चैकस्मिन् संपूजिते सर्वे संपूजिता भवन्ति, न हि यज्ञदत्ते भुक्ते देवदत्तो भुक्तो भवतीति । आचार्य आह—ज्ञानं दर्शनं च तपस्तथा संयमश्च एते साधुगुणा वर्त्तन्ते, एते च गुणा यथैकस्मिन् साधौ व्यवस्थिता एवं सर्वेष्वपि, एकरूपत्वात्तेषां, यतश्चैवमत एकस्मिन् साधौ हीलिते--अपमानिते सर्वेषु वा साधुषु हीलितेषु 'ते' ज्ञानादयो गुणा 'हीलिताः' अपमानिता भवन्ति ॥ एवमेकस्मिन् पूजिते पूजिता यतिगुणाः सर्वे भवन्ति, यस्मादेवं तस्मात्स्तोकमेतद्भक्तपानादि 'बहुनिवेसं' बह्वायमित्यर्थः निर्जराहेतुरिति, तस्मादेवं ज्ञात्वा पूजयेत्साधून् मतिमानिति, यतश्चैवमत एवमेव कर्त्तव्यम् । एतदेवाह–'तम्हे'त्यादि, सुगमा ॥

वेयावच्चं निययं करेह उत्तरगुणे धरिन्ताणं । सव्वं किल पडिवाई वेयावच्चं अपडिवाई ॥ ५३२ ॥
पडिभग्गस्स मयस्स व नासइ चरणं सुयं अगुणणाए । न हु वेयावच्चचिअं सुहोदयं नासए कम्मं ॥ ५३३ ॥
लाभेण जोजयंतो जइणो लाभंतराइयं हणइ । कुणमाणो य समाहिं सव्वसमाहिं लहइ साहू ॥ ५३४ ॥
भरहो बाहुबलीवि य दसारकुलनंदणो य वसुदेवो । वेयावच्चाहरणा तम्हा पडितप्पह जईणं ॥ ५३५ ॥
होज्ज न व होज्ज लंभो फासुगआहारउवहिमाईणं । लंभो य निज्जराए नियमेण अओ उ कायव्वं ॥ ५३६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वेयावच्चे अब्भुट्ठियस्स सद्धाए काउकामस्स । लाभो चेव तवस्सिस्स होइ अहीणमणसस्स ॥ ५३७ ॥

वैयावृत्त्यं 'नियतं' सततं कुरुत, केषाम् ?–उत्तमगुणान् धारयतां साधूनां कुरुत । शेषं सुगमम् । किञ्च—'प्रतिभग्नस्य' उन्निष्क्रान्तस्य मृतस्य वा नश्यति चरणं श्रुतमगुणनया नतु वैयावृत्त्यचितं–बद्धं शुभोदयं नश्यति कर्म । किञ्च—'लाभेन' प्राप्त्या घृतादेः 'योजयन्' घृतादिलाभेन योजयन्, कान् ?–यतीन्, लाभान्तरायं कर्म हन्ति । तथा पादप्रक्षालनादिना कुर्वन् समाधिं 'सर्वसमाधिं' मनसः स्वस्थतां वाचो माधुर्यादिकं कायस्य निरुपद्रवताम्, एवं कुर्वन्निरूपमपि सर्वसमाधिं लभते ॥ सुगमा, नवरं 'पडितप्पह'त्ति वैयावृत्त्यं कुरुत । किञ्च—भवेद्वा न वा लाभः, केषां ?–प्रासुकानाहारोपध्यादीनां तथापि तस्य वैयावृत्त्यार्थमभ्युद्यतस्य साधोर्विशुद्धपरिणामस्य लाभ एव निजरायाः अवश्यं, अलाभेऽपि सति निर्जरा भवति, यस्मादेवं तस्मात्कर्त्तव्यं वैयावृत्त्यम् ॥ सुगमा, नवरं वैयावृत्त्ये 'अभ्युत्थितस्य' उद्यतस्य श्रद्धया कर्त्तुकामस्य लाभ एव ॥

एसा गहणेसणविही कहिया भे धीरपुरिसपन्नत्ता । घासेसणंपि इत्तो वुच्छं अप्पक्खरमहत्थं ॥ ५३८ ॥

सुगमा ॥ उक्ता ग्रहणैषणा, अधुना ग्रासैषणोच्यते, तथा चाह—

दंवे भावे घासेसणा उ दव्वंमि मच्छआहरणं । गलमंसुंडगभक्खण गलस्स पुच्छेण घट्टणया ॥ ५३९ ॥

सा च ग्रासैषणा द्विविधा–द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यमङ्गीकृत्याह–द्रव्यतो मत्स्योदाहरणं, तंजहा–एगो किर मच्छबन्धो गले मंसपिंडं दाऊण दहे छुहइ, तं च एगो मच्छो जाणइ, जहा एस गलोत्ति, सो परिपेरंतेणं मंसं खाइऊण ताहे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः ॥१८०॥

पराहुत्तो छप्पाए गलमाहणइ, मच्छबंधो जाणइ–एस गहिओत्ति, एवं तेणं सवं खइयं मंसं, तो सो मच्छबंधो खइएण मंसेण अद्धिईए लद्धो अच्छइ, एत्थ य आहरणं दुविहं–चरिअं कप्पिअं च, तं एयं मच्छबंधं ओहयमणसंकप्पं झायंतं दट्ठुं मच्छो भणइ–अहं पमत्तो चरन्तो गहिओ बलागाए, ताहे सा खिवित्ता पच्छा गिलइ, ताहे अहं वंको तीसे मुहे पडामि, एवं बितिअं तइयं च उच्छलिओ ताहे मुक्को, अण्णया समुद्दे अहं गओ तत्थ मच्छबंधा वलयामुहाणि करेंति कडएहिं, ताहे समुद्दवेलापाणिएणं सह अहं तत्थ वंकीकए कडे पविट्ठो, ताहे तस्स कडगस्स अणुसारेण अतिगओ, एवं तिण्णि वारा वलयामुहाओ मुक्को, जालाओ एक्कवीसं वारा पडिओ, किह पुण ?, जाहे जालं छूढं भवति ताहे अहं भूमी घेत्तूण अच्छामि, तहा एक्कंमि छिण्णोदए दहे ठिआ, अम्हेहिं कहवि न नायं जहा इमो दहो सुक्किहिइ, ताहे सो दहो सुक्को, मच्छाणंपि थले गई णत्थि, ते सवे सुक्कंते पाणिए मया, कइवि जीवंति, तत्थ कोइ मच्छबंधो आगओ, सो हत्थेण गहाय सूलाए पोएति, ताहे मए नायं, अहंपि अचिरा विज्झीहामि, जाव न विज्झामि ताव उपायं चिंतेमि, ताहे तेसिं मच्छाणं अंतरालं सूलं डसिउं मुहेण ठिओ, सो जाणइ–एते सवे पोइयलया, ततो सो गंतूण अण्णहिं दहे धोवइ, तत्थ अहं मच्छुवत्तं करिंतो चेवुट्ठीणो पाणिए पविट्ठो,तं एयारिसं मम सत्तं, तहवि इच्छसि गलेण घेत्तुं ?, अहो ! ते निल्लज्जत्तणंति ॥ अमुमेवार्थं गाथाभिरुपसंहरन्नाह–'गलमंसुंडगं'गलमांसपिंडभक्खणं, शेषं सुगमं ॥

अह मंसंमि पहीणे झायंतं मच्छियं भणइ मच्छो। किं झायसि तं एवं ? सुण ताव जहा अहिरिओऽसि ॥५४०॥
चरियं व कप्पियं वा आहरणं दुविहमेव नायवं। अत्थस्स साहणट्ठा इंधणमिव ओयणट्ठाए ॥ ५४१ ॥

वैयावृत्त्यं नि. ५३७ ग्रासैषणाम स्यवृत्तं नि. ५३८-५४० ॥१८०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तिबलागमुहा मुक्को, तिक्खुत्तो वलयामुहे । तिसत्तखुत्तो जालेणं, सयं छिन्नोदए दहे ॥ ५४२ ॥
एयारिसं ममं सत्तं, सढं घट्टिअघट्टणं । इच्छसि गलेण घेत्तुं, अहो ते अहिरीयया ॥ ५४३ ॥
अह होइ भावघासेसणा उ अप्पाणमप्पणा चेव । साहू भुंजिउकामो अणुसासइ निज्जरट्ठाए ॥ ५४४ ॥
बायालीसेसणसंकडंमि गहणंमि जीव ! नहु छलिओ । एण्हिं जह न छलिज्जसि भुंजंतो रागदोसेहिं ॥५४५॥
जह अब्भंगणलेवा सगडक्खवणाण जुत्तिओ होंति । इय संजमभरवहणट्ठयाएँ साहूण आहारो ॥ ५४६ ॥

सुगमाः, तिस्रो वारा बलाकाया मुखेनोन्मुक्तः–ऊर्ध्वं क्षिप्तः त्रिकृत्वो 'वलयामुखे' कटात्मके आवर्त्ते इव चिते, तथा त्रयः सप्तका जालात्प्रच्युतः 'सकृद्' एकवारश्छिन्नोदके द्रहे छुटितः ॥ एवंविधं मम सत्त्वं शठं मां तथा 'घट्टितघट्टनं' घट्टितानि–संबद्धानि घट्टनानि–जालादीनि चलनानि यस्य सोऽहं घट्टितघट्टनः, तमेवंविधं इच्छसि गलेन ग्रहीतुं ?, अहो ते निर्लज्जता ॥ उक्ता द्रव्यग्रासैषणा यतोऽसौ ग्रासं कुर्वन् न क्वचिच्छलित इति । इदानीं भावग्रासैषणां प्रतिपादयन्नाह—अथ भवति भावग्रासैषणा, कथं ?, यदाऽऽत्मानमात्मनैव साधुरनुशास्ति, कदा पुनः ?–'भोक्तुकामः' भोक्तुमभिलषन्, निर्जरार्थं न तु वर्णाद्यर्थम् । किं पुनरसौ चिन्तयन्नात्मानमनुशास्तीत्याह–द्विचत्वारिंशदेषणादोषैः संकटं–दुष्प्रवेशं यद्गहनं–गह्वरं तस्मिन् हे जीव ! न त्वं छलितः, शेषं सुगमं, यथा न व्यंस्यसे तथा कर्त्तव्यं । यथाऽभ्यङ्गलेपा-यथासंख्येन शकटाक्षस्य व्रणानां च युक्तितो भवंति, यथाऽभ्यङ्गः शकटाक्षे युक्त्या दीयते न चातिबहुर्न चातिस्तोको भारव-हनार्थं, तथा व्रणानां च लेपो युक्त्या दीयते नातिबहुर्नातिस्तोकः, एवं संयमभरवहनार्थं साधूनामाहारः ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||५४७||

दीप अनुक्रम [८४९]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१८१॥

उवजीवि अणुवजीवी मंडलिं पुव्वणिओ साहू । मंडलिअसमुद्दिसगाण ताण इणमो विहिं वुच्छं ॥ ५४७ ॥

तत्र मण्डल्युपजीवी साधुरनुपजीवी च पूर्वमेव द्विविधो व्यावर्णितः साधुरेकः, इदानीं बहूनां मण्डल्यामसमुद्दिशकानां यो विधिर्भवति तं वक्ष्ये ॥ ते च कथं मण्डल्यामसमुद्देशका भवन्ति ?, अत आह—

आगाढजोगवाही निज्जूढत्तट्ठिआ व पाहुणगा । सेहा सपायच्छित्ता बाला वुड्ढेवमाईया ॥ ५४८ ॥

आगाढयोगो–गणियोगः तत्स्था ये ते मण्डलीं नोपजीवन्ति, 'निज्जूढ'त्ति अमनोज्ञाः कारणान्तरेण तिष्ठन्ति ते पृथग् भुञ्जते, तथाऽऽत्मार्थिकाश्च पृथग् भुञ्जते प्राघूर्णकाश्च, यतस्तेषां प्रथममेव प्रायोग्यं पर्याया दीयते, ततस्तेऽप्येकाकिनो भवन्ति, शिक्षका अपि सागारिकत्वात् पृथग् भोज्यन्ते, सप्रायश्चित्ताश्च पृथग् भोज्यन्ते, यतस्तेषां शबलं चारित्रं, शबलचरित्रैः सह न भुज्यते, बालवृद्धा अप्यसहिष्णुत्वात्प्रथममेव भुञ्जतेऽतस्तेऽप्येकाकिन इति, एवमाद्या मण्डल्यामसमुद्दिशका भवन्ति, आदिग्रहणात्कुष्ठव्याध्याद्युपद्रुता इति ॥ ते च भुञ्जानाः सन्त आलोके भुञ्जते, स चालोको द्विविधो भवतीत्येतदेवाह—

दुविहो खलु आलोको दव्वे भावे य दविं दीवाई । सत्तविहो पुण भाव आलोगं तं परिकहेऽहं ॥ ५४९ ॥

द्विविध आलोको–द्रव्यालोको भावालोकश्च, तत्र द्रव्यालोकः प्रदीपादिः, भावविषयः पुनरालोकः सप्तविधः, तं च कथयाम्यहं, तत्र भावालोकस्येयं व्युत्पत्तिः—आलोक्यत इत्यालोकः–स्थानदिगादिनिरूपणमित्यर्थः । तं च सप्तविधमपि प्रतिपादयन्नाह—

मत्स्यवृत्तं नि. ५४२-५४३ भाव-ग्रासैषणा नि. ५४४-५४६ मण्ड-ल्युपजीवी-तरे नि. ५४७-५४८ आलोकः नि. ५४९

॥१८१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||५५०||

दीप अनुक्रम [८५३]

ठाणादिसिपगासणया भायणपक्खेवणे य गुरुभावे । सत्तविहो आलोको सयावि जयणा सुविहियाणं ॥५५०॥

तैश्चामण्डलिसमुद्दिशकैर्निष्क्रमप्रवेशवर्जिते स्थाने भोक्तव्यं, तथा कस्यां दिशि आचार्यस्योपवेष्टव्यमित्येतद्वक्ष्यति, तथा सप्रकाशे स्थाने भोक्तव्यं, भाजने च विस्तीर्णमुखे भोक्तव्यं, प्रक्षेपणं च कवलानां कुर्कुट्यण्डकमात्राणां कर्त्तव्यं, तथा गुरोश्चक्षुःपथे भोक्तव्यं,तथा भावो ज्ञानादि तत्संवहनार्थं भोक्तव्यमित्येतद्वक्ष्यति। एवमयं सप्तविध आलोकः, सदाऽपि च यतनातस्मिन् सप्तविधेऽप्यालोके यतना सुविहितानाम्। इदानीं भाष्यकारो व्याचष्टे प्रतिपदं, तत्राद्यावयवव्याचिख्यासयाऽऽह—

निक्खमपवेसमंडलि सागारियठाणपरिहियट्ठाइ । मा एक्कासणभंगो अहिगरणं अंतरायं वा ॥ २७५ ॥ (भा०)

निष्क्रमप्रवेशौ वर्जयित्वा भोजनार्थमुपविशंति,तथा मण्डलीप्रवेशं च वर्जयन्ति, तथा सागारिकस्थानं च परिहृत्य भुञ्जते, मा भूत् सागारिके प्राप्ते सति एकाशनभङ्गः स्यादिति,'अधिकरणं' राटिर्वा भवति अन्येन प्रव्रजितेन सह अस्थाने उपविष्टस्य भुञ्जतोऽन्तरायं च भवति, कथं ?, स साधुरन्यस्य सत्के स्थाने भुङ्क्ते उपविष्टः, सोऽपि साधुरागतः प्रतीक्षमाण आस्ते, एवं चान्तरायं कर्म बध्यते । इदानीं दिशाद्वारप्रतिपादनायाह—

पच्चुरसिपरंमुहपट्ठिपक्ख एया दिसा विवज्जेत्ता । ईसाणग्गेईय व ठाएज्ज गुरुस्स गुणकलिओ॥ २७६ ॥ (भा०)

उरसोऽभिमुखं प्रत्युरसं–गुरोरभिमुखं वर्जयित्वेत्यर्थः, पराङ्मुखश्च नोपविशति गुरोः, तथा पृष्ठतश्च गुरोर्नोपविशति, पक्षके च नोपविशति, एवमेता दिशो वर्जयित्वा ईशान्यां दिशि गुरोराग्नेय्यां वा दिशि 'तिष्ठेत्' उपविशेद्भोजनार्थं गुणकलितः साधुर्यः । इदानीं 'पगासणय'त्ति व्याख्यायते—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मक्खियकंटगट्ठाईण जाणणट्ठा पगासभुंजणया। अट्ठियलग्गणदोसा वग्गुलिदोसा जढा एवं ॥ २७७ ॥ (भा०)

कथं नु नाम मक्षिका ज्ञायते—दृश्यते तथा कण्टको वा कथं नु नाम दृश्येत अस्थि वा उपलभ्येत ?, एवमर्थं 'प्रकाशे' सोद्द्योतस्थाने भुज्यते, आदिग्रहणाद्वालादिपरिग्रहस्तच्च दृश्यते, एवं च प्रकाशे भुञ्जानेन योऽसौ गलकादौ अस्थिलगनदोषस्तथा कण्टकलगनदोषश्च गलकादौ स परिहृतो भवति, तथाऽन्धकारे मक्षिकाभक्षणजनितो यो वल्गुलि-व्याधिदोषः स परिहृतो भवति। इदानीं 'भायण'त्ति द्वारमुच्यते—

जे चेव अंधयारे दोसा ते चेव संकडमुहंमि। परिसाडी बहुलेवाडणं च तम्हा पगाससुहे ॥ २७८ ॥ (भा०)

य एवान्धकारे भुञ्जानस्य 'दोषाः' मक्षिकादिजनिता भवन्ति त एव दोषाः 'सङ्कटमुखे' भाजने कमठादौ भुञ्जतः, अयमपरोऽधिकदोषः–'परिसाडी' परिशाटी भवति पार्श्वे निपतति, तथा 'बहुलेवाडणं च' बहुं विच्चं खरडिज्जइ हत्थस्स उवरिंपि भुंजंतस्स संकडे तस्मात् 'प्रकाशमुखे' विपुलमुखे भाजने भुज्यत इति। पक्खेवणाविही भण्णइ—

कुक्कुडिअंडगमित्तं अविगियवयणो उ पक्खिवे कवलं। अइखद्धकारगं वा जं च अणालोइयं हुज्जा॥२७९॥ (भा०)

कुक्कुट्या अण्डकं कुक्कुट्यण्डकं तत्प्रमाणं कवलं प्रक्षिपेद्वदने, किंविशिष्टः सन् ?–'अविकृतवदनः' नात्यन्तनिर्घाटितमुखः प्रक्षिपेत्कवलम् । दारं। गुरुत्ति व्याख्यायते—'अतिखद्ध'त्ति गुरोरालोके भोक्तव्यं, यदि पुनर्गुरोर्दर्शनपथे न भुङ्क्ते ततः कदाचित्साधुः 'अतिखद्धम्' अतिप्रचुरं भक्षयेन्निःशङ्कः सन्, स च सव्याजशरीरः कदाचिद्गुरोरदर्शनपथे-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||२८०||

दीप अनुक्रम [८५८]

ऽकारकं–अपथ्यमपि भुञ्जीत निःशङ्कः सन्, कदाचिद्वा भिक्षामटताऽनेन स्निग्धद्रव्यं लब्धं भवेत् तच्चानालोच्यैव भक्षयेद् एकांते, मा भून्नामाचार्यो निवारयिष्यति । अतः

एएसि जाणणट्ठा गुरु आलोए तओ उ भुंजेज्जा । नाणाइसंधणट्ठा न वन्नबलरूवविसयट्ठा ॥ २८० ॥ (भा०)

'एतेषां' प्रचुरभक्षितादीनां दोषाणां ज्ञानार्थं गुरोः 'आलोके' चक्षुर्दर्शनपथे भुञ्जीत येन गुरुः समीपस्थं भुञ्जानं दृष्ट्वा प्रचुरं भक्षयन्तं निवारयति, तथाऽकारकं भक्षयन्तं निवारयति, तथा अणालोइयं चोरिअं खायंतं निवारयति, माभूदवारणेऽपाटवजनिता दोषाः स्युः । इदानीं भावेत्ति व्याख्यायते–'णाणाइ'त्ति ज्ञानादिर्भावः ज्ञानं दर्शनं चारित्रं च, एतज्ज्ञानादिभावत्रयमभुज्यमाने त्रुट्यति–व्युच्छिद्यते,अत एतेषां ज्ञानादीनां त्रुट्यतां 'सन्धानार्थम्' अविच्छिन्नप्रवाहार्थं भुज्यते,न वर्णार्थं भुज्यते, न वर्णो मम गौरवं स्यादित्येवमर्थं, तथा बलं मम भूयादित्येवमर्थमपि न भुज्यते, रूपं मम भूयाद् बुभुक्षया क्षीणेक्षणगण्डपार्श्वः सन् मांसोपचयेन पूरितगण्डपार्श्वो रूपवान् भविष्यामीति नैवमर्थं भुङ्क्ते, नापि 'विषयार्थं' मैथुनाद्यासेवनार्थं भुङ्क्ते ।

सो आलोइयभोई जो एए जुंजए पए सव्वे । गविसणगहणग्घासेसणाइ तिविहाइवि विसुद्धं ॥ ५५१ ॥

'सः' साधुर्गुरोरालोचितं भुङ्क्ते य एतानि पदान्यनन्तरोदितानि 'युनक्ति' प्रयुङ्क्ते करोति स्थानादीनि, स च गवेषणैषणया ग्रहणैषणया ग्रासैषणया, अनया त्रिविधयाऽप्येषणया शुद्धं भुङ्क्ते य एतानि पदानि प्रयुङ्क्त इति ।

एवं एगस्स विही भोत्तव्वे वन्निओ समासेणं । एमेव अणेयाणवि जं नाणत्तं तयं वोच्छं ॥ ५५२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१८३॥

एवमेकस्य साधोर्भोक्तव्ये विधिर्वर्णितः 'समासेन' सङ्क्षेपेण, एवमेवानेकेषामपि साधूनां भोजने विधिः, यत्तु पुनर्नानात्वं भवति–यो भेदो यदतिरिक्तं तदहं वक्ष्ये । आह–किं पुनः कारणं मण्डली क्रियते ?, उच्यते—

अतरंतबालवुड्ढा सेहाएसा गुरू असहुवग्गो । साहारणोग्गहाऽलद्धिकारणा मंडली होइ ॥ ५५३ ॥

अतरन्तः–अतिग्लानस्तत्कारणात्–तन्निमित्तं मण्डली भवति, यतस्तस्य ग्लानस्य यद्येकः साधुर्वैयावृत्त्यं करोति ततस्तस्य तत्रैवाक्षणिकस्य सूत्रार्थहानिर्भवति, मण्डलीबन्धे तु कश्चित्किञ्चित्करोति, एतदर्थं मण्डली क्रियते येन बहवः प्रतिजागरका भवन्तीति । बालोऽपि भिक्षामटितुमसमर्थः, स च बहूनां मध्ये सुखेनैव कथं नु नाम वर्त्तेत ?, अतो मण्डली भवति । वृद्धोऽप्येवमेव, सेहः–शैक्षकः, स चैकः सन् भिक्षाविशुद्धिं न जानाति ततस्तस्यानीय दीयते, आएसो–प्राघूर्णकस्तस्य चागतस्य सर्व एवोपकुर्वन्ति, स चोपकारः सर्वैरेव मिलितैः कर्त्तुं शक्यते न त्वेकेन, गुरोश्च सर्वैरेवोपकर्त्तुं शक्यते न त्वेकेन, सूत्रार्थपरिहानेः, तथा 'असहुवग्गो'त्ति असमर्थो–राजपुत्रादिः स च भिक्षामटितुं सुकुमालत्वान्न शक्नोति ततश्च सर्व एव मिलिता उपकुर्वन्ति, तस्मात् 'साधारणोग्गहा' साधारणश्चासावुपग्रहश्च साधारणोपग्रहस्तस्मात् साधारणोपग्रहात्कारणान्मण्डली कर्त्तव्या,अथवा मण्डलीविशेषणमेतत्, उपगृह्णातीत्युपग्रहा–भक्तादिः स साधारणः–तुल्यो यस्यां सा साधारणोपग्रहा मण्डली भवति । 'अलद्धिकारणा मंडली होइ'इति कदाचित्कश्चित्साधुरलब्धिको भवति ततश्च तेऽन्ये साधवस्तस्मै आनीय प्रयच्छन्ति अत एतत्कारणान्मण्डली भवति । इदानीं भिक्षागतानां साधूनां यो वसतिरक्षपालस्तेन किं कर्त्तव्यमित्यत आह—

नाउ नियट्टणकालं वसहीपालो य भायणुग्गाहे । परिसंठियच्छद्वगेण्हणट्ठया गच्छमासज्ज ॥ ५५४ ॥

गुर्वालोककारणानि भा. २८० नि. ५५२ मण्डलीकारणानि नि. ५५३ वसतिपालकृत्यं नि. ५५४

॥१८३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||५५४||

दीप अनुक्रम [८६२]

ज्ञात्वा भिक्षागतानां निवर्त्तनकालं वसतिपालो 'भाजनं' नन्दीपात्रं तत्प्रत्युपेक्ष्योद्ग्राहयति–सङ्घट्टितेनास्ते इत्यर्थः, किमर्थः ?, परिसंस्थिताच्छद्रवग्रहणार्थम्, एतदुक्तं भवति–तत्रानीय साधवः पानकं प्रक्षिपन्ति, पुनश्च तत्र परिस्थितं–स्वच्छीभूतं सत् ततोऽन्यत्र पात्रके क्रियते येन तत्स्वच्छमार्यादीनां योग्यं भवति, पात्रकादिप्रक्षालनं च क्रियते । 'गच्छमास्रज्ज'त्ति 'गच्छमाश्रित्य' गच्छस्य प्रमाणं ज्ञात्वा पात्रकमुद्ग्राहयन्ति, एतदुक्तं भवति–यदि महान् गच्छस्ततः पानकगलनार्थं महाप्रमाणं पात्रकमुद्ग्राहयति, तथा द्वे त्रीणि चत्वारि पञ्चादीनि यावत् ।

असई य नियत्तेसुं एक्कं चउरंगुलूणभाणेसु । पक्खिविय पडिग्गहगं तत्थऽच्छद्दवं तु गालेज्जा ॥ ५५५ ॥

अथ तत्र रक्षपालः समर्थो नास्ति यः पात्रकमुद्ग्राहयति, अथवा 'असई य'त्ति यदि नन्दीपात्रं नास्ति यत्रोदकमानीतं स्वच्छीकरणार्थं क्रियते ततोऽसति तस्मिन् नन्दीपात्रे तदेकं पतद्ग्रहं प्रक्षिप्य, क्व ?, अत आह—'चउरंगुलूणभाणेसु' चतुर्भिरङ्गुलैरूनानि यानि भाजनानि तेषु प्रक्षिप्य पतद्ग्रहं पुनस्तस्मिन् क्षणीभूते स्वच्छं द्रवं गालयेत्, अत्र चायं नियमो द्रष्टव्यः यदुत–भिक्षां तावत्साधवः पर्यटन्ति यावत्पात्रकं चतुर्भिरङ्गुलैरूनमास्त इति। आह—किं पुनः कारणं तद्रवगलनं क्रियते ?,

आयरियअभावियपाणगट्ठया पायपोसधुवणट्ठा । होइ य सुहं विवेगो सुह आयमणं च सागरिए ॥ ५५६ ॥

आचार्यपानार्थं अभावितसेहादिपानार्थं च गलनं क्रियते । तथा पादधावनार्थं 'पोस'त्ति अधिष्ठानं तस्य प्रक्षालनार्थं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तथा भवति च सुखेन विवेकः–त्यागोऽतिरिक्तस्य तस्य पानकस्य, तथा सुखेन वाऽऽचमनं सागारिकस्याग्रतः क्रियते, एवमर्थं गलनं क्रियत इति । कियन्ति पुनः पात्रकाणि गलितद्रवस्य भ्रियन्ते ? इत्यत आह—

एक्कं व दो व तिन्नि व पाए गच्छप्पमाणमासज्ज । अच्छद्दवस्स भरेज्जा कसट्टबीए विगिंचेज्जा ॥ ५५७ ॥

एकं द्वे त्रीणि वा पात्रकाणि भ्रियन्ते, गच्छप्रमाणं ज्ञात्वा चतुष्प्रभृतीन्यपि भ्रियन्ते स्वच्छद्रवस्य, तत्र च गलिते सति कसट्टं–कचवरं बीजानि च–गोधूमादीनि 'विगिञ्चेत्' परित्यजेत्, एवं तावत् पात्रकर्णेनापि उदकमपवृत्त्य पानकगलनं क्रियते । अथ पुनस्तत्र कीटिकामर्कोटिकादयः प्लवमाना दृश्यन्ते ततस्तत्र गलिते को विधिः ? इत्यत आह—

मूइंगाईमक्कोडएहिं संसत्तगं च नाऊणं । गालेज्ज छब्बएणं सउणीघरएण व दवं तु ॥ ५५८ ॥

मुइंगा–कीटिका मर्कोटकाश्च तैः संसक्तं ज्ञात्वा गालयेत् 'छब्बएणं' वंशपिटकेन शकुनिगृहकेन वा गालयेत् तद् द्रवं ॥

इय आलोइयपट्ठविअगालिए मंडलीइ सट्ठाणे । सज्झायमंगलं कुणइ जाव सव्वे पडिनियत्ता ॥ ५५९ ॥

'इय'त्ति पूर्वोक्तविधिना आलोचिते सति प्रस्थापिते स्वाध्याये गलिते च पानके पुनश्च मण्डल्यां स्वस्वस्थाने उपविश्य स्वाध्यायमङ्गलं करोति–स्वाध्याय एव मङ्गलं स्वाध्यायमङ्गलं तत्करोति यावत् सर्वे साधवः प्रतिनिवृत्ता भवन्तीति । एवं यदि सहिष्णवस्ततो यौगपद्येन भुञ्जते, अथासहिष्णवस्तत्र केचिद्भवन्ति ततः को विधिरित्याह—

कालपुरिसे व आसज्ज मत्तए पक्खिवित्तु तो पढमा । अहवावि पडिग्गहगं मुयंति गच्छं समासज्ज ॥ ५६० ॥

स चासहिष्णुर्ग्रीष्मकालाद्यङ्गीकृत्य भवति, तत एव वा पुरुषः कदाचित् क्षुधार्त्तो भवति, तमाश्रित्य मात्रके प्रक्षिप्य

अच्छद्रवं नि. ५५५-५५९ प्रथमालिका नि. ५६०

॥१८४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||५६०||

दीप अनुक्रम [८६८]

भक्तं प्रथमालिका तावद्दीयते अथ बहवः क्षुधालवस्ततः पतद्ग्रहकं मुच्यते तेभ्यो रक्षणार्थं गच्छं 'समासज्ज'त्ति गच्छमल्पं बहुं वा ज्ञात्वा तदनुरूपं पतद्ग्रहं मुञ्चति । पुनश्च मिलितेषु साधुषु मण्डलीस्थविरः प्रविशति, किं कृत्वेत्यत आह—

चित्तं बालाईणं गहाय आपुच्छिऊण आयरिअं । जमलजणणीसरिच्छो निवेसई मंडलीथेरो ॥ ५६१ ॥

चित्तं बालादीनां गृहीत्वा पृष्ट्वाऽऽचार्यं मण्डलीस्थविरः प्रविशति, किंविशिष्टः ? इत्यत आह—जमलजणणीसरिच्छो 'निवेसई' उपविशति मण्डलीस्थविर इति, स च मण्डलीस्थविरो गीतार्थो रत्नाधिकोऽलुब्धश्च भवति । अनेन च पदत्रयेणाष्टौ भङ्गाः सूचिता भवन्ति, तत्र तेषां मध्ये ये शुद्धाऽशुद्धाश्च तान् प्रदर्शयन्नाह—

जइ लुद्धो राइणिओ होइ अलुद्धोवि जोवि गीयत्थो । ओमोवि हु गीयत्थो मंडलिराइणि अलुद्धो उ ॥ ५६२ ॥

यद्यसौ मण्डलीस्थविरो लुब्धो रत्नाधिकश्च ततस्तिष्ठति–न प्रविशति, अनेन च लुब्धपदेन द्वितीयचतुर्थषष्ठाष्टमा भङ्गा अशुद्धाः प्रदर्शिता भवन्ति । 'अलुद्धोवि जोवि गीयत्थो ओमोवि हु'त्ति अलुब्धोऽपि यदि गीतार्थ ओमः–लघुपर्यायः स मण्डल्यां परिविशति, अनेन च ग्रन्थेन तृतीयो भङ्गकः कथितो भवति, अयं च प्रथमभङ्गकाभावे भवति, अत्र च भङ्गके गीतार्थपदग्रहणेन यत्र यत्र भङ्गकेऽगीतार्थपदं स सर्वो दुष्टो ज्ञातव्यः । 'गीयत्थो मंडलिराइणिउत्ति अलुद्धो'त्ति यस्तु पुनर्गीतार्थो रत्नाधिकोऽलुब्धश्च स मंडल्यामुपविशति, अनेन च ग्रन्थेन प्रथमो भङ्गकः शुद्धः प्रदर्शितो भवति, सर्वथा यत्र यत्र लुब्धपदमगीतार्थपदं च स परिहार्यः, ओमराइणियपदं च यद्यगीतार्थः लुब्धपदं च न भवति

पण्डलीस्थविरः नि. ५६१-५६२

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ततोऽपवादे शुद्धं भवति, प्रथमं तु शुद्धमेव ॥ इदानीं ते मिलिताः सन्त आलोके भुञ्जन्ते, स चालोको द्विविधो–द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतः प्रदीपादिः, भावतः सप्तप्रकारस्तं दर्शयन्नाह—

ठाणदिसिपगासणया भायणपक्खेवणा य भावगुरू । सो चेव य आलोगो णाणत्तं तदिसा ठाणे ॥ ५६२ ॥

स्थानं वक्तव्यं उपविशने दिग् वक्तव्या प्रकाशमुखे भाजने भोक्तव्यं, भाजनक्रमो वक्ष्यमाणः, प्रक्षेपणं वदने वक्तव्यं, भावालोको वक्तव्यः, गुरुर्वक्तव्यः, स एवालोकः पूर्वोक्तः, नानात्वं त्वत्र यदि परं दिशः स्थानस्य च, अत्र दिक्पदमन्यथा वक्ष्यति स्थानं च ॥ इदानीं भाष्यकारः स्थाननानात्वं दर्शयति, तत्र स्थानव्याख्यानार्थमाह—

निक्खमपवेस मोत्तुं पढमससुद्दिस्सगाण ठायंति । सज्झाए परिहाणी भावासन्नेवमाईया ॥ २८१ ॥ (भा०)

प्रथमससुद्दिष्टानां ग्लानादीनां निर्गमप्रवेशौ मुक्त्वा उपविशन्ति, किमर्थं ?, तत्र यदि ते मार्गं रुद्ध्वा मण्डल्यां तिष्ठन्ति ततः पूर्वोक्तानां स्वाध्यायपरिहाणिर्भवति, तथा 'भावासन्नस्य' सञ्ज्ञादिवेगधारणासहिष्णोः पीडा भवति । एवमादयोऽन्येऽपि दोषाः ॥ दिग्द्वारप्रतिपादनायाह—

पुव्वमुहो राइणिओ एक्को य गुरुस्स अभिमुहो ठाइ । गिण्हइ व पणामेइ व अभिमुहो इहरहाऽवन्ना॥२८२॥ (भा०)

पूर्वाभिमुखो रत्नाधिक उपविशति मण्डल्यां, तस्यां च मण्डल्यामेकः साधुर्गुरोरभिमुख उपविशति, किमर्थं ?, कदाचित्किञ्चिद्गुरोरतिरिक्तं भवति तद् गृह्णाति दातव्यं वा किञ्चिद्भवति तद्ददाति मण्डलीस्थविरेणार्पितं, एवमर्थमभिमुख

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपविशति, इतरथा–यद्यभिमुखो नोपविशति ततोऽवज्ञा–परिभवः कृतो भवति, पृष्ठ्यादि दत्त्वोपविशति ततोऽप्यवज्ञादि-कृता दोषा भवंति ॥

जो पुण हवेज्ज खमओ अतिउच्चाओ व सो बहिं ठाइ । पढमसमुद्दिट्ठो वा सागारियरक्खणट्ठाए ॥ ५६४ ॥

यस्तु पुनः क्षपकोऽर्द्धमासादिना भवेद् अतिश्रान्तो वा प्राघूर्णकादिः स बहिर्मण्डल्यास्तिष्ठति, प्रथमसमुद्दिष्टो वा साधुः-शीघ्रतरेण येन भुक्तं स सागारिकरक्षणार्थं बहिस्तावन्मण्डल्यास्तिष्ठति ॥

एक्केक्कस्स य पासंमि मल्लयं तत्थ खेलमुग्गाले । कट्ठट्ठिए व छुब्भइ मा लेवकडा भवे वसही ॥ ५६५ ॥

तत्र च साधूनां भुञ्जानानामेकैकस्य साधोः पार्श्वे मल्लकं भवति, तत्र खेलश्लेष्म उद्गालयेत्–तस्मिन् मल्लके श्लेष्मनिष्ठी-वनं कुर्वन्ति, तथा तत्र भुञ्जतः कदाचित्कण्टकोऽस्थिखण्डं वा भवति स तत्र क्षिप्यते, अथ तु भुवि क्षिप्यतेऽस्थिकण्ट-कादि ततो वसतिर्लेपकृता–अनायुक्ता भवति, अतस्तत्परिहारार्थं मल्लकेषु क्षिप्यते । तथाऽमुमपरं भुञ्जानानां विधिं प्रतिपादयन्नाह—

मंडलिभायणभोयण गहणं सोहीय कारणुवरिते । भोयणविही उ एसो भणिओ तेलुक्कदंसीहिं ॥ ५६६ ॥

मण्डली यथारत्नाधिकतया कर्त्तव्या, भाजनानि च पूर्वं अहाकडाइं भुञ्जन्ति, भोजनं च स्निग्धमधुरं पूर्वं भोक्तव्यं, ग्रहणं च पात्रकात् कुक्कुट्यण्डकमात्रं कवलं गृह्णाति, तथा ग्रहणस्यैव शुद्धिर्वक्तव्या, अथवा शुद्धिर्भुञ्जानस्य यथा भवति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तथा वक्तव्यं, कारणे भोक्तव्यं, तथा 'उवरिए'त्ति अतिरिक्ते विधिर्वक्तव्यः। अयं भोजनविधिः सुगमः। इदानीं भाष्यकारः प्रतिपदं व्याख्यानयति, तत्राद्यावयवव्याचिख्यासयाऽऽह—

मंडलि अहराइणिआ सामायारी य एस जा भणिआ। पुव्वं तु अहाकडगा मुच्चंति तओ कमेणियरे॥२८३॥ (भा०)

मण्डली कथमुपविशति ?, अत आह—यथारत्नाधिकतया सामाचारी चात्र कार्या, एषा 'योक्ता' भणिता, कतमा ?, "ठाणदिसिपगासणया" इत्येवमादिका साऽत्रापि तथैव द्रष्टव्या । उक्तं मण्डलीद्वारम्, इदानीं भाजनद्वारप्रतिपादनायाह—'पुव्वं तु अहाकडगा' 'पूर्वं प्रथमं' 'यथाकृतानि' प्रतिकर्मरहितानि लब्धानि यानि तानि समुद्देशनार्थं मुच्यंते, एतदुक्तं भवति—प्रथममप्रतिकर्मा प्रतिग्रहको भ्राम्यते, ततः क्रमेण 'इतरे' अल्पपरिकर्मबहुपरिकर्माणि च मुच्यन्ते। 'भायण'त्ति गयं, इदानीं 'भोयण'त्ति व्याख्यायते—

निद्धमहुराणि पुव्वं पित्ताईपसमणट्ठया भुंजे। बुद्धिबलवड्ढणट्ठा दुक्खं खु विकिंचिउं निद्धं ॥ २८४ ॥ (भा०)

प्रथमार्द्धं सुगमं। किमर्थं स्निग्धमधुराणि पूर्वं भक्ष्यन्ते ?, यतो बुद्धेर्बलस्य च वर्द्धनं भवति, तथा चाह—"घृतेन वर्द्धते मेधा"इत्यादि, बलवर्द्धनं च प्रसिद्धमेव, बलेन च वृद्धेन वैयावृत्त्यादि शक्यते कर्तुं, दुःखं परिस्थापयितुं स्निग्धं–घृतादि भवति यतोऽसंयमो भवतीति ॥

अह होज्ज निद्धमहुराणि अप्पपरिकम्मसपरिकम्मेहिं। भोत्तूण निद्धमहुरे फुसिअ करे मुंचऽहागडए॥२८५॥ (भा०)

अथ भवेत् स्निग्धानि मधुराणि च द्रव्याणि अल्पपरिकर्मसु बहुपरिकर्मजनितेषु च पात्रकेषु ततः को विधिरित्यत

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आह—तान्येव भुक्त्वा स्निग्धमधुराणि ततः करान् प्रोञ्छयति प्रोञ्छयित्वा च करान् 'मुंचऽहाकडए'त्ति यथाकृतानि–अपरिकर्माणि पात्रकाणि समुद्दिशनार्थं मुच्यन्ते। 'भायण'त्ति गयं, इदानीं ग्रहणद्वारप्रतिपादनायाह—

कुक्कुडिअंडगमित्तं अहवा खुड्डागलंबणासिस्स।
लंबणतुल्ले गिण्हइ अविगियवयणो य राइणिओ ॥ २८६ ॥ (भा०)

ततः पतद्ग्रहकात्कवलं गृह्णन् कुक्कुट्यण्डकमात्रं गृह्णाति, अथवा 'खुड्डागलंबणासिस्स' क्षुल्लकेन लम्बनकेन–हस्तेन अशितुं शीलं यस्य स क्षुल्लकलम्बनाशी तत्तुल्यान् कवलान् गृह्णाति–स्वभावेनैव लघुकवलाशिनस्तुल्यान् कवलान् गृह्णाति 'अविकियवयणो य राइणिओ' अविकृतवदनो रत्नाधिकः, न भावदोषेण मुखमत्यर्थं बृहत्कवलप्रक्षेपार्थं निर्वादयति, किं तर्हि ?, स्वभावस्थेनैव मुखेनेति। अथवाऽयं ग्रहणविधिः—

गहणे पक्खेवंमि अ सामायारी पुणो भवे दुविहा। गहणं पायंमि भवे वयणे पक्खेवणा होइ ॥ २८७॥ (भा०)

'ग्रहणे' कवलादाने प्रक्षेपे च सामाचारी पुनरियं भवति द्विविधा, तत्र ग्रहणं पात्रकविषये भवेत् पात्रकात्कवलोत्क्षेपः, वदनविषयं च प्रक्षेपणं कवलस्य भवति। तत्र पात्रकात्कथं भक्षयद्भिर्गृह्यते ? इत्येतत्प्रदर्शयन्नाह—

कडपयरच्छेएणं भोत्तव्वं अहव सीहखइएणं। एगेहि अणेगेहिवि वज्जेत्ता धूमइंगालं ॥ २८८ ॥ (भा०)

तत्र कटकच्छेदेन भोक्तव्यं यथा कलिञ्जस्य खण्डलकं छित्त्वाऽपनीयते, एवमसावपि भुङ्क्ते, तथा प्रतरच्छेदेन वा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१८७॥

भोक्तव्यं तरिकाच्छेदेनेत्यर्थः, अथवा सिंहभक्षितेन, सिंहो हि किल एकदेशादारभ्य तावद्भुङ्क्ते यावत्सर्वं भोजनं निष्ठितं तच्चैकेन बहुभिर्वा भोक्तव्यं, वर्जयित्वा धूमाङ्गारकं, द्वेषरागौ वर्जयित्वेत्यर्थः । इदानीं वदनप्रक्षेपणशोधिं दर्शयन्नाह—

असुरसुरं अचवचवं अदुयमविलंबिअं अपरिसाडिं। मणवयणकायगुत्तो भुंजइ अह पक्खिवणसोहिं॥२८९॥ (भा०)

असुरसुरं भुङ्क्ते—सरडसरडं अकरिंतो 'अचवचवं' वल्कमिव चर्वयन् न चवचवावेइ, तथा 'अद्रुतम्' अत्वरितं, तथा 'अविलम्बितम्' अमन्थरं अपरिशाटि मनोवाक्कायगुप्तो भुञ्जीत, न मनसा विरूपमिति चिन्तयति, वाचा नैवं वक्ति, यदुत को इमं भक्खेइ? जो अम्हारिसो न होइ, काएण उद्धोसए मुहेण न देइ, एवं त्रिगुप्तस्य भुञ्जानस्य प्रक्षेपणशोधिर्भवति॥

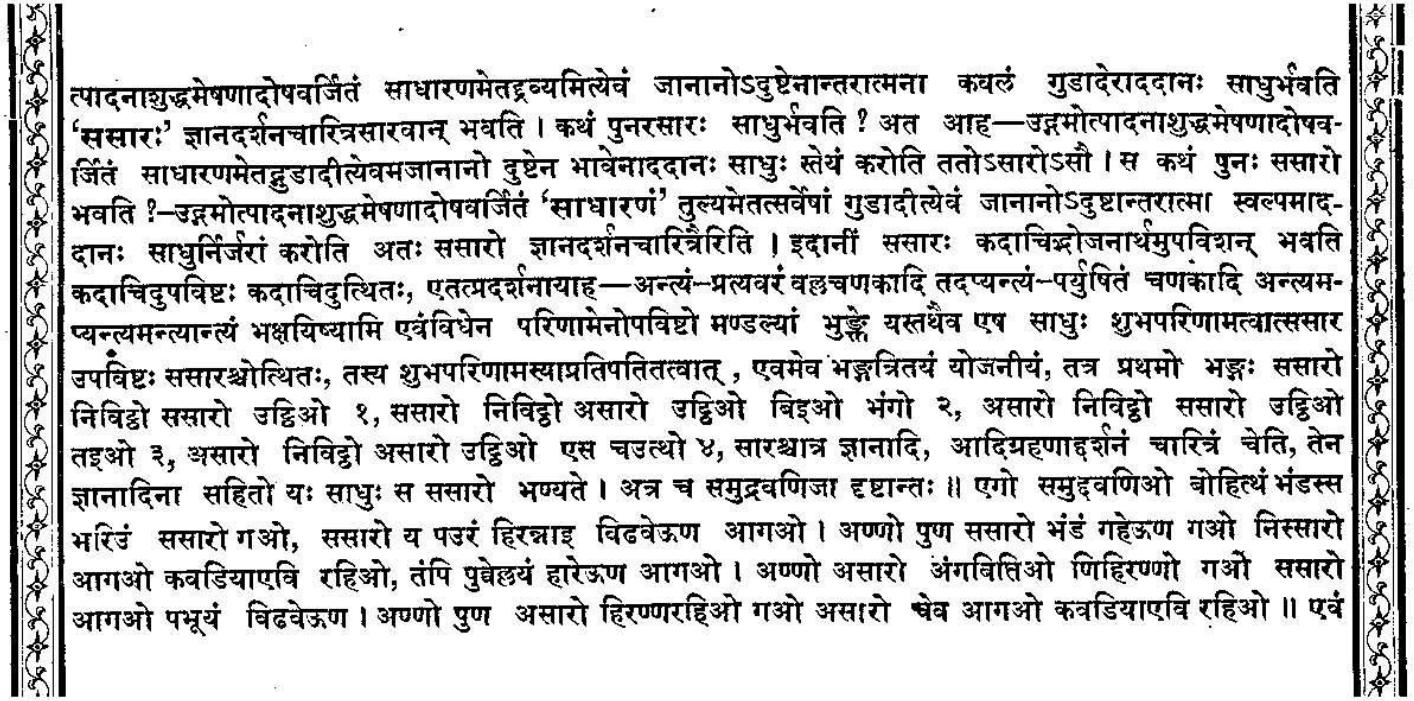
उग्गमउप्पायणासुद्धं, एसणादोसवज्जिअं । साहारणं अयाणंतो, साहू हवइ असारओ॥ ५६७ ॥
उग्गमउप्पायणासुद्धं एसणादोसवज्जिअं । साहारणं वियाणंतो, साहू हवइ ससारओ ॥ ५६८ ॥
उग्गमउप्पायणासुद्धं, एसणादोसवज्जिअं । साहारणं अयाणंतो, साहू कुणइ तेणिअं ॥ ५६९ ॥
उग्गमउप्पायणासुद्धं, एसणादोसवज्जिअं । साहारणं वियाणंतो, साहू पावइ निज्जरं ॥ ५७० ॥
अंतंतं भोक्खामित्ति बेसए भुंजए य तह चेव । एस ससारनिविट्ठो ससारओ उट्ठिओ साहू ॥ ५७१ ॥
एमेव य भंगतिअं जोएयव्वं तु सारनाणाई । तेण सहिओ ससारो समुद्दवणिएण दिट्ठंतो ॥ ५७२ ॥

उद्गमशुद्धं उत्पादनाशुद्धं एषणादोषवर्जितं 'साधारणं' सामान्यं गुडादि अजानानः—अतिमात्रं दुष्टेन भावेन आददानः योऽसौ पतद्ग्रहो भ्रमति तस्मात् साधुः 'असारकः' अप्रधानज्ञानदर्शनचारित्राण्यङ्गीकृत्यासारः स भवति । तथा उद्गमो-

ग्रहणविधिः भा. २८६-२८९ संसाररासारते नि. ५६७-५७२

॥१८७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



त्पादनाशुद्धमेषणादोषवर्जितं साधारणमेतद्द्रव्यमित्येवं जानानोऽदुष्टेनान्तरात्मना कवलं गुडादेराददानः साधुर्भवति 'ससारः' ज्ञानदर्शनचारित्रसारवान् भवति । कथं पुनरसारः साधुर्भवति ? अत आह—उद्गमोत्पादनाशुद्धमेषणादोषवर्जितं साधारणमेतद्गुडादीत्येवमजानानो दुष्टेन भावेनाददानः साधुः स्तेयं करोति ततोऽसारोऽसौ । स कथं पुनः ससारो भवति ?–उद्गमोत्पादनाशुद्धमेषणादोषवर्जितं 'साधारणं' तुल्यमेतत्सर्वेषां गुडादीत्येवं जानानोऽदुष्टान्तरात्मा स्वल्पमाददानः साधुर्निर्जरां करोति अतः ससारो ज्ञानदर्शनचारित्रैरिति । इदानीं ससारः कदाचिद्भोजनार्थमुपविशन् भवति कदाचिदुपविष्टः कदाचिदुत्थितः, एतत्प्रदर्शनायाह—अन्त्यं–प्रत्यवरं वल्लचणकादि तदप्यन्त्यं–पर्युषितं चणकादि अन्त्यमप्यन्त्यमन्त्यान्त्यं भक्षयिष्यामि एवंविधेन परिणामेनोपविष्टो मण्डल्यां भुङ्क्ते यस्तथैव एष साधुः शुभपरिणामत्वात्ससार उपविष्टः ससारश्चोत्थितः, तस्य शुभपरिणामस्याप्रतिपतितत्वात् , एवमेव भङ्गत्रितयं योजनीयं, तत्र प्रथमो भङ्गः ससारो निविट्ठो ससारो उट्ठिओ १, ससारो निविट्ठो असारो उट्ठिओ बिइओ भंगो २, असारो निविट्ठो ससारो उट्ठिओ तइओ ३, असारो निविट्ठो असारो उट्ठिओ एस चउत्थो ४, सारश्चात्र ज्ञानादि, आदिग्रहणाद्दर्शनं चारित्रं चेति, तेन ज्ञानादिना सहितो यः साधुः स ससारो भण्यते । अत्र च समुद्रवणिजा दृष्टान्तः ॥ एगो समुद्दवणिओ बोहित्थं भंडस्स भरिउं ससारो गओ, ससारो य पउरं हिरन्नाइ विढवेऊण आगओ । अण्णो पुण ससारो भंडं गहेऊण गओ निस्सारो आगओ कवडियाएवि रहिओ, तंपि पुवेल्लयं हारेऊण आगओ । अण्णो असारो अंगबित्तिओ णिहिरण्णो गओ ससारो आगओ पभूयं विढवेऊण । अण्णो पुण असारो हिरण्णरहिओ गओ असारो चेव आगओ कवडियाएवि रहिओ ॥ एवं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||५७२||

दीप अनुक्रम [८८९]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१८८॥

साधोरपि सारासारयोजना कर्त्तव्या वणिग्न्यायेन ॥ एवं तेषां भुञ्जानानां यदि पतद्ग्रहको भ्रमन्नेवार्द्धपथे निष्ठां याति तदा को विधिरित्यत आह—

जत्थ पुण पडिग्गहगो होज्ज कडो तत्थ छुब्भए अन्नं । मत्तगगहिउद्धरिअं पडिग्गहे जं असंसट्ठं ॥ ५७३ ॥
जं पुण गुरुस्स सेसं तं छुब्भइ मंडलीपडिग्गहके । बालादीण व दिज्जइ न छुब्भई सेसगाणऽहिअं ॥ ५७४ ॥
सुक्कोल्लपडिग्गहगे विआणिआ पक्खिवे दवं सुक्के । अभत्तट्ठिआण अट्ठा बहुलंभे जं असंसट्ठं ॥ ५७५ ॥

यत्र पुनर्भुञ्जानानां पतद्ग्रहको 'भवेत् कडो'त्ति निष्ठितभक्तो जातः साधुपर्यन्तमप्राप्त एव, तत्र किं कर्त्तव्यमित्यत आह—'तत्र'तस्मिन्निष्ठितभक्ते पतद्ग्रहकेऽन्यद्भक्तं प्रक्षिप्यते, ततश्च यस्मिन् साधौ स निष्ठितः पतद्ग्रहस्तत आरभ्य तेनैव क्रमेण पुनर्भ्राम्यते, मात्रके वा यद्बालादीनां प्रायोग्यं गृहीतमासीत् तदिदानीं उद्धरितं तदसंसृष्टं पतद्ग्रहे क्षिप्त्वा पतद्ग्रहो यस्मिन् साधौ निष्ठितस्तस्मादारभ्य पुनर्भ्राम्यते । यत्पुनर्गुरोः शेषं भुञ्जानस्य जातं तत्संसृष्टमपि प्रक्षिप्यते मण्डलीपतद्ग्रहके, बालादीनां वा दीयते तदाचार्योद्धरितं, यत् पुनराचार्यव्यतिरिक्तानामुद्धरितम्–अधिकं जातं तन्न प्रक्षिप्यते मण्डलीपतद्ग्रहके संसृष्टं सत् । किञ्च, 'सुक्क'त्ति एकः शुष्केण भक्तेन पतद्ग्रहः, अपरः 'उल्ल'त्ति आर्द्रेण भक्तेन पतद्ग्रहः, एवं विज्ञाय ततः प्रक्षिपेद् द्रवं शुष्कभक्तपतद्ग्रहे, येन तोयप्रक्षेपेण संजातबन्धं तद्भक्तं सुखेनैव कवलैर्गृह्यते, अथ बहुलाभः संजातः–प्रचुरं लब्धं गुडादि ततोऽसंसृष्टमेव ध्रियते, किमर्थम् ?, अभक्तार्थिकानामर्थे येन मनोज्ञं भवेत् । उक्ता ग्रहणशुद्धिः, अधुना भुञ्जानस्य शोधिरुच्यते, सा चतुर्धा, एतदेवाह—

आहारार्पणादिः नि. ५७३-५७५

॥१८८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सोही चउक्कभावे विगइंगालं च विगयधूमं च । रागेण सयंगालं दोसेण सधूमगं होइ ॥ ५७६ ॥
जत्तासाहणहेउं आहारेंति जवणट्ठया जइणो । छायालीसं दोसेहिं सुपरिसुद्धं विगयरागा ॥ ५७७ ॥
हियाहारा मियाहारा, अप्पाहारा य जे नरा । न ते विज्जा तिगिच्छंति, अप्पाणं ते तिगिच्छगा ॥ ५७८ ॥

शुद्धौ चतुष्कं भवति नामस्थापनाद्रव्यभावरूपं, तत्र नामस्थापने सुगमे, द्रव्यशोधिः पूर्ववत्, भावविषया पुनः शोधिः विगताङ्गारं विगतधूमं च भुञ्जानस्य भावशोधिर्भवति, कथं सागारं कथं वा सधूमं भवतीति ?, एतदेवाह–'रागेण' इत्यादि सुगमं ॥ 'चारित्रयात्रासाधनार्थं' धर्मसाधननिमित्तमाहारयन्ति यापनार्थं–शरीरसंधारणार्थं मुनयः षट्चत्वारिंशद्दोषैः सुपरिशुद्धमाहारयन्ति, के च ते ?, षोडशोद्गमदोषाः षोडशोत्पादनादोषाः दशैषणा दोषाः संजोयणा पमाणं सांगारं सधूमगं चेत्येते षट्चत्वारिंशत्, एभिर्विशुद्धं सद् विगतरागा आहारयन्ति ॥ सिलोगो सुगमः । उक्तो भुञ्जनविधिः, 'कारणे'त्ति द्वारं व्याख्यानयन्नाह—

छण्हमन्नयरे ठाणे, कारणंमि उ आगए । आहारेज्ज(उ) मेहावी, संजए सुसमाहिए ॥ ५७९ ॥
वेयणवेयावच्चे इरियट्ठाए य संजमट्ठाए । तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचिंताए ॥ ५८० ॥
नत्थि छुहाए सरिसया वेयण भुंजेज्ज तप्पसमणट्ठा । छाओ वेयावच्चं न तरइ काउं अओ भुंजे ॥२९०॥ (भा०)
इरियं नवि सोहेइ पेहाईयं च संजमं काउं । थामो वा परिहायइ गुणणुप्पेहासु य असत्तो ॥ २९१ ॥ (भा०)

षण्णां स्थानानामन्यतरस्मिन् स्थाने–कारणे आगते सति आहारयेन्मेधावी संयतः सुसमाहितः । कानि च तानि षट्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||५८०||

दीप अनुक्रम [८९७]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१८९॥

स्थानानि ? इत्यत आह—वेदना–क्षुद्वेदना तत्प्रशमनार्थं भुङ्क्ते, तथा वैयावृत्त्यार्थं तथा ईर्यापथिकाशोधनार्थं तथा संयमार्थं स च पेहोपेहपमज्जणादिलक्षणः, तथा 'पाणवत्तियाए' प्राणसंधारणार्थं, षष्ठं पुनर्धर्मचिन्तार्थं भुङ्क्ते । अधुनैतां गाथां भाष्यकृत्प्रतिपदं व्याख्यानयति, आद्यावयवं तावदाह–नास्ति क्षुत्सरिसी वेदनाऽतो भुञ्जीत तत्प्रशमनार्थं । दारं । 'छाओ'त्ति बुभुक्षितो वैयावृत्त्यं कर्तुं न शक्नोति अतो भुङ्क्ते । दारं ॥ ईर्यापथिकां बुभुक्षितो न शोधयति यतोऽतस्तच्छोधनार्थं भुङ्क्ते । दारं । तथा 'पेहाईयं व'त्ति 'पेहोपेहपमज्जण' इत्यादिकं संयमं बुभुक्षितः कर्तुं न शक्नोति यतोऽतो भुङ्क्ते । दारं । 'थामो वा' प्राणस्तस्य परिहानिर्भवति यदि न भुङ्क्ते अतस्तदर्थं भुञ्जीत । दारं । तथा गुणनं पूर्वपठितस्य अनुप्रेक्षा–चिन्तनं ग्रन्थार्थयोः एतदसौ कर्तुमसमर्थः सन् भुङ्क्ते । दारं ॥

अहवा न कुज्ज आहारं, छहिं ठाणेहिं संजए । पच्छा पच्छिमकालंमि, काउं अप्पक्खमं खमं ॥ ५८१ ॥
आयंके उवसग्गे तितिक्खया बंभचेरगुत्तीए । पाणदयातवहेउं सरीरवोच्छेयणट्ठाए ॥ २९२ ॥ (भा०)
आयंको जरमाई राया सन्नायगा व उवसग्गा । बंभवयपालणट्ठा पाणदयावासमहियाई ॥ २९३ ॥ (भा०)
तवहेउ चउत्थाई जाव छउम्मासिओ तवो होइ । छट्ठं सरीरवोच्छेयणट्ठया होयणाहारो ॥ २९४ ॥ (भा०)
एएहिं छहिं ठाणेहिं, अणाहारो य जो भवे । धम्मं नाइक्कमे भिक्खू, झाणजोगरओ भवे ॥ ५८२ ॥

अथवा न कुर्यादेवाहारमेभिः षड्भिः स्थानैर्वक्ष्यमाणलक्षणैः । तत्र निर्युक्तिकार एव षष्ठं पदं व्याख्यानयन्नाह–'पच्छा पच्छिमकालंमि' पश्चिमकाले–संलेखनाकाले 'आत्मक्षमाम्' आत्महितां क्षमां–क्षान्तिमुपशमं कृत्वा ततः पश्चात्–सुखेन

भोजनशुद्धिः नि. ५७६-५७८ आहार कारणानि नि. ५७९-५८० भा. २९०-२९१ अनाहारकारणानि नि. ५८१-५८२ भा. २९२-२९४

॥१८९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||५८२||

दीप अनुक्रम [९०३]

शरीरपरिकर्मानन्तरं सर्वाहारं मुञ्चतीति ॥ इदानीं भाष्यकार एव एतानि षट् स्थानानि प्रदर्शयन्नाह—'आतङ्कः' ज्वरादिर्वेक्ष्यते, तथा 'उपसर्गः' राजादिजनितः, एतेषां 'तितिक्षार्थं' सहनार्थं न भोक्तव्यं, तथा ब्रह्मचर्यगुप्त्यर्थं च न भोक्तव्यं, तथा तपोऽर्थं शरीरव्यवच्छेदार्थं च न भोक्तव्यमिति । इदानीं भाष्यकारः प्रतिपदं व्याख्यानयति, तत्राद्यावयवव्याचिख्यासयाऽऽह—आतङ्को–ज्वरादिः, आदिग्रहणादन्यो व्याधिर्यत्र भोजनं न पथ्यं तदर्थं न भुङ्क्ते । दारं । राज्ञा राजकुलधारणादिरूपो यद्युपसर्गः कृतः, सणायगो वा–स्वजनः यदि उन्निष्क्रमणार्थमुपसर्गं करोति ततो न भुङ्क्ते । दारं । ब्रह्मव्रतपालनार्थं न भुङ्क्ते, यतो बुभुक्षितस्योन्मादो न भवति । दारं । तथा प्राणदयार्थं न भुङ्क्ते, यदि वर्षति महिका वा निपतति । दारं ॥ तपोऽर्थं न भुङ्क्ते, तच्च चतुर्थादि यावत्षण्मासास्तावत्तपो भवति तदर्थं न भुङ्क्ते । दारं । षष्ठं शरीरस्य व्यवच्छेदार्थमनाहारः साधुर्भवतीति ॥ एभिः पूर्वोक्तैः षड्भिः स्थानैरनाहारो यो भवति स धर्मं नातिक्रामति भिक्षुरतो ध्यानयोगरतेन भवितव्यमिति । अथेदमुक्तं षड्भिः कारणैराहार आहारयितव्यः षड्भिश्च कारणैर्नाहारयितव्यस्ततः किमेतद्भोजनमपवादपदं ?, उच्यते ?, अपवादपदमेवैतद्, यतः—

भुंजंतो आहारं गुणोवयारं सरीरसाहारं । विहिणा जहोवइट्ठं संजमजोगाण वहणट्ठा ॥ ५८३ ॥

भुञ्जन्नाहारं, किंविशिष्टं ?–'गुणोपकारं' ज्ञानदर्शनचारित्रगुणानामुपकारकं, तथा शरीरस्य साधारकमाहारं भुञ्जन् विधिना–ग्रासैषणाविशुद्धं 'यथोपदिष्टम्' आधाकर्मादिरहितं 'संयमयोगानां' संयमव्यापाराणां वहनार्थं भुञ्जन्नपवाद-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१९०॥

पदस्थ एव भुङ्क्ते नान्यथा । इदानीं समुद्दिष्टे सति संलिहनकल्पः कर्त्तव्यः–भिक्षाभक्तविलिप्तानां पात्रकाणां संलिहनं कर्त्तव्यमित्यर्थः, स च—

भत्तट्ठियावसेसो तिलंबणा होइ संलिहणकप्पो । अपहुप्पन्ते अन्नं छोढुं ता लंबणे ठवए ॥ ५८४ ॥
संदिट्ठा संलिहिउं पढमं कप्पं करेइ कलुसेणं । तं पाउं सुहमासे बितियच्छद्दवस्स गिण्हंति ॥ ५८५ ॥
दाऊण बितियकप्पं बहिआ मज्झट्ठिओ उ दवहारी । तो देंति तइयकप्पं दोण्हं दोण्हं तु आयमणं ॥ ५८६ ॥

भुक्तानामवशेषो यः स संलेखनकल्पः कर्त्तव्यः, स चावशेषो न ज्ञायते कियत्प्रमाणः ? अत आह–'त्रिलम्बनः' त्रिकवलः कवलत्रयप्रमाणो भुक्तावशेषः संलेखनकल्पः कर्त्तव्यः, यदा तु त्रिकवलप्रमाणः संलेखनकल्पो न भवति तदाऽपर्याप्यमाणेऽन्यदपि तस्मिन् पात्रके भक्तं प्रक्षिप्य ततस्त्रीन् कवलान् स्थापयति । 'सन्दिष्टाः' भुक्ताः सन्तः संलिह्य पात्रकाणि पुनश्च प्रथमं कल्पं ददति कलुषोदकेन, पुनश्च तत्पीत्वा 'मुहमासो'त्ति मुखस्य परामर्शः–प्रमार्जनं कुर्वन्तीति, पुनश्च द्वितीयकल्पार्थमच्छस्य द्रवस्य ग्रहणं कुर्वन्तीति, गृहीत्वाऽथ कल्पार्थमच्छद्रवं मण्डल्या उत्थाय बहिः पात्रकप्रक्षालनार्थं गच्छन्ति । तत्र दत्त्वा द्वितीयकल्पं 'बाह्यतः' पात्रकप्रक्षालनभूमौ, ते च मण्डल्याकारेण तत्रोपविशन्ति, तेषां मध्ये स्थितो द्रवधारी भवति, स च पात्रकप्रक्षालनं सर्वेषामेव प्रयच्छतीति, ततो ददति ते साधवः पात्रकाणां तृतीयं कल्पं, पुनश्च पात्रकप्रक्षालनानन्तरं 'दोण्हं दोण्हं व आयमणं'ति द्वयोर्द्वयोः साध्वोर्मात्रकेषु 'आचमनार्थं' निर्लेपनार्थमुदकं प्रयच्छतीति । एष तावदनुद्धरिते भक्ते विधिरुक्तः, यदा तु पुनरुद्धरितं भक्तं भवति तदा को विधिरित्यत आह—

आहारस्यापवादता नि. ५८३ पात्रकल्पः नि. ५८४-५८६

॥१९०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होज्ज सिआ उद्धरियं तत्थ य आयंबिलाइणो हुज्जा । पडिदंसि अ संदिट्ठो वाहरइ तओ च उत्थाई ॥ ५८७ ॥
मोहचिगिच्छविगिट्ठं गिलाण अत्तट्ठियं च मोत्तूणं । सेसे गंतुं भणई आयरिआ वाहरंति तुमं ॥ ५८८ ॥
अपडिहणंतो आगंतु वंदिउं भण इ सो उ आयरिए । संदिसह भुंज जं सरति तत्तियं सेस तस्सेव ॥ ५८९ ॥
अभणंतस्स उ तस्सेव सेसओ होइ सो विवेगो उ । भणिओ तस्स उ गुरुणा एसुवएसो पवयणस्स ॥ ५९० ॥
भुत्तंमि पढमकप्पे करेमि तस्सेव देंति तं पायं । जावतिअंतिअ भणिए तस्सेव विगिंचणे सेसं ॥ ५९१ ॥

'भवेत्' स्यात् कदाचिदुद्धरितं 'तत्र' साधूनां मध्ये कदाचित्केचिदाचाम्लादयो भवन्ति आदिग्रहणादभक्तार्थिको वा कश्चिद्गवेत्ततस्तदुद्धरितं भक्तं रत्नाधिक आचार्याय दर्शयति, पुनश्च प्रदर्शिते भक्ते गुरुणा च 'सन्दिष्टः' उक्तः यदुत आह्वयाचाम्लादीन् साधून् येन तेभ्यो दीयते, पुनश्चासौ रत्नाधिकः सन्दिष्टः सन् चतुर्थादीन् साधून् व्याहरति । स च व्याहरन्नेतान्न व्याहरति, मोहचिकित्सार्थं य उपवासिकः स्थितस्तं न व्याहरति, तथा विकृष्टतपसं साधुं न व्याहरति, विकृष्टतपश्चाष्टमादारभ्य भवति, तस्य कदाचिद्देवता प्रातिहार्यं करोति अतस्तस्य न दीयते, ग्लानश्च ज्वरादिना तं च न व्याहरति, आत्मलब्धिकं च न व्याहरति, एताननन्तरोदितान् साधून् मुक्त्वा शेषान् गत्वा भणति, यदुत आचार्या व्याहरन्ति युष्मान्, तेषां च मध्ये यश्चतुर्थादिक आकारितः स आकर्ण्य किं करोति ? इत्याह—अनतिलङ्घयन् गुरोराज्ञामागत्य वन्दित्वा भणति तमाचार्यं यदुत—संदिशत यूयं, आचार्योऽपि भणति—भुञ्जीत, सोऽपि भणति—जं सरति तत्तिअं भुञ्जामि, शेषं यदुद्धरितं तत्तस्यैव यस्य सत्कः प्रतिग्रहकः, पुनश्च स एव परिष्ठापयतीति अथासौ साधुरेवं न भणति यदुत 'जं सरइ तत्तिअं' ततस्तस्य एवमभणत-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ॥५८०॥

दीप अनुक्रम [९१३]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१९१॥

स्तस्यैव यच्छेषं भक्तमुद्धरितं तद्भवति, स एव 'विवेचकः' परिष्ठापक इत्यर्थः, भणिते तु एवं "जावइयं सरइ तावइयं सरामी"ति, ततस्तस्यैव साधोर्यस्य सत्कः पतद्ग्रहकः तस्यैव गुरुणा पतद्ग्रहकः समर्पणीयः पुनः स एव कल्पं ददाति। अयं प्रवचनस्य पूर्वोक्त उपदेशः। अथ यदुद्धरितं तत्सर्वं भुङ्क्ते, ततस्तस्मिन् भुक्ते सति तस्य पात्रकस्य प्रथमकल्पं ददाति, कृते च तस्मिन् प्रथमकल्पे तस्यैव साधोर्यस्य सत्कः पतद्ग्रहकस्तस्यैव तत्पात्रकं 'ददाति' समर्पयतीत्यर्थः, अथैतन्न ब्रूते यदुत जावइयं सरइ तावइयं सारेमित्ति, ततः जावतिअंति अभणिते सति तस्यैव साधोर्यः परिस्थापनिकभोक्ता तस्यैव यदुद्धरितं शेषं तत्परित्याज्यं भवति। इदं च पूर्वोक्तस्यैव व्याख्यानं द्रष्टव्यं न तु पुनरुक्तमिति। कीदृशं पुनश्चतुर्थोपवासिकादेः परिष्ठापनिकं कल्पते?, अत आह—

विहिगहिअं विहिभुत्तं अइरेगं भत्तपाण भोत्तव्वं। विहिगहिए विहिभुत्ते एत्थ य चउरो भवे भंगा ॥ ५९२ ॥
उग्गमदोसाइजढं अहवा बीअं जहिं जहापडिअं। इय एसो गहणविही असुद्धपच्छायणे अविही ॥२९५॥ (भा०)

कागसियालक्खइयं दविअरसं सव्वओ परामट्ठं।
एसो उ भवे अविही जहगहिअं भोयणंमि(भुंजओ य) विही ॥ ५९३ ॥
उच्चिणइ य विट्ठाओ कागो अहवावि विक्खिरइ सव्वं।
विप्पेक्खइ य दिसाओ सियालो अन्नोन्नहिं गिण्हे ॥ २९६ ॥ (भा०)

सुरहीदोचंगट्ठा छोढूण दवं तु पियइ दवियरसं। हेट्ठोवरि आमट्ठं इय एसो भुंजणे अविही ॥ २९७ ॥ (भा०)
जह गहिअं तह नीयं गहणविही भोयणे विही इणमो। उक्कोसमणुक्कोसं समकयरसं तु भुंजेज्जा ॥२९८॥ (भा०)

उद्धृतस्यविभाजनं नि. ५८७-५९१ पारिष्ठापनिकाविधिः नि.५९२-५९३ भा २९५-३००

॥१९१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तइएवि अविहिगहिअं विहिभुत्तं तं गुरूहिऽणुन्नायं। सेसा नाणुन्नाया गहणे दत्ते य निज्जुहणा॥२९९॥ (भा०)
अहवावि अकरणाए उवट्ठियं जाणिऊण कल्लाणं। घट्टेउं दिंति गुरू पसंगविणिवारणट्ठाए॥ ३००॥ (भा०)

विधिनोद्गमदोषादिरहितं सारासारविभागेन च यन्न कृतं पात्रके तद्विधिगृहीतं, तथा 'विधिभुक्तं' कटकच्छेदेन प्रतरच्छेदादिना वा यद्भुक्तं तद्विधिभुक्तमुच्यते, तदेवंविधं विधिगृहीतं विधिभुक्तं च यद्यदतिरिक्तं संजातं भक्तं पानकं वा तद्भोक्तव्यं–परिष्ठापनकं कल्पते, अत आह प्रकारान्तरेण–अत्र च विधिगृहीते विधिभुक्ते चास्मिन् पदद्वये चत्वारो भङ्गका भवन्ति, तद्यथा–विहिगहिअं विहिभुत्तं एगो भंगो, विहिगहिअं अविहिभुत्तं बिइओ, अविहिगहिअं विहिभुत्तं तइओ, अविहिगहिअं अविहिभुत्तं चउत्थो॥ इदानीं भाष्यकारो विधिगृहीताविधिगृहीतयोः स्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—उद्गमदोषादिभिर्जर्जरं–त्यक्तं यत्तद्विधिगृहीतं, अथवा यद्धरतु मण्डकादि यथैव यस्मिन् स्थाने पतितं भवति तत्तथैवास्ते नतु समारयति इत्येष ग्रहणविधिः। 'असुद्धपच्छायणे अविही' अशुद्धस्य–उद्गमादिदोषान्वितस्य यद्ग्रहणं इदमविधिग्रहणं, अथवा गुडादेर्द्रव्यस्य मण्डकादिना प्रच्छाद्य यदेकत्र पात्रकदेशे स्थापनं तदविधिग्रहणमुच्यते। इदानीमविधिविधिभोजनयोः स्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—काकभुक्तं शृगालभुक्तं द्रावितरसमित्यर्थः 'सर्वतः परामृष्टम्' उत्थल्लपत्थल्लणेण भुक्तं 'एसो उ भवे अविही' इदं पूर्वोक्तमविधिना भुक्तमुच्यते, यथैव गृहीतं पात्रके तथैव भुञ्जतो विधिभुक्तमुच्यते। अधुना भाष्यकृद् व्याख्यानयति, तत्राद्यावयवप्रतिपादनायाह—यथा काक उच्चित्योच्चित्य विष्ठादेर्मध्याद्धल्लादि भक्षयति एवमसावपि, अथवा विकिरति काकवदेव सर्वं, तथा काकवदेव कवलं प्रक्षिप्य मुखे दिशो विप्रेक्षते, तथा शृगाल इवान्य-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

त्रान्यत्र प्रदेशे भक्षयति । सुरभि यद् 'दोचंगं'तीमनं ओदनादिना सह यन्मिश्रीभूतं तत्र द्रवं प्रक्षिप्य यो निर्यासः संजातस्तत्पिबनं यत्तद् द्रवितरसमुच्यते । तथाऽधस्तादुपरि च यद् 'आमट्ठं' विपर्यासीकृतं भुङ्क्ते तदेतत्परामर्दं, अयमेष भोजनेऽविधिः । कः पुनर्ग्रहणभोजनयोर्विधिः ? इत्यत आह—यथैव गृहीतं–गृहस्थेन दत्तं सत्तत्थैवानीतं यदयं ग्रहणविधिः, भोजने पुनरयं विधिः–यदुतोत्कृष्टद्रव्यमनुत्कृष्टद्रव्यं च समीकृतरसं भुञ्जीतेत्ययं प्रथमो भङ्गकः शुद्ध इति । तृतीयेऽपि भङ्गकेऽविधिना असामाचार्या गृहीतं विधिना भुक्तं–समीकृतरसं सद् भुक्तं तच्च गुरुणाऽनुज्ञातं, शेषौ तु द्वौ भङ्गकौ नानुज्ञातौ, यस्तु विधिगृहीतमविधिभुक्तं काकशृगालादिरूपं भक्तं ददाति योऽपि गृह्णाति तयोर्द्वयोरपि 'निज्जुहणा' निर्द्धारणं क्रियते, तथाऽविधिगृहीतमविधिभुक्तं च यो ददाति गृह्णाति वा तयोर्द्वयोरपि निर्द्धारणं क्रियत इति । अथवा एतद्दोषाकरणतया–अनासेवनया उपस्थितं दातारं ग्रहीतारं च ज्ञात्वा संगोपायनं क्रियते, कल्याणकं च गुरवो ददति, तच्च ददति 'घट्टयित्वा' तिरस्कृत्य, यदुत त्वया पुनरेवं न कर्त्तव्यं, स चैवं गुरुः किंनिमित्तं करोतीत्यत आह—'पसंगविणिवारणट्ठाए' प्रसङ्गस्य–पुनरासेवनस्य निवारणार्थमेवं करोतीति ।

घासेसणा य एसा कहिया भे ! धीरपुरिसपन्नत्ता । संजमतवङ्गाणं निग्गंथाणं महरिसीणं ॥ ३०१ ॥ (भा०)
एयं घासेसणविहिं जुंजंता चरणकरणमाउत्ता । साहू खवंति कम्मं अणेगभवसंचियमणंतं ॥ ३०२ ॥ (भा०)
एत्तो परिट्ठवणविहिं वोच्छामि धीरपुरिसपन्नत्तं ।
जं नाऊण सुविहिया करेंति दुक्खक्खयं धीरा ॥ ३०३ ॥ (भा०)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ पारिष्ठापनिका विधिः वर्णयते

सुगमाः ॥ इदानीं उवरिएत्ति द्वारं भण्यते, अथवा स्वयमेव भाष्यकारः संबन्धं प्रतिपादयन्नाह—

भत्तट्ठिअ उवरिअं अहव अभत्तट्ठियाण जं सेसं । संबंधेणाणेण उ परिठावणिआ मुणेयव्वा ॥ ३०४ ॥ (भा०)

भक्तार्थिकानां च भुक्तानामुद्धरितं यद् अथवा अभक्तार्थिकानां भुक्तानां पारिष्ठापनिकभोक्तृणां यदुद्धरितं—यच्छेषं तत्परिष्ठापनीयमितिकृत्वा अनेन सम्बन्धेन परिष्ठापनिका विज्ञेया भवतीत्यर्थः ।

सा पुण जायमजाया जाया मूलोत्तरेहि उ असुद्धा । लोभातिरेगगहिया अभिओगकया विसकया वा ॥५९४॥

सा पुनः परिष्ठापनिका जाताऽजाता भवति, तत्र जाता ग्रहणकाल एव प्राणातिपातादिदोषेण युक्ता अथवा आधाकर्मादिदोषेण 'जाता' उत्पन्ना, अजाता पुनः—आधाकर्मादिदोषेण न दूषिता या साऽजातेत्युच्यते, तत्र जातास्वरूपप्रतिपादनायाह—मूलगुणैः—प्राणातिपातादिभिरशुद्धा, तथोत्तरगुणैश्च आधाकर्मादिभिरशुद्धा, तथा लोभातिरेकेण-लोभाभिप्रायेण साधुना गृहीता साऽप्यशुद्धा लोभदोषदूषिता सती जातेत्युच्यते, तथा अभियोगकृता, अभियोगो द्विविधः—वशीकरणचूर्णो मन्त्रश्च, तत्र सा भिक्षा कदाचित् संयोजिता भवति मन्त्राभिमन्त्रिता वा साऽप्यशुद्धा, अतो जाता सा पारिष्ठापनिकेत्युच्यते, विषेण वा व्यामिश्रं भक्तं केनचिद् द्विष्टेन दत्तं भवति तस्य यत् परिष्ठापनिका सा जातापरिष्ठापनिकेति । इदानीं भाष्यकृदेनामेव गाथां व्याख्यानयति, तत्र जातापरिष्ठापनिकीस्वरूपाभिधानायाह—

मूलगुणेहिं असुद्धं जं गहिअं भत्तपाण साहूहिं ।
एसा उ होइ जाता वुच्छं सि विहीए वोसिरणं ॥ ३०५ ॥ (भा०)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१९३॥

एगंतमणावाए अचित्ते थंडिले गुरुवइट्ठे । आलोए एगपुंजं तिट्ठाणं सावणं कुज्जा ॥ ५९५ ॥
लोभातिरेगगहिअं अहव असुद्धं तु उत्तरगुणेहिं । एसावि होति जाया वोच्छं सि विहीए वोसिरणं ॥३०६॥ (भा०)
एगंतमणावाए अचित्ते थंडिले गुरुवइट्ठे । आलोए दुन्नि पुंजा तिट्ठाणं सावणं कुज्जा ॥ ५९६ ॥

मूलगुणैः प्राणातिपातादिभिरशुद्धं यद्गृहीतं भक्तं पानकं वा साधुभिरियं जाताऽभिधीयते, वक्ष्ये 'अस्याः' जातायाविधिना 'व्युत्सर्जनं' परित्यागं । सा च जाता एवंविधे स्थण्डिले परिष्ठापनीया—एकान्ते 'अनापाते' लोकापातरहिते अचित्ते स्थण्डिले गुरूपदिष्टे "अणावायमसंलोए" इत्येवमादिके 'आलोगे' समे भूभागे न गर्त्तादौ यत्र प्राघूर्णकादयः सुखेन पश्यन्ति, तत्र च तस्य भक्तस्य एकः 'पुंजः' राशिः क्रियते, पुनश्च 'त्रिस्थानं' तिस्रो वाराः श्रावणं करोति–व्युत्सृष्टं व्युत्सृष्टं व्युत्सृष्टमिति, तच्च त्रिस्थानं श्रावणं करोति त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन व्युत्सृष्टमित्यस्य ज्ञापनार्थमिति । यत्पुनः साधुना लोभातिरेकेण गुडादिद्रव्यं मूर्च्छया गृहीतं अथवा यदशुद्धमुत्तरगुणैः-आधाकर्मादिभिः, इयमपि भिक्षा जातेत्युच्यते वक्ष्ये अस्या विधिना व्युत्सर्जनं–परित्यागम् । पूर्वार्द्धं सुगमं, केवलमत्र द्वौ पुञ्जौ क्रियेते–द्वौ राशीक्रियेते आलोके साधूनाम् । इदानीम् "अभिओगे"त्ति व्याख्यानयन्नाह—

दुविहो खलु अभिओगो दव्वे भावे य होइ नायव्वो । दव्वंमि होइ जोगो विज्जा मंता य भावंमि ॥ ५९७ ॥

द्विविधोऽभियोगो–द्रव्याभियोगो भावाभियोगश्च ज्ञातव्यः, तत्र द्रव्याभियोगो द्रव्यसंयोगजश्चूर्णस्तन्मिश्रः पिण्डोऽभियोगपिण्डः, स च परित्यजनीयः, भावाभियोगश्च विद्यया मन्त्रेणाभिमन्त्र्य पिण्डं ददाति स तादृशो भावाभियोगपिण्डः,

जातापारिष्ठापनिका नि. ५९४-५९७ भा. ३०४-३०६

॥१९३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स च परिष्ठापनीय इति। अत्र चागार्या दृष्टान्तः, एगा अविरइया सा अणिट्ठा पतिणो, ताए परिव्वाइया अब्भत्थिया जहा किंचि मंतेण अहिमंतेऊण मे देहि जेण पई मे वसे होइ, ताहे ताए अभिमंतेऊण कूरो दिण्णो, अविरइयाए चिंतियं, मा एसो दिण्णेण मरिज्जा ततो ताए अणुकंपाए उक्कुरुडियाए छड्डिओ, सो गद्दहेण खइओ, सो रत्तिं घरदारं खोट्टेउमारद्धो, ताणि णिग्गयाणि जाव पेच्छंति गद्दहेण खोट्टिज्जंतं, सो अविरओ भणइ–किं एयंति ?, ताए सब्भावो कहिओ, तेणवि सा परिव्वाइगा दंडाविआ, एस दोसो। एवं जदि तिरियाण एरिसा अवत्था होइ माणुसस्स पुण सुट्ठुयरं होइ, अओ, एरिसो पिंडो न घेत्तव्वो ॥ अमुमेवार्थं गाथाभिरुपसंहरन्नाह—

विज्जाए होअगारी अचियत्ता सा य पुच्छए चरिअं। अभिमंतणोदणस्स उ अणुकंपणमुज्झणं च खरे॥ ५९८॥
बारस्स पिट्ठणंमि अ पुच्छण कहणं च होअगारीए। सिट्ठे चरियादंडो एवं दोसा इहंपि सिया॥ ५९९॥

विद्याभिमन्त्रिते पिण्डेऽगारी दृष्टान्तः, सा च भर्त्तुरचियत्ता–न रोचते, सा च चरिकां–परिव्राजिकां पृच्छति पत्युर्वशीकरणार्थं, तयाऽप्यभिमन्त्रणमोदनस्य कृत्वा दत्तं, तयाऽपि अगार्या पत्युर्मरणानुकम्पया न दत्तं, 'उज्झनं' परित्यागः कृतः, स चोज्झितः खरेण भक्षित इति। स च गर्दभ आगत्य द्वारं पिट्टयति मन्त्रवशीकृतः सन्, शेषं सुगमम्। एवं भावाभियोगदृष्टान्त उक्तः, इदानीं द्रव्याभियोगचूर्णे वशीकरणपिण्ड उच्यते–एगा अविरइया, सा य सरूवस्स भिक्खुणो अज्झोवण्णा अणुरत्ता, ताहे सा तं पेच्छति अणिच्छंतस्स चुण्णाभिओगेण संजोएउं भिक्खं पाडिवेसिअघरे काऊण दवाविअं, ताहे जत्थेव तस्स साहुस्स पडिग्गहगे पडिअं तत्थेव तस्स साहुस्स तओ मणो हीरइ, तेण य नायं ताहे नियत्तइ, आय-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१९४॥

रियाणं पडिग्गहगं दाउं काइयभूमिं वच्चइ जाव आयरियाणंपि तत्तोहुत्तो भावो हीरइ, ताहे सो सीसो आगंतुं आलोएइ, आयरिया भणंति–ममवि अत्थि भावो, तं एत्थं संजोगचुण्णेण कओ पिंडो अत्थि, ताहे परिठविज्जइ, जो विही परिट्ठावणे सो उवरिं भणिहिति। एवमेव विसकयंपि, एगा अगारी साहुणो अज्झोववण्णा, सो य नेच्छइ, ताहे रुट्ठाए विसेण मिस्सा भिक्खा दिण्णा, तस्स य दिण्णमेत्तेणं चेव सिरोवेयणा जाया, पडिणियत्तो य गुरुणो समप्पेऊण काइयं वोसिरइ जाव गुरुणोवि सीसवेयणा जाया, तं च गुरुणा गंधेण णायं जहा इमं विसमिस्सं, अहवा तत्थ लवणकया भिक्खा पडिया ताहे तं विसं उप्पिसति, एवं नाए विहीए परिट्ठविज्जति सा य भणीहामि ॥ इदानीममुमेवार्थं गाथाभिरुपसंहरन्नाह—

जोगंमि उ अविरइया अज्झुववन्ना सरूवभिक्खुंमि। कडजोगमणिच्छंतस्स देइ भिक्खं असुभभावे ॥६००॥
संकाए स नियट्टो दाऊण गुरुस्स काइयं निसिरे। तेसिंपि असुभभावो पच्छा उ ममापि उज्झयणा ॥६०१॥
एमेव विसकयंमिवि दाऊण गुरुस्स काइयं निसिरे। गंधाई विन्नाए उज्झगमविही सियालवहे ॥ ६०२ ॥
एवं विज्जाजोए विससंजुत्तस्स वावि गहियस्स। पाणचएवि नियमुज्झणा उ वोच्छं परिट्ठवणं ॥ ६०३ ॥
एगंतमणावाए अचित्ते थंडिले गुरुवइट्ठे। छारेण अक्कमित्ता तिट्ठाणं सावणं कुज्जा ॥ ६०४ ॥

जोगे अविरइया–गृहस्थौ दृष्टान्तः, अज्झोववण्णा सरूपे भिक्षौ, अनिच्छतस्तत्कर्म कर्तुं कृतयोगो भिक्षापिण्डो दत्तः, पुनश्च तस्य साधोर्ग्रहणानन्तरमेवाशुभभावो जातः–तदभिमुखं चित्तमिति। तया च 'शङ्कया' योगकृतभिक्षाशङ्कया स निवृत्तो भिक्षापरिभ्रमणात्। शेषं सुगमम् ॥ एवमेव विषकृतेऽपि दृष्टान्तः, गुरोः 'दत्त्वा' समर्पयित्वा कायिकां व्युत्सृ-

॥१९४॥

जाताप्रारि-ष्ठापनिका नि. ५९८-६०४

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जति, तेन च गुरुणा गन्धादिना विज्ञाते, आदिग्रहणाद् भक्तस्स उप्फंसणेण वा, 'उज्झनं' परित्यागः क्रियते तत्र विधिना, अविधिपरिष्ठापने सति शृगालादिवधो भवति । एवं विद्याभिमन्त्रितस्य योगचूर्णकृतस्य तथा विषसंयुक्तस्य गृहीतस्य सतः 'प्राणात्ययेऽपि' अत्यर्थं क्षुत्पीडायामपि सत्यां नियमेन–अवश्यमन्तयोज्झनीयं (ना कार्या) तस्य च परिष्ठापनविधिं वक्ष्ये। पूर्वार्द्धे पूर्ववत्, तद्विषादिकृतं भोजनं 'छारेण' भूत्या 'आक्रम्य' मिश्रीकृत्य चैव परिष्ठापनीयं, सुगमम् । इदानीं 'तिण्हाणं सावणं'ति व्याख्यायते—

दोसेण जेण दुट्ठं तु भोयणं तस्स सावणं कुज्जा । एवंविहवोसट्ठे वेराओ मुच्चई साहू ॥ ६०५ ॥

दोषेण येन–मूलकर्मादिना आधाकर्मादिना वा दुष्टं भोजनं भवति तस्य तिस्रो वाराः श्रावणं कर्त्तव्यं, यदुत मूलकर्मादिदोषैर्दुष्टमिति, एवमुत्तरगुणयोगमन्त्रविषकृतदुष्टानामपि तिस्रो वाराः श्रावणं करोति, एवं विधिना व्युत्सृष्टे सति 'वैरात्' कर्मणो मुच्यते साधुः, अथवा 'वैरात्' जीववधजनितान्मुच्यते साधुरिति ॥ आह–इदमुक्तं शुद्धाया भिक्षाया यत्परिष्ठापनं साऽजातापरिष्ठापनिकीत्युच्यते, ततश्च—

जावइयं उवउज्जइ तत्तिअमित्ते विगिंचणा नत्थि । तम्हा पमाणगहणं अइरेगं होज्ज उ इमेहिं ॥ ६०६ ॥

यावन्मात्रकमेषोपयुज्यते तावन्मात्रमेव भिक्षाग्रहणं कर्त्तव्यं, यदा चैवं तदा तावन्मात्रकग्रहणे 'विगिंचनं' परिष्ठापनं 'नास्ति' न भवति तस्मात्प्रमाणग्रहणमेव कर्त्तव्यं, ततश्च कुतोऽजातायाः संभवति परिष्ठापनम् ?, अतिरेकग्रहणाभावा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दिति, एवमुक्ते परेण आह सूरिः–'अइरेगं होज्ज उ इमेहिं' 'अतिरिक्तं' शुद्धमपि भक्तं 'एभिः' वक्ष्यमाणकारणैर्भवेत्, कानि च तानि वक्ष्यमाणकारणानीत्यत आह—

आयरिए य गिलाणे पाहुणए दुल्लभे सहसदाणे । एवं होइ अजाया इमा उ गहणे विही होइ ॥ ६०७ ॥

कदाचित्कस्मिंश्चित्क्षेत्रे आचार्यप्रायोग्यं दुर्लभं भवति ततश्च सर्व एव सङ्घाटका आचार्यप्रायोग्यस्य ग्रहणं कुर्वन्ति ततश्च तद् घृतादि कदाचित्सर्व एव लभन्ते ततस्तदुद्धरति, ततोऽन्येषां च साधूनां पर्यासं, एवमाचार्यार्थं गृहीतस्य शुद्धस्यापि परिष्ठापना भवति । तथा ग्लानार्थमप्येवमेव गृहीतं सदुद्धरति, प्राघूर्णकानामप्येवमेव, तथा दुर्लभलाभे सति सर्वैरेव सङ्घाटकैर्गृहीतमुद्धरति, तथा 'सहसदाणे' अप्रतर्कितदाने सति प्रचुरमुद्धरति, तत एवं भवति अजातापरिष्ठापनिका । तत्र चाचार्यादीनां ग्रहणेऽयं विधिः–वक्ष्यमाणः, कश्चासावित्यत आह—

जइ तरुणो निरुवहओ भुंजइ तो मंडलीइ आयरिओ । असहुस्स वीसुगहणं एमेव य होइ पाहुणए ॥ ६०८ ॥

केचनैवं भणंति–यद्यसावाचार्यस्तरुणो निरुपहतपञ्चेन्द्रियश्च ततोऽसौ मण्डल्यामेव भुङ्क्ते सामान्यं, अथ असहू-असमर्थस्ततस्तस्य विष्वक्–पृथग् ग्रहणं प्रायोग्यस्य कर्त्तव्यं, एवमेव प्राघूर्णकेऽपि विधिर्द्रष्टव्यः, यदि प्राघूर्णकः समर्थस्ततो नैव तत्प्रायोग्यग्रहणं क्रियते, अथासमर्थस्ततः क्रियत इति, केचित्पुनरेवं भणन्ति–यदुत समर्थस्याप्याचार्यस्य प्रायोग्यग्रहणं कर्त्तव्यं, यत एते गुणा भवन्ति—

सुत्तत्थथिरीकरणं विणओ गुरुपूय सेहबहुमाणो । दाणवतिसद्धवुड्ढी बुद्धिबलवड्ढणं चेव ॥ ६०९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आचार्यस्य प्रायोग्यग्रहणे क्रियमाणे सूत्रार्थयोः स्थिरीकरणं कृतं भवति, यतो मनोज्ञाहारेण सूत्रार्थौ सुखेनैव चिन्तयति, अत आचार्यस्य प्रायोग्यग्रहणं कर्त्तव्यं, तथा विनयश्चानेन प्रकारेण प्रदर्शितो भवति, गुरुपूजा च कृता भवति, सेहस्य चाचार्यं प्रति बहुमानः प्रदर्शितो भवति, अन्यथा सेह इदं चिन्तयति, यदुत न कश्चिदत्र गुरुर्नापि लघुरिति, अतो विपरिणामो भवति, तथा प्रायोग्यदानपतेश्च श्रद्धावृद्धिः कृता भवति, तथा बुद्धेर्बलस्य चाचार्यसत्कस्य वर्द्धनं भवति, तत्र च महती निर्जरा भवति ।

एएहिं कारणेहि उ केइ सहुस्सवि वयंति अणुकंपा । गुरुअणुकंपाए पुण गच्छे तित्थे य अणुकंपा ॥ ६१० ॥

'एभिः' पूर्वोक्तकारणैः केचित्समर्थस्याप्याचार्यस्यानुकम्पा कर्त्तव्येत्येवं वदन्ति, यतो गुरोरनुकम्पया गच्छे तीर्थे चानुकम्पा कृता भवति । यतश्चैवमतः प्रायोग्यग्रहणं ग्राह्यमिति ॥ अत आह—

सति लाभे पुण दव्वे खेत्ते काले य भावओ चेव । गहणं तिसु उक्कोसं भावे जं जस्स अणुकंपं ॥ ६११ ॥

'सति' विद्यमाने लाभे द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्चोत्कृष्टं ग्राह्यं । इदानीं निर्युक्तिकारो व्याख्यानयन्नाह— 'गहणं तिसु उक्कोसं' ग्रहणं त्रिषु द्रव्यक्षेत्रकालेषु उत्कृष्टं कर्त्तव्यं, भावे तु यद्वस्तु यस्याचार्यस्यानुकूलं तद्गृह्यते । इदानीं भाष्यकृद्व्याख्यानयति, तत्र द्रव्ये उत्कृष्टतां प्रदर्शयन्नाह—

कलमोतणो उ पयसा उक्कोसो हाणि कोद्दवुब्भज्जी । तत्थवि मिउतुप्पतरयं जत्थ व जं अचियं दोसु॥३०७॥ (भा०)

कलमशाल्योदनः पयसा सह द्रव्यमुत्कृष्टं ग्राह्यं, तदलाभे हान्या तावत् गृह्यते यावत् 'कोद्दवोभज्झी' कोद्दवजाउ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लयं, तत्राप्ययं विशेषः क्रियते यदुत तदेव जाउलयं मृदु गृह्यते, तथा 'तुप्पतरयं'ति स्निग्धतरं तदेव जाउलयं गृह्यते, उक्तं द्रव्योत्कृष्टं, इदानीं क्षेत्रकालोत्कृष्टप्रतिपादनायाह–'जत्थ व जं अच्चियं दोसु' द्वयोरिति–क्षेत्रकालयोर्यद्वस्तु यत्र पूजितं तत्तत्र गृह्यते, एतदुक्तं भवति–यद्यत्र क्षेत्रे बहुमतं द्रव्यं तत्तस्मिन् क्षेत्रे उत्कृष्टमुच्यते, तच्च ग्राह्यं, तथा यद्वस्तु यस्मिन् काले बहुमतं तत्तस्मिन् काले उत्कृष्टमुच्यते,. भावोत्कृष्टं पुनर्निर्युक्तिकारेणैव व्याख्यातं । उक्तं प्रसङ्गागतम्, इदानीं यदुक्तं आचार्यादीनां गृहीतं सद्यथोद्धरति तथा प्रतिपादयन्नाह—

लाभे सति संघाडो गेण्हइ एगो उ इहरहा सव्वे । तस्सप्पणो य पज्जत्त गेण्हणा होइ अतिरेगं ॥ ६१२ ॥

यदि तत्र क्षेत्रे घृतादीनां स्वभावेनैव लाभोऽस्ति ततस्तत्र लाभे सति आचार्यस्यैक एव सङ्घाटकः प्रायोग्यं गृह्णाति,'इहरह'त्ति यदा तत्र क्षेत्रे न प्रायोवृत्त्या प्रयोगस्य लाभः तदा सर्व एव सङ्घाटकास्तस्याचार्यस्य प्रायोग्यं पर्याश्या गृह्णन्ति, ततश्च तस्याचार्यस्यात्मनश्चार्थाय पर्याप्तग्रहणे सत्यतिरिक्तं भवति, ततश्च तत्परिष्ठाप्यत इति । इदानीं 'गिलाणे'त्तिव्याख्यानयन्नाह—

गेलन्ननियमगहणं नाणत्तोभासियंपि तत्थ भवे । ओभासियमुव्वरिअं विगिंचए सेसगं भुंजे ॥ ६१३ ॥

ग्लानस्य नियमेन प्रायोग्यग्रहणं कर्त्तव्यं, यदि परं नानात्वं 'ओभासियंपि' प्रार्थितमपि तत्र ग्लाने भवति, ग्लानार्थं प्रायोग्यस्य च प्रार्थनमपि क्रियते, ततश्च ओभासितं–प्रार्थितं सद् ग्लानार्थं पुनश्च यदुद्धरति ततस्तद् 'विगिच्यते' परित्यज्यते, 'सेसयं भुंजे'त्ति शेषं यदनवभासिअं–अप्रार्थितमुद्धरितं तद्भुञ्जीत कश्चित्साधुरिति । प्राघूर्णकोऽप्याचार्यवद्व्याख्यात एव द्रष्टव्यः । इदानीं दुर्लभत्ति व्याख्यानयन्नाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दुल्लभदव्वं व सिआ घयाइ घेत्तूण सेस भुञ्जंति । थोवं देमि व गेण्हामि यत्ति सहसा भवे भरियं ॥ ६१४ ॥

दुर्लभद्रव्यं वा स्याद्–भवेत् घृतादि तद्गृहीत्वा उपभुज्य च यत् शेषं तद् उज्झति, एवं वा पारिष्ठापनिकं भवति। इदानीं सहसदाणत्ति व्याख्यानयन्नाह–'थोवं देमी'त्यादि,स्तोकं दास्यामीत्येवं चिन्तयन्त्या गृहस्थया सहसा–अतर्कितमेव तत् साधुभाजनं भृतं, साधुर्वा चिन्तयति स्तोकं ग्रही-ष्यामीति, पुनश्चातर्कितमेव भाजनं भृतं, ततश्चैवमतिरिक्तं भवति, पुनश्च परिष्ठाप्यत इति।

एएहिं कारणेहिं गहियमजाया उ सा विगिंचणया । आलोगंमि तिपुंजी अद्धाणे निग्गयातीणं ॥ ६१५ ॥

एभिः पूर्वोक्तकारणैर्यद्गृहीतं भक्तं सा 'अजातविगिंचणय'त्ति अजाता परिष्ठापनोच्यते, तस्याश्चाजातायाः साध्वालोके त्रयः पुञ्जाः क्रियन्ते, किमर्थमित्याह—'अद्धाणे निग्गयाईणं' अध्वाने निर्गतास्तदर्थं त्रयः पुञ्जाः क्रियन्ते, आदिग्रहणात्कदाचित्त एव कारणे उत्पन्ने गृह्णन्तीति। आह—

एक्को व दो व तिन्नि व पुंजा कीरंति किं पुण निमित्तं ?। विहमाइनिग्गयाणं सुद्धेयरजाणणट्ठाए ॥ ६१६ ॥

एको वा द्वौ वा त्रयो वा पुञ्जाः किं पुनर्निमित्तं क्रियन्ते ?, उच्यते, 'विहमादि' विहः–पन्थास्तदर्थं निर्गतानां साधूनां शुद्धेतरभक्तपरिज्ञानार्थं त्रयः पुञ्जकाः क्रियन्ते, आदिग्रहणाद्वास्तव्यानामेव कदाचिदुपयुज्यते इतिकृत्वा परिज्ञानार्थं त्रयः पुञ्जकाः क्रियन्त इति। इयं च गाथाऽनन्तरातीतगाथाया व्याख्यानभूता द्रष्टव्येति।

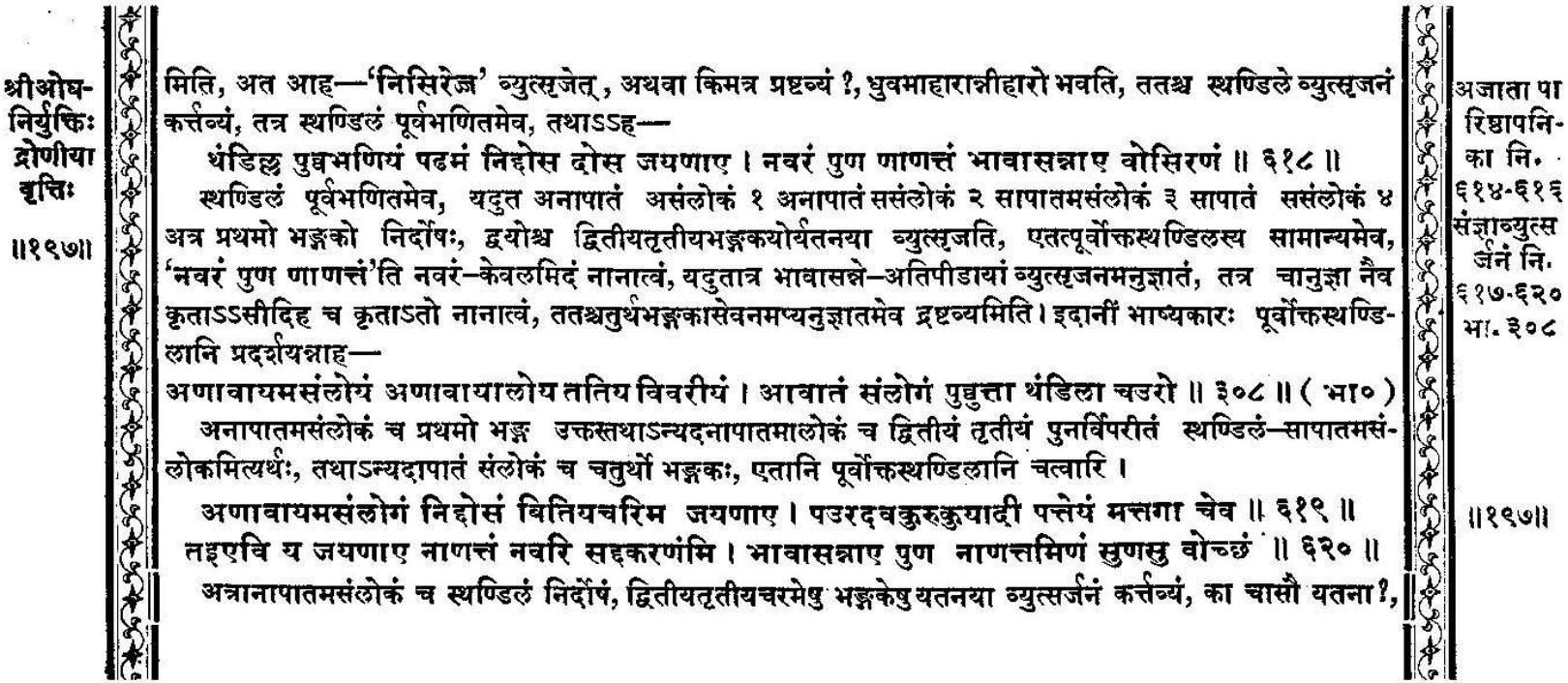
एवं विगिंचिउं निग्गयस्स सन्ना हवेज्ज तं तु कहं ?। निसिरेज्जा अहव धुवं आहारा होइ नीहारो ॥ ६१७ ॥

'एवं' उक्तेन प्रक्रमेण परिष्ठापनार्थं विनिर्गतस्य यदि 'सञ्ज्ञा' पुरीषोत्सर्जने बुद्धिर्भवेत् 'तत्कथं ?' किं तत्र कर्त्तव्य-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||६१८||

दीप अनुक्रम [९५४]



श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१९७॥

मिति, अत आह—'निसिरेज्ज' व्युत्सृजेत्, अथवा किमत्र प्रष्टव्यं ?, ध्रुवमाहारान्नीहारो भवति, ततश्च स्थण्डिले व्युत्सृजनं कर्त्तव्यं, तत्र स्थण्डिलं पूर्वभणितमेव, तथाऽऽह—

थंडिल्ल पुव्वभणियं पढमं निद्दोस दोस जयणाए । नवरं पुण णाणत्तं भावासन्नाए वोसिरणं ॥ ६१८ ॥

स्थण्डिलं पूर्वभणितमेव, यदुत अनापातं असंलोकं १ अनापातं ससंलोकं २ सापातमसंलोकं ३ सापातं ससंलोकं ४ अत्र प्रथमो भङ्गको निर्दोषः, द्वयोश्च द्वितीयतृतीयभङ्गकयोर्यतनया व्युत्सृजति, एतत्पूर्वोक्तस्थण्डिलस्य सामान्यमेव, 'नवरं पुण णाणत्तं'ति नवरं–केवलमिदं नानात्वं, यदुतात्र भावासन्ने–अतिपीडायां व्युत्सृजनमनुज्ञातं, तत्र चानुज्ञा नैव कृताऽऽसीदिह च कृताऽतो नानात्वं, ततश्चतुर्थभङ्गकासेवनमप्यनुज्ञातमेव द्रष्टव्यमिति। इदानीं भाष्यकारः पूर्वोक्तस्थण्डिलानि प्रदर्शयन्नाह—

अणावायमसंलोयं अणावायालोय ततिय विवरीयं । आवातं संलोगं पुवुत्ता थंडिला चउरो ॥ ३०८ ॥ (भा०)

अनापातमसंलोकं च प्रथमो भङ्ग उक्तस्तथाऽन्यदनापातमालोकं च द्वितीयं तृतीयं पुनर्विपरीतं स्थण्डिलं–सापातमसंलोकमित्यर्थः, तथाऽन्यदापातं संलोकं च चतुर्थो भङ्गकः, एतानि पूर्वोक्तस्थण्डिलानि चत्वारि ।

अणावायमसंलोगं निद्दोसं बितियचरिम जयणाए । पउरदवकुरुकुयादी पत्तेयं मत्तगा चेव ॥ ६१९ ॥

तइएवि य जयणाए नाणत्तं नवरि सद्दकरणंमि । भावासन्नाए पुण नाणत्तमिणं सुणसु वोच्छं ॥ ६२० ॥

अत्रानापातमसंलोकं च स्थण्डिलं निर्दोषं, द्वितीयतृतीयचरमेषु भङ्गकेषु यतनया व्युत्सर्जनं कर्त्तव्यं, का चासौ यतना ?,

अजाता पारिष्ठापनिका नि. ६१४-६१६ संज्ञाव्युत्सर्जनं नि. ६१७-६२० भा. ३०८

॥१९७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ संज्ञा(स्थण्डिल) व्युत्सर्जनं विधिः वर्णयते

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||६२०||

दीप अनुक्रम [९५६]

प्रचुरद्रवेण कुरुकुचादिकं कर्त्तव्यं प्रत्येकं प्रत्येकं च मात्रकाणि सपानकानि भवन्तीति। किं सर्वेष्वेव स्थण्डिलेषु कुरुकुचैव यतना कर्त्तव्या उत कश्चिद्विशेषः ?, उच्यते, अस्ति विशेषः, तृतीयेऽपि स्थण्डिले यतनाया नानात्वमेतावद्यदि परं यदुत शब्दकरणं, एतदुक्तं भवति–तृतीये स्थण्डिले आपातासंलोके शब्दं कुर्वद्भिर्गन्तव्यं, भावासन्ने पुनर्यतनायां यन्नानात्वं तच्छृणुत वक्ष्ये। तत्र प्रथमस्थण्डिले गन्तव्यं, अथ तन्नास्ति,

जदि पढमं न तरेज्जा तो बितियं तस्स असइए तइयं। तस्स असई चउत्थे गामे दारे य रत्थाए ॥ ६२१ ॥

यदि प्रथमे स्थण्डिले गन्तुं न शक्नुयात्ततो द्वितीयं व्रजेत्, 'तस्य' द्वितीयस्यासति तृतीयं व्रजेत्, 'तस्य' तृतीयस्य स्थण्डिलस्यासति चतुर्थं स्थण्डिलं व्रजेत्, यदा चतुर्थमपि स्थण्डिलं गन्तुं न शक्नोति तदा ग्रामद्वारे गत्वा व्युत्सृजति, यदा ग्रामद्वारमपि गन्तुं न शक्नोति तदा रथ्यायामेव व्युत्सृजति ॥

साही पुरोहडे वा उवस्सए मत्तगंमि वा णिसिरे। अच्चुक्कडंमि वेगे मंडलिपासंमि वोसिरइ ॥ ६२२ ॥

यदा रथ्यायामपि गन्तुं न शक्नोति तदा 'साहीए' खडकिकायां गत्वा व्युत्सृजति, यदा खडकिकायां गन्तुं न समर्थस्तदा 'पुरोहडे' अग्रद्वारे व्युसृजेत्, यदा पुरोहडमपि गन्तुं नालं तदोपाश्रये मात्रके वा व्युत्सृजेत्, सर्वथा 'अच्चुक्कडंमि वेगे मंडलीपासंमि वोसिरति' सुगमम्। इदं च लोकेऽपि प्रसिद्धं, यदुत प्राप्तपुरीषादेर्वेगो न श्धार्यते। अत्र च कथानकम्–एगो राया तस्स य वेज्जो पहाणो सो मतो, तंमि मए राइणा गवेसावियं एयस्स पुत्तो अत्थि वा न वा?, तस्स य कहियं–अत्थि एगा सुया, ताए य सयलं वेज्जयं अहीयं, हक्कारिया आयाया, राइणा भणिया य–किं ते भणियं ?, सा भणइ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अहियं विज्जयं, ततो एयस्संतरे ताए वायकम्मं कयं, ततो इयरेहिं विज्जेहिं हसियं, ततो तीए ताणं विज्जाणं राइणो य परिकहणा कया, जहा—

तिण्णि सल्ला महाराय, अस्सिं देहे पइट्ठिया । वायमुत्तपुरीसाणं पत्तवेगं न धारए ॥ ६२३ ॥

सिलोगो सुगमो । एवं साहुणावि वेज्जाईणं परिकहणा कायव्वा । एतदेव गाथयोपसंहरन्नाह—

राया विज्जंमि मए विज्जसुयं भणइ किं च ते अहियं?। अहियंति वायकम्मे विज्जे हसणा य परिकहणा ॥६२४॥

सुगमा ॥

एसा परिट्ठवणविही कहिया भे धीरपुरिसपन्नत्ता । सामायारी एत्तो वुच्छं अप्पक्खरमहत्थं ॥ ६२५ ॥

सुगमा ॥ उवरिएत्ति दारं गयं, इदानीं सामाचारी व्याख्यायते—

सन्नातो आगतो चरमपोरिसिं जाणिऊण ओगाढं । पडिलेहणमप्पत्तं नाऊण करेइ सज्झायं ॥ ६२६ ॥

एवं च साधुः सञ्ज्ञां व्युत्सृज्यागतः पुनः 'चरमपौरुषीं' चतुर्थप्रहरं ज्ञात्वा 'अवगाढां' अवतीर्णं, ततः किं करोतीत्यत आह–प्रत्युपेक्षणां करोति, अथासौ चरमपौरुषी नाद्यापि भवति ततोऽप्राप्तां चरमपौरुषीं मत्वा स्वाध्यायं तावत्करोति यावच्चरमपौरुषी प्राप्ता ।

पुव्वद्दिट्ठो य विही इहंपि पडिलेहणाइ सो चेव । जं एत्थं नाणत्तं तमहं वुच्छं समासेणं ॥ ६२७ ॥

पडिलेहगा उ दुविहा भत्तट्ठियएयरा य नायव्वा । दोण्हवि य आइपडिलेहणा उ मुहणंतगसकायं ॥ ६२८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ प्रत्युप्रेक्षणा विधिः वर्णयते

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||६२९||

दीप अनुक्रम [९६५]

तत्तो गुरू परिन्ना गिलाणसेहाति जे अभत्तट्ठी। संदिसह पायमत्ते य अप्पणो पट्टगं चरिमं ॥ ६२९ ॥
पट्टग मत्तय संयमोग्गहो य गुरुमाइया अणुन्नवणा। तो सेस पायवत्थे पाउंछणगं च भत्तट्ठी ॥ ६३० ॥

अत्र च प्रत्युपेक्षणायां पूर्वोद्दिष्ट एव विधिः, 'मुखवस्त्रिकादिका प्रत्युपेक्षणा' एवमादिः, तथा पात्रस्यापि "सोत्ताइओवउत्तो तह्लेसो"इत्येवमादिः इहापि स एव प्रत्युपेक्षणायां विधिर्द्रष्टव्यः, यदत्र नानात्वं–योऽतिरिक्तो विधिर्भवति तं विधिमहं वक्ष्ये 'समासेन' सङ्क्षेपेण, तत्र ये ते प्रत्युपेक्षकास्ते द्विविधाः–भक्तार्थिका–भुक्ताः 'इयरा य' इतरे च उपवासिकाश्च ज्ञातव्याः, 'द्वयोरपि' भक्तार्थिकाभक्तार्थिकयोः 'आदौ' प्रथमं प्रत्युपेक्षणा तुल्या इयं वेदितव्या, 'मुहणंतगसकायं' प्रथमं मुखवस्त्रिकां प्रत्युपेक्षन्ते ततः 'स्वकायं' निजदेहं प्रत्युपेक्षन्ते मुखवस्त्रिकया, इयं तावद्भक्ताभक्तार्थिकयोस्तुल्या प्रत्युपेक्षणा, इदानीमभक्तार्थिकानां प्रत्युपेक्षणायां विधिं प्रदर्शयति, तत्र 'ततः' मुखवस्त्रिकाकायप्रत्युपेक्षणानन्तरं 'गुरु'त्ति गुरोः संबन्धिनीमुपधिं प्रत्युपेक्षन्ते, 'परिण्ण'त्ति परिज्ञा–प्रत्याख्यानम्, एतदुक्तं भवति–अनशनस्थस्य संबन्धिनीमुपधिं प्रत्युपेक्षन्ते तथा शैक्षकः–अभिनवप्रव्रजितः शिक्षणार्थं अर्पितः तदीयामुपधिं तस्यैवाग्रतः प्रत्युपेक्षंते, आदिग्रहणात् वृद्धादिसंबंधिनीमुपधिं प्रत्युपेक्षंते, येऽभक्तार्थिनस्ते एवमनेन क्रमेण कुर्वन्ति प्रत्युपेक्षणां, ततो गुरुं संदिशापयित्वा 'संदिसह इच्छाकारेणं ओहियं पडिलेहेमि' एवं भणित्वा 'पात्रं' पतद्ग्रहं प्रत्युपेक्षन्ते, मात्रकं चात्मीयं प्रत्युपेक्षन्ते, ततश्च सकलमुपधिं प्रत्युपेक्षन्ते तावद्यावच्चोलपट्टकश्चरममपि प्रत्युपेक्षन्ते। एसो ताव अभत्तट्ठियाण पडिलेहणविही। इदानीं भुक्तानां विधिं प्रतिपादयन्नाह—मुखवस्त्रिकां प्रत्युपेक्ष्य तयैव कायं प्रत्युपेक्ष्य ततः 'पट्टगं'ति चोलपट्टगं प्रत्युपेक्षन्ते,

ओ० ३४

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||६३०||

दीप अनुक्रम [९६६]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥१९९॥

पुनश्च गोच्छको यः पात्रकस्थापरि दीयते पञ्चां पडिलेहणीयं पत्तीवंधो पडलाई रयत्ताणं पत्तेयं चैव, यदि मत्तओ अरिक्को तो एवं, अह रिक्को सो चेव पढमं निक्खिप्पइ, पुनश्च मात्रके निक्षिप्य स्वकीयमवग्रहं–पतद्ग्रहं प्रत्युपेक्षते, ततो गुरुप्रभृतीनां सत्का उपधयः प्रत्युपेक्ष्यन्ते भक्तार्थिकैः, 'अणुण्णवणं'ति ततो गुरुमनुज्ञापयति, यदुत 'संदिसह ओहियं पडिलेहेमो'त्ति ततः शेषाणि–गच्छसाधारणानि पात्राणि वस्त्राणि च अपरिभोग्यानि यानि तानि प्रत्युपेक्षन्ते, ततः स्वकीयं पायपुंछणगं–रजोहरणं च प्रत्युपेक्षन्ते, भक्तार्थिम एवमनेन क्रमेण प्रत्युपेक्षणं कुर्वन्ति ॥

जस्स जहा पडिलेहा होइ कया सो तहा पढइ साहू । परियट्टेइ व पयओ करेइ वा अन्नवावारं ॥ ६३१ ॥

पुनश्च यस्य साधोर्यथैव प्रत्युपेक्षणा भवति 'कृता' परिनिष्ठिता स तथैव पठति परिवर्त्तयति वा–गुणयति वा पूर्वपठितं प्रयतः–प्रयत्नेन करोति चान्यसाधुना समभ्यर्थितः सन् व्यापारं–किञ्चिदितिकर्मयोगं, यदिवाऽन्यं व्यापारं तूर्णनादि करोति।

चउभागपओसाए परिमाए पडिक्कमिंसु कालस्स । उच्चारे पासवणे ठाणे चउवीसइं पेहे ॥ ६३२ ॥

अहियासिया उ अंतो आसन्ने मज्झ तह य दूरे य । तिन्नेव अणहियासी अंतो छच्चेव बाहिरओ ॥ ६३३ ॥

एमेव य पासवणे बारस चउवीसइं तु पेहिंसा । कालस्सवि तिन्नि भवे अह सूरो अत्थमुवयाई ॥ ६३४ ॥

एवं स्वाध्यायादि कृत्वा पुनश्चतुर्भागावशेषायां चरमपौरुष्यां प्रतिक्रम्य कालस्य ततः स्थण्डिलानि प्रत्युपेक्ष्यन्ते, किमर्थम् ?, उच्चारार्थं तथा प्रश्रवणार्थं च स्थानानि चतुर्विंशतिपरिमाणानि प्रत्युपेक्षन्ते । इदानीं क्व ताः स्थण्डिलभूमयः प्रत्युपेक्षणीयाः ? इत्यत आह—अधिकासिका भूमयो याः सञ्ज्ञावेगेनापीडितः सुखेनैव गन्तुं शक्नोति ता एवंविधाः 'अन्तः'

वस्त्रादिप्रत्युपेक्षणा नि. ६२९ पठनादि नि. ६३० भूमित्रयप्रत्युपेक्षणा नि. ६३१-६३४

॥१९९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||६३४||

दीप अनुक्रम [९७०]

मध्ये गणस्य तिस्रः प्रत्युपेक्षणीयाः, कथम् ?, एका स्थण्डिलभूमिर्वसतेरासन्ना मध्येऽन्या अन्या दूरे, एवमेतास्तिस्रः स्थण्डिलभूमयो भवन्ति, तथाऽन्यास्तिस्र एव तस्मिन्नेवाङ्गणे आसन्नतरे भवन्ति अनधिकासिकाः–संज्ञावेगोत्पीडितः सन् यां यातिं ताः तिस्र एव भवन्ति, एका वसतेरासन्नतरे प्रदेशेऽन्या मध्येऽन्या दूरे, एवमेता अप्यन्तः–मध्येऽङ्गणस्य षट् भवन्ति, तथा षट् च बाह्यत इति–अङ्गणस्य बहिः षडेवमेव भवन्ति । एवमेव 'प्रश्रवणे' कायिकायां द्वादश भूमयः प्रत्युपेक्ष्यन्ते, षडङ्गणमध्ये षट् चाङ्गणबाह्यत एव, एताः सर्वा एव उच्चारकायिकाभूमीश्चतुर्विंशतिं प्रत्युपेक्ष्य पुनश्च कालस्यापि ग्रहणे तिस्र एव भूमयः प्रत्युपेक्षणीया भवन्ति, ताश्च कालभूमयो जघन्येन हस्तान्तरिताः प्रत्युपेक्ष्यन्ते, एवमनेन प्रकारेण कृतेन अथ सूर्यो यथाऽस्तमुपयाति तथा कर्त्तव्यं ।

जइ पुण निव्वाघाओ आवासं तो करेंति सव्वे वि । सट्ठाइकहणवाघायताए पच्छा गुरू ठंति ॥ ६३५ ॥

एवं सूर्यास्तमयानन्तरं यदि निर्व्याघातो गुरुः–क्षणिक आस्ते ततः सर्व एवाऽऽवश्यं–प्रतिक्रमणं कुर्वन्ति, अथ श्राद्धधर्मकथादिना व्याघातो गुरोर्जातः–अक्षणिकत्वं ततः पश्चाद्गुरुरावश्यकभूमौ संतिष्ठन्ते ।

सेसा उ जहासत्ती आपुच्छित्ताण ठंति सट्ठाणे । सुत्तत्थसरणहेउं आयरिए ठियमि देवसियं ॥ ६३६ ॥

शेषास्तु साधवो यथाशक्त्याऽऽपृच्छ्य गुरुं स्वस्थाने स्वस्थाने यथारत्नाधिकतयाऽऽवश्यकभूमौ तिष्ठन्ति, किमर्थं ?, 'सूत्रार्थस्मरणहेतोः' सूत्रार्थगुणनानिमित्तं तस्यामावश्यकभूमौ कायोत्सर्गेण तिष्ठन्ति, तत्र केचिदेवं भणन्त्याचार्याः–यदुत ते साधवः सामायिकसूत्रं पठित्वा कायोत्सर्गेण तिष्ठन्ति, कायोत्सर्गस्थिताश्च ग्रन्थार्थान् चिन्तयन्तस्तिष्ठन्ति तावत्-

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||६३६||

दीप अनुक्रम [९७२]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः ॥२००॥

यावद्गुरुरागतः, ततो गुरुः सामायिकसूत्रमाकृष्य दैवसिकमतिचारं चिन्तयति, तेऽपि गुरौ तथास्थिते तूष्णींभावेन कायोत्सर्गस्था एव दैवसिकमतिचारं चितयन्ति। अन्ये त्वाचार्या एवं ब्रुवते, यदुत ते साधवः सूत्रार्थं क्षरन्तस्तावत् तिष्ठन्ति यावद्गुरुरागतः, ततो गुरुः सामायिकसूत्रं पठति, तेऽपि कायोत्सर्गस्था एव सामायिकसूत्रं समकं मनसा पठन्ति, ततः सामायिकं पठित्वाऽतिचारं चिन्तयंति, आयरिओ अप्पणो अतियारं द्विगुणं चिंतइ, किंनिमित्तं ?, ते साहुणो बहुगं हिंडिया ततो तत्तिएण कालेण चिंतिउं न सक्कंति।

जो होज्ज उ असमत्थो बालो वुड्ढो गिलाणपरितंतो। सो आवस्सगजुत्तो अच्छेज्जा निज्जरापेही ॥ ६३७ ॥

यस्तु साधुरनागतकायोत्सर्गकरणेऽसमर्थो भवेद्बालो वृद्धो रोगार्त्तो ज्वरादिना स आवश्यकयुक्तस्तस्यामेव प्रतिक्रमण-भूमौ उपविष्टः कायोत्सर्गं करोति, एवं निर्जरापेक्षी तिष्ठेत्।

आवासगं तु काउं जिणोवदिट्ठं गुरूवएसेणं। तिन्निथुई पडिलेहा कालस्स विही इमो तत्थ ॥ ६३८ ॥

एवमनेन क्रमेणावश्यकं 'कृत्वा' परिसमाप्य जिनोपदिष्टं गुरूपदेशेन पुनश्च स्तुतित्रयं पठन्ति स्वरेण प्रवर्द्धमानमक्षरैर्वा, प्रथमा श्लोकेन स्तुतिर्द्वितीया बृहच्छन्दोजात्या बृहत्तरा तृतीया बृहत्तमा एवं प्रवर्द्धमानाः स्तुतीः पठन्ति मङ्गलार्थमिति, ततः कालस्य प्रत्युपेक्षणार्थं निर्गच्छन्ति, किं कालस्य ग्रहणवेला वर्त्तते न वा? इति, तत्र च–कालवेलानिरूपणे एष विधिरिति वक्ष्यमाणः।

दुविहो य होइ कालो वाघातिम एयरो य नायव्वो। वाघाओ घंघसालाएँ घट्टणं सड्ढकहणं वा ॥ ६३९ ॥

द्विविधो भवति कालो–व्याघातकाल इतरश्च–अव्याघातकालः, तत्र व्याघातकालं प्रतिपादयन्नाह—व्याघातः 'घट्ट-

आवश्यकं नि. ६३५-६३७ काल-ग्रहणविधिः नि. ६३९

॥२००॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ कालग्रहण-विधिः वर्णयते

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

शालायाम्' अनाथमण्डपे दीर्घे 'घट्टना' परस्परेण वैदेशिकैर्वा स्तम्भैर्वा सह निर्गच्छतः प्रविशतो वा तादृशो व्याघातकालः, तथा श्राद्धकादीनां यत्राचार्यो धर्मकथां करोति सोऽपि व्याघातकालः, न तत्र कालग्रहणं भवति नापि कालवेलानिरूपणार्थं प्रच्छनं भवति ।

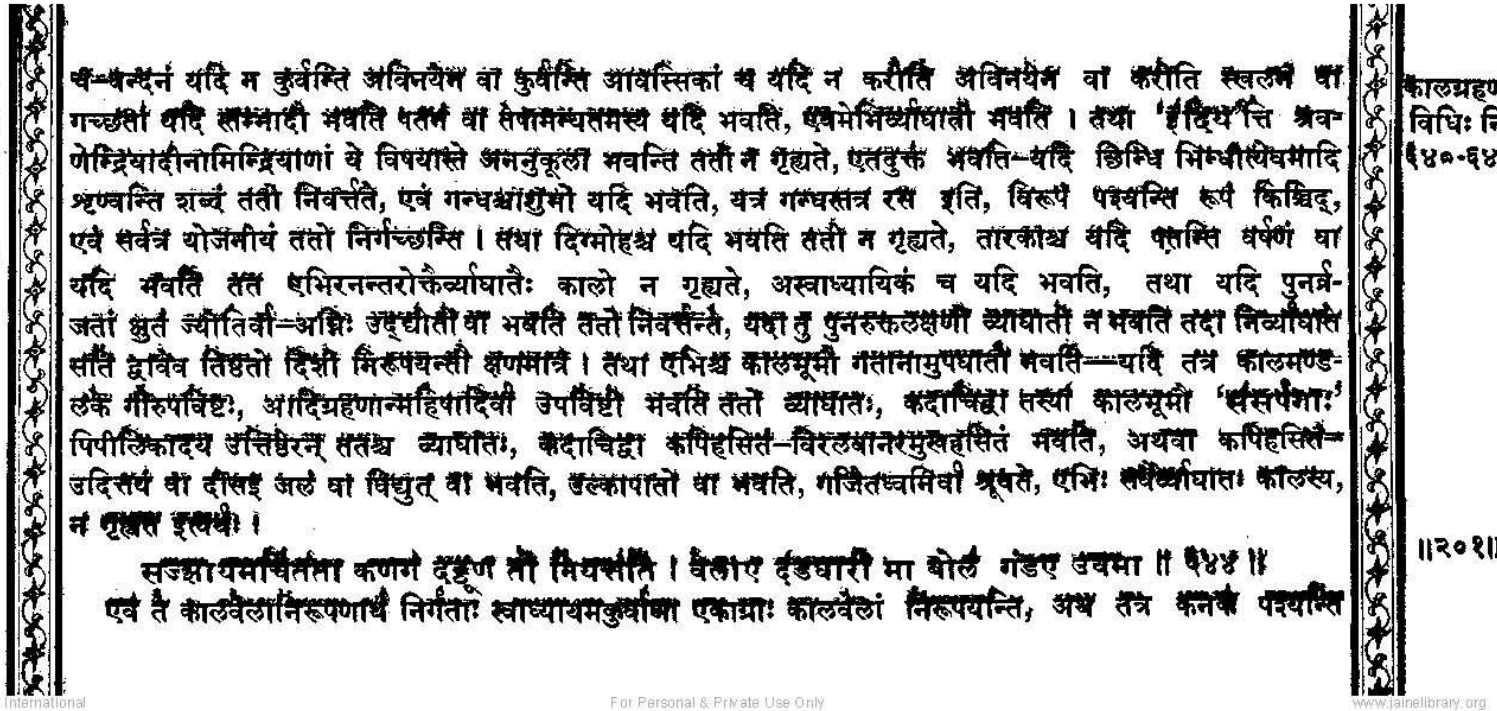
वाघाते तइओ सिं दिज्जइ तस्सेव ते निवेयंति । निव्वाघाते दुन्नि उ पुच्छंती काल घेच्छामो ॥ ६४० ॥

एवं घट्टशालायां व्याघाते सति तृतीयस्तयोः–कालग्राहिणोः उपाध्यायादिर्दीयते येन तस्यैवाग्रतो वाह्यत एव निवेदयन्ति सन्दिशापयन्ति च । अथ निर्व्याघातं भवति–न कश्चिद् घट्टशालायां धर्मकथादिर्वा कालव्याघातः वैदेशिकादिव्याघातो वा, ततश्च निर्व्याघाते सति द्वावेव निर्गच्छतः एकः कालग्राहकः अपरो दण्डधारी, पुनश्च तौ पृच्छतः, यदुत 'कालं गृह्णीवः' वेलां निरूपयाव इत्यर्थः, तेषां च निर्गच्छतां यद्येते व्याघाता भवन्ति ततश्च निवर्त्तन्ते–न गृह्णन्ति कालं ॥ के च ते व्याघाताः ?,

आपुच्छण किइकम्मं आवस्सियखलियपडियवाघाओ । इंदिय दिसा य तारा वासमसज्झाइयं चेव ॥ ६४१ ॥
जइ पुण वच्चंताणं छीयं जोइं च तो नियत्तंति । निव्वाघाते दोन्नि उ अच्छंति दिसा निरिक्खंता ॥ ६४२ ॥
गोणादि कालभूमीएँ होज्ज संसप्पगा व उड्डेज्जा । कविहसियवासविज्जुक्कगज्जिए वावि उवघातो ॥ ६४३ ॥

आपृच्छनानाम आपुच्छित्ता गच्छन्ति दंडगं गहाय मत्थएण वंदामि खमासमणो कालस्स वेलं निरूवेमो, एवं च यदि न पृच्छन्ति ततो व्याघातो भवति–न ग्राह्यः कालः, अथाविनयेन वा पृच्छन्ति तथाऽपि व्याघात एव, कृतिकर्म

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



वं–वन्दनं यदि न कुर्वन्ति अविनयेन वा कुर्वन्ति आवस्सिकां च यदि न करोति अविनयेन वा करोति स्खलनं वा गच्छतो यदि सम्मादौ भवति पतनं वा तेषामन्यतमस्य यदि भवति, एवमेभिर्व्याघातो भवति । तथा 'इंदिय'त्ति श्रवणेन्द्रियादीनामिन्द्रियाणां ये विषयास्ते अननुकूला भवन्ति ततो न गृह्यते, एतदुक्तं भवति–यदि छिन्धि भिन्धीत्यिधमादि शृण्वन्ति शब्दं ततो निवर्त्तते, एवं गन्धश्चाशुभो यदि भवति, यत्र गन्धस्तत्र रसं इति, विरूपं पश्यन्ति रूपं किञ्चिद्, एवं सर्वत्र योजनीयं ततो निर्गच्छन्ति । तथा दिग्मोहश्च यदि भवति ततो न गृह्यते, तारकाश्च यदि पतन्ति वर्षणं वा यदि भवति ततं एभिरनन्तरोक्तैर्व्याघातैः कालो न गृह्यते, अस्वाध्यायिकं च यदि भवति, तथा यदि पुनर्नजतो श्रुतं ज्योतिर्वा–अग्निः उद्द्योतो वा भवति ततो निवर्त्तन्ते, यदा तु पुनरुक्तलक्षणो व्याघातो न भवति तदा निर्व्याघाते सति द्वावेव तिष्ठतो दिशो निरूपयन्तौ क्षणमात्रं । तथा एभिश्च कालभूमौ गतानामुपघातो भवति—यदि तत्र कालमण्डलके गोरुपविष्टः, आदिग्रहणान्महिषादिर्वा उपविष्टो भवति ततो व्याघातः, कदाचिद्वा तस्यां कालभूमौ 'संसप्पगा' पिपीलिकादय उत्तिष्ठेरन् ततश्च व्याघातः, कदाचिद्वा कपिहसितं–विरलदानरमुखहसितं भवति, अथवा कपिहसितं–उदितथं वा दीप्तं जलं वा विद्युत् वा भवति, उल्कापातो वा भवति, गर्जितध्वनिर्वा श्रूयते, एभिः सर्वैर्व्याघातः कालस्य, न गृह्यत इत्यर्थः ।

सज्झायमचिंतंता कणगं दट्ठूण जो नियत्तेति । वेलाए दंडधारी मा बोलं गंडए उवमा ॥ ६४४ ॥

एवं ते कालवेलानिरूपणार्थं निर्गताः स्वाध्यायमकुर्वाणा एकाग्राः कालवेलां निरूपयन्ति, अथ तत्र कनकं पश्यन्ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||६४४||

दीप अनुक्रम [९८०]

ततः प्रतिनिवर्त्तन्ते, कणगपरिमाणं च वक्ष्यति "तिपंचसत्तेव विसिसिरवास" इत्येवमादिना, अथ तत्र वर्त्तते तदा कालग्रहण-वेलायां जातायां दण्डधारी प्रविश्य गुरुसमीपे कथयति, यदुत कालग्रहणवेला वर्त्तते मा बोलं कुरुत अल्पशब्दैरवहितैश्च भवितव्यं, अत्र च गण्डकदृष्टान्तः, यथा हि गण्डकः कस्मिंश्चित्कारणे आपन्ने उत्कुरुटिकायामारुह्य घोषयति ग्रामे–इदं प्रत्यूषसि कर्त्तव्यं, एवमसावपि दण्डधारी भणति यदुत कालग्रहणवेला वर्त्तते ततश्च भवद्भिरपि गर्जितादिदूषणपरिवर्जितैर्भवितव्यमिति ।

आघोसिए बहूहिं सुयंमि सेसेसु निवडइ दंडो । अह तं बहूहिं न सुयं दंडिज्जइ गंडओ ताहे ॥ ६४५ ॥

एवमाघोषिते सति दण्डधारिणा बहुभिश्च श्रुते, शेषाश्च श्लोकास्तैर्न श्रुतं ततश्च तेषामुपरि दण्डो निपतति–सूत्रार्थकरणं नानुज्ञायते, अथैतदृशं तदा घोषितं यद्बहुभिर्न श्रुतं श्लोकैः श्रुतं ततश्च तस्यैव दण्डधारिणो निपतति–तस्यैव स्वाध्याय-निरोधः क्रियते, कथं गण्डकस्येव ?, यथा गण्डकेनाघोषिते बहुभिर्ग्रामणीकैः श्रुते सति यैः श्लोकैर्न श्रुतं ते दण्ड्यन्ते, अथाघोषिते श्लोकैः श्रुतं बहुभिर्न श्रुतं ततो गण्डके एव दण्डो निपततीति ।

कालो सज्झा य तहा दोवि समप्पंति जह समं चेव । तह तं तुलंति कालं चरिमदिसं वा असज्झायं ॥ ६४६ ॥

तौ च प्रत्युपेक्षकौ कालः सन्ध्या च यथा द्वे अपि समकमेव समाप्तिं व्रजतस्तथा तं कालं तुलयतः, एतदुक्तं भवति— यथा कालसमाप्तिर्भवति सन्ध्या च समाप्तिं याति तथा तुलयतः प्रत्युपेक्षकौ, 'चरिमदिसं वा असज्झायं'ति चरिमा–पश्चिमा दिग् 'असन्ध्या' विगतसन्ध्या भवति यथा कालश्च समाप्यते तथा गृह्णन्ति । इदानीं किंविशिष्टेन पुनः कालः प्रतिजागरणीयः ? इत्येत आह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः ॥२०२॥

पियधम्मो दढधम्मो संविग्गो चेवऽवज्जभीरू य । खेयन्नो य अभीरू कालं पडिलेहए साहू ॥ ६४७ ॥

प्रियः–इष्टो धर्मोऽस्येति प्रियधर्मा, तथा दृढः–स्थिरो निश्चलो धर्मो यस्य स तथा, 'संविग्गो' मोक्षसुखाभिलाषी, 'अवद्यभीरुः' पापभीरुः, 'खेदज्ञः' गीतार्थः तथा 'अभीरुः' सत्त्वसंपन्नः एवंविधः 'कालं' कालग्रहणवेलां प्रत्युपेक्षते साधुः, एवंविधः कालवेलायाः प्रतिजागरणं करोति । इदानीं दण्डधारिणि घोषयित्वा निर्गते पुनश्च स द्वितीयः काल-ग्राही कालसंदिशनार्थं गुरोः समीपं प्रविशति, कथम् ?–

आउत्तपुव्वभणिए अणपुच्छा खलियपडिय वाघाते । घोसंतमूढसंकियइंदियविसएवि अमणुन्ने ॥ ६४८ ॥

स च प्रविशन् 'आयुक्तः' उपयुक्तः सन् प्रविशति, एतस्मिंश्च प्रवेशने पूर्वोक्तमेव द्रष्टव्यं यतो निर्गच्छतो यो विधिः प्रविशतोऽपि स एव विधिरित्यत आह–पूर्वभणितमेतत्, अथ त्वनापृच्छ्यैव गुरुं कालं गृह्णाति ततश्चानापृच्छ्य गृहीतस्य कालस्य, एतदुक्तं भवति–गृहीतोऽप्यसौ न भवति, तथा स्खलितस्य सतः कालव्याघातः, पतितस्य व्याघातः कालस्य, एवं संजाते सति कालो न गृह्यते, तथा प्रविष्टस्य गुरुवन्दनकाले केनचित्सह जल्पतः कालो व्याहन्यते, तथा मूढो यदि भवति आवर्त्तान् विधिविपर्यासेन ददाति तथाऽपि व्याहन्यते कालः, तथा शङ्कया न जानाति किमावर्त्ता दत्ता न वेत्यस्यामवस्थायां व्याहन्यते कालः, इन्द्रियविषयाश्च यद्यमनोज्ञा भवन्ति तथाऽपि कालो व्याहन्यते, छिन्धि भिन्धीत्येवं-विधान् शब्दान् शृणोति, गन्धोऽनिष्टो यदि भवति, यत्र गन्धस्तत्र रसोऽपि, विकरालं रूपं पश्यति, स्पर्शेन लेष्ट्वभिघा-तोऽकस्माद्भवति, एवंविधे सत्यामपि वेलायां न गृह्णाति कालं । प्रविष्टश्चासौ किं करोतीत्यत आह—

कालग्रहण-विधिः नि. ६४५-६४८

॥२०२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निसीहिया नमोक्कारे काउस्सग्गे य पंचमंगलए । पुव्वाउत्ता सव्वे पट्ठवणचउक्कनाणत्तं ॥ ६४९ ॥

प्रविशंश्च गुरुसमीपे कालसन्दिशनार्थं यदि निषेधिकां न करोति ततः कालो व्याहन्यते, नमस्कारं करोति नमो खमासमणाणं, अथैवं न भणति ततः कालव्याघातो भवति, प्राप्तश्चैर्यापथिकाप्रत्ययं 'कायोत्सर्गम्' अष्टोच्छ्वासं करोति, नमस्कारं च चिन्तयति, ईरियावहियं च अवस्सं पडिक्कमति जइ दूराओ जदि आसन्नओ वा आगतो, पुनरसौ नमस्कारेणोत्सारयति–पञ्चमङ्गलकेनेत्यर्थः, पुनश्च संदिशापयित्वा कालग्रहणार्थं निर्गच्छति, निर्गच्छंश्च जदि आवस्सियं न करेइ खलति पडति वा जीवो वा अंतरे हवेज्जा एवमादीहिं उवहम्मइ।इदानीं कालग्रहणवेलायां किं कर्त्तव्यं साधुभिः ? इत्याह—'पुव्वाउत्ता' पूर्वमेव दण्डधारिघोषणानन्तरमुपयुक्ताः सर्वे गर्जितादौ भवन्ति, उपयुक्ताश्च सन्तः कालग्रहणोत्तरकालं सर्वे स्वाध्यायप्रस्थापनं कुर्वन्ति । 'चउक्कनाणत्तं'ति कालचतुष्कस्य यथा नानात्वं भवति तथा वक्ष्यामः, कालचतुष्कं एकः प्रादोषिकः अपरोऽर्द्धरात्रिकः अपरो वैरात्रिकः अपरः प्राभातिकः, एतच्च भाष्यकारो वक्ष्यति । इदानीं कालं गृह्णतः को विधिरित्यत आह—

थोवावसेसियाए सज्झाए ठाइ उत्तराहुत्तो । चउवीसगदुमपुप्फियपुव्वग एक्केक्कयदिसाए ॥ ६५० ॥

स्तोकावशेषायां सन्ध्यायां पुणो कालमंडलयं पमज्जित्ता निषीधिकां कृत्वा कालमण्डलके प्रविशति, ततश्चोत्तराभिमुखः कायोत्सर्गं करोति, तस्मिंश्च पञ्चनमस्कारमष्टोच्छ्वासं चिन्तयति, पुनश्च नमस्कारेणोत्सार्य मूक एव चतुर्विंशतिस्तवं लोगस्सुज्जोयकरं पठति मुखमध्ये, तथा 'दुमपुप्फियपुव्वगं'ति द्रुमपुष्पिका–धम्मो मंगलं पुव्वगंति–श्रामण्यपूर्वकं 'कहं नु कुज्जा सामन्न-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मित्यर्थः, एतच्च एकैकस्यां दिशि चतुर्विंशतिस्तवादि सामन्नपुव्वगपज्जंतं कहेइ, दंडधारीवि उत्तराभिमुहस्स सठियस्स वामपासे पुव्वदिसाहुत्तो अग्गओ तेरिच्छं दंडगं धरेइ उद्धट्ठियओ, पुणो तस्स पुव्वाईसु दिसासु चलंतस्स दंडधारीवि तहेव भमति। इदानीं स गृह्णन् कालं यद्येवं गृह्णाति ततो व्याहन्यते, कथमित्यत आह—

भासंतमूढसंकियइंदियविसए य होइ अमणुन्ने। बिंदू य छीयऽपरिणय सगणे वा सेकियं तिण्हं ॥ ६५१ ॥

भाष्यमाणः—ओष्ठसञ्चारेण पठन् यदि कालं गृह्णाति ततो व्याहन्यते कालः, मूढो दिशि अध्ययने वा यदि भवति ततो व्याहन्यते कालः, शङ्कितो वा– न जानाति किं मया द्रुमपुष्पिका पठिता न वेत्येवंविधायां शङ्कायां व्याहन्यते कालः, इन्द्रियविषयाश्च 'अमनोज्ञाः' अशोभनाः शब्दादयो यदि भवन्ति ततो व्याहन्यते कालः, सोइंदिए छिंद भिंद मारेह विस्सरे बालाईणं रोवणं वा रूवं वा पेच्छसि विसायाईणं बीहावणयं, गंधे य दुरभिगंधे, रसेवि तत्थेव, जत्थ गंधो तत्थ रसो, फासो बिंदुलिंडुपहाराई, एवमेतेष्वमनोज्ञेषु विषयेषु सत्सु व्याघातो भवति, तथा बिन्दुर्यद्युपरि पतति शरीरस्योपधेर्वा कालमण्डलके वा ततो व्याहन्यते, तथा श्रुते यदि भवति ततो व्याहन्यते, 'अपरिणत' इति कालग्रहणभावोऽपगतोऽन्यचित्तो वा जातस्तस्य व्याहन्यते कालः, तथा शङ्कितेनापि गर्जितादिना व्याहन्यते कालः, कथं ?, यद्येकस्य साधोर्गर्जितादिशङ्का भवति ततो न व्याहन्यते कालः, द्वयोरपि शङ्किते न भज्यते कालः, त्रयाणां तु यदि शङ्का गर्जितादिजनिता भवति ततो व्याहन्यते, तच्च 'स्वगणे' स्वगच्छे त्रयाणां यदि शङ्कितं भवति, न परगणे, ततो व्याहन्यते। इदानीमस्या एव गाथाया भाष्यकारः किञ्चिद्व्याख्यानयन्नाह—

कालग्रहण-विधिः नि. १४९-६५१

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मूढो व दिसऽज्झयणे भासंतो वावि गिण्हइ न सुज्झे। अन्नं च दिसऽज्झयणं संकंतोऽणिट्ठविसयं वा ॥३०९॥ (भा०)

मूढो यदा दिशि भवति अध्ययने वा तदा व्याहन्यते, भाषमाणो वा ओघसञ्चारेण यदि गृह्णाति कालं ततो न शुद्ध्यति, अन्यां वा दिशं संक्रान्तो मोहात्, अध्ययनं वाऽन्यत् सङ्क्रांतं द्रुमपुष्पिकां मुक्त्वा सामन्नपुव्वए गओ उत्तराए वा दिसाए दक्खिणं गतो, यद्वाऽन्यां दिशं शङ्कमानः अन्यद्वाऽध्ययनं शङ्कमानो यदा भवति तदा न शुद्ध्यति, 'अनिष्टे' अशोभने वा शब्दादिविषयसन्निधाने व्याहन्यते कालः, ततो आवस्सियं काउण नीसरति कालमंडलाओ, एवं गृहीतेऽपि काले यदि कालमण्डलकान्निर्गच्छन्नावश्यकादि न करोति ततो व्याहन्यत एव काल इति। किञ्च—

जो वच्चंतमि विही आगच्छंतंमि होइ सो चेव। जं एत्थं नाणत्तं तमहं वुच्छं समासेणं ॥ ६५२ ॥

य एव प्रथमं वसतेर्व्रजतो विधिरुक्तस्तद्यथा—यदि कविहसियं वा उक्का वा पडति गज्जति वा, एवमाईहिं उवघाओ गहियस्सवि कालस्स होइ आगच्छंतस्स वसहिं, ततश्च यो विधिर्व्रजतः कालभूमावुक्तः आगच्छतोऽपि पुनर्वसतौ स एव विधिर्भवति, यत्पुनरत्र वसतौ प्रविशतो नानात्वं—भेदस्तदहं नानात्वं वक्ष्ये 'समासतः' संक्षेपेण। इदानीं नानात्वं प्रतिपादयन्नाह—

निसीहिया नमुक्कारं आसज्जावडपडणजोइक्खे। अपमज्जियभीए वा छीए छिन्नेव कालवहो ॥ ६५३ ॥

कालं गृहीत्वा गुरुसकाशे प्रविशन् यदि निषेधिकां न करोति ततः कालव्याघातः, तथा 'नमोक्कारं' नमो खमासमणाणं इत्येवं यदि न प्रविशन् भणति ततो गृहीतोऽपि कालो व्याहन्यते, तथा आसज्जासज्जत्त्येवं तु यदि न करोति ततो व्याहन्यते गृहीतोऽपि, तथा साधोः कस्यचिदावडणे—आभिडणे कालो व्याहन्यते, पतनं वेष्ट्यादेरात्मनो वा, ज्योतिष्क-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्पर्शे वा व्याहन्यते, तथा यदि प्रमार्जयन् न प्रविशति ततश्च व्याहन्यते कालः, 'भीतः' त्रस्तो वा यदि भवति तथाऽपि व्याहन्यते, क्षुते वा व्याहन्यते, छिनत्ति वा–यदि मार्जारश्वादिस्तिर्यक् छिन्दन् व्रजति, ततश्चैभिरनन्तरोदितैः कालस्य वधो–भङ्गो भवतीति ।

आगम इरियावहिया मंगल आवेयणं तु मरुनायं । सव्वेहिवि पट्ठविएहि पच्छा करणं अकरणं वा ॥ ६५४ ॥

आगत्य च गुरुसमीपमीर्यापथिकां प्रतिक्रामति, कायोत्सर्गं चाष्टोच्छ्वासं पञ्चनमस्कारं चिन्तयति, तेनैव चोत्सारयति, मङ्गलमिति पञ्चनमस्कार उच्यते, तत ईर्यापथिकां प्रतिक्रम्य गुरोः 'आवेदयति' निवेदयति कालमित्यर्थः । अत्र मरुओ–बंभणो तेनैव ज्ञातं–दृष्टान्तः, तंजहा—कम्हिइ पट्टणे धिज्जायाणं राइणा दिन्नं, तेसिं च घोसावियं–जो सामन्नो सो गेण्हउ आगंतूणं भागं एत्थ, एवं हक्कारिए जो आगतो तेण लद्धो भागो, जो पुण गामाईसु गतो सो चुक्को, एवं साहूवि दंड-धारिणा घोसिए जे उवउत्ता ठिया णिवेदिए य काले जेहिं सज्झाओ पट्ठविओ ताणं सज्झाओ दिज्जइ, जे पुण विकहा-दिणा ठिया ताणं सज्झायकरणं न दिज्जइ । एतदेवाह–सर्वैः साधुभिः स्वाध्याये प्रस्थापिते सति पश्चात्तेभ्यः स्वाध्याय-करणं दीयते, ये पुनः कालग्रहणवेलायामुपयुक्ता न स्थिताः न स्वाध्यायप्रस्थापनवेलायां सन्निहिता भूतास्तेभ्य स्वाध्याय-करणं न दीयते । इदानीं मरुककथानकमुपसंहरन्नाह—

सन्निहियाण वडारो पट्ठविय पमाय नो दए कालं । बाहिठिए पडियरए पविसइ ताहेव दंडधरो ॥ ६५५ ॥

सन्निहितानां त्रैविद्यब्राह्मणानां 'वडारो' वण्टकः आकरणं–आह्वानं यथासन्निहितानां, ये तु नागतास्तेषां न वण्टको–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||६५५||

दीप अनुक्रम [९९२]

विभागो जातः, एवमत्रापि 'पट्ठविय'त्ति स्वाध्यायप्रस्थापनं यैः कृतं तेभ्यो दीयते स्वाध्यायः, ये पुनः प्रमादिनस्तेभ्यो न दीयते काल इति, काले गृहीते स्वाध्यायो भवति, पुनश्च निवेदिते सति काले पुनर्बहिरन्यः प्रतिजागरकः प्रेष्यते, पुनश्च तत्र बहिःस्थिते प्रतिजागरके सति ततो दण्डधारी प्रविशतीति ।

पट्ठविय वंदिए या ताहे पुच्छेइ किं सुयं भंते ! । तेवि य कहेंति सवं जं जेण सुयं व दिट्ठं वा ॥ ६५६ ॥

पुनश्चासौ प्रस्थापितस्वाध्यायो वन्दितगुरुश्च सन् तदा साधून् पृच्छति दण्डधारी, यदुत हे भदन्त ! भवतां मध्ये केन किं श्रुतं ?, तेऽपि च साधवः कथयन्ति सर्वं यद्येन श्रुतं गर्जितादि दृष्टं वा कपिमुखादि । पुनश्च तत्र केषाञ्चिद्गर्जितादि-शङ्का भवति ततश्च को विधिरित्यत आह—

एक्कस्स दोण्ह व संकियंमि कीरइ न कीरए तिण्हं । सगणंमि संकिए परगणंमि गंतुं न पुच्छंति ॥ ६५७ ॥

एकस्य गर्जितादिशङ्किते क्रियते स्वाध्यायः, द्वयोर्वा, त्रयाणां पुनर्गर्जिताद्याशङ्कायां न क्रियते स्वाध्यायः, एवं यदि स्वगणे शङ्का भवति ततश्चैवंविधायां स्वगणे शङ्कायां सत्यां 'परगणे' अन्यगच्छे गत्वा न पृच्छन्ति, किं कारणं ?, यत इह कदाचित्स कालग्राहकः साधू रुधिरादिनाऽनायुक्त आसीत् ततश्च देवता कालं शोधयितुं न ददाति, तत्र तु परगणे नैवं, अथवा परगण एव कदाचिदनायुक्तः कश्चिद्भवति इह तु नैवं, तस्मात्परगणो न प्रमाणमिति । इदानीं यदुक्तमा-सीत् 'कालचतुष्के नानात्वं वक्ष्यामः' तत्प्रदर्शयन्नाह—

कालचउक्के नाणत्तयं तु पादोसियंमि सवेवि । समयं पट्ठवयंती सेसेसु समं व विसमं वा ॥ ६५८ ॥

ओ० ३५

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||६५८||

दीप अनुक्रम [९९५]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥२०५॥

कालानां चतुष्कं कालचतुष्कं तत्रैकः प्रादोषिकः द्वितीयोऽर्द्धरात्रिकः तृतीयो वैरात्रिकः चतुर्थः प्राभातिकः काल इति, एतस्मिन् कालचतुष्के नानात्वं प्रदर्श्यते, तत्र प्रादोषिककाले सर्व एव समकं स्वाध्यायं प्रस्थापयन्ति, शेषेषु तु त्रिषु कालेषु समकं–एककालं स्वाध्यायं प्रस्थापयन्ति विषमं वा–न युगपद्वा स्वाध्यायं प्रस्थापयन्तीति । इदानीं चतुर्णामपि कालादीनां कनकपतने सति यथा व्याघातो भवति तथा प्रदर्शयन्नाह—

इंदियमाउत्ताणं हणंति कणगा उ सत्त उक्कोसं । वासासु य तिन्नि दिसा उउबद्धे तारगा तिन्नि ॥ ६५९ ॥

इन्द्रियैः—श्रवणादिभिरुपयुक्तानां 'घ्नन्ति' व्याघातं कुर्वन्ति कालस्य कनका उत्कृष्टेन सप्त, एतच्च वक्ष्यति, 'वासासु य तिन्नि दिस'त्ति 'वर्षासु' वर्षाकाले प्राभातिके काले गृह्यमाणे तिसृषु दिक्षु यद्यालोकः शुद्ध्यति चक्षुषो न कुड्यादिभिरन्तरितस्ततो गृह्यत एव कालः, अन्यथा व्याघात इति, एतद्विशेषविषयं द्रष्टव्यं, शेषेषु त्रिष्वाद्येषु कालेषु चतसृष्वपि दिक्षु चक्षुष आलोको यदि शुद्ध्यति ततो गृह्यते वर्षाकाले नान्यथा, एतच्च प्रकटीकरिष्यति । 'उउबद्धे तारगा तिण्णि'त्ति ऋतुबद्धे–शीतोष्णकालयोराद्येषु त्रिषु कालेषु यदि मेघच्छन्नेऽपि तारकात्रयं दृश्यते ततः शुद्ध्यति कालग्रहणं, यदि पुनस्तिस्रोऽपि न दृश्यन्ते ततो न ग्राह्यः, प्राभातिकस्तु कालः ऋतुबद्धे मेघैरदृश्यमानायामप्येकस्यामपि तारकायां गृह्यते कालः, वर्षाकाले त्वेकस्यामपि तारकायामदृश्यमानायां चत्वारोऽपि काला गृह्यन्ते । इदानीमेनामेव गाथां भाष्यकृद्व्याख्यानयति—

कणगा हणंति कालं तिपंचसत्तेव घिंसिसिरवासे । उक्का उ सरेहागा रेहारहितो भवे कणतो ॥३१०॥ (भा०)

कालग्रहण-विधिः नि. ६५६-६५९ भा. ३१०

॥२०५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||६५९||

दीप अनुक्रम [९९७]

कनकाः घ्नन्ति कालं त्रयः पञ्च सप्त यथासङ्ख्येन 'घिंसिसिरवासे' ग्रीष्मकाले त्रयः कनकाः कालं व्याघ्नन्ति शिशिरकाले पञ्च घ्नन्ति कालं वर्षाकाले सप्त घ्नन्ति कालम् । इदानीमुल्काकनकयोर्लक्षणं प्रतिपादयन्नाह—उल्का सरेखा भवति, एतदुक्तं भवति–निपततो ज्योतिष्पिण्डस्य रेखायुक्तस्य उल्केत्याख्या, स एव च रेखारहितो ज्योतिष्पिण्डः कनकोऽभिधीयते । सव्वेवि पढमजामे दोन्नि उ वसभा उ आइमा जामा । तइओ होइ गुरूणं चउत्थओ होइ सव्वेसिं ॥ ६६० ॥

तस्मिंश्च प्रादोषिके काले गृहीते सति सर्व एव साधवः प्रथमयामं यावत्स्वाध्यायं कुर्वन्ति, द्वौ त्वाद्यौ यामौ वृषभाणां भवतो गीतार्थानां, ते हि सूत्रार्थं चिन्तयंतस्तावत्तिष्ठन्ति यावत्प्रहरद्वयमतिक्रान्तं भवति, तृतीया च पौरुष्यवतरति, ततस्ते चैव कालं गृह्णन्ति अड्ढरत्तियं, उवज्झायाईणं संदिसावेत्ता ततो कालं घेत्तूणं आयरियं उट्ठवेंति, वंदणयं दाऊण भणन्ति–सुद्धो कालो, आयरिया भणंति–तहत्ति, पच्छा ते वसभा सुयंति, आयरिओवि बितियं उट्ठावेत्ता कालं पडियरावेइ, ताहे एगचित्तो सुत्तत्थं चिंतेइ जाव वेरत्तियस्स कालस्स बहुदेसकालो, ताहे तइयपहरे अतिक्कंते सो कालपडिलेहगो आयरियस्स पडिसंदेसावेत्ता वेरत्तियं कालं गेण्हइ, आयरिओवि कालस्स पडिक्कमित्ता सोवति, ताहे जे सोइयलया साहू आसी ते उट्ठेऊण वेरत्तियं सज्झायं करेंति जाव पाभाइयकालगहणवेला जाया, ततो एगो साहू उवज्झायस्स वा अण्णस्स वा संदिसावेत्ता पाभाइयं कालं गेण्हइ, जहा नवण्हं कालगहणाणं वेला पहुच्चति सज्झाए आरतो चेव पुणो ताहे साहुणो सव्वे उट्ठेंति, किह पुण नव काला पडिलेहिज्जंति, पढमो उवट्ठिओ कालग्गाहो तस्स तिन्नि वारा कालो उवहओ एक्कमि मंडलए,तओ पुणो बितिओ उट्ठेइ सो बितिए मंडलए तिन्नि वारा लेइ,लिंतस्स जदि न सुज्झति ततो तइओ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||३११||

दीप अनुक्रम [९९९]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

||२०६||

साहू उट्ठेइ, सोवि ततिए मंडलए तिण्णि वारा लेइ, लिंतस्स जदि न सुज्झति ताहे भग्गो कालो, एत्थ लंताण साहूण नव वारावसाणे पभा फुट्टति, ततो तीए वेलाए पडिक्कमन्ति, अह तिण्णि कालगाहिणो नत्थि किं तु दुवे चेव, तत्तो इक्को पढमं पढमकालमंडलए तिण्णि वारा उ लेऊण ततो बितिए दो वारे गिण्हइ, ततो बितिओ साहू बीयए चेव कालमंडलए एक्कं वारं लेऊण ततो तइए मंडले तिन्नि वारातो गेण्हइ, एवं चेव नव वारा हवंति, अहवा पढमे चेव कालमंडलए एगो चत्तारि वाराओ लेइ, बितिओ पुण बितिए कालमंडलए दो वाराओ लेइ, ततिए तिन्नि वाराउ लेइ सो चेव बितिओ, एवं वा दोण्हं साहूणं नव वाराओ भवंति, अह एक्को चेव कालग्गाही ततो अववाएण सो चेव पढमे तिन्नि वारा लेइ, पुणो सो चेव बितिए मंडले तिन्नि वारा लेइ, पुणो सो चेव ततिए मंडलए तिन्नि चेव वाराओ लेइ। एसो पाभाइकालस्स विही। एवं च सति कालस्स पडिक्कमित्ता सुवंति, एगो न पडिक्कमति, सो अववाएण कालं निवेदिस्सइ ॥ इदानीं यदुक्तं "वासासु य तिण्णि दिस"त्ति तद्व्याख्यानयन्नाह—

वासासु य तिण्णि दिसा हवंति पाभाइयम्मि कालंमि। सेसेसु तीसु चउरो उउंमि चउरो चउद्दिसंपि॥३११॥(भा०)

वर्षासु तिस्रो दिशो यदि कुड्यादिभिस्तिरोहिता न भवन्ति ततः प्राभातिककालग्रहणं क्रियते, शेषेषु त्रिषु कालेषु चतस्रोऽपि दिशो यदि कुड्यादिभिस्तिरोहिता न भवन्ति ततो गृह्यन्ते कालाः ?, नान्यथा, 'उउंमि चउरो चउदिसंपि'त्ति ऋतुबद्धे काले चत्वारोऽपि काला गृह्यन्ते यदि चतस्रोऽपि दिशोऽतिरोहिता भवन्ति नान्यथा, एतदुक्तं भवति—चतसृष्वपि दिक्षु यद्यालोको भवति ततश्चत्वारोऽपि काला गृह्यन्ते। इदानीम् "उउबद्धे तारका तिण्णि"त्ति व्याख्यायते—

कालग्रहण-विधिः नि. ६६० भा. ३११

||२०६||

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||३१२||

दीप अनुक्रम [१०००]

तिसु तिण्णि तारगा उ उदुंमि पाभाइए अदिट्ठेवि। वासासु अतारागा चउरो छन्ने निविट्ठोवि ॥३१२॥ (भा०)

'त्रिषु' आद्येषु कालेषु घनसंछादितेऽपि ऋतुबद्धे काले यदि तारकास्तिस्रो दृश्यन्ते ततस्त्रयः काला आद्या गृह्यन्त इति, 'पाभाइए अदिट्ठेवि'त्ति प्राभातिके काले गृह्यमाणे ऋतुबद्धे घनाच्छादिते यदि तारकत्रितयमपि न दृश्यते तथाऽपि गृह्यते काल इति। वर्षाकाले पुनर्घनाच्छादितेऽपि अदृष्टतारा एव चत्वारोऽपि काला गृह्यन्ते। छन्ने न सावकाशे एते चत्वारोऽपि काला गृह्यन्ते। 'निविट्ठोवि'त्ति प्राभातिके त्वयं विशेषः–उपविष्टोऽपि छन्ने स्थाने ऊर्ध्वस्थानस्यासति गृह्णाति। एतदेव व्याख्यानयन्नाह—

ठाणासति बिंदूसु गेण्हइ विट्ठोवि पच्छिमं कालं। पडियरइ बाहि एक्को एक्को अंतट्ठिओ गिण्हे ॥ ६६१ ॥

स्थानस्यासति, एतदुक्तं भवति–यद्यूर्ध्वस्थितो न शक्नोति ग्रहीतुं कालं ततः स्थानाभावे सति तोयबिन्दुषु वा पतत्सु सत्सु गृह्णात्युपविष्टः पश्चिमं–प्राभातिकं कालं, तथा प्रतिजागरणं करोति द्वारि एको स्थितः ओलिकापातादेरधस्तात्स्थितः साधुः, एकश्च साधुरन्तः–मध्ये स्थितो गृह्णाति कालमिति। इदानीं कः कालः कस्यां दिशि प्रथमं गृह्यते ?, एतत्प्रदर्शयन्नाह—

पाओसियअड्ढरत्ते उत्तरदिसि पुव्व पेहए कालं। वेरत्तियंमि भयणा पुव्वदिसा पच्छिमे काले ॥ ६६२ ॥

प्रादोषिकः अर्द्धरात्रिकश्च कालः द्वावप्येतावुत्तरस्यां दिशि 'पूर्वं' प्रथमं प्रत्युपेक्षते–गृह्णाति ततः पूर्वादिदिक्षु, वैरात्रिके–तृतीयकाले भजना–विकल्पः कदाचित् उत्तरस्यां पूर्वं पूर्वस्यां वा, पुनः पश्चिमे–प्राभातिके काले पूर्वस्यां दिशि प्रथमं करोति कायोत्सर्गं ततः पुनर्दक्षिणादाविति।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||६६३||

दीप अनुक्रम [१००३]

सज्झायं काऊणं पढमबितियासु दोसु जागरणं । अन्नं वावि गुणंती सुणंति झायंति वाऽसुद्धे ॥ ६६३ ॥

एवं यदि शुद्ध्यति प्रादोषिकः कालस्ततः स्वाध्यायं कृत्वा प्रथमद्वितीयपौरुष्योर्जागरणं कुर्वन्ति साधवः । अथासौ प्रादोषिकः कालो न शुद्धस्ततः 'अन्यत्' उत्कालिकं गुणयन्ति शृण्वन्ति ध्यायन्ति तथाऽशुद्धे सति, एण्हिं अववाओ भण्णइ–जति पाओसिओ सुद्धो ततो अड्ढरत्तिओ जइवि न सुज्झइ तहवि तं चेव पवेयइत्ता सज्झायं कुणंति, एवं जइ वेरत्तिओ न सुज्झइ ततो अणुग्गहत्थं जइ अड्ढरत्तिओ सुद्धो तओ तं चेव पवेयइत्ता सज्झायं कुणंति, एवं जइ न पाभाइओ तओ तं चेव पवेयइत्ता सज्झायं कुणंति, एवं द्रव्यक्षेत्रकालभावा ज्ञातव्या इति ।

जो चेव अ सयणविही णेगाणं वन्निओ वसहिदारे । सो चेव इहंपि भवे नाणत्तं उवरि सज्झाए ॥ ६६४ ॥

य एव शयितव्ये विधिः पूर्वमेकानेकानां प्रत्युपेक्षकाणां व्यावर्णितो वसतिद्वारे स एवात्रापि द्रष्टव्यः, नानात्वं यदि परमिदं, यदुत स्वाध्यायं कृत्वा स्वपन्तीति ।

एसा सामायारी कहिया भे ! धीरपुरिसपन्नत्ता । एत्तो उवहिपमाणं वुच्छं सुद्धस्स जह धरणा ॥ ६६५ ॥

सुगमा ॥ उक्तं पिण्डद्वारं, इदानीमुपधिद्वारप्रतिपादनायाह—नवरं शुद्धस्य वस्त्रादेर्यथा धरणं भवति तथा वक्ष्ये । 'तत्त्वभेदपर्यायैर्व्याख्ये'ति न्यायात् पर्यायान्प्रतिपादयन्नाह—

उवही उवग्गहे संगहे य तह पग्गहुग्गहे चेव । भंडग उवगरणे या करणेवि य हुंति एगट्ठा ॥ ६६६ ॥

उपदधातीत्युपधिः, किमुपदधाति ?, द्रव्यं भावं च, द्रव्यतः शरीरं भावतो ज्ञानदर्शनचारित्राणि उपदधाति, उपगृह्णातीत्युपग्रहः, संगृह्णातीति सङ्ग्रहः, प्रकर्षेण गृह्णातीति प्रग्रहः, अवगृह्णातीत्यवग्रहः, तथा भण्डकमुच्यते उपधिः, तथा 'उप-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||६६६|| दीप अनुक्रम [१००९]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

करणं' उपकरोतीत्युपकरणं, तथा करणमुच्यत उपधिरिति, एते एकार्थाः । इदानीं भेदतः प्रतिपादयन्नाह—

ओहे उवग्गहंमि य दुविहो उवही उ होइ नायवो । एक्केक्कोवि य दुविहो गणणाऍ पमाणतो चेव ॥ ६६७ ॥

उपधिर्द्विविधः–ओघोपधिः उपग्रहोपधिश्चेति, एवं द्विविधो विज्ञेयः, इदानीं स एवैकैको द्विविधः, कथं?, गणणाप्रमाणेन प्रमाणप्रमाणतश्च, एतदुक्तं भवति–ओघोपधेर्गणणाप्रमाणेन प्रमाणप्रमाणेन च द्वैविध्यं, अवग्रहोपधेरपि गणणाप्रमाणेन प्रमाणप्रमाणेन च द्वैविध्यं, तत्र ओघोपधिर्नित्यमेव यो गृह्यते, अवग्रहावधिस्तु कारणे आपन्ने संयमार्थं यो गृह्यते सः अवग्रहावधिरिति, ओघोपधेः गणणाप्रमाणेन प्रमाणमेकद्व्यादिभेदं वक्तव्यं प्रमाणप्रमाणं च कर्त्तव्यं दीर्घपृथुतया, तथाऽवग्रहोपधेरपि एकद्व्यादिगणणाप्रमाणं प्रमाणप्रमाणं च दीर्घपृथुत्वद्वारेण वक्तव्यमिति । तत्र ओघोपधिर्जिनकल्पिकानां प्रतिपाद्यते, तत्रापि गणणाप्रमाणतः प्रतिपादयन्नाह—

पत्तं पत्ताबंधो पायट्ठवणं च पायकेसरिया । पडलाइं रयत्ताणं च गुच्छओ पायनिज्जोगो ॥ ६६८ ॥
तिन्नेव य पच्छागा रयहरणं चेव होइ मुहपत्ती । एसो दुवालसविहो उवही जिणकप्पियाणं तु ॥ ६६९ ॥
एए चेव दुवालस मत्तग अइरेगचोलपट्टो य । एसो चउद्दसविहो उवही पुण थेरकप्पम्मि ॥ ६७० ॥

पात्रकं पात्रकबन्धस्तथा पात्रकस्थापनं 'पात्रकेसरिका' पात्रकमुखवस्त्रिका तथा पडलानि रजस्त्राणं गोच्छकः अयं 'पात्रनियोगः' पात्रपरिकर इत्यर्थः । त्रयः 'प्रच्छादकाः' कल्पा इत्यर्थः, तथा रजोहरणं मुखवस्त्रिका चेति, एष द्वादशविध उपधिर्जिनकल्पिकानां भवति । इदानीं स्थविरोपधिं गणणाप्रमाणतः प्रतिपादयन्नाह—एत एव द्वादश जिनक-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	अथ उपधि संबंधी निरूपणं क्रियते

लिपकसत्काः पात्रकाद्या मुखवस्त्रिकापर्यन्ता उपध्यवयवा भवन्ति स्थविराणां स्थविरकल्पे अतिरिक्तस्तु मात्रकश्चोलपट्टकश्च भवति, एष चतुर्दशविध उपधिः स्थविरकल्पे भवति । इदानीं सङ्ग्रहगाथया सर्वमेतदुपसङ्ग्रहन्नाह—

जिणा बारसरूवाइं, थेरा चउद्दसरूविणो । अज्जाणं पन्नवीसं तु, अओ उड्ढं उवग्गहो ॥ ६७१ ॥

जिनानां–जिनकल्पिकानां 'द्वादश रूपाणि' उक्तलक्षणानि भवन्ति, स्थविराणां 'चतुर्दश रूपाणि' उक्तलक्षणानि भवन्ति, 'आर्याणां' भिक्षुणीनां पञ्चविंशत्यवयवः ओघतः, स च वक्ष्यमाणलक्षणः, 'अत ऊर्ध्वं' उक्तप्रमाणात् सर्वेषामेव य उपधिर्भवति स उपग्रहो वेदितव्यः । इदानीं स जिनकल्पिकोपधिः स्थविरकल्पिकोपधिश्च सर्व एव त्रिविधो भवति, तस्योपधेर्मध्ये कानिचिदुत्तमान्यङ्गानि कानिचिज्जघन्यानि कानिचिन्मध्यमानि, तत्र जिनकल्पिकानां तावत्प्रतिपादयन्नाह–

तिन्नेव य पच्छागा पडिग्गहो चेव होइ उक्कोसो । गुच्छगपत्तगठवणं मुहणंतगकेसरि अहन्नो ॥ ६७२ ॥

तत्र ये प्रच्छादकाः कल्पा इत्यर्थः पतद्ग्रहश्चेत्येष जिनकल्पिकावधेर्मध्ये उत्कृष्ट उपधिः प्रधानश्चतुर्विधोऽपि, अत्रामूनि प्रधानान्यङ्गानीत्यर्थः, गोच्छकः पात्रकस्थापनं मुखानन्तकं–मुखवस्त्रिका पात्रकेसरिका–पात्रमुखवस्त्रिका चेति, एष जिनकल्पावधेर्मध्ये जघन्यः–अप्रधानश्चतुर्विध उपधिरिति, पात्रकबन्धः पटलानि रजस्त्राणं रजोहरणमित्येष चतुर्विधोऽप्युपधिर्जिनकल्पिकावधेर्मध्ये मध्य उपधिः–न प्रधानो नाप्यप्रधान इति । उक्तो जिनकल्पिकानामुत्कृष्टजघन्यमध्यम उपधिरिति । इदानीं स्थविरकल्पिकानां प्रतिपादयति, तत्रापि प्रथमं मध्यमोपधिप्रतिपादनायाह—

पडलाइं रयत्ताणं पत्ताबंधो य चोलपट्टो य । रयहरण मत्तओऽवि य थेराणं छव्विहो मज्झो ॥ ६७३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पटलानि रजस्त्राणं पात्रकबन्धश्च चोलपट्टकश्च रजोहरणं मात्रकं चेत्येष स्थविरावधिमध्ये षड्विधो मध्यमोपधिः नोत्कृष्टो नापि जघन्य इति । पात्रकं प्रच्छादककल्पत्रयं, एष चतुर्विधोऽप्युत्कृष्टः–प्रधानः स्थविरकल्पिकावधिमध्ये, पात्रस्थापनकं पात्रकेसरिका गोच्छको मुखवस्त्रिकेत्येष जघन्योपधिः स्थविरकल्पिकावधिमध्ये चतुर्विधोऽपि । इदानीं आर्यिकाणामोघोपधिं गणणाप्रमाणतः प्रतिपादयति—

पत्तं पत्ताबंधो पायट्ठवणं च पायकेसरिया । पडलाइं रयत्ताणं च गोच्छओ पायनिज्जोगो ॥ ६७४ ॥
तिन्नेव य पच्छागा रयहरणं चेव होइ मुहपत्ती । तत्तो य मत्तगो खलु चउदसमो कमढगो चेव ॥ ६७५ ॥
उग्गहणंतगपट्टो अद्धोरुग चलणिया य बोद्धव्वा । अब्भिंतर बाहिरियं सणियं तह कंचुगे चेवं ॥ ६७६ ॥
उक्कच्छिय वेकच्छी संघाडी चेव खंधकरणी य । ओहोवहिंमि एए अज्जाणं पन्नवीसं तु ॥ ६७७ ॥

तत्र गाथाद्वयं पूर्ववद्(वै ताव)व्याख्यातं, नवरम् आर्यिकाणां कमठकमेतदर्थं भवति यतस्तासां प्रतिग्राहको न भ्रमति तुच्छस्वभावत्वात्, कमठक एव भोजनक्रियां कुर्वन्तीति । इदानीं भाष्यकारो गाथाद्वयं व्याख्यानयन्नाह—

नाभिनिभो उग्गहणंतगो उ सो गुज्झदेसरक्खट्ठा । सो उ पमाणेणेगो घणमसिणो देहमासज्ज ॥३१३॥ (भा०)
पट्टोवि होइ एक्को देहपमाणेन सो उ भइयव्वो । छायंतोग्गहणंतं कडिबंधो मल्लकच्छा वा ॥ ३१४ ॥ (भा०)
अद्धोरुगो उ ते दोवि गेण्हिउं छायए कडिविभागं । जाणुपमाणा चलणी असीविया लंखियाएव्व ॥३१५॥ (भा०)
अंतो नियंसणी पुण लीणतरा जाव अद्धजंघाओ । बाहिरखालुपमाणा कडी य दोरेण पडिबद्धा ॥३१६॥ (भा०)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः ॥२०९॥

छाएइ अणुक्कमइ उरोरुहे कंचुओय असीविओय । एमेव य ओकच्छिय सा नवरं दाहिणे पासे ॥३१७॥ (भा०)
वेकच्छिया उ पट्टो कंचुयमुक्कच्छियं व छाएइ । संघाडीओ चउरो तत्थ दुहत्था उवसयंमि ॥ ३१८ ॥ (भा०)
दोण्णि तिहत्थायामा भिक्खट्ठा एग एग उच्चारे । ओसरणा चउहत्था णिसन्नपच्छायणी मसिणा ॥३१९॥ (भा०)
खंधकरणी य चउहत्थवित्थडा वायविहुयरक्खट्ठा । खुज्जकरणी उ कीरइ रूववईणं कुडहहेउं ॥ ३२० ॥ (भा०)

तत्थ जा सा दुहत्थिया पिहु तेणं सा खोमिया होइ, एयाओ संघाडीओ पडियागारेण होंति, अद्धोरगो पीडएहिं कीरइ तालुगागारोत्ति ।

अयं चार्यिकाणां संबन्धी अवधिस्त्रिप्रकारो भवति, एकोऽपि सन् उत्तममध्यमजघन्यभेदेन, तत्र तस्यार्यिकावधिमध्ये उत्कृष्टः–प्रधानोऽष्टविधः, एतदेवाह— ●

उक्कोसो अट्ठविहो मज्झिमओ होइ तेरसविहो उ । जहन्नो चउव्विहोवि य तेण परमुवग्गहं जाण ॥ ६७८ ॥

उत्कृष्टोऽष्टविधस्तद्यथा–पात्रकं संघाडीओ चउरो खंधकरणी अंतोनियंसणी बाहिणियंसणी य, अयमष्टविध उत्कृष्टः–प्रधानः । पत्ताबंधो १ पडलाइं २ रयत्ताणं ३ रयहरणं ४ मत्तयं ५ उवग्गहणंतयं ६ पट्टओ ७ अद्धोरुगं ८ चलणि ९कंचुगो १० उक्कच्छिया ११ वेकच्छिया १२ कमढगा १३, अयमार्यिकावधेर्मध्ये त्रयोदशभेदो मध्यमोपधिरिति । पायट्ठवणं १ पायकेसरिया २ गोच्छओ ३ मुहपत्तिया ४ चेति अयमार्यिकावधेर्मध्ये जघन्यः–अशोभनश्चतुष्प्रकार इति । अतः परं यः कारणे सति संयमार्थं गृह्यते सोऽवग्रहावधिरित्येवं जानीहि ॥

उपधिनिरूपणं नि. ६७४-६७८ भा. ३१३-३२०

॥२०९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

● अत्र चत्वारः प्रक्षेप-गाथाः वर्तते, तत् मया संपादितः "आगमसुत्ताणि" मूलं वा सटीकं पुस्तके मुद्रितं सन्ति ।

एगं पायं जिणकप्पियाण थेराण मत्तओ बिइओ । एयं गणणपमाणं पमाणमाणं अओ वुच्छं ॥ ६७९ ॥

एकमेव पात्रकं जिनकल्पिकानां भवति, स्थविरकल्पिकानां तु मात्रको द्वितीयो भवति, इदं तावदेकद्व्यादिकं गणणा-प्रमाणम्, इत ऊर्ध्वं प्रमाणप्रमाणं वक्ष्ये, तत्र पात्रकस्य प्रमाणप्रमाणप्रतिपादनायाह—

तिण्णि विहत्थी चउरंगुलं च भाणस्स मज्झिमपमाणं । इत्तो हीण जहन्नं अइरेगतरं तु उक्कोसं ॥ ६८० ॥
इणमण्णं तु पमाणं नियगाहाराउ होइ निप्फन्नं । कालपमाणपसिद्धं उदरपमाणेण य वयंति ॥ ६८१ ॥
उक्कोस तिसामासे दुगाउअद्धाणमागओ साहू । चउरंगुलूणभरियं जं पज्जत्तं तु साहुस्स ॥ ६८२ ॥
एयं चेव पमाणं सविसेसयरं अणुग्गहपवत्तं । कंतारे दुब्भिक्खे रोहगमाईसु भइयव्वं ॥ ६८३ ॥

समचउरंसं वट्टं दोरएण मविज्जइ तिरिच्छयं उड्ढमहो य, सो य दोरओ तिण्णि विहत्थीओ चत्तारि अंगुलाइं जति होइ ततो भाणस्स एयं मज्झिमं पमाणं, 'इतः' अस्मात्प्रमाणाद्यद्धीनं तज्जघन्यं प्रमाणं भवति, अथातिरिक्तप्रमाणं मध्य-मप्रमाणाद्भवति ततस्तदुत्कृष्टप्रमाणमित्यर्थः, तथेदमपरं प्रमाणान्तरं प्रकारान्तरेण वा पात्रकस्य भवति–इदमन्यत्प्रमाणं निजेनाहारेण निष्पन्नं वेदितव्यं, एतदुक्तं भवति–काञ्जिकादिद्रवोपेतस्य भक्तस्य चतुर्भिरङ्गुलैरूनं पात्रकं तत्साधोर्भक्षयतो यत्परिनिष्ठितं याति तत्तादृग्विधं मध्यमप्रमाणं पात्रकं, तच्चैवंविधं कालप्रमाणेन ग्रीष्मकाले प्रमाणसिद्धं पात्रकं भणन्ति, उदरप्रमाणेन सिद्धं च 'वदन्ति' प्रतिपादयन्ति। कालप्रमाणसिद्धं पात्रकमुदरप्रमाणसिद्धं च पात्रकं प्रतिपादयन्नाह—उत्कृष्टा तृड् मासयोः–ज्येष्ठाषाढयोर्यस्मिन् काले स उत्कृष्टतृण्मासः कालस्तस्मिन्नुत्कृष्टतृण्मासकाले द्विगव्यूताध्वानमात्रादागतो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ पात्रस्य प्रमाण, लक्षण, अपलक्षण, गुण इत्यादीनां वर्णनं क्रियते

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥२१०॥

यो भिक्षुश्चतुर्भिरङ्गुलैर्न्यूनं भृतं सद् यत्पर्यान्ता साधोर्भवति तदित्थंभूतं कालप्रमाणोदरप्रमाणसिद्धं पात्रकं मध्यमं भवति । 'एतदेव' पूर्वोक्तं प्रमाणं यदा 'सविशेषतरम्' अतिरिक्ततरं भवति तदा तदनुग्रहार्थं प्रवृत्तं भवति, एतदुक्तं भवति–बृहत्तरेण पात्रकेणान्येभ्यो दानेनानुग्रह आत्मनः क्रियते, तच्च कान्तारे महतीमटवीमुत्तीर्यान्येभ्योऽप्यर्थं गृहीत्वा व्रजति येन बहूनां भवति, तथा दुर्भिक्षेऽलभ्यमानायां भिक्षायां बहुटित्वा बालादिभ्यो ददाति, तच्चातिमात्रे भाजने सति भवति दानं, तथा रोधके कोट्टस्य जाते सति कश्चिद्भोजनं श्रद्धया दद्यात्तत्र तत् नीयते येन बहूनां भवति, एतेषु 'भजनीयं' सेवनीयं तदतिमात्रं पात्रकम् । इदानीमेतदेव भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह—

वेयावच्चगरो वा नंदीभाणं धरे उवग्गहियं । सो खलु तस्स विसेसो पमाणजुत्तं तु सेसाणं ॥३२१॥(भा०)

वैयावृत्त्यकरो वा नन्दीपात्रं धारयत्यौपग्रहिकमाचार्येण समर्पितं निजं वा, स खलु तस्यैव वैयावृत्त्यकरस्य विशेषः, एतदुक्तं भवति–यदतिरिक्तमात्रपात्रधारणमयं तस्यैवैकस्य वैयावृत्त्यकरस्य विशेषः क्रियते, शेषाणां तु साधूनां प्रमाणयुक्तमेव पात्रं भवति, उदरप्रमाणयुक्तमित्यर्थः ।

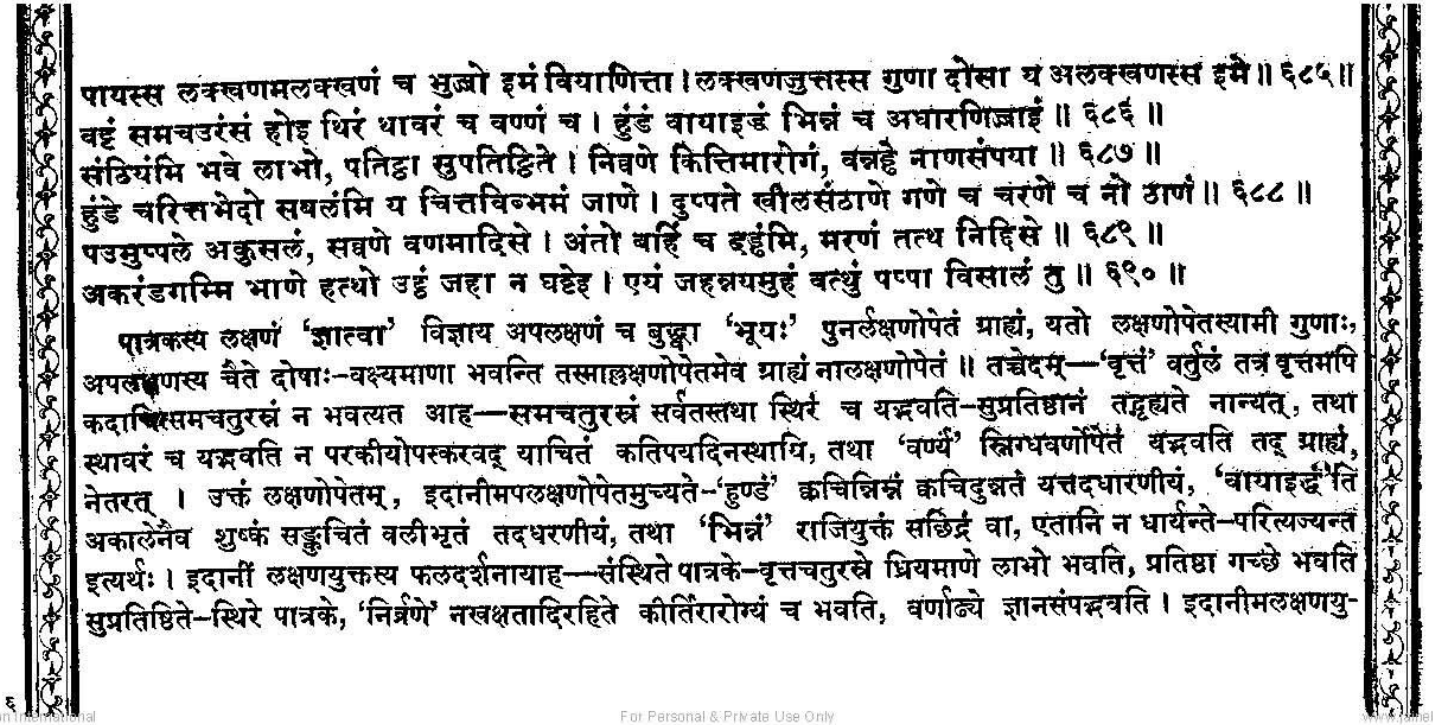
दिज्जाहि भाणपूरंति रिद्धिमं कोवि रोहमाईसु । तत्थवि तस्सुवओगो सेसं कालं तु पडिकुट्ठो ॥ ६८४ ॥

एतच्च तेन प्रमाणातिरिक्तेन पात्रकेण प्रयोजनं भवति, दद्याद्भाजनपूरकं कश्चिदृद्धिमान् पात्रभरणं कश्चिदीश्वरः कुर्यात्, कदा ?, पत्तनरोधकादौ, तत्र–पात्रकभरणे तस्य नन्दीपात्रकस्योपयोगः शेषकालमुपयोगस्तस्य 'प्रतिकुष्टः' प्रतिषिद्धः कारणमन्तरेणेत्यर्थः । तच्च पात्रकं लक्षणोपेतं ग्राह्यं नालक्षणोपेतम्, एतदेवाह—

उपधिनिरूपणं नि. ६७९-६८४ भा. ३२१

॥२१०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



पायस्स लक्खणमलक्खणं च भुज्जो इमं वियाणित्ता। लक्खणजुत्तस्स गुणा दोसा य अलक्खणस्स इमे ॥ ६८५ ॥
वट्टं समचउरंसं होइ थिरं थावरं च वण्णं च। हुंडं वायाइद्धं भिन्नं च अधारणिज्जाइं ॥ ६८६ ॥
संठियंमि भवे लाभो, पतिट्ठा सुपतिट्ठिते। निव्वणे कित्तिमारोगं, वन्नड्ढे नाणसंपया ॥ ६८७ ॥
हुंडे चरित्तभेदो सबलंमि य चित्तविब्भमं जाणे। दुप्पते खीलसंठाणे गणे च चरणे च नो ठाणं ॥ ६८८ ॥
पउमुप्पले अकुसलं, सव्वणे वणमादिसे। अंतो बहिं च दड्ढंमि, मरणं तत्थ निद्दिसे ॥ ६८९ ॥
अकरंडगम्मि भाणे हत्थो उड्डं जहा न घट्टेइ। एयं जहन्नयमुहं वत्थुं पप्पा विसालं तु ॥ ६९० ॥

पात्रकस्य लक्षणं 'ज्ञात्वा' विज्ञाय अपलक्षणं च बुद्ध्वा 'भूयः' पुनर्लक्षणोपेतं ग्राह्यं, यतो लक्षणोपेतस्यामी गुणाः, अपलक्षणस्य चैते दोषाः–वक्ष्यमाणा भवन्ति तस्माल्लक्षणोपेतमेव ग्राह्यं नालक्षणोपेतं ॥ तच्चेदम्—'वृत्तं' वर्तुलं तत्र वृत्तमपि कदाचित्समचतुरस्रं न भवत्यत आह—समचतुरस्रं सर्वतस्तथा स्थिरं च यद्भवति–सुप्रतिष्ठानं तद्गृह्यते नान्यत्, तथा स्थावरं च यद्भवति न परकीयोपस्करवद् याचितं कतिपयदिनस्थायि, तथा 'वर्ण्यं' स्निग्धवर्णोपेतं यद्भवति तद् ग्राह्यं, नेतरत् । उक्तं लक्षणोपेतम्, इदानीमपलक्षणोपेतमुच्यते–'हुण्डं' क्वचिन्निम्नं क्वचिदुन्नतं यत्तदधारणीयं, 'वायाइद्धं'ति अकालेनैव शुष्कं सङ्कुचितं वलीभूतं तदधरणीयं, तथा 'भिन्नं' राजियुक्तं सच्छिद्रं वा, एतानि न धार्यन्ते–परित्यज्यन्त इत्यर्थः । इदानीं लक्षणयुक्तस्य फलदर्शनायाह—संस्थिते पात्रके–वृत्तचतुरस्रे ध्रियमाणे लाभो भवति, प्रतिष्ठा गच्छे भवति सुप्रतिष्ठिते–स्थिरे पात्रके, 'निर्व्रणे' नखक्षतादिरहिते कीर्तिरारोग्यं च भवति, वर्णाढ्ये ज्ञानसंपद्भवति । इदानीमलक्षणयु-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||६९०||

दीप अनुक्रम [१०४३]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥२११॥

कफलं प्रदर्शयन्नाह—'हुण्डे' निम्नोन्नते चारित्रस्य भेदो भवति विनाश इत्यर्थः, 'शबले' चित्तले 'चित्तविभ्रमः' चित्तविलुप्तिर्भवति, 'दुप्पए' अधोभागाप्रतिष्ठिते–प्रतिष्ठानरहिते, तथा 'कीलसंस्थाने' कीलवद्दीर्घमुच्चं गतं तस्मिंश्च एवंविधे 'गणे' गच्छे च 'चरणे' चारित्रे वा न प्रतिष्ठानं भवति। पद्मोत्पले–हेट्ठे थासगागारे पात्रेऽकुशलं भवति, सव्रणे पात्रके सति व्रणो भवति पात्रकस्वामिनः, तथा अन्तः–अभ्यन्तरे बहिर्वा दग्धे सति मरणं तत्र निर्दिशेत्। इदानीं मुखलक्षणप्रतिपादनायाह—करण्डको–वंशग्रथितः समतलकः, करण्डकस्येवाकारो यस्य तत्करण्डकं न करण्डकम् अकरण्डकं वृत्तसमचतुरस्रमित्यर्थः तस्मिन्नेवंविधे 'भाजने' पात्रके मुखं कियन्मात्रं क्रियते? अत आह–हस्तः प्रविशन् ओष्ठं–कर्णं यथा 'न घट्टयति' न स्पृशति एतज्जघन्यमुखं पात्रकं भवति, 'वस्तु प्राप्य' वस्त्वाश्रित्य सुखेनैव गृहस्थो ददातीति एवमाद्याश्रित्य विशालतरं मुखं क्रियत इति। आह–कस्माद्भाजनग्रहणं क्रियते?, आचार्यस्त्वाह—

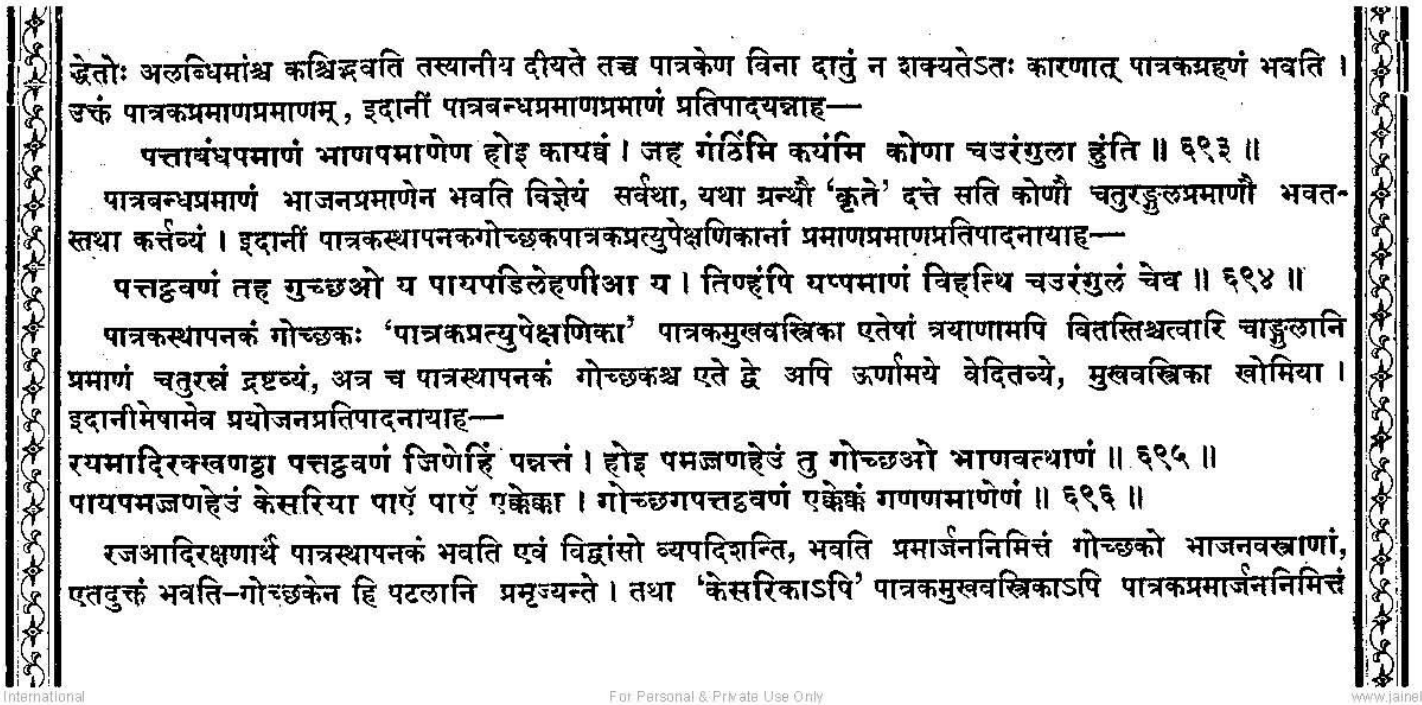
छक्कायरक्खणट्ठा पायग्गहणं जिणेहिं पन्नत्तं। जे य गुणा संभोए हवंति ते पायगहणेवि ॥ ६९१ ॥
अतरंतबालवुड्ढासेहाएसा गुरू असहुवग्गे। साहारणोग्गहाऽलद्धिकारणा पादग्गहणं तु ॥ ६९२ ॥

षट्कायरक्षणार्थं पात्रकरहितः साधुर्भोजनार्थी षडपि कायान् व्यापादयति यस्मात्तस्मात्पात्रग्रहणं जिनैः 'प्रज्ञप्तं' प्ररूपितं, य एव गुणा मण्डलीसंभोगे व्यावर्णिता त एव गुणाः पात्रग्रहणेऽपि भवन्ति, अतो ग्राह्यं पात्रमपि। के च ते गुणाः? इत्यत आह—ग्लानकारणात् बालकारणात् वृद्धकारणात् शिक्षककारणात् प्राघूर्णककारणात् असहिष्णुः–राजपुत्रः कश्चित् प्रव्रजितस्ततः कारणात् साधारणोऽवग्रहः–अवष्टम्भोऽनेन पात्रकेण क्रियते एतेषां सर्वेषामतः साधारणावग्रहा-

पात्रकलक्षणापलक्षणानि नि. ६८५-६९० पात्रगुणाः नि. ६९१-६९२

॥२११॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



हेतोः अलब्धिमांश्च कश्चिद्भवति तस्यानीय दीयते तच्च पात्रकेण विना दातुं न शक्यतेऽतः कारणात् पात्रकग्रहणं भवति । उक्तं पात्रकप्रमाणप्रमाणम्, इदानीं पात्रबन्धप्रमाणप्रमाणं प्रतिपादयन्नाह—

पत्ताबंधपमाणं भाणपमाणेण होइ कायव्वं । जह गंठिमि कयंमि कोणा चउरंगुला हुंति ॥ ६९३ ॥

पात्रबन्धप्रमाणं भाजनप्रमाणेन भवति विज्ञेयं सर्वथा, यथा ग्रन्थौ 'कृते' दत्ते सति कोणौ चतुरङ्गुलप्रमाणौ भवतस्तथा कर्त्तव्यं । इदानीं पात्रकस्थापनकगोच्छकपात्रकप्रत्युपेक्षणिकानां प्रमाणप्रमाणप्रतिपादनायाह—

पत्तट्ठवणं तह गुच्छओ य पायपडिलेहणीआ य । तिण्हंपि यप्पमाणं विहत्थि चउरंगुलं चेव ॥ ६९४ ॥

पात्रकस्थापनकं गोच्छकः 'पात्रकप्रत्युपेक्षणिका' पात्रकमुखवस्त्रिका एतेषां त्रयाणामपि वितस्तिश्चत्वारि चाङ्गुलानि प्रमाणं चतुरस्रं द्रष्टव्यं, अत्र च पात्रस्थापनकं गोच्छकश्च एते द्वे अपि ऊर्णामये वेदितव्ये, मुखवस्त्रिका खोमिया । इदानीमेषामेव प्रयोजनप्रतिपादनायाह—

रयमादिरक्खणट्ठा पत्तट्ठवणं जिणेहिं पन्नत्तं । होइ पमज्जणहेउं तु गोच्छओ भाणवत्थाणं ॥ ६९५ ॥
पायपमज्जणहेउं केसरिया पाएँ पाएँ एक्केक्का । गोच्छगपत्तट्ठवणं एक्केक्कं गणणमाणेणं ॥ ६९६ ॥

रजआदिरक्षणार्थं पात्रस्थापनकं भवति एवं विद्वांसो व्यपदिशन्ति, भवति प्रमार्जननिमित्तं गोच्छको भाजनवस्त्राणां, एतदुक्तं भवति–गोच्छकेन हि पटलानि प्रमृज्यन्ते । तथा 'केसरिकाऽपि' पात्रकमुखवस्त्रिकाऽपि पात्रकप्रमार्जननिमित्तं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||६९६||

दीप अनुक्रम [१०४९]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥२१२॥

भवति पात्रे पात्रे एकैको पात्रकेसरिका भवति गणनया, तथा गोच्छकः पात्रस्थापनं च एकैकं गणनामानेनेति । इदानीं पटलानां गणनाप्रमाणप्रतिपादनायाह—

जेहिं सविया न दीसइ अंतरिओ तारिसा भवे पडला। तिन्नि व पंच व सत्त व कयलीगब्भोवमा मसिणा ॥६९७॥
गेम्हासु तिन्नि पडला चउरो हेमंत पंच वासासु । उक्कोसगा उ एए एत्तो पुण मज्झिमे वुच्छं ॥ ६९८ ॥
गिम्हासु हुंति चउरो पंच य हेमंति छच्च वासासु । एए खलु मज्झिमया एत्तो उ जहन्नओ वुच्छं ॥ ६९९ ॥
गिम्हासु पंच पडला छप्पुण हेमंति सत्त वासासु । तिण्हंमि कालछेए पायावरणा भवे पडला ॥ ७०० ॥

यैः पटलैस्त्रिभिरेकीकृतैः सद्भिः सविता न दृश्यते तिरोहितः सन्, पञ्चभिः सप्तभिर्वा पटलैरेकीकृतैः सविता नोपलभ्यत इति, किमुक्तं भवति ?—रवेः संबन्धिनो रश्मयो नोपलभ्यन्ते तादृशानि पटलानि भवन्ति, किंविशिष्टानि ?—कदलीगर्भोपमानि क्षौमाणि श्लक्ष्णानि मसृणानि घनानि चेति, तत्र यदुक्तं त्रीणि पटलानि पञ्च सप्त वा पटलानि भवन्तीत्येतदेव कालभेदेन विशेषेण दर्शयन्नाह—'ग्रीष्मे' उष्णकाले त्रीणि पटलानि गृह्यन्ते यानि तानि दृढानि मसृणानि च भवन्ति उत्कृष्टानीत्यर्थः, 'हेमन्ते' शिशिरे च चत्वारि गृह्यन्ते घनानि मसृणानि च शोभनानि यदि भवन्ति, स हि मनाक् स्निग्धः कालः, पञ्च पटलानि वर्षासु गृह्यन्ते यद्युत्कृष्टानि घनानि मसृणानि च भवन्ति, स ह्यत्यन्तस्निग्धकालो यत उत्कृष्टान्येतानि उक्तलक्षणानि प्रधानान्येतानि । इत ऊर्द्धं 'मध्यमानि' न शोभनानि नाप्यशोभनानि वक्ष्ये इति । 'ग्रीष्मे' उष्णकाले चत्वारि मध्यमानि पटलानि गृह्यन्ते, तानि मनाग् जीर्णानि, हेमन्ते पञ्च गृह्यन्ते मध्यमानि, वर्षासु

पात्रबन्धादिप्रमाणप्रयोजने नि. ६९३-६९६ पटलमानं नि. ६९७-७००

॥२१२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ पटलक, रजस्त्राण, रजोहरण आदि संबंधी वर्णनं क्रियते

षड्, एतानि 'मध्यमानि' न प्रधानानि नाप्यप्रधानानि, तत्र ग्रीष्मो रूक्षः कालः हेमन्तो मध्यमः वर्षा स्निग्धस्तेन पटलानां वृद्धिरुक्ता, इत ऊर्द्धं जघन्यानि वक्ष्य इति। ग्रीष्मे पञ्च पटलानि जघन्यानि जीर्णप्रायाणि गृह्यन्ते, षड् पुनः हेमन्ते जघन्यानि जीर्णप्रायाणि, वर्षाकाले सप्त जघन्यानि संगृह्यन्ते जीर्णप्रायाणि, एवमुक्तेन प्रकारेण त्रिविधेऽपि 'कालच्छेदे' कालपर्यन्ते अन्यानि चान्यानि च 'पात्रावरणानि' स्थगनानि पटलानि भवन्ति। इदानीमेषामेव प्रमाणप्रतिपादनायाह—

अड्ढाइज्जा हत्था दीहा छत्तीस अंगुले रुंदा। बितियं पडिग्गहाओ ससरीराओ य निप्फन्नं ॥ ७०१ ॥

अर्द्धतृतीयहस्तदीर्घाणि भवन्ति, षट्त्रिंशदङ्गुलानि विस्तीर्णानि भवन्ति, द्वितीयमेषां प्रमाणं पतद्ग्रहाच्छादनेन शरीर-स्कन्धाच्छादनेन च निष्पन्नं भवति, एतदुक्तं भवति–भिक्षाऽटनकाले स्कन्धः पात्रकं चाच्छाद्यते यावता तत्प्रमाणं पटला-नामिति। इदानीं किं तैः प्रयोजनमित्यस्यार्थस्य प्रदर्शनायाह—

पुप्फफलोदयरयरेणुसउणपरिहारपायरक्खट्ठा। लिंगस्स य संवरणे वेदोदयरक्खणे पडला ॥ ७०२ ॥

अस्थगिते पात्रके पुष्पं निपतति तत्संरक्षणार्थं पटलानि गृह्यन्ते, तथा फलपातरक्षणार्थमुदकपातसंरक्षणार्थं च पटलग्रहणं-तथा रजः–सचित्तपृथिवीकायस्तत्संपातरक्षणार्थं च, रेणुः–धूलिस्तत्संपातरक्षणार्थं, शकुनपरिहारः–शकुनपुरीषं तत् कदाचि-दाकाशान्निपतति तत्पातसंरक्षणार्थं, लिङ्गसंवरणार्थं लिङ्गस्थगनं च तैर्भवति, तथा पुरुषवेदोदये सति तस्यैव स्तब्धता भवति तत्संरक्षणं स्थगनं तदर्थं च पटलानि भवन्तीति। इदानीं रजस्त्राणप्रमाणप्रतिपादनायाह—

माणं तु रयत्ताणे भाणपमाणेण होइ निप्फन्नं। पायाहिणं करेंतं मज्झे चउरंगुलं कमइ ॥ ७०३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||७०३||

दीप अनुक्रम [१०५६]

'मानं' प्रमाणं रजस्त्राणस्य 'भाजनप्रमाणेन' पात्रकमानेन भवति, एतदुक्तं भवति–पात्रकानुरूपं रजस्त्राणं भवति, तच्च रजस्त्राणं पात्रकस्य कथं दीयते ? अत आह—प्रदक्षिणां कुर्वाणं सत्तिर्यग् दीयते, 'मध्ये' पृथुत्वेन चत्वार्यङ्गुलानि 'क्रामति' गच्छति प्रदक्षिणां कुर्वाणमिति । इदानीमस्यैव प्रयोजनप्रतिपादनायाह—

मूसयरजउक्केरे वासे सिण्हा रए य रक्खट्ठा । होंति गुणा रयताणे पादे पादे य एक्केकं ॥ ७०४ ॥

तच्च रजस्त्राणं दीयते मूषिकरजउत्केरसंरक्षणार्थं, वर्षोदकसंरक्षणार्थं, सिह्मा–अवश्यायस्तत्संरक्षणार्थं, भवन्ति गुणा रजस्त्राणस्यैते, तच्च पात्रे पात्रे चैकैकं भवतीति । इदानीं कल्पप्रमाणप्रमाणप्रतिपादनायाह—

कप्पा आयपमाणा अड्ढाइज्जा उ वित्थडा हत्था । दो चेव सोत्तिया उन्निओ य तइओ मुणेयव्वो ॥ ७०५ ॥

कल्पा आत्मप्रमाणाः, एतदुक्तं भवति–यावन्मात्राः प्रावृताः स्कन्धस्योपरि प्रक्षिप्तास्तिष्ठन्ति एतावदात्मप्रमाणमर्द्धतृतीयांस्तु विस्तृता हस्तान्, तत्र द्वौ सूत्रिकौ भवतः ऊर्णिकश्च तृतीयो विज्ञेयः । इदानीं तत्प्रयोजनप्रतिपादनायाह—

तणगहणानलसेवा निवारणा धम्मसुक्कझाणट्ठा । दिट्ठं कप्पग्गहणं गिलाणमरणट्ठया चेव ॥ ७०६ ॥

तृणग्रहणनिवारणार्थं गृह्यन्ते, अनलः–अग्निस्तत्सेवानिवारणार्थं च, एतदुक्तं भवति–कल्पाग्रहणे तृणग्रहणमग्निसेवनं च भवति, तन्निवारणार्थं कल्पग्रहणं क्रियते, तथा धर्मशुक्लध्यानार्थं कल्पग्रहणं भवति, एतदुक्तं भवति–शीतादिना बाध्यमानो धर्मशुक्ले ध्याने ध्यातुमसमर्थो भवति यदि कल्पान्न गृह्णाति, अत एवमर्थं दृष्टं कल्पग्रहणं, तथा ग्लानसंरक्षणार्थं मरणार्थं मृतस्योपरि दीयते कल्पः एतदर्थं च ग्रहणमिति । इदानीं रजोहरणस्वरूपप्रतिपादनायाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

घणं मूले थिरं मज्झे, अग्गे मद्दवजुत्तया। एगंगियं अज्झुसिरं, पोरायामं तिपासियं ॥ ७०७ ॥

मूलदण्डपर्यन्ते 'घनं' निबिडं भवति 'मध्ये' मध्यप्रदेशे स्थिरं कर्त्तव्यम् 'अग्गे' दसिकापर्यन्ते 'मार्दवयुक्तं' मृदु कर्त्तव्यम्, 'एकाङ्गिकं' तज्जातदसिकं सदसिकाकम्बलीखण्डनिष्पादितमित्यर्थः। 'अज्झुसिरं' अग्गंथिला दशिका निषद्या च यस्य तदशुषिरम्, 'पोरायामं'ति अङ्गुष्ठपर्वणि प्रतिष्ठितायाः प्रदेशिन्या यावन्मात्रं शुषिरं भवति तदापूरकं कर्त्तव्यं, दण्डिकायुक्ता निषद्या यथा तावन्मात्रं पूरयति तथा कर्त्तव्यम्, 'त्रिपासितं' त्रीणि वेष्टनानि दवरकेन दत्त्वा पासितं पाशबन्धनेन। किञ्च,

अप्पोल्लं मिउ पम्हं च, पडिपुन्नं हत्थपूरिमं। रयणीपमाणमित्तं, कुज्जा पोरपरिग्गहं ॥ ३२२ ॥ (भा०)

अमुमेव श्लोकं भाष्यकारो व्याचष्टे–'अप्पोल्लं' दृढवेष्टनाद् घनवेष्टनात् कारणात्, मृदु पक्ष्म च कर्त्तव्यं–मृदूनि दशिकापक्ष्माणि क्रियन्ते। 'प्रतिपूर्णं' सद् बाह्येन निषद्याद्वयेन युक्तं सत् हस्तं पूरयति यथा तथा कर्त्तव्यम्। तथा 'रत्निप्रमाणमात्रं' यथा दण्डो हस्तप्रमाणो भवति तथा कर्त्तव्यम्। 'कुज्जा पोरपरिग्गहं'ति पोरम्–अङ्गुष्ठपर्व तस्मिन्नङ्गुष्ठपर्वणि लग्नया प्रदेशिन्या यद्भवति छिद्रं तद्यथा पूर्यते तेन दण्डकेन बाह्यनिषद्याद्वयरहितेन तथा कर्त्तव्यं, एवंविधं 'पोरपरिग्गहं' अङ्गुष्ठपर्वप्रदेशिनीकुण्डलिकापूरणं कर्त्तव्यमिति। इदानीं समुदायरूपस्यैव प्रमाणं प्रतिपादयन्नाह—

बत्तीसंगुलदीहं चउवीसं अंगुलाइं दंडो से। अट्ठंगुला दसाओ एगयरं हीणमहियं वा ॥ ७०८ ॥

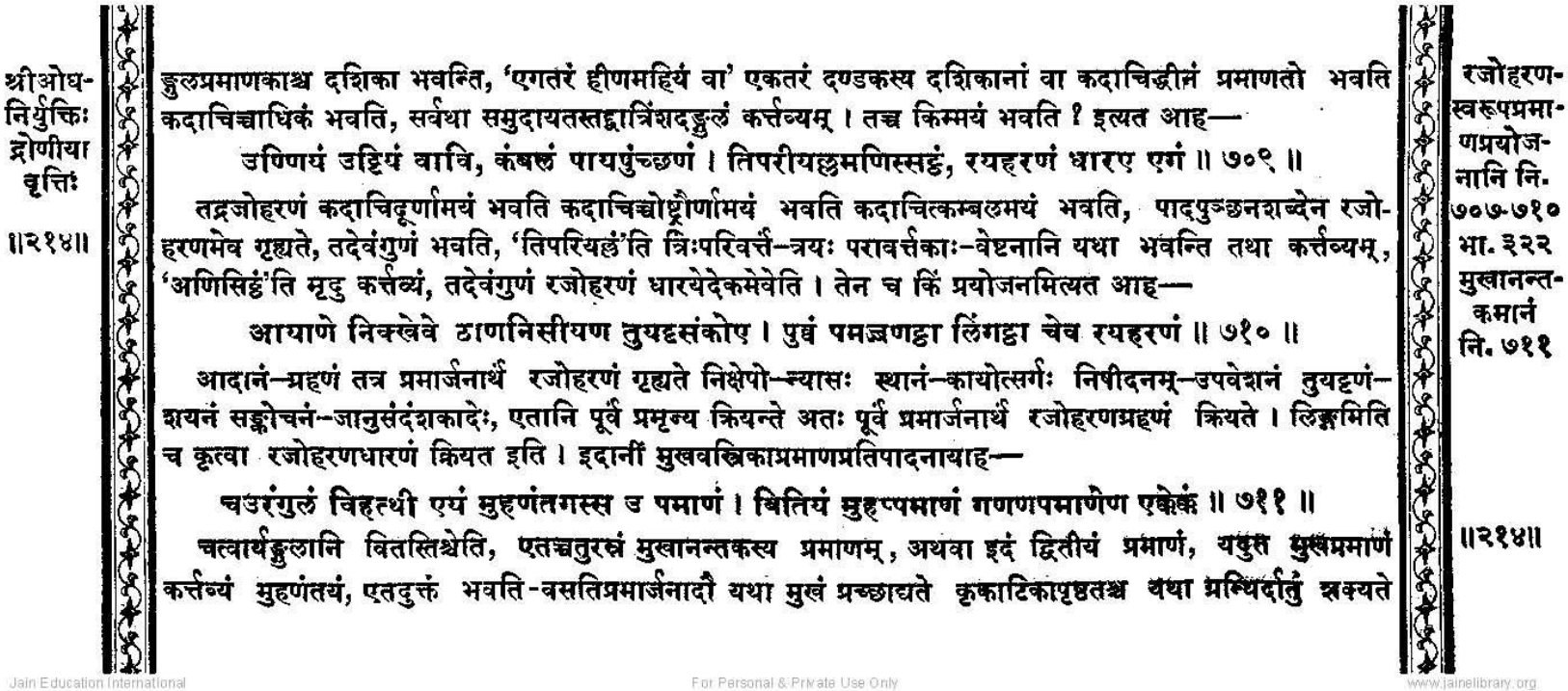
द्वात्रिंशदङ्गुलानि सर्वमेव दीर्घत्वेन प्रमाणतो भवति, तत्र च 'अस्य' रजोहरणस्य चतुर्विंशत्यङ्गुलानि दण्डकः, अष्टा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४१/१],मूलसूत्र-[२/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं द्रोणाचार्य-विरचिता वृत्तिः

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||७०८||

दीप अनुक्रम [१०६२]



श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥२१४॥

हुलप्रमाणकाश्च दशिका भवन्ति, 'एगतरं हीणमहियं वा' एकतरं दण्डकस्य दशिकानां वा कदाचिद्धीनं प्रमाणतो भवति कदाचिच्चाधिकं भवति, सर्वथा समुदायतस्तद्वात्रिंशदङ्गुलं कर्त्तव्यम् । तच्च किम्मयं भवति ? इत्यत आह—

उण्णियं उट्टियं वावि, कंबलं पायपुंच्छणं । तिपरीयल्लमणिस्सट्ठं, रयहरणं धारए एगं ॥ ७०९ ॥

तद्रजोहरणं कदाचिदूर्णामयं भवति कदाचिच्चोष्ट्रौर्णामयं भवति कदाचित्कम्बलमयं भवति, पादपुञ्छनशब्देन रजोहरणमेव गृह्यते, तदेवंगुणं भवति, 'तिपरियल्लं'ति त्रिःपरिवर्त्त–त्रयः परावर्त्तकाः–वेष्टनानि यथा भवन्ति तथा कर्त्तव्यम्, 'अणिसिट्ठं'ति मृदु कर्त्तव्यं, तदेवंगुणं रजोहरणं धारयेदेकमेवेति । तेन च किं प्रयोजनमित्यत आह—

आयाणे निक्खेवे ठाणनिसीयण तुयट्टसंकोए । पुव्वं पमज्जणट्ठा लिंगट्ठा चेव रयहरणं ॥ ७१० ॥

आदानं–ग्रहणं तत्र प्रमार्जनार्थं रजोहरणं गृह्यते निक्षेपो–न्यासः स्थानं–कायोत्सर्गः निषीदनम्–उपवेशनं तुयट्टणं–शयनं सङ्कोचनं–जानुसंदंशकादेः, एतानि पूर्वं प्रमृज्य क्रियन्ते अतः पूर्वं प्रमार्जनार्थं रजोहरणग्रहणं क्रियते । लिङ्गमिति च कृत्वा रजोहरणधारणं क्रियत इति । इदानीं मुखवस्त्रिकाप्रमाणप्रतिपादनायाह—

चउरंगुलं विहत्थी एयं मुहणंतगस्स उ पमाणं । बितियं मुहप्पमाणं गणणपमाणेण एक्केक्कं ॥ ७११ ॥

चत्वार्यङ्गुलानि वितस्तिश्चेति, एतच्चतुरस्रं मुखानन्तकस्य प्रमाणम्, अथवा इदं द्वितीयं प्रमाणं, यदुत मुखप्रमाणं कर्त्तव्यं मुहणंतयं, एतदुक्तं भवति-वसतिप्रमार्जनादौ यथा मुखं प्रच्छाद्यते कुक्कुटिकापृष्ठतश्च यथा ग्रन्थिर्दातुं शक्यते

रजोहरण-स्वरूपप्रमाण-प्रयोजनानि नि. ७०७-७१० भा. ३२२ मुखानन्तकमानं नि. ७११

॥२१४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तथा कर्त्तव्यं, त्र्यस्रं कोणद्वये गृहीत्वा यथा कृकाटिकायां ग्रन्थिर्दातुं शक्यते तथा कर्त्तव्यमिति, एतद्वितीयं प्रमाणं, गणनाप्रमाणेन पुनस्तदेकैकमेव मुखानन्तकं भवतीति। इदानीं तत्प्रयोजनप्रतिपादनायाह—

संपातिमरयरेणूपमज्जणट्ठा वयंति मुहपत्तिं। नासं मुहं च बंधइ तीए वसहिं पमज्जंतो ॥ ७१२ ॥

संपातिमसत्त्वरक्षणार्थं जल्पद्भिर्मुखे दीयते, तथा रजः—सचित्तपृथिवीकायस्तत्प्रमार्जनार्थं मुखवस्त्रिका गृह्यते, तथा रेणुप्रमार्जनार्थं मुखवस्त्रिकाग्रहणं प्रतिपादयन्ति पूर्वर्षयः। तथा नासिकामुखं बध्नाति तथा मुखवस्त्रिकया वसतिं प्रमार्जयन् येन न मुखादौ रजः प्रविशतीति। इदानीं मात्रकप्रमाणप्रतिपादनायाह—

जो मागहओ पत्थो सविसेसतरं तु मत्तयपमाणं। दोसुवि दव्वग्गहणं वासावासासु अहिगारो ॥ ७१३ ॥

यो मागधिकः प्रस्थस्तत्सविशेषतरं मात्रकं भवति, स च मागधिकप्रस्थः दो असईओ पसई दो पसतिओ सेतिया चउसेइयाहिं मागहो पत्थे सो जारिसो पमाणेण तारिसं सविसेसतरं मत्तयं हवति। तेन किं प्रयोजनमित्यत आह–'दोसुवि' द्वयोरपि वर्षावर्षयोः–वर्षाकालऋतुबद्धकालयोर्यदाचार्यादिप्रायोग्यद्रव्यग्रहणं क्रियते अयमधिकारस्तस्य मात्रकस्येति, इदं प्रयोजनमित्यर्थः। अथवेदमन्यत्प्रमाणमुच्यते—

सूवोदणस्स भरिउं दुगाउअद्धाणमागओ साहू। भुंजइ एगट्ठाणे एयं किर मत्तयपमाणं ॥ ७१४ ॥

सूपस्य च ओदनस्य च भृतं द्विगव्यूताध्वानादागतः साधुर्भुङ्क्ते यदेकस्मिन् स्थाने तदेतत् किल मात्रकस्य द्वितीयं प्रमाणमुक्तं। आह–कस्मादुक्तप्रमाणाल्लघुतरं न क्रियते ?, उच्यते, लघुतरे दोषा भवन्ति—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संपाइमतसपाणा धूलिसरिक्खे य परिगलंतंमि । पुढविदगअगणिमारुयउद्दंसणखिंसणाडहरे ॥ ७१५ ॥

अतिलघुनि मात्रके च आहारेण भृते सति यदि तदाच्छादनमुत्क्षिप्यते ततः शुषिरेण संपातिमत्रसप्राणा धूलिश्च सरजस्कः–चा(क्षा)रः एते प्रविशन्ति, तथा परिगलमाने च तद्द्रव्यसंपातेन पृथिव्युदकाग्निमारुतानां वधः संभाव्यते, उद्धंसणो–वधो भवति, तथा 'खिंसणा' परिभवो भवतीति, यदुतानेन प्रव्रजितेन अतृप्तेनैतावद्गृहीतं येनैतद्भक्तमितश्चेतश्च विक्षिपन् प्रयातीति, ततश्च डहरके एते दोषा यतो भवन्तीति ततः पूर्वोक्तप्रमाणयुक्तमेव ग्राह्यमिति । इदानीमाचार्यादिप्रायोग्यग्रहणनिमित्तं मात्रकस्यानुज्ञाप्रतिपादनायाह—

आयरिए यगिलाणे पाहुणए दुल्लभे सहसदाणे । संसत्तभत्तपाणे मत्तगपरिभोग अणुनाओ ॥ ७१६ ॥

आचार्यप्रायोग्यग्रहणे तथा ग्लानप्राघूर्णकप्रायोग्यग्रहणे तथा दुर्लभघृतादिद्रव्यग्रहणे सहसादानग्रहणे तथा संसक्तभक्तपानग्रहणे च मात्रकस्य परिभोगोऽनुज्ञातो नान्यदेति, तस्य च मात्रकस्यानेन क्रमेण परिभोगः कर्त्तव्यः, यद्याचार्यस्य तस्मिन् क्षेत्रे ध्रुवलम्भः प्रायोग्यस्य तदा एक एव सङ्घाटकः प्रायोग्यं गृह्णाति न सर्वे । तत्र चैकस्य सङ्घाटकस्याचार्यप्रायोग्यं गृह्णतः को विधिरित्यत आह—

एक्कंमि उ पाउग्गं गुरुणो बितिओग्गहे य पडिकुट्ठं । गिण्हइ संघाडेगो धुवलंभे सेस उभयंपि ॥ ७१७ ॥

एकस्मिन् प्रतिग्रहके प्रायोग्यं गुरोर्गृह्णाति 'बितिउग्गहे य'त्ति द्वितीयप्रतिग्रहके 'पडिकुट्ठं'ति प्रतिषिद्धं यत्संसक्तादि तद्गृह्णाति, अथवा 'पडिकुट्ठं' विरुद्धं यत्काञ्जिकाअम्बिलादि तद्द्वितीयप्रतिग्रहके गृह्णाति एक एव सङ्घाटकः । कदा पुनरयं

मुखानन्तकप्रयोजनं मात्रकमानप्रयोजने नि. ७१२-७१७

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विधिरित्यत आह–'ध्रुवलम्भे' ध्रुवे–अवश्यम्भाविनि प्रायोग्यलाभे सत्ययं विधिः, 'सेस उभयंपि'त्ति शेषा–येऽन्ये सङ्घाटकास्ते आत्मार्थमुभयमपि–भक्तं पानकं च गृह्णन्ति, एकः पानकमेकस्मिन् प्रतिग्रहके गृह्णाति द्वितीयस्तु भक्तं गृह्णाति, एवं सर्वेऽपि सङ्घाटका भिक्षामटन्तीति, ततश्चैवं मात्रकग्रहणं न संजातमिति । अथ ध्रुवलम्भः प्रायोग्यस्य न तस्मिन् क्षेत्रे ततः को विधिरित्यत आह—

असई लाभे पुण मत्तए य सव्वे गुरूण गेण्हंति । एसेव कमो नियमा गिलाणसेहाइएसुंपि ॥ ७१८ ॥

असति लम्भे पुनः प्रायोग्यस्य सर्व एव सङ्घाटका मात्रकेषु गुरोः प्रायोग्यं गृह्णन्ति, यतो न ज्ञायते कः किंचिल्लप्स्यते आहोश्चिन्नेत्यतो गृह्णन्ति, एष एव क्रमो 'नियमात्' नियमत एव ग्लानशिष्यकादिष्वपीति । अथवा—

दुल्लभदव्वं व सिया घयाइ तं मत्तएसु गेण्हंति । लद्धेवि उ पज्जत्ते असंथरे सेसगट्ठाए ॥ ७१९ ॥

दुर्लभं वा द्रव्यं स्याद् घृतादि तन्मात्रकेषु गृह्णन्ति । तथा लब्धेऽपि भक्ते पर्याप्ते आत्मार्थं तथाऽपि यदि न संस्तरति-न सरति ग्लानवृद्धादीनां, ततोऽसंस्तरणे सति ग्लानवृद्धादिशेषार्थं तावत्पर्यटन्ति यावत्पर्याप्तं भक्तं ग्लानादीनां भवतीति । अथवाऽनेन प्रकारेण मात्रकग्रहणं संभवति—

संसत्तभत्तपाणेसु वावि देसेसु मत्तए गहणं । पुव्वं तु भत्तपाणं सोहेउ छुहंति इयरेसु ॥ ७२० ॥

यत्र प्रदेशेषु स्वभावेनैव संसक्तभक्तपानं सम्भाव्यते, तेषु संसक्तभक्तपानेषु देशेषु सत्सु प्रथमं मात्रके ग्रहणं क्रियते,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||७२०||

दीप अनुक्रम [१०७४]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥२१६॥

पुनश्च तत्पूर्वमेव भक्तपानं शोधयित्वा प्रक्षिपन्ति इतरेषु प्रतिग्रहकेषु, ततश्चैवं वा मात्रकग्रहणं संभवति । इदानीं चोल-पट्टकप्रमाणप्रतिपादनायाह—

दुगुणो चउग्गुणो वा हत्था चउरंस चोलपट्टो उ । थेरजुवाणाणट्ठा सण्हे थुल्लंमि य विभासा ॥ ७२१ ॥

द्विगुणश्चतुर्गुणो वा कृतः सन् यथा हस्तप्रमाणश्चतुरस्रश्च भवति तथा चोलपट्टकः कर्त्तव्यः, कस्यार्थमित्यत आह— 'थेरजुवाणाणट्ठा' स्थविराणां यूनां चार्थाय कर्त्तव्यः, स्थविराणां द्विहस्तो यूनां च चतुर्हस्त इति भावना, 'सण्हे थुल्लंमि य विभास'त्ति, यदि परमयं विशेषः, यदुत स्थविराणां श्लक्ष्णोऽसावेव चोलपट्टकः क्रियते यूनां पुनः स्थूल इति । किमर्थं पुनरसौ चोलपट्टकः क्रियते?, आह—

वेउव्विवाउडे वातिए हिए खड्डपजणणे चेव । तेसिं अणुग्गहत्था लिंगुदयट्ठा य पट्टो उ ॥ ७२२ ॥

यस्य साधोः प्रजननं वैक्रियं भवति विकृतमित्यर्थः, यथा दाक्षिणात्यपुरुषाणां वेण्टार्थं विध्यते प्रजननं तच्च विकृतं भवति ततश्च तत्प्रच्छादनार्थमनुग्रहाय चोलपट्टः क्रियते, तथाऽप्रावृते कश्चिद् वातिको भवति वातेन तत्प्रजनन-मूच्छूनं भवति ततश्च तदनुग्रहायानुज्ञातः, तथा 'ह्रीकः' लज्जालुः कश्चिद् भवति तदर्थं, तथा 'खड्डं'ति बृहत्प्रमाणं स्वभावेनैव कस्यचित्प्रजननं भवति ततश्चैतेषामनुग्रहार्थं, तथा लिङ्गोदयार्थं च, कदाचित्स्त्रियं दृष्ट्वा लिङ्गस्योदयो भवति, अथवा तस्या एव स्त्रिया लिङ्गं दृष्ट्वा उदयः स्वलिङ्गस्य भवति–तं प्रत्यभिलाषो भवतीत्यर्थः, ततश्चैतेषामनुग्रहार्थं चोलपट्ट-कग्रहणमुपदिष्टमिति । उक्त ओघोपधिः, इदानीमौपग्रहिकोपधिप्रतिपादनायाह—

मात्रकग्रयो जनं चोलप ट्टमानग्रयो जने संस्तार काद्यौपग्र-हिकः नि. ७१८-७२२

॥२१६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||७२३||

दीप अनुक्रम [१०७७]

संथारुत्तरपट्टो अद्धाइज्जा य आयया हत्था । दोण्हंपि य वित्थारो हत्थो चउरंगुलं चेव ॥ ७२३ ॥

संस्तारकस्तथोत्तरपट्टकश्च, एतौ द्वावप्येकैकोऽर्द्धतृतीयहस्तौ दैर्घ्येण प्रमाणतो भवति, तथा द्वयोरप्यनयोर्विस्तारो हस्तश्चत्वारि चाङ्गुलानि भवतीति । आह–किं पुनरेभिः प्रयोजनं संस्तारकादिभिः पट्टकैः ?, उच्यते—

पाणादिरेणुसारक्खणट्ठया होंति पट्टगा चउरो । छप्पइयरक्खणट्ठा तत्थुवरिं खोमियं कुज्जा ॥ ७२४ ॥

प्राणिरेणुसंरक्षणार्थं पट्टका गृह्यन्ते, प्राणिनः–पृथिव्यादयः रेणुश्च–स्वपतः शरीरे लगति अतस्तद्रक्षणार्थं पट्टकग्रहणं, ते चत्वारो भवन्ति, द्वौ संस्तारकोत्तरपट्टकावुक्तावेव, तृतीयो रजोहरणबाह्यनिषद्यापट्टकः पूर्वोक्त एव, चतुर्थः क्षौमिक एवाभ्यन्तरनिषद्यापट्टको वक्ष्यमाणकः, एते चत्वारोऽपि प्राणिसंरक्षणार्थं गृह्यन्ते, तत्र षट्पदीरक्षणार्थं तस्य कम्बलीसंस्तारकस्योपरि खोमियं–संस्तारके पट्टकं कुर्याद् येन शरीरकम्बलीमयसंस्तारकसंघर्षेण न षट्पद्यो विराध्यन्त इति । इदानीमभ्यन्तरक्षौमनिषद्याप्रमाणप्रतिपादनायाह—

रयहरणपट्टमेत्ता अदसागा किंचि वा समतिरेगा । एकगुणा उ निसेज्जा हत्थपमाणा सपच्छागा ॥ ७२५ ॥

स रजोहरणपट्टकोऽभिधीयते यत्र दशिका लग्नाः तत्प्रमाणा 'अदशा' दशिकारहिता क्षौमा रजोहरणाभ्यन्तरनिषद्या भवति, 'किंचि वा समतिरेग'त्ति किञ्चिन्मात्रेण वा समधिका तस्य रजोहरणपट्टकस्य भवतीति, 'एकगुण'त्ति एकैव सा निषद्या भवतीति, हस्तप्रमाणा च पृथुत्वेन भवति, 'सपच्छाग'त्ति सह बाह्यया हस्तप्रमाणया भवतीति, एतदुक्तं भवति–बाह्याऽपि निषद्या हस्तमात्रैव ।

ओ० ३७

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥२१७॥

वासोवग्गहिओ पुण दुगुणा अवही उ वासकप्पाई । आयासंजमहेउं एक्कगुणा सेसओ होइ ॥ ७२६ ॥

वर्षासु–वर्षाकाले औपग्रहिकः अवधिर्द्विगुणो भवति, कश्चासौ ?–वर्षाकल्पादिः, आदिग्रहणात् पटलानि, जो बाहिरे हिंडंतस्स तिम्मति सो सो दुगुणो होइ, एक्कोत्ति पुणो अन्नो घेप्पइ, स च वर्षाकल्पादिर्द्विगुणो भवति, आत्मरक्षणार्थं संयमरक्षणार्थं च, तत्रात्मसंरक्षणार्थं यद्येकगुणा एव कल्पादयो भवन्ति ततश्च तेहिं तिन्नेहिं पोट्टसूलेणं मरति, संयमरक्षणत्थं जइ एकं चेव कप्पं अइमइलं ओढेऊणं नीहरइ तो तस्स कप्पस्स जं पाणियं पडइ तिन्नस्स तेणं आउक्काओ विणस्सइ, शेषस्त्ववधिरेकगुण एव भवति न द्विगुण इति । किञ्च—

जं पुण सपमाणाओ ईसिं हीणाहियं व लंभेज्जा । उभयंपि अहाकडयं न संधणा तस्स छेदो वा ॥ ७२७ ॥

यत्पुनः कल्पादिरुपकरणं स्वप्रमाणादीषद्धीनमधिकं वा लभ्येत तदुभयमिति–ओहियस्स उवग्गहियस्स वा यदिवा उभयं तदेव हीनमधिकं वा लब्धं सत् 'अहाकडं' यथाकृतमल्पपरिकर्म यल्लभ्यते तस्य न सन्धना क्रियते हीनस्य तथा न छेदः क्रियतेऽधिकस्य । किञ्च,—

दंडए लट्ठिया चेव, चम्मए चम्मकोसए । चम्मच्छेदण पट्टेवि चिलिमिली धारए गुरू ॥ ७२८ ॥

अयमपर औपग्रहिको भवति साधोः, साधोश्चावधिर्दण्डको भवति, दण्डकश्च यष्टिश्च चेवग्रहणाद्वियष्टिश्चेति, अयं सर्वेषामेव पृथक् पृथगौपग्रहिकः, अयमपरो गुरोरेवौपग्रहिकः, कश्चासौ ?–'चम्मए'त्ति चर्मकृतिछवडिया चर्मकोशकः

पट्टकचतुष्कं नि. ७२३-७२५ वर्षासुद्विगुणैकगुणः यथाकृतःदण्डादिःनि. ७२६-७२८

॥२१७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जत्थ नहरणाई छुब्भति, तथा 'चर्मच्छेदः' वर्द्धपट्टिका, यदिवा 'चर्मच्छेदनकं' पिप्पलकादि, तथा 'पट्टे'त्ति योगपट्टकः चिलिमिली चेति, एतानि चर्मादीनि गुरोरौपग्रहिकोऽवधिर्भवतीति ।

जं चण्ण एवमादी तवसंजमसाहगं जइजणस्स । ओहाइरेगगहियं ओवग्गहियं वियाणाहि ॥ ७२९ ॥

यच्चान्यद्वस्तु, एवमादि उपानहादि, तपःसंयमयोः साधकं यतिजनस्य ओघोपधेरतिरिक्तं गृहीतमौपग्रहिकं तद्विजानीहि । इदानीं यदुक्तं 'यष्ट्यादि औपग्रहिकं भवति साधूनां' तत्स्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

लट्ठी आयपमाणा चिलट्ठि चउरंगुलेण परिहीणा । दंडो बाहुपमाणो विदंडओ कक्खमेत्तो उ ॥ ७३० ॥

यष्टिरात्मप्रमाणा, वियष्टिरात्मप्रमाणाच्चतुर्भिरङ्गुलैर्न्यूना भवति, दण्डको 'बाहुप्रमाणः' स्कन्धप्रमाणः, विदण्डकः कक्षाप्रमाणोऽन्या नालिका भवति आत्मप्रमाणाच्चतुर्भिरङ्गुलैरतिरिक्ता, तत्थ नालियाए जलधाओ गिज्झइ, लट्ठीए जवणिया बज्झइ, चिलट्ठी कहंचि उवस्सयबारघट्टणी होइ, दंडओ रिउवद्धे घेप्पति भिक्खं भमंतेहिं, विदंडओ वरिसाकाले घेप्पइ, जं सो लहुयरओ होइ कप्पस्स अब्भिंतरे कयओ निज्जइ जेण आउक्काएण न फुसिज्जइत्ति । इदानीं यष्टिलक्षण-प्रतिपादनायाह—

एक्कपव्वं पसंसंति, दुपव्वा कलहकारिया । तिपव्वा लाभसंपन्ना, चउपव्वा मारणंतिया ॥ ७३१ ॥
पंचपव्वा उ जा लट्ठी, पंथे कलहनिवारणी । छच्चपव्वा य आयंको, सत्तपव्वा अरोगिया ॥ ७३२ ॥
चउरंगुलपइट्ठाणा, अट्ठंगुलसमूसिया । सत्तपव्वा उ जा लट्ठी, मत्तागयनिवारिणी ॥ ७३३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||७३४||

दीप अनुक्रम [१०८८]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥२१८॥

अट्ठपव्वा असंपत्ती, नवपव्वा जसकारिया । दसपव्वा उ जा लट्ठी, तहियं सव्वसंपया ॥ ७३४ ॥
वंका कीडक्खइया चित्तलया पोल्लडा य दड्ढा य । लट्ठी य उब्भसुक्का वज्जेयव्वा पयत्तेणं ॥ ७३५ ॥
विसमेसु य पव्वेसुं, अनिप्फन्नेसु अच्छिसु । फुडिया फरुसवन्ना य, निस्सारा चेव निंदिया ॥ ७३६ ॥
तणूई पव्वमज्झेसु, थूला पोरेसु गंठिला । अथिरा असारजरढा, साणपाया य निंदिया ॥ ७३७ ॥
घणवट्टमाणपव्वा निद्धा वन्नेण एगवन्ना य । घणमसिणवट्टपोरा लट्ठि पसत्था जइजणस्स ॥ ७३८ ॥

चत्वार्यङ्गुलान्यधः प्रतिष्ठानं यस्या यष्टेः सा तथोच्यते, अष्टौ अङ्गुलानि सर्वोपरि उच्छ्रिता या सा अष्टाङ्गुलोच्छ्रिता । शेषं सुगमम् । विषमेषु पर्वसु सत्सु यष्टिर्न ग्राह्या, एतदुक्तं भवति–एकं पर्व लघु पुनर्बृहत्प्रमाणं पुनर्लघु पुनर्बृहत्प्रमाणमित्येवं या विषमपर्वा सा न शस्ता, तथाऽनिष्पन्नानि चाक्षीणि–बीजप्रदेशस्थानानि यस्याः सा निंदिता, तथा स्फुटिता 'परुषवर्णा' रूक्षवर्णेत्यर्थः, तथा 'निःसारा' प्रधानगर्भरहितेत्यर्थः, सैवंविधा निन्दितेति । तथेयं निन्दिता—तन्वी पर्वमध्ये च 'स्थूला' ग्रन्थियुक्ता, तथा 'अस्थिरा' अदृढा, तथा 'असारजरढा' अकालवृद्धेत्यर्थः, तथा 'श्वपादा' च अधः श्वपादरूपा वर्त्तुला या यष्टिः सा निन्दितेति । घनानि वर्द्धमानानि च पर्वाणि यस्याः सा तथोच्यते, तथा स्निग्धा वर्णेन एकवर्णा च, तथा घनानि–निबिडानि मसृणानि वर्त्तुलानि च पोराणि यस्याः सा तथोच्यते । एवंविधा यष्टिर्यतिजनस्य प्रशस्तेति । आह–किं पुनरनया करणम् ?, उच्यते,—

दुट्ठपसुसाणसावयचिक्खलविसमेसु उदगमज्झेसु । लट्ठी सरीररक्खा तवसंजमसाहिया भणिया ॥ ७३९ ॥

॥२१८॥

औपग्रहिक लक्षणं नि. ७२९ दण्ड-लक्षणालक्षणानि नि. ७३०-७३८ दण्डप्रयोजनं ७३९

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दुष्टाश्च ते पशवश्च श्वानश्च श्वापदाश्च तेषां संरक्षणार्थं यष्टिर्गृह्यते, तथा 'चिक्खलः' सकर्दमः प्रदेशः तथा विषमेषु रक्षणार्थं, तथोदकमध्येषु च रक्षणार्थं यष्टिग्रहणं क्रियते, तथा तपसः संयमस्य च साधिका यष्टिर्भणितेति । कथं तपः-संयमसाधिका ? इत्यत आह—

मोक्खट्ठा नाणाई तणू तयट्ठा तयट्ठिया लट्ठी । दिट्ठो जहोवयारो कारणतक्कारणेसु तहा ॥ ७४० ॥

मोक्षार्थं ज्ञानादीनि इष्यन्ते, ज्ञानादीनां चार्थाय तनुः-शरीरमिष्यते, तदर्था च यष्टिः शरीरार्थेत्यर्थः शरीरं यतः यष्ट्या-द्युपकरणेन प्रतिपाल्यते, अत्र च कारणतत्कारणेषूपचारो दृष्टो यथा घृतं वर्षति अन्तरिक्षमिति, एवं मोक्षस्य ज्ञानादीनि कारणानि ज्ञानादीनां च तनुः कारणं शरीरस्य च यष्टिरिति । किञ्च-न केवलं ज्ञानादीनां यष्टिरुपकरणं वर्त्तते, अन्यदपि यज्ज्ञानादीनामुपकरोति तदेवोपकरणमुच्यते, एतदेवाह—

जं जुज्जइ उवकरणे उवगरणं तं सि होइ उवगरणं । अतिरेगं अहिगरणं अजतो अजयं परिहरंतो ॥ ७४१ ॥

यदुपकरणं पात्रकादि उपकारे ज्ञानादीनामुपयुज्यते तदेवोपकरणं 'से' तस्य साधोर्भवति, यत्पुनरतिरेकं-ज्ञानादीना-मुपकारे न भवति तत्सर्वमधिकरणं भवति, किंविशिष्टस्य सतः ?-'अयतः' अयत्नवान् 'अयतं' अयतनया 'परिहरन्' प्रतिसेवमानस्तदुपकरणं भवतीति, 'परिहरंतो'त्ति इयं सामयिकी परिभाषा प्रतिसेवनार्थे वर्त्तत इति । किञ्च—

उग्गमउप्पायणासुद्धं, एसणादोसवज्जियं । उवहिं धारए भिक्खू, पगासपडिलेहणं ॥ ७४२ ॥
उग्गमउप्पायणासुद्धं, एसणादोसवज्जियं । उवहिं धारए भिक्खू , जोगाणं साहणट्ठया ॥ ७४३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥२१९॥

उग्गमउप्पायणासुद्धं, एसणादोसवज्जियं । उवहिं धारए भिक्खू, अप्पदुट्ठो अमुच्छिओ ॥ ७४४ ॥
अज्झत्थविसोहीए उवगरणं बाहिरं परिहरंतो । अप्परिग्गहीत्ति भणिओ जिणेहिं तेलुक्कदंसीहिं ७४५ ॥
उग्गमउप्पायणासुद्धं, एसणादोसवज्जियं । उवहिं धारए भिक्खू, सदा अज्झत्थसोहिए ॥ ७४६ ॥

एवंगुणविशिष्टामुपधिं धारयेद्भिक्षुः, किंविशिष्टामित्यत आह–'पगासपडिलेहणं' प्रकाशे–प्रकटप्रदेशे प्रत्युपेक्षणं क्रियते यस्या उपधेस्तामेवंगुणविशिष्टामुपधिं धारयेत्, एतदुक्तं भवति–यस्याः प्रकटमेव कल्पाद्युपधेः प्रत्युपेक्षणा क्रियते न तु महार्घमौल्याच्चौरभयादभ्यन्तरे या क्रियते सा तादृशी उपधिर्धारणीयेति । सुगमा, नवरं योगाः–संयमात्मका गृह्यन्ते तेषां साधनार्थमिति । सुगमा, नवरं अप्रद्विष्टः अमूर्च्छितः साधुरिति । सुगमा, नवरम्–अध्यात्मविशुद्ध्या हेतुभूतया धारयेत् । किंच-उपकरणं बाह्यं–पात्रकादि 'परिहरंतो' प्रतिसेवयन्नपरिग्रहो भणितो जिनैस्त्रैलोक्यदर्शिभिः अतो यत्किञ्चिद्धर्मोपकरणं तत्परिग्रहो न भवति । अत्राह कश्चिद् बोटिकपक्षपाती–यद्युपकरणसहिता अपि निर्ग्रन्था उच्यन्ते एवं तर्हि गृहस्था अपि निर्ग्रन्थाः, यतस्तेऽप्युपकरणसहिता वर्त्तन्ते, अत्रोच्यते—

अज्झप्पविसोहीए जीवनिकाएहिं संथडे लोए । देसियमहिंसगत्तं जिणेहिं तेलोक्कदंसीहिं ॥ ७४७ ॥

नन्विदमुक्तमेव यदुताध्यात्मविशुद्ध्या सत्युपकरणे निर्ग्रन्थाः साधवः, किञ्च–यद्यध्यात्मविशुद्धिर्नेष्यते ततः 'जीवनिकाएहिं संथडे लोए'त्ति "जीवनिकायैः' जीवसङ्घातैरयं लोकः संस्तृतो वर्त्तते, ततश्च जीवनिकायसंस्तृते–व्याप्ते लोके

दण्डस्योपकरणताअधिकस्याधिकरणताउपधिधारणेऽपरिग्रहता नि. ७४८-७४७

॥२१९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कथं नग्नकश्चङ्क्रमन् वधको न भवति यद्यध्यात्मविशुद्धिर्नेष्यते, तस्मादध्यात्मविशुद्धया देशितमहिंसकत्वं जिनैस्त्रैलोक्य-दर्शिभिरिति । क्व प्रदर्शितं तदित्यत आह—

उच्चालियंमि पाए ईरियासमियस्स संकमट्ठाए । वावज्जेज्ज कुलिंगी मरिज्ज तं जोगमासज्ज ॥ ७४८ ॥
न य तस्स तन्निमित्तो बंधो सुहुमोवि देसिओ समए । अणवज्जो उ पओगेण सव्वभावेण सो जम्हा ॥ ७४९ ॥

'उच्चालिते' उत्पाटिते पादे सति ईर्यासमितस्य साधोः सङ्क्रमार्थमुत्पाटिते पादे इत्यत्र संबन्धः, व्यापद्येत संघट्टनपरितापनैः, कः ?–'कुलिङ्गी' कुत्सितानि लिङ्गानि–इन्द्रियाणि यस्यासौ कुलिङ्गी–द्वीन्द्रियादिः, स परिताप्येत उत्पाटिते पादे सति,म्रियते चासौ कुलिङ्गी, 'तं' व्यापादनयोगम् 'आसाद्य' प्राप्य । न च तस्य तन्निमित्तो बन्धः सूक्ष्मोऽपि देशितः 'समये'सिद्धान्ते, किं कारणं ?, यतोऽनवद्योऽसौ साधुस्तेन 'व्यापादनप्रयोगेण' व्यापादनव्यापारेण, कथं ?–'सर्व-भावेन' सर्वात्मना, मनोवाक्कायकर्मभिरनवद्योऽसौ यस्मात्तस्मान्न सूक्ष्मोऽपि बन्धस्तस्येति । किं च—

नाणी कम्मस्स खयट्ठमुट्ठिओऽणुट्ठितो य हिंसाए । जयइ असढं अहिंसत्थमुट्ठिओ अवहओ सो उ ॥ ७५० ॥
तस्स असंचेअयओ संचेययतो य जाइं सत्ताइं । जोगं पप्प विणस्संति नत्थि हिंसाफलं तस्स ॥ ७५१ ॥
जो य पमत्तो पुरिसो तस्स य जोगं पडुच्च जे सत्ता । वावज्जंते नियमा तेसिं सो हिंसओ होइ ॥ ७५२ ॥
जेवि न वावज्जंती नियमा तेसिं पहिंसओ सो उ । सावज्जो उ पओगेण सव्वभावेण सो जम्हा ॥ ७५३ ॥

ज्ञानमस्यास्तीति ज्ञानी–सम्यग्ज्ञानयुक्त इत्यर्थः, कर्मणः क्षयार्थं चोत्थित उद्यत इत्यर्थः, तथा हिंसायामनवस्थितः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||७५३||

दीप अनुक्रम [११०७]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥२२०॥

प्राणिव्यपरोपणे न व्यवस्थित इत्यर्थः, तथा जयति कर्मक्षपणे प्रयत्नं करोतीत्यर्थः, 'असढं'ति शठभावरहितो यत्नं करोति न पुनर्मिथ्याभावेन सम्यग्ज्ञानयुक्त इत्यर्थः, तथा 'अहिंसत्थमुट्ठिओ'त्ति अहिंसार्थं 'उत्थितः' उद्युक्तः किन्तु सहसा कथमपि यत्नं कुर्वतोऽपि प्राणिवधः संजातः स एवंविधः अवधक एव साधुरिति । तत्रानया गाथया भङ्गका अष्टौ सूचिता-स्तद्यथा–नाणी कम्मस्स खयट्ठं उट्ठिओ हिंसाए अणुट्ठिओ १, नाणी कम्मखयट्ठमुट्ठिओ हिंसाए य ठिओ २ नाणी कम्मस्स खयट्ठं नवि ठिओ हिंसाए पुण पमत्तोऽवि नवि ठिओ, देवजोगेण कहवि तप्पएसे पाणिणो नासी, एस तइओ असुद्धो य ३ नाणी कम्मस्स खयट्ठं नो ठिओ हिंसाए य ठिओ ४ तथा अज्ञानी मिथ्याज्ञानयुक्त इत्यर्थः कम्मस्स खयट्ठमुट्ठिओ हिंसाए न ठिओ ५ अन्नाणी कम्मखयट्ठमुट्ठिओ हिंसाए य ठिओ ६ अन्नाणी कम्मस्स खयट्ठं नोट्ठिओ हिंसाए य णोट्ठिओ एस सत्तमो, अन्नाणी कम्मस्स खयट्ठं णोट्ठिओ हिंसाए य ठिओ एस अट्ठमो, तत्र गाथाप्रथमार्द्धेन शुद्धः प्रथमो भङ्गकः कथितः, पश्चा-र्द्धेन च द्वितीयभङ्गकः सूचितः, कथं ?, जयतित्ति कर्मक्षपण उद्यतः, 'असढं'ति सम्यग्ज्ञानसंपन्नः 'अहिंसत्थमुट्ठिओ'त्ति अहिंसायां 'उत्थितः' अभ्युद्यतः, किन्तु सहसा प्रयत्नं कुर्वतः प्राणिवधः संजातः स चैवंविधोऽवधकः शुद्धभावत्वात् । 'तस्य' एवंप्रकारस्य ज्ञानिनः कर्मक्षयार्थमभ्युद्यतस्य 'असंचेतयतः' अजानानस्य, किं ?, सत्त्वानि, कथं ?–प्रयत्न-वतोऽपि कथमपि न दृष्टः प्राणी व्यापादितश्च, तथा 'संचेतयतः' जानानस्य कथमस्यत्र प्राणी ज्ञातो दृष्टश्च न च प्रयत्नं कुर्वताऽपि रक्षितुं पारितः, ततश्च तस्यैवंविधस्य यानि सत्त्वानि 'योगं' कायादि प्राप्य विनश्यन्ति तत्र नास्ति तस्य साधोर्हिंसाफलं–साम्परायिकं संसारजननं दुःखजननमित्यर्थः, यदि परमीर्यापत्ययं कर्म भवति, तच्चैकस्मिन् समये

अध्यात्मशुद्धावहिंसकता नि. ७४८-७४९ प्रमत्ताप्रमत्तयोर्हिंसाहिंसे नि. ७५०-७५३

॥२२०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बद्धमन्यस्मिन् समये क्षपयति । यश्च प्रमत्तः पुरुषस्तस्यैवंविधस्य संबन्धिनं 'योगं' कायादिं 'प्रतीत्य' प्राप्य ये सत्त्वा व्यापाद्यन्ते 'तेषां' सत्त्वानां 'नियमाद्' अवश्यं 'सः' पुरुषो हिंसको भवति तस्मात्प्रमत्तताभाञ्जि कर्मबन्धकारणानि । येऽपि सत्त्वा न व्यापाद्यन्ते तेषामप्यसौ नियमाद्धिंसकः, कथं ?, 'सावज्जो उ पयोगेण' सहावद्येन वर्त्तत इति सावद्यः–सपाप इत्यर्थः, ततश्च सावद्यो यतः 'प्रयोगेण' कायादिना 'सर्वभावेन' सर्वैः कायवाङ्मनोभिः, अतः अव्यापादयन्नपि व्यापादक एवासौ पुरुषः सपापयोगत्वादिति । यतश्चैवमतः—

आया चेव अहिंसा आया हिंसत्ति निच्छओ एसो। जो होइ अप्पमत्तो अहिंसओ हिंसओ इयरो ॥७५४॥

आत्मैवाहिंसा आत्मैव हिंसा इत्ययं निश्चय इत्यर्थः । कथमसावहिंसकः कथं वा हिंसकः ? इत्यत आह–'जो होइ' इत्यादि, यो भवति 'अप्रमत्तः' प्रयत्नवानित्यर्थः स खल्वेवंविधोऽहिंसको भवति, 'हिंसओ इयरो'त्ति 'इतरः' प्रमत्तो यः स हिंसको भवतीत्ययं परमार्थः । अथवाऽनेनाभिप्रायेणेयं गाथा व्याख्यायते, तत्र नैगमस्य जीवेष्वजीवेषु च हिंसा, तथा च वक्तारो लोके दृष्टाः, यदुत जीवोऽनेन हिंसितो–विनाशितः, तथा घटोऽनेन हिंसितो–विनाशितः, ततश्च सर्वत्र हिंसाशब्दानुगमात् जीवेष्वजीवेषु च हिंसा नैगमस्य, अहिंसाऽप्येवमेवेति, सङ्ग्रहव्यवहारयोः षट्सु जीवनिकायेषु हिंसा, सङ्ग्रहश्चात्र देशग्राही द्रष्टव्यः सामान्यरूपश्च नैगमान्तर्भावी, व्यवहारश्च स्थूलविशेषग्राही लोकव्यवहरणशीलश्चार्यं, तथा चाह–लोको बाहुल्येन षट्स्वेव जीवनिकायेषु हिंसामिच्छतीति, ऋजुसूत्रश्च प्रत्येकं प्रत्येकं जीवे जीवे हिंसां व्यतिरिक्तामिच्छतीति, शब्दसमभिरूढैवंभूताश्च नया आत्मैवाहिंसा आत्मैव हिंसेति, एतदभिप्रायेणैवाह–'आया चेव' इत्यादि, आत्मैवा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||७५४||

दीप अनुक्रम [११०८]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः ॥२२१॥

हिंसा आत्मैव हिंसा इत्ययं निश्चयनयाभिप्रायः, कुतः ?, यो भवत्यप्रमत्तो जीवः स खल्वहिंसकः, इतरश्च प्रमत्तः, ततश्च स एव हिंसको भवति, तस्मादात्मैवाहिंसा आत्मैव हिंसा अयं निश्चयः–परमार्थ इति। इदानीं प्रकारान्तरेण तथाविधपरिणाम-विशेषाद् हिंसाविशेषं दर्शयन्नाह—

जो य पओगं जुंजइ हिंसत्थं जो य अन्नभावेणं। अमणो उ जो पउंजइ इत्थ विसेसो महं वुत्तो ॥ ७५५ ॥
हिंसत्थं जुंजंतो सुमहं दोसो अणंतरं इयरो। अमणो य अप्पदोसो जोगनिमित्तं च विन्नेओ ॥ ७५६ ॥
रत्तो वा दुट्ठो वा मूढो वा जं पउंजइ पओगं। हिंसावि तत्थ जायइ तम्हा सो हिंसओ होइ ॥ ७५७ ॥
न य हिंसामित्तेणं सावज्जेणावि हिंसओ होइ। सुद्धस्स उ संपत्ती अफला भणिया जिणवरेहिं ॥ ७५८ ॥

यश्च जीवप्रयोगं मनोवाक्कायकर्मभिर्हिंसार्थं युनक्ति–प्रयुङ्क्ते यश्चान्यभावेन, एतदुक्तं भवति–लक्ष्यवेधनार्थं काण्डं क्षिप्तं यावताऽन्यस्य मृगादेर्लग्नं, ततश्चान्यभावेन यः प्रयोगं प्रयुङ्क्ते तस्यानन्तरोक्तेन पुरुषविशेषेण सह महान् विशेषः। तथा 'अमनस्कश्च' मनोरहितः–संमूर्च्छज इत्यर्थः, स च यं प्रयोगं–कायादिकं प्रयुङ्क्ते, अत्र विशेषो महानुक्तः, एतदुक्तं भवति–यो जीवो मनोवाक्कायैर्हिंसार्थं प्रयोगं प्रयुङ्क्ते तस्य महान् कर्मबन्धो भवति, यश्चान्यभावेन प्रयुङ्क्ते तस्याल्पतरः कर्मबन्धः यश्चामनस्कः प्रयोगं प्रयुङ्क्ते तस्याल्पतमः कर्मबन्धः, ततश्चात्र विशेषो महान् दृष्ट इति। एतदेव व्याख्यानयन्नाह—हिंसार्थं प्रयोगं प्रयुञ्जन् सुमहान् दोषो भवति, इतरश्च योऽन्यभावेन प्रयुङ्क्ते तस्य मन्दतरो दोषो भवत्यल्पतर इत्यर्थः, तथा 'अमन-स्कश्च' संमूर्च्छनजः प्रयोगं प्रयुञ्जन् अल्पतरतमदोषो भवति। अतो 'योगनिमित्तं' योगकारणिकः कर्मबन्धो विज्ञेय

आत्महिंसा हिंसे नि. ७५४ज्ञानादिभिर्हिंसायां तारतम्यं नि. ७५५-७५८

॥२२१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इति । किञ्च—'रक्तः' आहाराद्यर्थं सिंहादिः, 'द्विष्टः' सर्पादिः, 'मूढः' वैदिकादिः, स एवंविधो रक्तो वा द्विष्टो वा मूढो वा यं 'प्रयोगं' कायादिकं प्रयुङ्क्ते तत्र हिंसाऽपि जायते, अपिशब्दादनृतादि चोपजायते, अथवा हिंसाऽप्येवं रक्तादिभावेनोपजायते न तु हिंसामात्रेणेति वक्ष्यति, तस्मात्स हिंसको भवति यो रक्तादिभावयुक्त इति, न च हिंसयैव हिंसको भवति, तथा चाह—न च हिंसामात्रेण सावद्येनापि हिंसको भवति, कुतः ?, शुद्धस्य पुरुषस्य कर्मसंप्राप्तिरफला भणिता जिनवरैरिति । किञ्च—

जा जयमाणस्स भवे विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स । सा होइ निज्जरफला अज्झत्थविसोहिजुत्तस्स ॥ ७५९ ॥
परमरहस्समिसीणं समत्तगणिपिडगझरितसाराणं । परिणामियं पमाणं निच्छयमवलंबमाणाणं ॥ ७६० ॥
निच्छयमवलंबंता निच्छयओ निच्छयं अयाणंता । नासंति चरणकरणं बाहिरकरणालसा केइ ॥ ७६१ ॥

या विराधना यतमानस्य भवेत्, किंविशिष्टस्य सतः ?–सूत्रविधिना समग्रस्य–युक्तस्य गीतार्थस्येत्यर्थः, तस्यैवंविधस्य या भवति विराधना सा निर्जराफला भवति, एतदुक्तं भवति–एकस्मिन् समये बद्धं कर्मान्यस्मिन् समये क्षपयतीति, किंविशिष्टस्य ?–'अध्यात्मविशोधियुक्तस्य' विशुद्धभावस्येत्यर्थः । किञ्च,—परमं–प्रधानमिदं रहस्यं–तत्त्वं, केषाम् ?–'ऋषीणां' सुविहितानां, किंविशिष्टानां ?–समग्रं च तद् गणिपिटगं च समग्रगणिपिटकं तस्य क्षरितः–पतितः सारः–प्राधान्यं यैस्ते समग्रगणिपिटकक्षरितसारास्तेषामिदं रहस्यं, यदुत 'पारिणामिकं प्रमाणं' परिणामे भवं पारिणामिकं, शुद्धोऽशुद्धश्च चित्तपरिणाम इत्यर्थः, किंविशिष्टानां सतां पारिणामिकं प्रमाणं ?–निश्चयनयमवलम्बमानानां, यतः शब्दादिनिश्चयनयानामिद-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||७६१||

दीप अनुक्रम [१११५]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥२२२॥

मेव दर्शनं, यदुत–पारिणामिकमिच्छन्तीति । आह–यद्ययं निश्चयस्ततोऽयमेवावलम्ब्यतां किमन्येनेति ?, उच्यते— निश्चयमवलम्बमानाः पुरुषा 'निश्चयतः' परमार्थतो निश्चयमजानानाः सन्तो नाशयन्ति चरणकरणं, कथं ?–'बाह्यकरणालसाः' बाह्यं–वैयावृत्त्यादि करणं तत्र अलसाः–प्रयत्नरहिताः सन्तश्चरणकरणं नाशयन्ति, केचिदिदं चाङ्गीकुर्वन्ति यदुत परिशुद्धपरिणाम एव प्रधानो नतु बाह्यक्रिया, एतच्च नाङ्गीकर्त्तव्यं, यतः परिणाम एव बाह्यक्रियारहितः शुद्धो न भवतीति, ततश्च निश्चयव्यवहारमतमुभयरूपमेवाङ्गीकर्त्तव्यमिति । उक्तमुपधिद्वारम्, इदानीमायतनद्वारव्याचिख्यासया संबन्धं प्रतिपादयन्नाह—

एवमिणं उवगरणं धारेमाणो विहीसुपरिसुद्धं । हवति गुणाणायतणं अविहि असुद्धे अणाययणं ॥ ७६२ ॥

'एवम्' उक्तन्यायेन उपकरणं धारयन् विधिना 'परिशुद्धं' सर्वदोषवर्जितं, किं भवति ?–गुणानामायतनं–स्थानं भवति । अथ पूर्वोक्तविपरीतं क्रियते यदुताविधिना धारयति अविशुद्धं च तदुपकरणं, ततोऽविधिनाऽशुद्धं ध्रियमाणं तदेवोपकरणम् 'अनायतनम्' अस्थानं भवतीति । इदानीमनायतनस्यैव पर्यायशब्दान् प्रतिपादयन्नाह—

सावज्जमणायतणं असोहिठाणं कुसीलसंसग्गी । एगट्ठा होंति पदा एते विवरीय आययणा ॥ ७६३ ॥

सावद्यमनायतनमशोधिस्थानं कुसीलसंसग्गी, एतान्येकार्थिकानि पदानि भवन्ति, एतान्येव च विपरीतानि आयतने भवन्ति, कथम् ?–असावद्यमायतनं शोधिस्थानं सुसीलसंसग्गीति । अत्र चानायतनं वर्जयित्वाऽऽयतनं गवेषणीयम् ?, एतदेवाह—

यतनयानिर्जरा निश्चयव्यवहारौ नि. ७५९-७६१ भाय तनेतरे नि. ७६२-७६३

॥२२२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||७६३||

दीप अनुक्रम [१११७]

वज्जेत्तु अणायतणं आयतणगवेसणं सया कुज्जा । तं तु पुण अणाययणं नायव्वं दव्वभावेणं ॥ ७६४ ॥
दव्वे रुद्दाइघरा अणायतणं भावओ दुविहमेव । लोइयलोगुत्तरियं तहियं पुण लोइयं इणमो ॥ ७६५ ॥
खरिया तिरिक्खजोणी तालयर समण माहण सुसाणे । वग्गुरिय वाह गुम्मिय हरिएस पुलिंद मच्छंधा ॥७६६॥
खणमवि न खमं गंतुं अणायतणसेवणा सुविहियाणं । जंगंधं होइ वणं तंगंधं मारुओ वाइ ॥ ७६७ ॥
जे अन्ने एवमादी लोगंमि दुगुंछिया गरहिया य । समणाण व समणीण व न कप्पई तारिसे वासो ॥ ७६८ ॥
अह लोउत्तरियं पुण अणायतणं भावतो मुणेयव्वं । जे संजमजोगाणं करेंति हाणिं समत्थावि ॥ ७६९ ॥
अंबस्स य निंबस्स य दुण्हंपि समागयाइं मूलाइं । संसग्गीएँ विणट्ठो अंबो निंबत्तणं पत्तो ॥ ७७० ॥
सुचिरंपि अच्छमाणो नलथंबो उच्छुवाडमज्झंमि । कीस न जाओ महुरो जइ संसग्गी पमाणं ते ? ॥ ७७१ ॥
सुचिरंपि अच्छमाणो वेरुलिओ कायमणियओमीसे । न उवेइ कायभावं पाहन्नगुणेण नियएण ॥ ७७२ ॥
भावुगअभावुगाणि य लोए दुविहाइं हुंति दव्वाइं । वेरुलिओ तत्थ मणी अभावुगो अन्नदव्वेणं ॥ ७७३ ॥
ऊणगसयभागेणं बिंबाइं परिणमंति तब्भावं । लवणागराइसु जहा वज्जेह कुसीलसंसग्गीं ॥ ७७४ ॥

वर्जयित्वाऽनायतनमायतनस्य गवेषणं 'सदा' सर्वकालं कुर्यात्, तत्पुनरनायतनं द्रव्यतो भावतश्च ज्ञेयम् । तत्र द्रव्यानायतनं प्रतिपादयन्नाह—'द्रव्ये' द्रव्यविषयमनायतनं रुद्रादीनां गृहम् । इदानीं भावतोऽनायतनमुच्यते, तत्र भावतो द्विविधमेव–लौकिकं लोकोत्तरं च, तत्रापि लौकिकमनायतनमिदं वर्त्तते—'खरिए'त्ति व्यक्षरिका यत्रास्ते तदनायतनं,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥२२३॥

तथा तिर्यग्योनयश्च यत्र तदप्यनायतनं, तालायरा–चारणास्ते यत्र तदनायतनं, श्रमणाः–शाक्यादयस्ते यत्र, तथा ब्राह्मणा यत्र तदनायतनं, श्मशानं चानायतनं, तथा वागुरिका–व्याधा गुल्मिका-गोत्तिपाला हरिएसा पुलिन्दा मत्स्यबन्धाश्च यत्र तदनायतनमिति, एतेषु चानायतनेषु क्षणमपि न गन्तव्यम्, तथा चाह–क्षणमपि न 'क्षमं' योग्यमनायतनं गन्तुं, तथा सेवना चानायतनस्य सुविहितानां कर्तुं 'न क्षमं' न युक्तं, यतोऽयं दोषो भवति—'जंगंधं होइ वणं तंगंधं मारुओ वाति'त्ति सुगमम् । येऽन्ये एवमादयो लोके जुगुप्सिता गर्हिताश्च व्यक्षरिकाद्यनायतनविशेषास्तत्र श्रमणानां श्रमणीनां वा न कल्पते तादृशे वास इति । उक्तं लौकिकं भावानायतनम्, इदानीं लोकोत्तरं भावानायतनं प्रतिपादयन्नाह–अथ लोकोत्तरं पुनर-नायतनं भावत इदं ज्ञातव्यं, ये प्रव्रजिताः संयमयोगानां कुर्वन्ति हानिं समर्था अपि सन्तस्तल्लोकोत्तरमनायतनम् । तैश्चैव-विधैः संसर्गो न कर्त्तव्या, यत आह—'अंबे'त्यादि सुगमा ॥ पर आह—'सुइर' मित्यादि सुगमा ॥ तथा पर एवाह–'सुइर'मित्यादि सुगमा । आचार्य आह—द्रव्याणि द्विविधानि भवन्ति–भावुकानि अभावुकानि च, तत्राम्रवृक्षो भावुको वर्त्तते नलस्तम्बश्चाभावुकः, ततश्चाभावुकमङ्गीकृत्यैतद् द्रष्टव्यमिति, यानि पुनर्भावुकानि द्रव्याणि तेषां न्यूनो यः शततमो भागः स यदि लवणादिना व्याप्यते ततस्तद्द्रव्यं चर्मादि लवणभावेन परिणमति । एतदेवाह—न्यूनश्चासौ शत-तमभागश्च न्यूनशततमभागस्तेन न्यूनशततमभागेन लवणादिव्याप्तेन 'बिम्बानि' चर्मकाष्ठादीनि तानि लवणेन–न्यून-शततमभागस्पृष्टेन 'तद्भावं' लवणभावं परिणमन्ति लवणाकरादिषु यथा, एतदुक्तं भवति–काष्ठादिबिम्बस्य शततमो यो

अनायतन-वर्जनं नि. ७६४-७७४

॥२२३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||७७४||

दीप अनुक्रम [११२८]

विभागोऽसावपि न्यूनः स एवंविधो लवणाकरादिषु यदि स्पर्शं प्राप्नोति ततस्तत्काष्ठं सर्वं लवणरूपं भवति, तस्मात्स्तोकोऽपि कुशीलसंसर्गिर्बहुमपि साधुसङ्घातं दूषयति यस्मात्तस्माद्वर्जयेत् कुशीलसंसर्गमिति । तथा,—

जीवो अणाइनिहणो तब्भावणभाविओ य संसारे । खिप्पं सो भाविज्जइ मेलणदोसाणुभावेणं ॥ ७७५ ॥
जह नाम महुरसलिलं सागरसलिलं कमेण संपत्तं । पावइ लोणियभावं मेलणदोसाणुभावेणं ॥ ७७६ ॥
एवं खु सीलमंतो असीलमंतेहि मेलिओ संतो । पावइ गुणपरिहाणीं मेलणदोसाणुभावेणं ॥ ७७७ ॥

सुगमाः ॥ यस्मादेवं तस्मात्,

णाणस्स दंसणस्स य चरणस्स य जत्थ होइ उवघातो । वज्जेज्जऽवज्जभीरू अणाययणवज्जओ खिप्पं ॥ ७७८ ॥

ज्ञानस्य दर्शनस्य चारित्रस्य च 'यत्र' अनायतने भवत्युपघातस्तद्वर्जयेदवद्यभीरुः–साधुः, किंविशिष्टः ?–अनायतनं वर्जयतीति अनायतनवर्जकः, स एवंविधः क्षिप्रमनायतनमुपघात इति मत्वा वर्जयेदिति । इदानीं विशेषतोऽनायतनं प्रदर्शयन्नाह—

जत्थ साहम्मिया बहवे, भिन्नचित्ता अणारिया । मूलगुणपडिसेवी, अणायतणं तं वियाणाहि ॥ ७७९ ॥
जत्थ साहम्मिया बहवे, भिन्नचित्ता अणारिया । उत्तरगुणपडिसेवी, अणायतणं तं वियाणाहि ॥ ७८० ॥
जत्थ साहम्मिया बहवे, भिन्नचित्ता अणारिया । लिंगवेसपडिच्छन्ना, अणायतणं तं वियाणाहि ॥ ७८१ ॥

सुगमा, नवरं–मूलगुणाः प्राणातिपातादयस्तान् प्रतिसेवन्त इति मूलगुणप्रतिसेविनस्ते यत्र निषसन्ति तदनायतन-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मिति। सुगमा, नवरम्–उत्तरगुणाः "पिंण्डस्स जा विसोही" इत्यादि, तत्प्रतिसेविनो ये। सुगमा, नवरं लिङ्गवेषमात्रेण प्रतिच्छन्ना बाह्यतोऽभ्यन्तरतः पुनर्मूलगुणप्रतिसेविन उत्तरगुणप्रतिसेविनश्च ते यत्र तदनायतनमिति। उक्तं लोकोत्तर-भावानायतनं, तत्प्रतिपादनाच्चोक्तमनायतनस्वरूपम्, इदानीमायतनप्रतिपादनायाह—

आययणंपि य दुविहं दव्वे भावे य होइ नायव्वं। दव्वंमि जिणघराई भावंमि य होइ तिविहं तु ॥ ७८२ ॥
जत्थ साहम्मिया बहवे, सीलमंता बहुस्सुया। चरित्तायारसंपन्ना, आययणं तं वियाणाहि ॥ ७८३ ॥

आयतनमपि द्विविधं–द्रव्यविषये भावविषये च भवति, तत्र द्रव्ये जिनगृहादि, भावे भवति त्रिविधं ज्ञानदर्शनचारित्ररूपमायतनमिति। 'जत्थे'त्यादि सुगमा।

सुंदरजणसंसग्गी सीलदरिद्दंपि कुणइ सीलड्ढं। जह मेरुगिरीजायं तणंपि कणगत्तणमुवेइ ॥ ७८४ ॥

सुगमा। उक्तमायतनद्वारम्, इदानीं प्रतिसेवनाद्वारव्याचिख्यासया सम्बन्धप्रतिपादनायाह—

एवं खलु आययणं निसेवमाणस्स हुज्ज साहुस्स। कंटगपहे व छलणा रागदोसे समासज्ज॥ ७८५ ॥ दारं।

'एवम्' उक्तेन न्यायेन आयतनं सेवमानस्यापि साधोर्भवेत् कण्टकपथ इव छलना, किमासाद्य ?, अत आह–रागद्वेषौ समाश्रित्य। सा च रागद्वेषाभ्यां प्रतिसेवना द्विविधा भवति, एतदेवाह—

पडिसेवणा य दुविहा मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य। मूलगुणे छट्ठाणा उत्तरगुणि होइ तिगमाई ॥ ७८६ ॥

प्रतिसेवनाऽपि द्विविधा–मूलगुणे उत्तरगुणे च, तत्र गूलगुणविषये प्रतिसेवना 'षट्स्थाना' प्राणातिपातादिलक्षणा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वक्ष्यति च, उत्तरगुणविषया च प्रतिसेवना भवति त्रिकादिका, तच्चेदं त्रिकम्–उद्गम उत्पादना एषणा च, एतदेव त्रिकमादिर्यस्या उत्तरगुणप्रतिसेवनायाः सा तथाविधा, आदिग्रहणात्समितयो भावना तपो द्विविधमित्येवमादीनि गृह्यन्ते । इदानीं मूलगुणान् व्याख्यानयन्नाह—

हिंसालियचोरिक्के मेहुन्नपरिग्गहे य निसिभत्ते । इय छट्ठाणा मूले उग्गमदोसा य इयरंमि ॥ ७८७ ॥

हिंसाऽलीकं चौर्यं मैथुनं परिग्रहः तथा निशि भक्तं चेति, एवं षट्स्थाना मूलगुणप्रतिसेवना द्रष्टव्या, उद्गमदोषादिका चेतरा उत्तरगुणप्रतिसेवना द्रष्टव्या आदिग्रहणादुत्पादनैषणादयः परिगृह्यन्ते । इदानीं प्रतिसेवनाया एव एकार्थिकानां प्रतिपादनायाह—

पडिसेवणा मइलणा भंगो य विराहणा य खलणा य । उवघाओ य असोही सबलीकरणं च एगट्ठा ॥ ७८८ ॥

प्रतिसेवणा मइलणा भङ्गो विराधना खलना उपघातः अशोधिः शबलीकरणं चेत्येकार्थिकाः शब्दा इति । उक्तं प्रतिसेवनाद्वारम्, इदानीमालोचनाद्वारसंबन्धप्रतिपादनायाह—

छट्ठाणा तिगठाणा एगतरे दोसु वावि छलिएणं । कायव्वा उ विसोही सुद्धा दुक्खक्खयट्ठाए ॥ ७८९ ॥

'षट्स्थाने' प्राणातिपातादिके उद्गमादिके च त्रिके, अनयोरेकतरे द्वयोर्वा 'छलितेन' स्खलितेन सता साधुना कर्त्तव्या विशुद्धिः, किंविशिष्टा ?–'शुद्धा' निष्कलङ्का दुःखक्षयार्थं कर्त्तव्येति । सा च विशुद्धिरालोचनापूर्विका भवतीतिकृत्वाऽऽलोचनां प्रतिपादयन्नाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||७९०||

दीप अनुक्रम [११४४]

श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः

॥२२५॥

आलोयणा उ दुविहा मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य । एक्केक्का चउकन्ना दुवग्ग सिद्धावसाणा य ॥ ७९० ॥

आलोचना च द्विविधा–मूलगुणालोचना उत्तरगुणालोचना चेति, सा द्विविधाऽप्येकैका–मूलगुणालोचना उत्तरगुणालोचना च चतुष्कर्णा भवति 'दुवग्ग'त्ति द्वयोरपि साधुसाध्वीवर्गयोरेकैकस्य चतुष्कर्णा भवति, एक आचार्यो द्वितीयश्चालोचकः साधुः एवं साधुवर्गे चतुष्कर्णा भवति, साध्वीवर्गेऽपि चतुष्कर्णा भवति, एका प्रवर्त्तिनी द्वितीया तस्या एव या आलोचयति साध्वी, एवं साधुवर्गे साध्वीवर्गे च चतुष्कर्णा भवति, अथवा एकैका मूलगुणे उत्तरगुणे च चतुष्कर्णा द्वयोश्च साधुसाध्वीवर्गयोर्मिलितयोरष्टकर्णा भवति, कथम् ?, आचार्य आत्मद्वितीयः प्रवर्त्तिनी चात्मद्वितीया आलोचयति यदा तदाऽष्टकर्णा भवति, सामान्यसाध्वी वा यद्यालोचयति तदाऽप्यष्टकर्णैवेति, अहवा छकन्ना होज्जा यदा वुड्ढो आयरिओ हवइ तदा एगस्सवि साहुणीदुगं आलोएइ एवं छकन्ना हवति, सव्वहा साहुणीए अप्पबितियाए आलोएअव्वं न उ एगागिणीएत्ति । एवं तावदुत्सर्गत आचार्याय आलोचयति, तदभावे सर्वदेशेषु निरूपयित्वा गीतार्थायालोचयितव्यं, एवं तावद्यावत्सिद्धानामप्यालोच्यते साधूनामभावे, ततश्चैवं सिद्धावसाना आलोचना दातव्येति । इदानीमालोचनाया एकार्थिकानि प्रतिपादयन्नाह—

आलोयणा वियडणा सोही सब्भावदायणा चेव । निंदण गरिह विउट्टण सल्लुद्धरणंति एगट्ठा ॥ ७९१ ॥

आलोचना विकटना शुद्धिः सद्भावदायणा णिंदणा गरहणा विउट्टणं सल्लुद्धरणं चेत्येकार्थिकानीति । आलोचनाद्वारं समाप्तम्, इदानीं विशुद्धिद्वारव्याचिख्यासयाऽऽह—

एत्तो सल्लुद्धरणं वुच्छामी धीरपुरिसपन्नत्तं । जं नाऊण सुविहिया करेंति दुक्खक्खयं धीरा ॥ ७९२ ॥

मूलोत्तरप्रतिषेवा नि. ७८७ प्रतिषेवणैकार्थिकाः नि. ७८८ आलोचना तदेकार्थिका नि. ७८९-७९१ विशुद्धिः नि. ७९२

॥२२५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||७९३||

दीप अनुक्रम [११४६]

दुविहा य होइ सोही दव्वसोही य भावसोही य। दव्वंमि वत्थमाई भावे मूलुत्तरगुणेसु ॥ ७९३ ॥
छत्तीसगुणसमन्नागएण तेणवि अवस्स कायव्वा। परसक्खिया विसोही सुट्ठुवि ववहारकुसलेणं ॥ ७९४ ॥
जह सुकुसलोऽवि विज्जो अन्नस्स कहेइ अप्पणो वाही। सोऊण तस्स विज्जस्स सोवि परिकम्ममारभइ ॥ ७९५ ॥
एवं जाणंतेणवि पायच्छित्तविहिमप्पणो सम्मं। तहवि य पागडतरयं आलोएतव्वयं होइ ॥ ७९६ ॥
गंतूण गुरुसकासं काऊण य अंजलिं विणयमूलं। सव्वेण अत्तसोही कायव्वा एस उवएसो ॥ ७९७ ॥
नहु सुज्झई ससल्लो जह भणियं सासणे धुवरयाणं। उद्धरियसव्वसल्लो सुज्झइ जीवो धुयकिलेसो ॥ ७९८ ॥
सहसा अण्णाणेण व भीएण व पिल्लिएण व परेण। वसणेणायंकेण व मूढेण व रागदोसेहिं ॥ ७९९ ॥
जं किंचि कयमकज्जं न हु तं लब्भा पुणो समायरिउं। तस्स पडिक्कमियव्वं न हु तं हियएण वोढव्वं ॥ ८०० ॥
जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं व उज्जुयं भणइ। तं तह आलोएज्जा मायामयविप्पमुक्को उ ॥ ८०१ ॥
तस्स य पायच्छित्तं जं मग्गविऊ गुरू उवइसंति। तं तह आयरियव्वं अणवज्जपसंगभीएणं ॥ ८०२ ॥
नवि तं सत्थं व विसं व दुप्पउत्तो व कुणइ वेयालो। जंतं व दुप्पउत्तं सप्पो व पमाइणो कुद्धो ॥ ८०३ ॥
जं कुणइ भावसल्लं अणुद्धियं उत्तमट्ठकालंमि। दुल्लभबोहीयत्तं अणंतसंसारियत्तं च ॥ ८०४ ॥

अत ऊर्द्धं शल्योद्धरणं वक्ष्ये धीरपुरुषप्रज्ञप्तं, 'यत्' शल्योद्धरणं ज्ञात्वा सुविहिताः कुर्वन्ति दुःखक्षयं धीरा इति। द्विविधा भवति शुद्धिः–द्रव्यशुद्धिश्च भावशुद्धिश्च, तत्र 'द्रव्ये' द्रव्यविषया शुद्धिर्वस्त्रादीनामवगन्तव्या, भावे तु मूलोत्तरगुणेषु शुद्धि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||८०४||

दीप अनुक्रम [११५८]

ज्ञातव्या, एतदुक्तं भवति–मूलगुणोत्तरगुणालोचनथा भावशुद्धिर्भवतीति । एवं तावन्मूलगुणोत्तरगुणेषु छलितेनालोचना दातव्या । इदानीं यस्मै आलोचना दीयते तेनाप्यालोचयितव्यमिति, एतदेव प्रदर्शयन्नाह–जातिकुलबलरूपादिषट्त्रिंशद्गुण-समन्वितेनाप्यवश्यं परसाक्षिकी शुद्धिः कर्त्तव्या सुष्ठ्वपि ज्ञानक्रियाव्यवहारकुशलेन–सुविहितेनेति । अत्रोदाहरणं दीयते— यथा कुशलोऽपि वैद्योऽन्यस्मै वैद्याय कथयति आत्मव्याधिं, श्रुत्वा च तस्य वैद्यस्य सोऽपि वैद्यो यस्मै कथितं स प्रतिकर्म आरभते । एवं जानताऽपि प्रायश्चित्तविधिमात्मनः सम्यक्करणेन तथाऽपि प्रकटतरमालोचयितव्यमवश्यमिति । किञ्च–सुगमा । 'न हु' नैव शुद्ध्यति सशल्यः पुरुषः, कथं पुनः शुद्ध्यति ?, यथा भणितं धुतरजसां शासने तथा शुद्ध्यति, कथं पुनः शुध्यति अत आह–उद्धृतसर्वशल्यो जीवः शुद्ध्यति धुतक्लेश इति, तस्माद्यद्यपि कथमपि किञ्चिदकार्यं कृतं तथाऽप्यालोचयितव्यम् । कथं पुनस्तत्कृतं भवतीत्यत आह—'सहसा' अप्रतर्कितमेव प्राणिवधादिकमकार्यं यदि कृतं ततस्तस्मात्प्रतिक्रमितव्य-मित्येतत् द्वितीयगाथायां वक्ष्यते, अज्ञानेन च कृतं न तत्र प्राणी ज्ञातो व्यापादितश्च, भीतेन–आत्मभयात् मा भूदयं मां मारयिष्यतीत्यतः प्राणव्यपरोपणं यदि कृतं, प्रेरितेन वा परेण यदि कृतं, व्यसनेन वा आपदा यदि कृतं आतङ्केन वा–ज्वराद्युपसर्गेण यदि कृतं मूढेन वा–रागद्वेषैर्यत्कृतं किञ्चिदकार्यं ततः यत्किञ्चित्कृतमकार्यं तत्पुनः 'नहु' नैव समाचरितुं लब्धा–उपलभ्येत यथा तथा प्रतिक्रमितव्यं, एतदुक्तं भवति–किञ्चिदकार्यं कृत्वा पुनर्यथा नैव क्रियते तथा तस्य प्रति-क्रमितव्यं, न पुनस्तदकार्यं हृदयेन वोढव्यं, सर्वमालोचयितव्यमित्यर्थः । कथं पुनस्तदालोचयितव्यमित्यत आह—तस्य च साधोर्यत्प्रायश्चित्तं मार्गविदो गुरव उपदिशन्ति तत्प्रायश्चित्तं 'तथा' तेनैव विधिनाऽऽचरितव्यं, कथम् ?, अनवस्था-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत गाथांक नि/भा/प्र ||८०४||

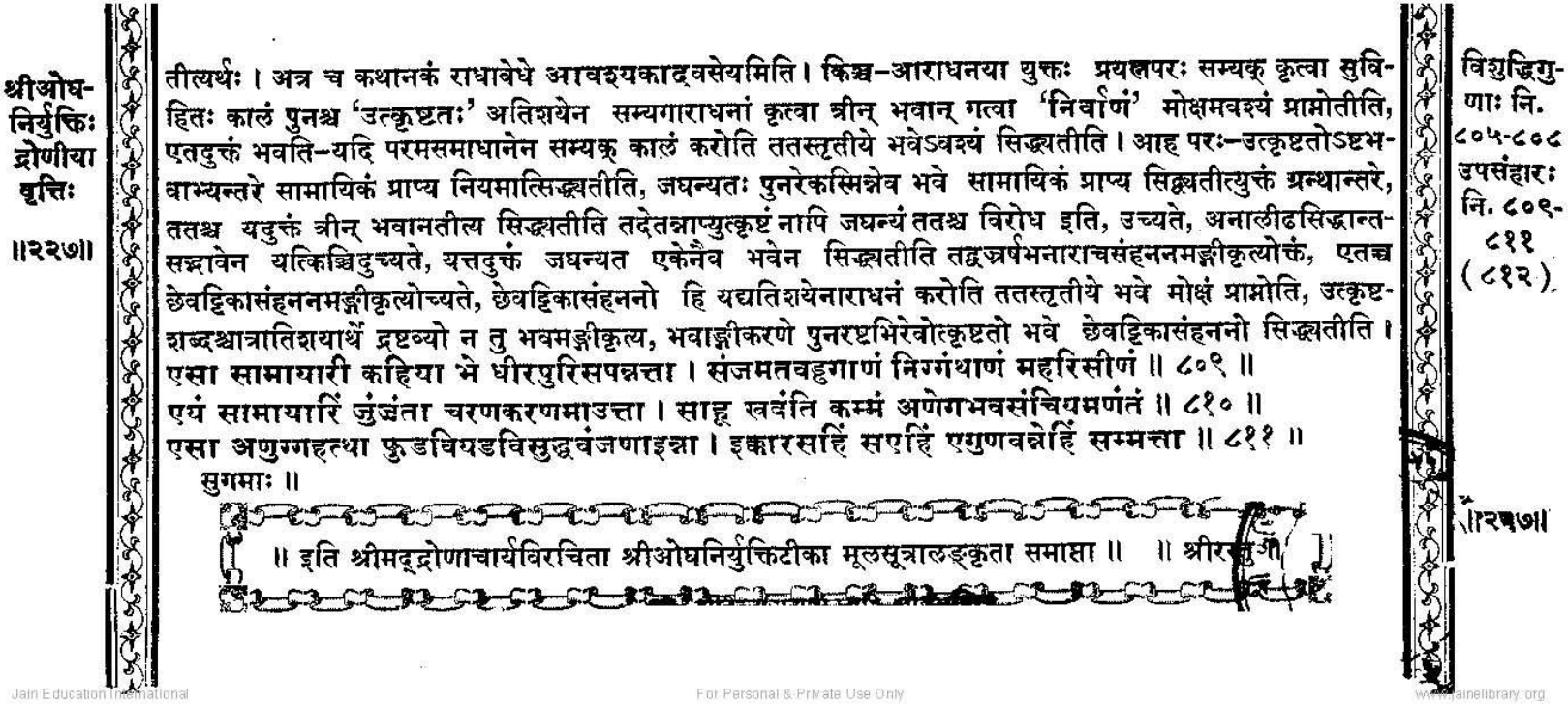
दीप अनुक्रम [११५८]

प्रसङ्गभीतेन सताऽऽलोचयितव्यम्, अनवस्था नाम यद्यकार्यसमाचरणात्प्रायश्चित्तं न दीयते क्रियते वा ततोऽन्योऽपि एवमेव समाचरति यदुत प्राणिव्यपरोपणादौ न किञ्चित्प्रायश्चित्तं भवति ततश्च समाचरणे न कश्चिद्दोष इति, एवमनवस्थाप्रसङ्गभीतेन साधुना प्रायश्चित्तं समाचरितव्यमिति । इतश्चालोचयितव्यम्—न तत्करोति दुःखं शस्त्रं नापि विषं नापि 'दुष्प्रयुक्तः' दुःसाधितो वेतालः यन्त्रं वा दुष्प्रयुक्तं सर्पो वा क्रुद्धः प्रमादिनः पुरुषस्य दुःखं करोति यत्करोति भावशल्यमनुद्धृतम् 'उत्तमार्थकाले' अनशनकाले, किं करोतीत्यत आह–'दुर्लभबोधिकत्वं अनन्तसंसारित्वं चेति, एतन्महादुःखं करोति भावशल्यं अनुद्धृतं, शस्त्रादिदुःखानि पुनरेकभव एव भवन्ति, अतः संयतेन सर्वमालोचयितव्यम् ।

तो उद्धरंति गारवरहिता मूलं पुणब्भवलयाणं । मिच्छादंसणसल्लं मायासल्लं नियाणं च ॥ ८०५ ॥
उद्धरियसव्वसल्लो आलोइयनिंदिओ गुरुसगासे । होइ अतिरेगलहुओ ओहरियभरो व्व भारवहो ॥ ८०६ ॥
उद्धरियसव्वसल्लो भत्तपरिन्नाएँ धणियमाउत्तो । मरणाराहणजुत्तो चंदगवेज्झं समाणेइ ॥ ८०७ ॥
आराहणाइ जुत्तो सम्मं काऊण सुविहिओ कालं । उक्कोसं तिन्नि भवे गंतूण लभेज्ज निव्वाणं ॥ ८०८ ॥

तत एवमालोच्य गारवरहिता मुनयः 'उद्धरन्ति' उत्पाटयन्ति मूलं पुनर्भवलतानां येन मिथ्यादर्शनशल्यं मायाशल्यं निदानशल्यं चोद्धरन्तीति । सुगमा, नवरम्–अतिरेकम्–अत्यर्थं लघुर्भवति, 'ओहरितभारो' उत्तारितभारः 'भारवहः' गर्दभादिः स यथा लघुर्भवति एवमालोचिते सति कर्मलघुत्वं भवतीति । यश्चैवंविधः स उद्धृतसर्वशल्यः 'भत्तपरिण्णाए' भक्तप्रत्याख्याने 'धनिकम्' अत्यर्थम् 'आयुक्तः' प्रयत्नपरो मरणाराधनयुक्तः, स एवंविधश्चन्द्रकवेधं 'समानयति' करो-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



श्रीओघ-निर्युक्तिः द्रोणीया वृत्तिः ॥२२७॥

तीत्यर्थः । अत्र च कथानकं राधावेधे आवश्यकाद्वसेयमिति । किञ्च–आराधनया युक्तः प्रयत्नपरः सम्यक् कृत्वा सुविहितः कालं पुनश्च 'उत्कृष्टतः' अतिशयेन सम्यगाराधनां कृत्वा त्रीन् भवान् गत्वा 'निर्वाणं' मोक्षमवश्यं प्राप्नोतीति, एतदुक्तं भवति–यदि परमसमाधानेन सम्यक् कालं करोति ततस्तृतीये भवेऽवश्यं सिद्ध्यतीति । आह परः–उत्कृष्टतोऽष्टभवाभ्यन्तरे सामायिकं प्राप्य नियमात्सिद्ध्यतीति, जघन्यतः पुनरेकस्मिन्नेव भवे सामायिकं प्राप्य सिद्ध्यतीत्युक्तं ग्रन्थान्तरे, ततश्च यदुक्तं त्रीन् भवानतीत्य सिद्ध्यतीति तदेतन्नाप्युत्कृष्टं नापि जघन्यं ततश्च विरोध इति, उच्यते, अनालीढसिद्धान्तसद्भावेन यत्किञ्चिदुच्यते, यत्तदुक्तं जघन्यत एकेनैव भवेन सिद्ध्यतीति तद्वज्रर्षभनाराचसंहननमङ्गीकृत्योक्तं, एतच्च छेवट्टिकासंहननमङ्गीकृत्योच्यते, छेवट्टिकासंहननो हि यद्यतिशयेनाराधनं करोति ततस्तृतीये भवे मोक्षं प्राप्नोति, उत्कृष्टशब्दश्चात्रातिशयार्थे द्रष्टव्यो न तु भवमङ्गीकृत्य, भवाङ्गीकरणे पुनरष्टभिरेवोत्कृष्टतो भवे छेवट्टिकासंहननो सिद्ध्यतीति ।

एसा सामायारी कहिया भे धीरपुरिसपन्नत्ता । संजमतवड्ढगाणं निग्गंथाणं महरिसीणं ॥ ८०९ ॥
एयं सामायारिं जुंजंता चरणकरणमाउत्ता । साहू खवंति कम्मं अणेगभवसंचियमणंतं ॥ ८१० ॥
एसा अणुग्गहत्था फुडवियडविसुद्धवंजणाइन्ना । इक्कारसहिं सएहिं एगुणवन्नेहिं सम्मत्ता ॥ ८११ ॥

सुगमाः ॥

॥ इति श्रीमद्द्रोणाचार्यविरचिता श्रीओघनिर्युक्तिटीका मूलसूत्रालङ्कृता समाप्ता ॥ ॥ श्रीरस्तु ॥

विशुद्धिगुणाः नि. ८०५-८०८ उपसंहारः नि. ८०९-८११ (८१२)

॥२२७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि भाग १ से ४० में कहां क्या मिलेगा?		
भाग	इस भागमे समाविष्ट आगम के नाम और आगम-क्रम		कुलपृष्ठ
01	आगम ०१ आचार मूलं एवं वृत्ति भाग-१ श्रुतस्कन्ध-१, अध्ययन- १,२		३१४
02	आगम ०१ आचार मूलं एवं वृत्ति, भाग-२ श्रुतस्कन्ध-१, अध्ययन- ३ से ९, श्रुतस्कन्ध- २		५८६
03	आगम ०२ सूत्रकृत मूलं एवं वृत्ति, भाग-१ श्रुतस्कन्ध-१, अध्ययन- १ से १३		४९८
04	आगम ०२ सूत्रकृत मूलं एवं वृत्ति, भाग-२ श्रुतस्कन्ध-१, अध्ययन १४ से १६, श्रुतस्कन्ध-२		३९२
05	आगम ०३ स्थान मूलं एवं वृत्ति, भाग-१ स्थान- १ से ४		५९४
06	आगम ०३ स्थान मूलं एवं वृत्ति, भाग-२ स्थान- ५ से १० संपूर्ण		४९४
07	आगम ०४ समवाय मूलं एवं वृत्ति.		३३८
08	आगम ०५ भगवती मूलं एवं वृत्ति, भाग-१ शतक- १ से ६		५९२
09	आगम ०५ भगवती मूलं एवं वृत्ति, भाग-२ शतक- ७ से ११		५५२
10	आगम ०५ भगवती मूलं एवं वृत्ति, भाग-३ शतक- १२ से २०		५१४
11	आगम ०५ भगवती मूलं एवं वृत्ति, भाग-४ शतक- २१ से ४१ संपूर्ण		३८४
12	आगम ०६ ज्ञाताधर्मकथा मूलं एवं वृत्ति.		५२२
13	आगम-७,८,९,१०उपासकदशा, अंतकृतदशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण मूलं एवं वृत्ति.		५३८
14	आगम-११,१२, विपाक, उववाई मूलं एवं वृत्ति.		३८४
15	आगम १३ राजप्रश्नीय मूलं एवं वृत्ति.		३१४
16	आगम१४ जीवाजीवाभिगम भाग-१ मूलं एवं वृत्ति. [प्रतिपत्ति-३-अतर्गत] सूत्र- १ से १३८		४८०
17	आगम१४ जीवाजीवाभिगम भाग-२ मूलं एवं वृत्ति. [प्रतिपत्ति-३-अतर्गत] सूत्र- १३९ से प्रतिपत्ती-१० संपूर्ण		४८८
18	आगम १५ प्रज्ञापना भाग-१ मूलं एवं वृत्ति. पद- १ से ५		४२६
19	आगम १५ प्रज्ञापना भाग-२ मूलं एवं वृत्ति. पद- ६ से २२		५१४
20	आगम १५ प्रज्ञापना भाग-३ मूलं एवं वृत्ति. पद- २३ से ३६ संपूर्ण		३३६
21	आगम १६ सूर्यप्रज्ञप्ति मूलं एवं वृत्ति.		६१०

	सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि भाग १ से ४० में कहां क्या मिलेगा?		
भाग	इस भागमे समाविष्ट आगम के नाम और आगम-क्रम		कुलपृष्ठ
22	आगम १७ चन्द्रप्रज्ञप्ति मूलं एवं वृत्ति.		६१४
23	आगम१८ जंबूद्विपप्रज्ञप्ति भाग-१ मूलं एवं वृत्ति. वक्षस्कार- १ एवं २.		३७६
24	आगम१८ जंबूद्विपप्रज्ञप्ति भाग-२ मूलं एवं वृत्ति. वक्षस्कार- ३ एवं ४.		४२६
25	आगम१८ जंबूद्विपप्रज्ञप्ति भाग-३ मूलं एवं वृत्ति. वक्षस्कार- ५ से ७.		३४४
26	आगम १९-३२ निरयावलिका, कल्पवतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका, वृष्णिदशा, चतु:शरण, आतुरपरत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, भक्तपरिज्ञा, तंदुलवैचारिक, संस्तारक, गच्छाचार, गणिविदया, देवेन्द्रस्तव मूलं एवं छाया		३१२
27	आगम ३३ थी ३९ मरणसमाधि मूलं एवं छाया, निशीथ, ब्रुहत्कल्प, व्यवहार, दशाश्रुतस्कंध, जीतकल्प/पंचकल्प, महानिशीथ मूलं एव		३३०
28	आगम ४० आवश्यक मूलं एवं वृत्ति, भाग-१, निर्युक्ति- १ से ५२१		४६६
29	आगम ४० आवश्यक मूलं एवं वृत्ति, भाग-२, निर्युक्ति- ५२२ से ९५१		४४२
30	आगम ४० आवश्यक मूलं एवं वृत्ति, भाग-३ निर्युक्ति- ९५२ से १२७३ अपूर्ण, [अध्ययन- १ से ४ अपूर्ण]		४६४
31	आगम ४० आवश्यक मूलं एवं वृत्ति, भाग-४ निर्युक्ति- १२७३ अपूर्ण से १६२३, [अध्ययन- ४ अपूर्ण से ६ संपूर्ण]		४२६
32	आगम ४१/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं वृत्ति.		४७२
33	आगम ४१/२ पिंडनिर्युक्ति मूलं एवं वृत्ति.		३७६
34	आगम ४२ दशवैकालिक मूलं एवं वृत्ति.		५९०
35	आगम ४३ उत्तराध्यन मूलं एवं वृत्ति, भाग-१, अध्ययन- १ से ५		५२२
36	आगम ४३ उत्तराध्यन मूलं एवं वृत्ति, भाग-२, अध्ययन- ६ से २१		४८२
37	आगम ४३ उत्तराध्यन मूलं एवं वृत्ति, भाग-३, अध्ययन- २२ से ३६		४६६
38	आगम ४४ नन्दिसूत्र मूलं एवं वृत्ति.		५२८
39	आगम ४५ अनुयोगद्वार् मूलं एवं वृत्ति.		५६०
40	कल्प[बारसा]सूत्र... चतु:शरण, तन्दुलवैचारिक, गच्छाचार मूलं एवं वृत्ति.		३९४

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

पूज्य आनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर गुरूभ्यो नम:

[भाग-३२] आगम 41/1

पूज्य आगमोध्धारक आचार्य श्री सागरानंदसूरीश्वरेण संशोधित: संपादितश्च

“ओघनिर्युक्ति: मूलसूत्र-२/१” [मूलं + भाष्यं + द्रोणाचार्य-रचिता वृत्ति:]

(किंचित् वैशिष्ठ्यं समर्पितेन सह)

मुनि दीपरत्नसागरेण पुन: संकलित:

“ओघनिर्युक्ति” मूलं एवं वृत्ति: नामेण परिसमाप्ता

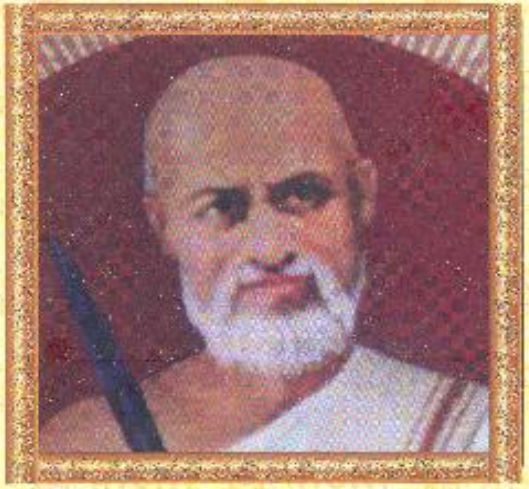
“सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि” श्रेणि, भाग-32


आगम
वाचना शताब्दी वर्ष

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

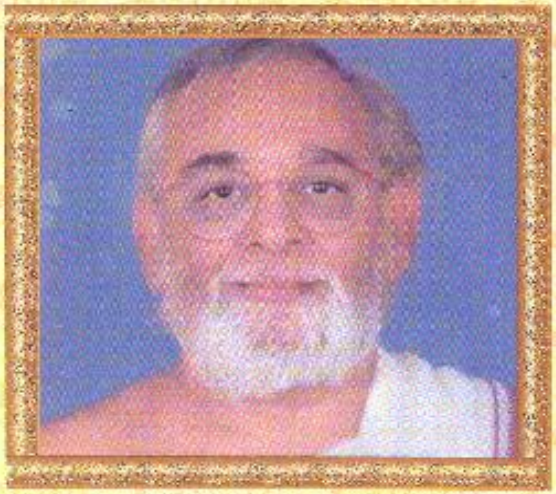
सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि

मूल संशोधक



पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य
श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज

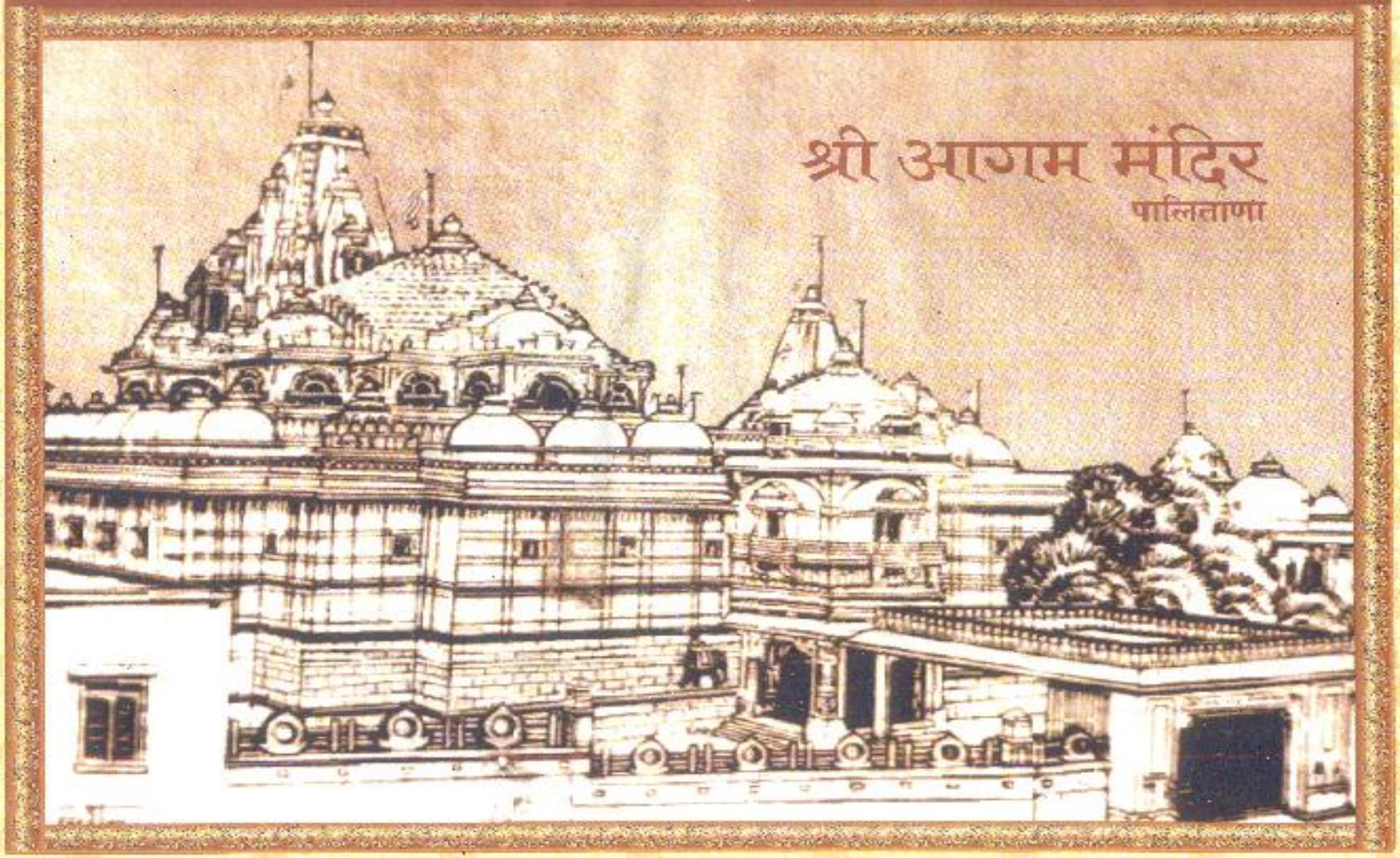
अभिनव-संकलनकर्ता

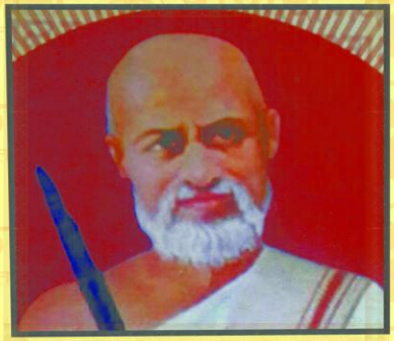


आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी
[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

प्रत-प्राप्ति और पेज-सेटिंग कर्ता : www.jainelibrary.org के चेरमन श्री प्रवीणभाई शाह, अमेरिका
मुद्रक : नवप्रभात प्रिन्टींग प्रेस अमदाबाद Mo 9825598855 / 9825306275

ईस प्रोजेक्ट के संपूर्ण-अनुदान-दाता





मूल संशोधक

पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य

श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराजसाहेब

आगम ४१/१

"ओघनिर्युक्ति" मूलं एवं वृत्तिः

अभिनव-संकलनकर्ता

आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी

[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

